# योग-मनोविज्ञान

( Indian Psychology )

डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय, एम० ए०, पीएच० डी०,

व्यायाम केसरी, रुस्तमे उत्तरप्रदेश

उप-प्राचार्य तथा अध्यक्ष समाजशास्त्र, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग

महारानी लाल कुँवरि डिग्री कॉलेज, बलरामपुर ( गोण्डा )

दी इन्टरनेशनल स्टैण्डर्ड पब्लिकेशन्स

वाराणसी-२

१९६५

प्रकाशक

दी इन्टरनेशनल स्टैण्डर्ड पब्लिकेशन्स

वाराणसी—५





प्रथम संस्करण १९६५

मूल्य बीस रुपये

लेखक की सब रचनाओं के मिलने का पता:—

१—वाराणसी :—अ-ग्लाब बुक सेन्टर लंका वाराणसी

ब—आत्रेय-निवास लंका वाराणसी

२—बलरामपुर: —अ—शान्ति प्रकाश आत्रेय, सिटी पेलेस, बलरामपुर गोण्डा ( उ० प्र० ) ।

ब—गुप्ता भन्डार तुलसी पार्क, बलरामपुर —गोण्डा

३—मुरादाबाद:—प्रो० जगत प्रकाश आत्रेय, दर्शन, मुरादाबाद—१९

४—कुटाल गाँव:—आत्रेय-निवास, कुटाल गांव, राजपुर, देहरादून

मुद्रक

सहदेव राम

श्री हरि प्रेस,

सी० ६/७३ बागरियार सिंह, वाराणसी

डा० भीखन लाल आत्रेय,

एम्० ए०, डी० लिट्०

पद्मभूषण, नाइट कमाण्डर, दर्शनाचार्य, प्रोफेसर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान और भारतीय दर्शन तथा धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

# समर्पण

प्रेरणा के स्रोत परम स्नेही, कर्मयोगी एवं
महान दार्शनिक श्रद्धेय, पिता जी के
चरण कमलों में सादर
समर्पित

—शान्ति प्रकाश

## लेखक की रचनायें

१—भारतीय तर्कशास्त्र ( प्र० सं० ) १९६१ — १. ०० न० पै०

२—मनोविज्ञान तथा शिक्षा में सांख्यिकीय विधियां ( प्र० सं० ) १९६२ — ३. ५० न० पै०

३—Descartes to Kant–A Critical Introduction to Modern Western Philosophy. १९६१ ( प्र० सं० ) — २. ५० न० पै०

( ४ ) योग-मनोविज्ञान १९६५ ( प्र० सं० ) २०.०० न० पै०

५—गीता दर्शन १९६५ ( प्र० सं० ) — १. ०० न० पै०

६—योग मनोविज्ञान की रूपरेखा १९६५ प्र० सं०) २. ५० न० पै०

—: ० :—

सूर्यादि नानाविध प्राचीन गुप्त विज्ञानों के वेत्ता
लोकोत्तर सिद्धि सम्पन्न योगिराजा-
धिराज श्री श्री १०८ विशुद्धानन्द
परमहंस देव (१८५३-१९३७)

# प्राक्कथन

लेखक—प्रोफेसर वासुदेव शरण अग्रवाल, एम०ए०, पीएच० डी०,
डी० लिट० काशीहिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।

"योग मनोविज्ञान" ग्रन्थ की रचना श्री शान्ति प्रकाश जी आत्रेय ने की है। इसके पीछे दीर्घकालीन अध्ययन निहित है। इसमें योग विद्या के सिद्धान्त और अष्टांग योग के स्वरूप का बहुत ही प्रामाणिक विवेचन किया गया है जिसका आधार भारतीय योग शास्त्र के ग्रन्थ हैं। इसी के साथ योग-साधना का भी वर्णन किया गया है जो आसन, प्राणायाम विशेषतः षट्चक्र की शुद्धि और संयम पर निर्भर है। हठयोग के ग्रन्थों में उसका वर्णन विस्तार से पाया जाता है। इसके साथ ही योग का घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है जिसे हम प्रायः राजयोग कहते हैं। लेखक ने पश्चिमी और पूर्वी मनोविज्ञान का भी तुलनात्मक अध्ययम इस ग्रन्थ में किया है। इस पकार कई दृष्टियों से यह ग्रन्थ योग विद्या सम्बन्धी प्रामाणिक सामग्री से संयुक्त हो गया है।

योग विद्या का इतिहास बहुत प्राचीन है। जो स्वास्थ्य, सौंदर्य शान्ति और आत्मदर्शन के अभिलाषी हैं वे योग का अभ्यास करते हैं। योग एक सच्ची विद्या है, जिसका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। वैदिक युग में ही जब ऋषियों ने ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध में अन्वेषण किया तभी उन्हें योग विद्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। वस्तुतः कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक मन्त्रों की रचना योग के अभ्यास की उच्चतम भूमिकाओं का ही परिणाम है जिसे पतंजलि ने ऋतंभरा प्रज्ञा कहा है वह ऋत विश्व के उन प्रथम धर्मों की संज्ञा है जिनसे प्रजापति सृष्टि का विधान करते हैं। समष्टि मन और व्यष्टि मन दोनों ही उसके परिणाम है। वस्तुतः ऋत से अनुप्रविष्ट मानव चित्त ही योग की उपलब्धि है। मानव का मन जब ब्रह्मरूप ऋत से संयुक्त हो जाता है उसी ऋतंभरा प्रज्ञा की स्थिति में विश्व के जिन सत्यों का दर्शन होता है वे ही वैदिक मन्त्रों में प्रकट हुए हैं। कोषों के अनुसार वैदिक मन्त्रों का अर्थ पर्याप्त नहीं है। मनः समाधि की उच्चतम भूमिका में मन्त्रों का दर्शन होता है। उस समाधि मे सत्य दर्शन की क्षमता जिन्हें प्राप्त हुई वे ही ऋषि थे अतः ऋषियों का मन्त्रद्रष्टा कहा गया। सत्य दर्शन की अभिलाषा मानव का सहज धर्म है। अतः योग विद्या की आव-

श्यकता उसके साथ सदा रही है। जब तक मनुष्य की उच्च जीवन में रुचि है तब तक मानस समाधि में भी उसे रुचि रहेगी। उसे ही तपः समाधि भी कहा गया है। ऋषियों ने सर्वप्रथम इसी प्रकार के दीक्षायुक्त तप का अभ्यास किया......भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। यजुर्वेद में कहा है............

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ वा सं ३७।२।

जो ज्ञानी विद्वान् है॥ विपश्चितः विप्राः॥ वे उस बृहद विप्र या महान् ब्रह्म को जानने के लिये॥ बृहता विप्रस्य॥ मानस समाधि या मन के योग में प्रवृत होते हैं और अपने कर्म और विचार रूप बुद्धियोग को उसी में लगाते हैं। सब पदार्थों का ज्ञाता कोई एक वयुनाविद्॥ योग की शक्ति से यज्ञ कर्मों का भी विधान किया है॥ वि होत्र दधे॥ मन या योग विद्या का अधिपति वह सविता देवता है। जिस देव की स्तुति अत्यन्त महता है। इसी को अन्यत्र ऋग्वेद में यों कहा है.........

यस्मादृते न सिद्‌ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ ऋ० १।१८।७

जिस देव के बिना कोई यज्ञ सिद्ध नहीं होता, हम उसकी शरण में जाते है कि वह हमारी बुद्धियों या चित्तवृत्तियों को योग में प्रेरित करे। योगसिद्ध के लिये धी शक्ति की प्रवृत्ति अत्यन्तावश्यक है। कर्म और विचार की सम्मिलित शक्ति को वेद में धी कहा जाता है। धी का ही सम्बन्ध ध्यान से है। योग के लिए एक ओर मानस ध्यान की आवश्यकता है और दूसरी ओर दृढ़भूमि पर अभ्यास की। यदि समस्त वृत्तियों का अभ्यास और वैराग्य से निरोध नहीं किया जाता तो चित्त योग में नहीं ठहरता। यह भी आवश्यक है कि चित्त के जितने स्थूल और सूक्ष्म तत्व हैं उनकी शुद्धि शनैः शनैः युक्ति से प्राप्त की जाय। उसी साधनाको तप कहते हैं। तप की सफलता से ही चित्त की समाधि प्राप्त होती है। ऋषियों ने जब इस प्रकार के अभ्यास का आयोजन किया तो उन्हें सर्वप्रथम चित्त में भरे मलों के निराकरण के उपाय की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन्हें ही असुर कहते हैं। चित्त की दो वृत्तियां प्रधान हैं .....दैवी और आसुरी। इनके बीच में और भी कई प्रकार की वृत्तियां हैं जैसे...गंधर्व, यक्ष सर्प आदि। इन सबका शोधन योग के अन्तर्गत आता है। जब हम योगाभ्यास का उपक्रम करते हैं तो अन्धकार और प्रकाश का एक विचित्र संघर्ष आरम्भ हो जाता है। अन्ध-

कार हटाकर प्रकाश की संप्राप्ति योग का फल है : मन की इस स्थिति को वैदिक परिभाषा में अयोध्यापुरी कहा गया। अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। जिस पुरी में देवता असुरों पर संघर्ष में विजयी हो सके हैं वही अयोध्या है। प्रत्येक साधक का अध्यात्म केन्द्र इस प्रकार की अयोध्या पुरी है। वह अपने भीतर है। उसे अपराजिता पुरी भी कहते हैं। उसमें आठ चक्र और नव द्वार हैं। स्पष्ट ही चक्रों का यह उल्लेख मेरुदण्ड के नाड़ी जाल या गुच्छाओं का है जिन्हें हठयोग की परिभाषा में भी चक्र कहा है। इस प्रकार के पांच चक्र ......

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, और विशुद्धि मेरुदण्ड के निचले भाग में माने गये हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः पंचभूतो से है। उनकी परिसमाप्ति तैतीस अस्थिपर्वों में हो जाती है। उसके ऊपर शेष तीन चक्र मस्तिष्क में माने गए हैं जिनमें छठा आज्ञा चक्र है। भ्रूमध्य में सातवाँ मनश्चक्र और आठवाँ सहस्रार चक्र। प्रायः वेद में योग विद्या के आरम्भिक युग में ही अष्ट चक्रों की मान्यता हो गई थी किन्तु कालान्तर में प्रायः ६ चक्रों का ही उल्लेख पाया जाता है। उस स्थिति में मस्तिष्कगत आज्ञाचक्र ही अन्य तीन चक्रों का प्रतिनिधि मान लिया जाता है। इनका निरूपण स्नायुमण्डल चक्र तथा कुण्डलिनी नामक अध्याय में लेखक ने विस्तार पूर्वक ( पृ० २४३–३९६ ) स्पष्ट चित्रों के साथ किया है जो अत्यन्त हृदयग्राही है और लेखक के दीर्घकालीन अध्ययन की साक्षी देता है। वस्तुतः मानसिक चेतना के विभिन्न स्तर प्रकृति के रहस्य विधान के अनुसार इन चक्रों में स्थूल और सूक्ष्म मूर्त और अमूर्त रूप ग्रहण करते हैं : मेरुदण्ड के चक्रों को पृथिवी लोक आज्ञाचक्र को अन्तरिक्ष और सहस्रार को द्यौः इस त्रिलोकी के रूप में माना जाता था। इस दृष्टि से लोक देव और यज्ञ की तीन अग्नियों ( गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि आहवनीय ) का संविभाग और उनके द्वारा वर्णित अन्य अनेक प्रतीक समझे जा सकते हैं। वस्तुतः योग का यह विषय समस्त भारतीय ज्ञान विज्ञान का मूल है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका अध्ययन अर्वाचीन मानव के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है योग के द्वारा मनुष्य–अल्पकालिक व्यापारों से ऊपर उठकर जीवन के नित्य नियमों के साथ संयुक्त होता है और बन्धनकारी वासनाओं से मुक्त होकर स्वतन्त्र चेतना के आनन्द का अनुभव करता है। उपनिषदों नें योगाभ्यास के फल का वर्णन करते हुए सुन्दर प्रशस्ति कही गई है······

लघुत्वमारोग्य मलोलुपत्वं
वर्णप्रसादात्स्वर सौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पं
योग प्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥

योगाभ्यास से इस प्रकार का प्रत्यक्ष फल कुछ ही दिनों में प्राप्त होने लगता है। नाड़ी जाल की शुद्धि से चेतना शक्ति क्रमशः उच्च भुमिकाओं में उठती हुई उस आनन्द के साथ तन्मय हो जाती है जिसकी संप्राप्ति मानव के पाञ्चभौतिक, मानसिक और प्राणिक विकास के लिये आवश्यक है। शिव और शक्ति का संमिलन योग का मूल तत्व है। शक्ति को योग की भाषा में कुण्ड-लिनी या सुषुम्णा कहा गया है। वह शक्ति पहले सुप्तावस्था में रहती है किन्तु अभ्यास से वह जाग्रत होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है तब क्रमशः सुषुम्णा के मार्ग से उसका विकास होता है और अन्त में जब वह सहस्रार दल कमल या मस्तिष्क के उच्चतम केन्द्रों का स्पर्श करती है तो उसे ही शिव और शक्ति संमिलन या विवाह कहते हैं। वही कैलास है जहाँ शिव पार्वती का निवास है। कालिदास ने कुमार संभव में पार्वती तपश्चर्या का वर्णन किया है वह शक्ति की ऊर्ध्वगामिनी ईप्सा का ही काव्यमय वर्णन है और वह योगविद्या का ही अंग है। शिव पार्वती तत्व की वह काव्यमय कल्पना भारतीय साहित्य का अनुपम अंग है इस साधना में स्थूल काम भाव का निराकरण पहली आव-श्यकता है जो साधक इस योग विद्या का अभ्यास करना चाहता है कामभाव से मुक्ति उसकी पहली आवश्यकता है। रूप के जितने लोक या आकर्षण हैं उनका निराकरण वासनामुक्ति है। यही चित्तवृत्तियों का निरोध है। जैसा कवि ने लिखा है······

तथा समक्षंदहता मनोभवं
पिनाकिना भग्न मनोरथा सती
निनिन्द रूपं हृदयेषु पार्वती
प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता
इयष सा कर्तुमवन्ध्य रूपतां
समाधि मास्थाय यपोभिरात्मनः
अवाप्येत वा कथ मन्यथा द्वयं
तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः।

शिव द्वारा मदन दहन या बुद्ध द्वारा मार घर्षण एक ही प्रतीक के दो रूप हैं। काम वासना अधोगामिनी होती है। वह मन को अधिकाधिक भौतिक मल से संयुक्त करती है। इसके विपरीत योग की साधना ऊर्ध्वमुखी होकर जीवन की समस्त प्रवृत्ति को ही ऊँचा उठाती है। इस प्रकार ये भोग और योग के दो मार्ग हैं। इन्हीं को प्राचीन भाषा में पितृयान और देवयान कहा गया है। योग के द्वारा जो कल्याण साधन संभव है उसके लिये जिज्ञासु को इसका अवलम्बन लेना उचित है। इस विद्या की व्याख्या के लिये इस ग्रंथ के लेखक ने जो प्रयत्न किया है वह सर्वथा अभिनन्दन के योग्य है।

हस्ता० वासुदेव शरण

काशी विश्वविद्यालय

११-११-६४

—: ० :—

इस युग के दर्शन प्रभृति शास्त्रों के महान् विद्वान

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डा० श्री गोपीनाथ कविराज जी

एम० ए० डी० लिट०

# भूमिका

लेखक—पद्म विभूषण महामहोपाध्याय डा० श्री गोपीनाथ
कविराज जी एम० ए०, डी० लिट्०

( १ )

अध्यापक डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय ने योगतत्व जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए 'योगमनोविज्ञान' नाम से एक ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में बहुत परिश्रम से संकलन किया है। इस पुस्तक का अवलोकन कर मुझे प्रतीत हुआ कि इस ग्रन्थ के प्रणयन में उन्हें समान्य पातंजल दर्शन, प्रसिद्ध कतिपय योगोपनिषद् और हठ-योग प्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्ष शतक प्रभृति हठयोग के कई एक ग्रन्थों की आलोचना करनी पड़ी। और साथ ही साथ देह, प्राण और मनस्तत्व के विशदीकरण के लिए पाश्चात्य मनोविज्ञान से भी सहायता लेनी पड़ी। यह ग्रन्थ २६ अध्यायों में विभक्त है। इसमें से प्रारम्भिक चार अध्यायों में योग मनोविज्ञान प्राण तथा देह के विषय में विचार विमर्श किया गया है। मनोविज्ञान के प्रमेय की आलोचना के सिलसिले में तत्वदृष्टि से ५ में से १६ श अध्याय तक बारह अध्यायों में प्रायः सभी विषयों का आलोचन किया गया है। साधना की दृष्टि से १७ श से २१ श अध्याय तक ५ अध्यायों में अष्टांगयोग क्रियायोग, समाधियोग प्रभृति विषयों की आलोचना की गई है। विभूति तथा कैवल्य के लिए दो अध्याय रखे गये हैं। २३ वां और २४ वां। २२ वें अध्याय मे पुरुष के व्यक्तित्व की आलोचना की गई है। मनोविज्ञान के ऊपर एक अध्याय है ( २५ वां अध्याय )। सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्याय है २६ वां, जिसमें स्नायु-मण्डल चक्र तथा कुण्डलिनी तत्व की चर्चा की गई है।

१७ श अध्याय में प्रसिद्ध अष्टांग-योग के प्रत्येक अंग का विशद विवरण दिया गया है। प्रचलित ग्रन्थों में अष्टांग योग की बात ही मिलती है। परन्तु प्राचीन काल में षडंग योग का साधन भी बहुत व्यापक रूप से प्रचलित था। मार्कण्डेय तथा मत्स्येन्द्र नाथ परिगृहीत योग की बात छोड़ दी जाय। ब्रह्मसूत्र भाष्यकार आचार्य भास्कर ने अपने गीता भाष्य में जिस षडंग योग की बात कही है वह प्रतीत होता है कि वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित था। यह षडंग योग लौकोत्तर सिद्धि का असाधारण कारण माना जाता था। तान्त्रिक और

बौद्ध योगी भी प्रकारान्तर से षडंग योग का ही अनुसरण करते थे और कहते थे कि यही सम्यक् अथवा निरावरण प्रकाश का कारण है। समाजोत्तर नामक ग्रन्थ में इन छह योगांगों का निर्देश इस प्रकार मिलता है —

"प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथेधारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगो योग उच्यते ॥

इसका विशेष विवरण विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। द्रष्टव्य...... गुह्यसमाज, काल-चक्रोतर तन्त्र, सेकोद्देश और उसकी टीका ( तिलापा और नडोवाकृत ) इत्यादि।

वहति कल्याणाय वहति पापाय च। इससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक साधक के अन्तस्तल में यह ऊर्ध्व स्रोत विद्यमान है-है सही परन्तु वह प्रतिवद्ध है। इस ऊर्ध्व स्रोत को जगाये बिना इसका उपयोग ठीक ठीक नहीं हो सकता। इसका विशेष विश्लेषण पातंजल योग में नहीं है परन्तु पालिबौद्ध साहित्य में है और आगम में भी है। प्राचीन बौद्ध लोग इसी कारण कामचित्त और ध्यानचित्त में भेद मानते थे। ध्यानचित्त लौकिक अथवा लोकोत्तर दोनों ही हो सकता है। रूप तथा आरूप्य धातु आलम्बन होने पर लौकिक ध्यान चित्त होता है, परन्तु आलम्बन यदि निर्वाण हो तो वह चित्त लोकोत्तर होता है। कामधातु का निम्नतर चित्त भी उपदेश तथा तपस्या के प्रभाव से और उपचार समाधि के माध्मम से उच्चतर ध्यान चित्त में परिणत हो सकता है। स्थिर और अचंचल प्रविभाग चित्त होने पर उपचार ध्यान निष्पन्न हो सकता है। परिकर्म तथा उद्ग्रह निमित्त की अवस्था में उपचार ध्यान नहीं होता प्रत्यक्ष स्थूल दृष्टि का विषयीभूत आलम्बन को परिकर्म कहते हैं। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर वह उद्गह कहा जाता है। वह मानस दृष्टि का विषयाभूत है। उसमें निरन्तर अभ्यास करने पर ज्योतिर्मय शुभ्र प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। इसके प्रभाव से चित्त के पांच प्रकार के नीवरण अर्थात् आवरण क्षीण होने लगते हैं। इसके बाद समाधि की अवस्था का उदय होता है। यह है उपचार समाधि। इस समय काम चित्त ध्यान चित्त में परिणत हो जाता है किन्तु ध्यान चित होने पर भी वह कामधातु के ऊर्ध्व में तबतक जा नहीं सकता जब तक नीवरणों से मुक्त न हो जाय परन्तु निवरणों से मुक्त होने पर भी आरूप्य भेद नहीं होता विश्व से विश्वातीत में जा नहीं सकता और साकार से निराकार में प्रवेश नहीं कर सकता अर्थात् लोकचित्त लोकोत्तर नहीं हो सकता। असली बात यह है कि जो पृथक् जन है वह प्रथक जन ही रह जाता है आर्य नहीं हो सकता अर्थात् निर्वाण लाभ का अधिकारी नहीं होता।

पातंजल सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि से असंप्रज्ञात समाधि में आरूढ़ होने के प्रसंग में चित अचित् ग्रन्थिभेद होना शुरू हो जाता और विवेक ख्याति का मार्ग खुल जाता है। विवेक मार्ग में चलते चलते पुरुष ख्याति और तन्मूलक गुण वैतृष्ण्य रूप पर वैराग्य का उदय होता है। अन्त में उसका भी निरोध होकर धममेघ समाधि की प्राप्ति होती है और कैवल्य का लाभ होता है। प्राचीन बौद्ध साधना में प्रसिद्ध है कि निर्वाण के मार्ग में भी उपचार समाधि के माध्यम से ही जाना पड़ता है। कहा गया है कि भवांग स्रोत के सूत्र का उच्छेद होने पर काम धातु का विशिष्ट कुशल चित कुछ क्षणों के लिए क्षणिक परिणाम का अनुभव करता है। एक-एक क्षण का परिणाम जवन नाम से प्रसिद्ध है। तदनुसार गोत्रभू जवन, अन्तिम क्षण का नाम है। इसका आलम्बन निर्वाण है। परिकर्म और उपचार अवस्था पहले थी, अब लौकिक चेतना से लोकोत्तर चेतना का विकास हुआ। जो पहले पृथग्जन था वह इस समय आर्य रूप से परिणत हुआ। गोत्रभू के परवर्ती क्षण का नाम है अर्पण क्षण। यह क्षण चेतना के परिवर्तन का सूचक है। यथार्थ Convesion या Transformation इसी का स्वरूप है। पांतजल योग में इसका आरंभ होता है संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात भूमियों के सन्धिक्षण अर्थात् अस्मिता भूमि के अंतिम-क्षण में। अविद्याकार्य अस्मिता रूपी द्वार से ही जीव को संसार में भोग के लिए प्रवेश करना पड़ता है। अनन्तर भोग भूमि संसार से अपवर्ग के लिए निर्गम भी होता है। उसी अस्मितारूपी द्वार से ही। उस समय विवेक ख्याति की सूचना होती है। जैसे जैसे अस्मिता टूटने लगती है उसी मात्रा से चित् रूप पुरुष का स्वस्वरूप में अवस्थान संनिहित होने लगता है।

२२ ति अध्याय में व्यक्तित्व का विचार किया गया है। ग्रन्थकार ने दर्साया है कि व्यक्तित्व का आधार स्थूल शरीर नहीं है, किन्तु सूक्ष्म शरीर है। "भावैरधि--वासितं लिंगम्"-यह सांख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पुरुष का उपाधिस्वरूप यह लिंग कैवल्य पर्यन्त रहता है। यह प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न है। सांख्यदृष्टि से पुरुष अनन्त है अर्थात् नाना हैं। केवलावस्था में भी वे अलग-अलग ही रहते हैं। न्याय वैशेषिक दृष्टि से भी आत्मा नाना हैं। मुक्त होने पर भी यह नानात्व हटता नहीं है। वैशेषिक आचार्यों ने मुक्त आत्मा में एक ' विशेष" पदार्थ का स्वीकार किया है जिससे प्रत्येक आत्मा अलग-अलग अर्थात् परस्पर विलक्षण प्रतीत होता है। उस मत के अनुसार मन में भी विशेष है। मन नित्य है और अनेक है। मुक्तावस्था में भी मन का विशेष विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति में भी जिस आत्मा का जो मन

है उसके साथ उसी का सम्बन्ध रहता है। योगमत में भी सांख्यवत् केवली पुरुष नाना हैं। प्रत्येक पुरुष का ही अपना-अपना सत्त्व है। यह सत्त्व कैवल्य में अत्यन्त निर्मल हो जाता है--'सत्त्वपुरुषयो-- शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।' प्राकृत सत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है--'प्रलयं वा गच्छति !' अत्यन्त शुद्ध सत्व लीन न होकर आत्मा के सदृश स्थित रहता है--'आत्मकल्पेन व्यवतिष्टते ।' प्रतीत होता है कि आत्मा सदृश होकर यह नित्य आत्मा के साथ ही साथ रहता है। यदि यह बात मान ली जाय तो कैवल्य में वैशेषिक के तुल्य सत्त्व रह सकता है और वह भिन्न पुरुष के भिन्न भाव या वैशिष्ट्य का नियामक रहता है। इसके ऊपर भी प्रश्न उठ सकता है, उसका समाधान भी है। अद्वैत आगम में लिखा है कि जब शिव भाव से स्वातन्त्र्य-मूलक आत्मसंकोच से पशुत्व या जीवत्व का आविर्भाव होता है तब संकोच के तारतम्य से पशुभाव में भी तारतम्य होता है। एक ओर पूर्ण अहन्ता रहती है और दूसरी ओर असंख्य परिछिन्न अहम्। इस परिछिन्न अहम की रचना मातृका चक्र का एक गम्भीर रहस्य है।

२३ श और २४ श अध्यायों में केवल्य का विवरण दिया गया है। ये दोनों अध्याय संक्षिप्त होने पर भी सुलिखित हैं।

२६ श अध्याय में स्नायु मण्डल, चक्र तथा कुण्डलिनी का विचार किया गया है ग्रन्थकार ने इस अध्याय के लिए विशेष परिश्रम किया है। इसमें यह दिखाया गया है कि प्राचीन काल में भारतीय योगाभ्यासियों का शरीर विज्ञान वर्तमान काल के विज्ञानविदों के ज्ञान से कम नहीं था प्रत्युत अधिक ही था। विद्यार्थियों के लिये यह अध्याय बहुत उपयोगी है। इसमें विभिन्न आधार ग्रन्थों के अनुसार प्रसिद्ध नाडीजाल का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार की बहुदर्शिता का प्रमाण इससे स्पष्टतः उपलब्ध होता है।

(२)

पातंजल योग दर्शन का साधारण परिचय वर्तमान ग्रन्थ में पूर्णरूप से मिलेगा। ग्रन्थकार का उद्देश्य भी योग का साधारण परिचय प्रदान ही है इसमें सन्देह नहीं। जिन गम्भीर तत्वों का दिग्दर्शन पातंजल के सूत्र तथा व्यास भाष्य में मिलता है उनका थोड़ा आभास ज्ञान प्राथमिक विद्यार्थी को होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर प्रतीत होगा कि इन सब गम्भीर विषयों का अलोचन योग विषयक साधारण ग्रन्थ में आवश्यक हैं। मैं यहाँ पर दृष्टान्त के रूप में दो चार प्रश्नों का उल्लेख करता हूँ--

(क) क्रम विज्ञान, क्रम रहस्य के उद्घाटित न होने पर एक ओर कालतत्व बोधगम्य नहीं हो सकता और दूसरी ओर परिणाम तत्व का भी स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। विवेकज ज्ञान का अंगीभूत तारक ज्ञान अक्रम सवार्थविषयक और सर्वप्रकार भाव विषयक ज्ञान है विवेकज ज्ञान के मूल में क्षण तथा क्षण क्रम का संयम रहना आवश्यक हैं। प्राकृतिक परिणाम के वैशिष्व्य्य का नियामक क्रमगत वैशिष्व्य है। प्राचीनशाक्त, कौल, महार्थ सम्प्रदाय प्रभृति में क्रम का विवेचन था। क्षणभंगवादी बौद्धों में भी था। क्षण का आलोचन भी अत्यन्त आवश्यक है। एक ही क्षण में सर्वजगत परिणाम का अनुभव करता है इस वाक्य का तात्पर्य क्या है ? एक ही क्षण किस प्रकार से अनादि अनन्त बौद्ध पदार्थरूपी घिशाल काल के रूप में परिणत होता है। मनोविज्ञान के इस रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक है। प्रसंगत: बाह्य धर्म, लक्षण और अवस्था नामक त्रिविध परिणामों के अन्तर्गत लक्षण परिणाम के प्रसंग में त्रिकाल की ओर अवस्था परिणाम के प्रसंग में क्षण की आलोचना आवश्यक है। ( ख ) भूतजय से जिस काय सम्पत् का लाभ होता है वह क्या है ? नाथपन्थी, कौल, माहेश्वर सिद्ध, रसेश्वर तथा बौद्ध तान्त्रिक इन सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के योगियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में देह सिद्धि का विवरण दिया है। कायसम्पत् से उसका किसी अंश में सम्बन्ध है क्या ? पंचरूपापन्न पंच भूतों के अन्वय तथा अर्थवत्व इन दो रूपों का वास्तव परिचय क्या है ?

( ग ) विशोको सिद्धि का रहस्य क्या है ? क्या यह तन्त्रसम्मत इच्छाशक्ति से सम्बन्ध रखता है ?

( घ ) निर्माण चित का स्वरूप कैसा है ? प्रसिद्धि है कि आनि विद्वान् भगवान् परमर्षि ( कपिलदेव: ) ने सृष्टि के आदिकाल में निर्माण चित्त में अधिष्ठित होकर कारुण्य से जिज्ञासु आसुरि को तन्त्र का अर्थात् षष्टि तन्त्र का उपदेश दिया था। सिद्ध अवस्था का उदय जन्म, औषधि, तपस्या अथवा ध्यान या समाधि से हो सकता है अस्मिता से निर्माण चित्त का भी। पूर्वोक्त कारण के अनुसार चित्त नाना प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु यद्यपि सभी चित्त अस्मिता से ही उत्पन्न होते हैं और सभी निर्माण चित्तरूपी ही है, फिर भी सब एक प्रकार के नहीं हैं। क्योंकि सब चित्तो में कर्माशय रहता है। एकमात्र समाधि-जात निर्माण चित्त में कर्माशय नहीं रहता। यही ज्ञानोपदेश के लिए उपयोगी आधार है। परमर्षि द्वारा परिगृहीत चित्त उसी प्रकार का रहा, यह माना जा सकता है। सद्गुरु का शासन कार्य सम्पादन करने के लिए ही उस

प्रकार के चित्त के कारण की आवश्यकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि निर्माण चित्त धारण पूर्वक षष्टितन्त्र प्रवचन करने के समय परमर्षि की स्थिति कहां थी? क्या वे षड्विंश तत्व रूप नित्य ईश्वर में सायुज्यावस्थापन्न रहे? भाष्यकार ने इस प्रवचन का विवरण ईश्वर प्रतिपादक द्वितीय सूत्र के भाष्य के अन्त में दिया है। निर्माण चित्त और निर्माण काय अभिन्न हैं। बुद्धदेव के निर्माण काय परिग्रह का विवरण पालि साहित्य में मिलता है। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में कहा है कि सम्प्रदाय प्रद्योतक परमेश्वर ही निर्माणकाय का परिग्रह करते हुए तत्तत् सम्प्रदाय या ज्ञानधारा का प्रवर्तन करते हैं। 'प्रयोजक प्रयोज्य वृद्ध' की बात इस प्रसंग में स्मरणीय है। तन्त्रों में भी सृष्टि के आदि में ज्ञानोपदेश के लिए परमेश्वर के गुरु शिष्य रूपेण, देह द्वयपरिग्रह का विवरण मिलता है। वैष्णव ग्रन्थों में भी इस प्रकार का विवरण देखने में आता है। औपदेशिक ज्ञान का अवतरण रहस्य इसी सिलसिले में प्रकट करने योग्य हैं। अवश्य योगशास्त्र की परम्परा के अनुसार अनौपदेशिक ज्ञान अथवा प्रातिभ ज्ञान के अवतरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह परम्परामूलक नहीं है।

## [ ३ ]

### ( क )

भारतीय साधना के प्रत्येक क्षेत्र में योग का स्थान सर्वोच्च है। योग का सहारा लिये बिना किसी प्रकार की साधना साध्य प्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती। अनादि अविद्या के प्रभाव से मनुष्य का चित्त स्वभावतः ही बहिर्मुख है। इस बहिर्मुख चित्त को अन्तर्मुख करने के लिए जो सक्रिय प्रयत्न है वही योग का प्राथमिक रूप है। कर्म के मार्ग से हो, चाहे ज्ञान के मार्ग से हो अथवा भक्ति के मार्ग से हो अथवा अन्य किसी उपाय से हो चित की एकाग्रता का सम्पादन आवश्यक हैं। जबतक वह नहीं होता तब तक सफलता की आशा दुराशामात्र है। चित्त के एकाग्र होने पर ही बहिरंग साधन प्रणाली सार्थक होती है। उस समय एकाग्रता की क्रमवृद्धि से बाह्य सत्ता का बोध धीरे धीरे हट जाता है। अन्त में केवल निज सत्ता का बोध ही रह जाता है। इस बोध का जो प्रकाश है उसमें समग्र विश्व प्रतिभासमान होने लगता है। इसकी पूर्ण परिणति होती है अस्मिता समाधि में।

अनादि काल से प्रकृति के साथ पुरुष का जो अविवेक चला आ रहा है उससे सर्वप्रथम अस्मिता का ही आविर्भाव होता है, उसके पश्चात् राग, द्वेष

आदि क्लेशों का। इन क्लेशों से उपरंजित चित्त वद्ध पुरुष का नित्य साक्षी है। त्रिगुणात्मक चित्त में गुणों की प्रधानता के भेद से यह चित्त कभी मूढ, कभी क्षिप्त और कभी विक्षिप्त रहता है यह स्थिति संसारी जीवों के लिए है। मूढ़ अवस्था में तमोगुण की प्रधानता रहती है, क्षिप्त अवस्था में रजोगुण की तथा विक्षिप्तावस्था में रज की प्रधानता रहने पर भी कदाचित सत्त्व की स्फूर्ति होती है। योगी का चित्त दो प्रकार का है... (१) एकाग्र और (२) निरुद्ध। एकाग्र चित्त में सत्व गुण का उत्कर्ष रहता है। संसारी चित्त मूढादिवृत्ति वहुल है। किन्तु योगी के एकाग्र चित्त में एकमुखी वृत्ति रहती है, एकालम्बन भाव रहता है जिसके प्रभाव से योगी के चित्त में प्रज्ञा का उदय होता है। अतएव सभी एकाग्र चित्त प्राज्ञ चित्त हैं। सम्प्रज्ञात समाधि भूमि का चित्त आलम्बन-भेद से विभिन्न प्रकार का है। ग्राह्य ( स्थूल और सूक्ष्मः ) ग्रहण और ग्रहीता चित्त के आलम्बन हो सकते हैं। तदनुसार वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का अनुगम होता है। प्रज्ञा सर्वत्र ही रहती है, परन्तु ग्राह्य भूमि में शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सांकर्य रहने पर सविकल्पक दशा का उदय होता है और स्मृति-परिशुद्धि के प्रभाव से सांकर्य हट जाने पर वह स्थान निर्विकल्पक दशा के नाम से अभिहित होती है। ग्रहण और ग्रहीता के स्थल में विकल्प का प्रश्न उठता ही नहीं है।

यह प्रज्ञा ही ज्योतिः स्वरूप है। इसका चरम विकाश अस्मिता भूमि में होता है। विभूतियों का भी चरम प्रकाश उसी स्थान में होता है। भूतों के जय से प्राप्त होने वाली सिद्धियां अष्टसिद्धि तथा काय सम्पत् के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्रियों के जय से मधुप्रतीक सिद्धियों का उदय होता है। प्रधान के जय से विशोका सिद्धि का उदय होता है। उस समय सर्वगत्व और सर्वभावाधिष्टातृत्व आयत हो जाते हैं। ये सब उच्चकोटि की सिद्धियाँ सिद्धि होने पर भी निरोध की दृष्टि से हेय हैं। अस्मिता भूमि में भी चिद् अचिद् ग्रन्थि का भेद नहीं होता। वस्तुतः संसार में प्रवेश अस्मिता के द्वार से ही होता है और संसार से निर्गम भी उसी द्वार से होता है, यह पहले कह आये हैं। विभूतियों की ओर तथा भोग ऐश्वर्य की ओर जब तक वैराग्य न हो तब तक कोई विवेक के मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। भोग वितृष्णारूप वशीकार संज्ञा अपर वैराग्य के प्रतिष्ठित हुए बिना विवेक ख्याति खुलती ही नही।

जब ग्रन्थि का उन्मोचन होने लगता है और विवेक ख्याति का विकास क्रमशः बढ़ने लगता है तब यह समझ में आता है कि निरोध के मार्ग में अग्रगति

हो रही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि एकाग्रवृत्ति भी वृत्ति ही है उसका भी निरोध होना आवश्यक है। विवेकख्याति के आलोक से सत्य मार्ग अधिकाधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। पूर्ण प्रज्ञा प्रसन्न हुए बिना यह नहीं हो सकता। उस समय —

प्रज्ञाप्रासादमारूह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

वे समग्र विभूतिराज्य को पीछे रख कर विवेकी पुरुष कैवल्य की ओर अग्रसर होते हैं। यही वास्तव में निवृत्ति मार्ग है। इस मार्ग में चलते चलते पुरुष ख्याति का उदय होता है अर्थात् आत्मा का साक्षातकार होता है विशुद्ध आत्मा का नहीं गुण युक्त आत्मा का यह स्मरण रखना चाहिए। उस समय आत्मा और गुण परस्पर संयुक्त भाव से दिखाई देते हैं। यह है पुरुष और प्रकृति के युगल रूप का दर्शन। उसका फल है एक ओरगुण वैतृष्णय रूप पर वैराग्य का उदय और दूसरी ओर विशुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिति की योग्यता की वृद्धि। शुद्ध आत्मा द्रष्टा है दृश्य नहीं है, अतएव शुद्ध आत्मा का दर्शन उस प्रकार से नहीं हो सकता। इधर गुण भी स्वरूपतः अव्यक्त होने कारण दर्शनयोग्य नहीं है। उनका समाधि प्रज्ञा से दर्शन हो सकता। इसीलिए योगी लोग कहते हैं– "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायैव सुतुच्छकम्। गुण परिणामी हैं, परन्तु आत्मा है अपरिणामी। जब दर्शन होता है तब एक ही साथ दोनों का दर्शन होता है। यह एक अद्भुत रहस्य है। गुण दर्शन के साथ ही साथ गुण वितृष्णा का उदय होता है। यही पर वैराग्य है। इसके पश्चात् विवेक ख्याति पूर्ण होती है। अन्त में उसके प्रति भी वितृष्णा हो जाती है। तब संस्कार बीजों के क्षीण होने कारण धर्ममेघ समाधि का आविर्भाव होता है। इस समय क्लेश कर्म निमूल हो जाते हैं और गुणों का परिणाक्रम समाप्त हो जाता है। भोग और अपवर्ग इन दो पुरुषार्थों के सम्पादन में ही चित्त का अधिकार है। उस समय अधिकार की समाप्ति हो जाने से चित्त व्यक्त नहीं रहता, मूला प्रकृति में विलीन हो जाता है। चिदात्मक पुरुष तब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यही कैवल्य है।

जब तक चित्त रहता हैं तबतक कैवल्य नहीं हो सकता। चित्त के एकाग्र-भूमि में रहने पर अपर योग सम्पन्न होता है, जिसका पारिभाषिक नाम है सम्प्रज्ञात। परन्तु जब वह निरुद्ध भूमि में रहता हैं तब परयोग भूमिका उदय होता है। इसी का नामान्तर है उपाय प्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि। इस अवस्था

में चित्त संस्काररूप से विद्यमान रहता है। उसमें वृत्ति तो नहीं ही रहती परन्तु वृत्तियों के उदय की स्वरूप योग्यता रहती है। उस समय चित्त में सर्वार्थता परिणाम नहीं रहता एकाग्रता परिणाम भी नहीं रहता, केवल निरोध परिणाम रहता है। यही आत्मा की द्रष्टा अवस्था है।

(ख)

परन्तु यह स्थिति भी आत्मा की परम स्थिति नहीं है। जिस योग से इस स्थिति की प्राप्ति होती है वह योग भी योग का परम स्वरूप नहीं है। याज्ञवल्क्य ने कहा है—"अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।" यह अवस्था अचित् तत्त्व से विविक्त ( पृथक्कृत ) चित्तत्व का प्रकाश है। चित्तत्व ही आत्मा है। प्रकृति, माया यहाँ तक कि महामाया से आत्मा को पृथक कर उसके निर्मलतम स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है। परन्तु यह भी वास्तव में आत्म साक्षात्कार नहीं है, क्योंकि उस सयय भी यथार्थ परमेश्वर रूप का उन्मेष नहीं होता। कारण, आणव मल रूप संकोच आत्मा में जब तक रहेगा तब तक भगवत्ता सुलभ स्वातन्त्रय के उन्मीलन की आशा कहां? तब तक जीवात्मा विशुद्ध होने पर भी तथा अचिति भाव से रहित होने पर भी उसको शिवत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती और आत्माका परम ऐश्वर्य भी नहीं खुलता। असली बात यह है कि आत्मा की परा शक्ति उस समय भी एक प्रकार से सुप्त ही है। रहने पर भी वह न रहने के तुल्य है। उस शक्ति का जागरण होने पर समग्र विश्व ही आत्मा की स्वशक्ति के स्फुरण रुप से प्रतीत होने लगता है। उस समय विश्व भी शक्तिरूप होने के कारण शिवरूपी आत्मा के साथ अभिन्न रूप से प्रतीत होने लगता है। उस समय पता चलता है कि आत्मा केवल द्रष्टा ही नहीं है परन्तु कर्ता भी है। पाणिनिका सूत्र है "स्वतन्त्रः कर्ता" यह स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व है। यही आत्मा का परमेश्वरत्व है। यह आमा का आगन्तुक धर्म नहीं है—किसी उपाधि के सम्बन्ध से उद्भुत धर्म नहीं है। सांख्य में पुरुष का ईश्वरत्व और वेदान्त में ब्रह्म का ईश्वरत्व दोनों ही औपाधिक हैं। चित्स्वरूप में चित्-शक्ति के अनुन्मेष के कारण इस प्रकार से ही ईश्वरत्व का उपादान करना पड़ता है। वस्तुतः ईश्वरत्व आत्मा का निज स्वभाव है।

इस कारण योग की पूर्णता तभी हो सकती है जब आत्मा अपने ईश्वर रूप को परामर्शन कर सके। शक्ति तथा शैव अद्वैत आगमों में इस विषय में विस्तार पूर्ण विवरण मिलता है आत्मा अखण्ड प्रकाशस्वरूप है। उनकी निज शक्ति इस प्रकाश को अहंरूप से परामर्शन करती है। दृष्टिभेद से इस पराशक्ति के विभिन्न

नाम तत्तत् स्थलों में मिलते हैं-जैसे स्वातन्त्र्य, परावाक्, पूर्ण अहन्ता, कर्तृत्व इत्यादि। शक्ति हीन प्रकाश अप्रकाशकल्प है और अप्रकाशहीन शक्ति जड़ या अचिद् रूपा है। शिव हीन शक्ति नहीं हो सकती तथा शक्तिहीन शिव भी नहीं हो सकती। भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ के ब्रह्मकाण्ड में कहा था--

वागूरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत साहि प्रत्यवमर्शिनी॥

यह अत्यन्त सत्य बात है। स्वातन्त्र्य से अविद्या के आधार पर जब प्रकाश शक्ति हीन होता है और शक्ति भी प्रकाश हीन होती है तब शिव और शक्ति तत्वों का आविर्भाव होता है। इन दोनों में स्वरूप का संकोच रहता है। प्रकाश तब स्वप्रकाश नहीं होता और शक्ति भी उस समय चिद्रूप नहीं रहती। यही आणव मल का द्वैविध्य-आदि संकोच है। पूर्ण परम पद से इस संकोच के द्वारा ही विश्व सृष्टि की सूचना होती है। जो लोग विवेक-मार्ग में चलते हैं, उन लोगों की विवेक-ख्याति की पूर्णता के अनन्तर कैवल्य में स्थिति होती है। यद्यपि इस अवस्था में माया तथा कर्म नहीं रहते, यह सत्य है, तथापि आत्मा का संकोचरूप मल निवृत्त नहीं होता और आत्मा में चित्-शक्ति का उन्मेष भी नहीं होता। तान्त्रिक दृष्टि से जो लोग योगमार्ग में चलने के लिए प्रवृत्त होते हैं वे शुद्ध विद्या प्राप्तकर शुद्ध अध्वा में गुप्तभाव से अग्रसर होते हैं। "गुप्त भाव से" शब्द का प्रयोग इसी भाव से किया गया है कि कर्मफल का भोग पूर्णतया न होने के कारण उन लोगों का मायिक शरीर का पात नहीं होता और उन लोगों को प्रारब्धजन्य फल भोग यथाविधि करना पड़ता है। दीक्षा के प्रभाव से उनका पौरुष अज्ञान निवृत्त होता है, उसके बाद उपासनादि योगक्रिया के द्वारा बौद्ध ज्ञान का उदय होता है जिससे बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होती है और साथ ही साथ वे अपना स्वभावसिद्ध शिवत्व का अनुभव करने लगते हैं। यह एक प्रकार की जीवन्मुक्त अवस्था है। देहान्त में प्रारब्ध भोग की समाप्ति होने के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय होता है। 'शिवोऽहम्' ज्ञान पहले हुआ था अब शिव स्वरूप में स्थिति होती है।

ये सब योगी विवेक ज्ञान के मार्ग से जाते नहीं है, परन्तु शुद्ध विद्या के प्रभाव से उनकी विवेकनिष्पत्ति हो जाती है। शुद्ध विद्या का मार्ग समग्र महामाया पर्यन्त विस्तृत है। केवल विवेक ज्ञान के प्रभाव से इस मार्ग का पथिक नहीं हुआ जा सकता। यह यथार्थ योग मार्ग है। अधिकार, भोग और लय या विश्रान्ति ये इस मार्ग के तीन स्तर हैं। शुद्ध वासना भी यदि न रह जाय तब क्रम नहीं रहता

और अधिकार वासना यदि निवृत्त हो जाय तब अधिकार प्राप्ति नहीं हो सकती। भोग-शासना के अभाव से शुद्ध भोग-लाभ नहीं हो सकता। बौद्ध योगाचार्यों का अक्लिष्ट अज्ञान जिस प्रकार का हैं यह शुद्ध वासना प्रायः उसी प्रकार की है। क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होने पर जैसे बोधिसत्व भूमि का लाभ होता है और उससे संचार होता है वैसे ही अनात्मा में आत्मबोध रूप अज्ञान के निवृत्त होने पर और उसके अनन्तर आत्मा के स्वरूप ज्ञान के शुद्ध विद्या रूप में गुरुकृपा से प्रकट होने पर आत्मा में अनात्मबोधरूप अज्ञान निवृत्त हो जाता है। क्रमशः ईश्वर दशा और सदाशिव दशा का अतिक्रमण कर आत्मा शिवशक्ति सामरस्य पूर्ण आत्मसत्ता की उपलब्धि करते हैं और उसमें स्थितिलाभ भी करते हैं। पूर्ण आत्मस्वरूप की उपलब्धि में पुरुष और प्रकृति का परस्पर भेद नहीं रहता। उस समय आत्मा विश्वातीत होकर विश्वात्म रूप से और विश्वात्मक होकर विश्वातीत रूप से नित्य है, यह समझ में आता है।

आत्मा के जागरण का एक क्रम है। उसके अनुसार प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प तथा सुप्रबुद्ध—इन अवस्थाओं का चिन्तन करना चाहिए। जब तक आत्मा में भेदज्ञान प्रबल रहता है तब तक वह आत्मा संसारी कहा जाता है। अभेद ज्ञान का उन्मेष होने पर ही जागरण की सूचना होती है। जब अभेदज्ञान पूर्ण होता है तब उस अवस्था को सुप्रबुद्ध कहते हैं।

आत्मा का जागरणक्रम अनुधावन योग है। आत्मा जब तक सुप्त रहते हैं तब तक उनमें स्वविमर्श नहीं रहता, इसीलिए पिण्डमात्र में उनकी अहन्ता दिखाई देती है। यह देहाभिमान सर्वत्र विद्यमान है। इस अभिमान के रहने के कारण आत्मा अपने को विश्वशरीर अथवा विश्वरूप समझ नहीं सकते और उनका जागरण भी होने नहीं पाता। असली बात यह है कि विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्य है और अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य है, जिसका नामान्तर है ग्राहक। विशुद्ध आत्मा ही परमशिव है। अनाश्रित तत्त्व से पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्व ही उनका शरीर है। अनवच्छिन्न चैतन्य और ग्राहक चैतन्य ठीक एक प्रकार के नहीं है। पहला आत्मा विशेष रूप ग्राह्य की ओर उन्मुख नहीं रहते। उस प्रकार की उन्मुखता जिसकी होती है उसका नाम है ग्राहक। उसका चैतन्य अवछिन्न है। वस्तुतः ग्राह्य द्वारा ही यह अवच्छेद होता है। अनवच्छिन्न चैतन्यरूपी आत्मा के प्रतिनियत विशेषरूप का भान नहीं होता। उसकी अखण्ड सामान्य सत्ता का भान होता है। इस सामान्य सत्ता का अनुसन्धान ही 'स्वभाव' कहा जाता है। इसी का नाम सर्वत्र अर्थात् बहु के भीतर एक का अनुसन्धान

है। कोई भी आत्मा अपना ग्राहकत्व या प्रतिनियत दर्शनादि से मुक्त होने पर अनवच्छिन्न चैतन्यरूप और विश्वशरीर होता है।

सुप्त आत्मा विभिन्न स्तरों में है। किसी कि अस्मिता क्रियाशील है विषयों में, किसी की देह में, किसी की इन्द्रियों में, किसी की अन्तःकरण में, किसी की प्राण में और किसी की शून्य में या सुपुप्त माया में। यह अभिमान केवल देह या दृश्य में ही होता हो सो बात नही है देहवेध विषयों में भी होता है। पक्षान्तर में अदृश्य सत्ता में भी अहं विमर्श हो सकता है। अहं अभिमान होता है वस्तुतः चिति का या सेवित का, ग्राहक का नहीं।

इससे यह सिद्ध होता है कि अस्मिभाव है और किसी किसी पद में उसकी धारणा भी की जा सकती है। यदि उसकी धारणा षडध्वा में की जाय, यदि शिवादि क्षितिपर्यन्त सब वस्तुओं में नित्य सिद्ध प्रत्यभिज्ञा द्वारा अनुसन्धान किया जाय, तो साधारण आत्मा भी अपने को विश्वरूप समझ सकेगा।

जिसमें चिति का दृढ़ अभिनिवेश रहता है, उस वस्तु में इच्छा मात्र से ही क्रिया का उत्पादन किया जा सकता है। अस्मिता का तात्पर्य है अहमाकार अभिनिवेश मात्र। शुद्ध आत्मा अथवा शिव का अभिनिवेश विश्व के सब स्थानों में निरन्तर है, क्योंकि शिव ग्राहक अथवा अवच्छिन्न प्रकाशरूप नहीं है। यह अहन्ता बिन्दु से शरीर पर्यन्त सर्वत्र व्यापक है। बिन्दु है स्वरसवाहिनी सामान्यभूता सूक्ष्मा अहंप्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण आदि प्रतीति विशेष के उदय के बाद होती है। अभिमान अध्यवसाय आदि अन्तःकरण की क्षोभक सत्ता का नाम प्राण है। बुद्धि तथा अहंकार का नामान्तर शक्ति है। इनके बाद हैं मन, इन्द्रियां और देह, जिनका तात्पर्य स्पष्ट है। बिन्दु से शरीर पर्यन्त छहों को आविष्ट कर जो अहंता व्यापक रूप से विद्यमान है उसकी धारणा होनी चाहिये। भावना द्वारा अहंता का विकास होता है। यही कर्तृत्व या ईश्वरत्व है, यही स्वातन्त्र्य या चित्स्वरूपता भी है। सिद्धिमात्र ही अहंतामय है। चाहिये एक मात्र दृढ़ प्रत्यभिज्ञा।

अब जागरण के क्रम के विषय में कुछ विवेचन करेंगे। प्रमाता की विभिन्न प्रकार की प्रतीतियां है। सुप्त आत्मा का लक्षण यह है कि इसकी दृष्टि में ग्राहक चिदात्मक है और ग्राह्य उससे विलक्षण अचिदात्मक है। समग्र विश्व अखण्ड सत्ता या प्रकाश के अन्तःस्थित है, क्योंकि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभति।' फिर भी सुप्त आत्मा समझता है कि यह (विश्व) उससे बाह्य है। इस प्रकार का आत्मा संसारी है। परन्तु जो आत्मा सुप्त नहीं है पर

ठीक-ठीक जाग्रत भी नहीं है, उसे जाग्रत्कल्प कहते हैं। शुद्ध विद्या प्राप्त प्रमाता या जो संप्रज्ञात समाधि प्राप्त कर चुके हैं ऐसे प्रमाता इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये सुप्त नहीं हैं, क्योंकि इनमें भेद प्रतिपत्ति नहीं है अर्थात् अभिन्न वस्तु में भिन्न प्रतीति नहीं है। फिर इनकी उद्भव अवस्था का भी उदय नहीं हुआ। भव या संसार न रहने पर भी उसका संस्कार है। इनके सामने दृश्य अन्तःसंकल्प रूप से भिन्नवत् प्रतीयमान रहता है। यह शुद्ध विद्या के प्रभाव का फल है। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था अभीतक है। अविवेक इनमें अभी भी विद्यमान है। इसके बाद विवेक ख्याति का उदय होता है। उसके अनन्तर शुद्ध चित् का प्रकाश होता है। यह सिद्धान्त पातंजल योग-संप्रदाय का है। इस अवस्था को स्वप्नवत् कहा जा सकता है। सुप्ति नही है, परन्तु प्रबोध भी ठीक-ठीक नहीं हुआ। प्रबुद्धता होने पर भेद संस्कार नही रहता। इस प्रकार के योगियों में धर्माधर्म या कर्म का क्षय हो जाता है, इसलिए दृष्टि विशेष के अनुसार इन्हें मुक्त भी कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव में इन्हें मुक्त कहना उचित नहीं है। आगम की परिभाषा के अनुसार ये सब आत्मा रुद्राणु के नाम से परिचित हैं। ये भी पशुकोटि में ही हैं। संवित्-मार्ग के सिद्धान्त के श्रवण में इनका भी अधिकार नहीं है।

इसके अनन्तर जाग्रत् या प्रबुद्ध प्रमाता की प्रतीति के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। इनमें भेद संस्कार तथा अभेद संस्कार दोनों ही रहते हैं। इन लोगों को जड़ वस्तुओं की प्रतीति इंदरूप से होती है। इन्हीं आत्माओं की दृष्टि से समग्र विश्व स्वशरीर कल्प प्रतीत होने लगता है। यह ईश्वर अवस्था का नामान्तर है जिसमें दो विभिन्न रूपों से प्रतीति युगपत रहती है।

इसके बाद सुप्रबुद्धकल्प आत्मा की प्रतीति का विषय समझना चाहिये। इन आत्माओं में इदं प्रतीति के विषय वेद्य अहमात्मक 'स्वरूप में निमग्न होकर निमिषितवत प्रतीत होते हैं और ये सब उद्भवी है अर्थात् अभेद प्रतिपत्ति या कैवल्य प्राप्त होकर अहमात्मक स्वरूप में निमग्न रहते हैं। यह अहन्ताच्छादित अस्फुट इदन्ता की अवस्था है। शास्त्रदृष्टि से इसका नाम सदाशिवावस्था है। यह भी पूर्ण आत्मा की स्थिति नहीं है।

इसके पश्चात् पूर्ण अवस्था का उदय होता है। पूर्ण होने पर भी यह अस्थायी अवस्था है। इस अवस्था में निमेष और उन्मेष दोनों ही रहते हैं। जैसे समुद्र में तरंग आदि के निमेष और उन्मेष दोनों ही रहते हैं। जैसे समुद्र में तरंग आदि के निमेष और उन्मेष दोनों रहते है यह भी उसी प्रकार की

अवस्था है। प्रकाश सर्वदा ही अविच्छिन्न रहता है, परन्तु शिवादि विश्व का कदाचित् भान रहता है और कदाचित भान नहीं भी रहता है। जब भान रहता है तब प्रकाशात्म रूप में ही उसका उन्मेष होता है और जब भान नहीं रहता तब भी प्रकाशात्मक स्वरूप में ही उसका निमेष होता है।

सर्वान्त में स्थायी पूर्णावस्था का उदय होता है। पहले उन्मेष निमेष युक्त पूर्णत्व रहा अब तक मन रहा इसलिए उन्मेष और निमेष दोनों का संभव था। अब मन नही है क्योंकि यह उन्मनी अवस्था है। इसी के प्रभाव से पूर्णत्व सिद्धि का उदय होता है। यह हुई सिद्ध सुप्रबुद्ध स्थिति। इस प्रकार के योगियों की इच्छामात्र से इच्छानुरूप विभूतियों का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में जागरणपूर्ण हुआ यह कहा जा सकता है।

अब हम सिद्धिविज्ञान के विषय में दो एक बाते कहते हैं। सिद्धि अर्थमूलक तथा तत्वमूलक भेद से दो प्रकार की हो सकती है। तत्वमूलक सिद्धि भी अपरा तथा परा भेद से दो प्रकार की है। प्रत्येक अर्थ के पृथक्-पृथक् कर्म हैं इसको Cosmic function कहा जा सकता है। ये नित्य सिद्ध हैं। योगी जिस समय जिस अर्थ में आत्म भावना करते हैं उस समय वह उसी अर्थ के रूप में स्वयं ही अवस्थित होते हैं और तत्तत् कर्मों का निर्वाह करते हैं—सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इत्यादि। भत्येक में जो अर्थक्रियाकरित्व है वह एक क्षण में उपलब्धि का गोचर हो जाता है। जो देवता जिस अर्थ का संपादन करता है इच्छा करने पर वह अर्थ उसी देवता में अहंकार धारण करने पर उपलब्ध हो सकता है। एक क्षण के भीतर अर्थ का स्वतः ही आगम हो जाता है। इसी का नाम है अर्थ-मूलक सिद्धि। अब हम तत्वमूलक सिद्धि की बात कहते हैं। पृथिवी से लेकर शिवतत्व पर्यन्त अहन्ता के अभिनिवेश मात्र से योगी तत्तत् सिद्धियों को प्राप्त करते हैं। माया पर्यन्त ३१ तत्वों से जिन सिद्धियों का आविर्भाव होता है उन सिद्धियों का नाम है ग्रहान्त सिद्धि। गुहा—माया। तत्वसिद्धियों में यह अपरा सिद्धि है। सरस्वती या शुद्धविद्या आदि सिद्धियाँ परा सिद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

परा सिद्धि के भी ऊपर दो महासिद्धियों के स्थान हैं। पहली सिद्धि है—सकलीकरण और दूसरी सिद्धि है—शिवत्वलाभ। सकलीकरण किसी किसी अंश में पूर्ण अभिषेक का स्थानापन्न है। पहले कालाग्नि सदृश तीव्र ज्वाला से से षडध्वा का पाश ज्वल जाता है यह योगी के स्वशरीर में ही होता है। इसके प्रभाव से शरीर जलने लगता है। उसके बाद स्निग्ध शीतल अमृत धारा से समग्र

सता का आप्लावन होता है। इष्ट देवता का दर्शन इसी समय में होता है। वे शोधित अध्वा या समग्र विश्व के अनुग्राहक बन जाते है। योगी इस अभिषेक के द्वारा जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित होते हैं। परन्तु यह पूर्ण अवस्था के अन्तर्गत होने पर भी अपूर्ण स्थिति ही है। इसके बाद पूर्ण ख्याति का उदय होता है और शिवत्व अवस्था का लाभ होता हैं। यह परम शिव की अवस्था है। उस समय इच्छानुरूप भुवनादि की सृष्टि करने का अधिकार प्राप्त होता है और पंचकृत्य-कारित्व भी खुल जाता है। बौद्ध शास्त्र में लिखा है कि अमिताभ बुद्ध दु:खी जीवों के लिए सुखावती भुवन की रचना कर गये हैं। यह भी इसी अवस्था का व्यापार मात्र है। तन्त्र तथा योग शास्त्र में इसके बहुत से दृष्टान्त हैं। विश्वामित्र की सृष्टि की बात तथा भण्डासुर के अभिनव ब्रह्माण्ड निर्माण की बात पुराणादि में प्रतिपादित हैं।

प्रत्येक मुक्त शिव ही परमशिव है। इसीलिए पंचकृत्यों का अधिकार सभी को है। अधिकार है तो जरूर, परन्तु साधारणतः ये लोग करते नहीं हैं। क्योंकि नित्य सिद्ध परमशिव से ही उनका निर्वाह होता है।

इसके भीतर भी परस्पर विभिन्न अवस्थाओं का विवरण पाया जाता है। इन सब ऐश्वर्यों का मूल है योगी की अप्रतिहत इच्छा। परम योगी यहाँ परीक्षोत्तीर्ण होकर इच्छाशक्ति का परिहार कर भक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। यह द्वैत भक्ति की कोटि में नहीं है। श्रीशंकराचार्य जी ने कहा था 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहम्' इत्यादि। यह है पराभक्ति। किसी किसी की दृष्टि से यह समावेशमयी भक्ति है। ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा पुरुष जिस पराभक्ति को प्राप्त होते हैं यह उसी कोटि की भक्ति हैं। उत्पल की स्तोत्रावली में जिस भक्ति का विश्लेषण किया गया है। यह वही भक्ति है। ज्ञानेश्वर के अमृतानुभव में जिस अद्वैत भक्ति का सन्धान मिलता है यह वही भक्ति है। इसी की पराकाष्टा है प्रेम। यह मायिक या महामायिक वृत्ति नहीं हैं। यह अनन्त रसास्वादस्वरूप है। इसके बाद वह भी अतिक्रान्त हो जाता है, तब यथार्थ तत्वज्ञान का आविर्भाव होता जिसका अव्यर्थ फल है परमपद में प्रवेश—'विशते तदनन्तरम्'।

पातंजल में विभूतिपाद में जिन विभूतियों का विवरण मिलता है वे अर्थमूलक तथा तत्वमूलक दोनों कोटियों की है अर्थमूलक सिद्धियाँ संयम सापेक्ष है और तत्वमूलक सिद्धियाँ उससे श्रेष्ठ हैं। ये तत्वजय से होती हैं और एक बात है—पातंजल में पुरुष विशेष परमेश्वर को 'सदामुक्त' तथा 'सदा ईश्वर' कहा गया है। परन्तु सामान्य पुरुष ऐसे नहीं हैं। क्योंकि ये जब तक ऐश्वर्य लेकर खेलते हैं तब तक मुक्त नहीं हैं और जब वे मुक्त होते हैं तब उनमें ऐश्वर्य

नहीं रहता। परमेश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्व है और साधारण पुरुष की उपाधि प्राकृत या लौकिक सत्व है जिसमें रज और तम गुण मिश्रित रहते हैं।

पातंजल योग में आणव उपाय का ही विवरण दिया गया है परन्तु शक्ति या शांभव उपाय का प्रसंग मात्र भी नहीं है। अनुपाय के विवरण की बात तो बहुत दूर की बात है। इसी प्रकार इसमें आणव, शाक्त, तथा शांभव क्षमावेशों का विवरण भी नहीं है।

योगसाधन के लक्ष्य और प्रक्रियांश में विभिन्न धाराएँ हैं कोई-कोई धाराएँ अवरोत्तर रूप से परिगणित होने के योग्य है और कोई-कोई धाराएँ प्रक्रियांश में विभिन्न होने पर भी लक्ष्य की दृष्टि से एक ही भूमि के अन्तर्गत है। प्राचीन बौद्ध योगमें श्रावकयान का लक्ष्य रहा निर्वाण और उसका मार्ग भो उसी के अनुरूप था। प्रत्येक बुद्धयान का लक्ष्य था व्यक्तिगत बुद्धत्व-लाभ और बोधिसत्व यान का लक्ष्य था बौधिसत्व जीवन प्राप्त कर उसके उत्कर्ष का सम्पादन करना। अवश्य, चरम लक्ष्य प्राप्त करने पर अन्तिम भूमि में बुद्धत्व-लाभ अवश्यंभावी था। बुद्धयान का लक्ष्य था साक्षाद्भाव से बुद्धत्व लाभ, बोधिसत्व भूमि का अतिक्रम करने के अनन्तर नहीं। पारमितानय के लक्ष्य और प्रक्रिया से मन्त्रनय के लक्ष्य और प्रक्रिया श्रेष्ठ है। मन्त्रनय में बोधिसत्व लाभ के माध्यम से बुद्धत्वलाभ लक्ष्य नहीं है साक्षात् बुद्धत्व लाभ ही लक्ष्य है। बज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान का योग रहस्य पारमिता मार्ग के योग-रहस्य से अधिकतर गंभीर है। अतएव विशुद्धिमार्ग और अभिधमार्थसंग्रह द्वारा प्रदर्शित लक्ष्य और प्रणाली से तिलोपा, नारोपा प्रभृति सिद्ध योगियों की प्रणाली भिन्न है। जो लोग तिब्बतीय महायोगी भिलारेपा का जीवन वृत्तान्त जानते हैं वे समझ सकेंगे कि एक ही जन्म में बुद्धत्व लाभ का साधन कैसा है। बुद्धत्व शब्द से सम्यक सम्बोधि अथवा निरावरण अखण्डप्रकाश समझना चाहिये। इसी महाप्रकाश को ही लक्ष्य बनाकर कौल, त्रिक, महार्थं प्रभृति विभिन्न शैव, शाक्त, अद्वैत योगी अपने-अपने साधन मार्ग में अग्रसर हुए हैं। बौद्धों में वैभाषिक सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक सभी साधक योग का ही अनुसरण करने वाले हैं। लंकावतार सूत्र, सटीक अभिधर्मकोष, विंशिका और त्रिंशिका ( सभाष्य ), सूत्रालंकार, अभिसमयालंकार, प्रमाणवार्तिक, सेकोवेश ( सटीक ), हेवज्रतन्त्र प्रभृति ग्रन्थ इस प्रसंग में आलोच्य है। प्रख्यात विदुषी इटालीय महिला ( Maris & Careth ) का प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्ध वज्रयोग के विषय में प्रशंसनीय उद्योग है।

प्राचीन तान्त्रिक दार्शनिकों में सोमानन्द, वसुगुप्त, उत्पलाचार्य, अभिनवगुप्त, क्षेमराज प्रभृति आचार्यों के मूल और टीकाग्रन्थ इस विषय में द्रष्टव्य हैं। शैव और शाक्त आगमोंका योग तथा ज्ञान पाद भी दर्शनीय है। मूल और प्रकरण ग्रन्थों में स्वच्छन्द तथा नेत्रतन्त्र, योगिनीहृदय, कामकलाविलास, त्रिपुरारहस्य ( ज्ञानखण्ड ), चिद्गगनचन्द्रिका प्रभृति ग्रन्थों का नाम भी उल्लेख-योग्य है। साथ ही साथ तुलना के लिए श्रीतत्त्वचिन्तामणि शारदातिलक प्रपंच-सार, कंकाल मालिनी आदि ग्रन्थ भी आलोच्य है।

नाथसम्प्रदाय की योगधारा पृथक् है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति, सिद्धसिद्धान्त-संग्रह, आदि ग्रन्थों में से नाथयोग के विषय में तथ्यों का संग्रह किया जा सकता है। इस विषय में कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों का भी संकलन हुआ है।

वीर शैवसम्प्रदाय के भी योग विषय में विभिन्न उपादेय निबन्ध विद्यमान है। महासिद्ध प्रभुदेव विशिष्ट कोटि के योगी थे। सम्प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से उनका वचनामृत कन्नड भाषा से हिन्दी में व्याख्या सहित भाषान्तरित होकर प्रकाशित हुआ है। मायीदेव कृत अनुभवसूत्र भी विशिष्ट ग्रन्थ है।

पाशुपत योग के विषय में माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह में जो पाशुपत दर्शन का विवरण है उससे अतिरिक्त पाशुपत सूत्र और कौण्डिन्य भाष्य दर्शन योग्य है। राशीकभाष्य अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। भासर्वज्ञ की गणकारिका इस विषय में प्रवेशार्थी के लिए उपादेय ग्रन्थ है। ये सभी प्रकाशित हो गये हैं।

सन्तों के साहित्य में भी विभिन्न स्थलों में योग का विवेचन मिलता है। नानकदेव की प्राणसंगली उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह व्याख्या सहित तरणतारण नामक स्थान से प्रकाशित हुआ है। कबीर, दादू सुन्दरदास, तुलसीदास ( हाथ-रसवाले ) शिवदयाल ( राधास्वामी मतके प्रवर्तक ) प्रभतियों के ग्रन्थों में भी योगतत्व विभिन्न स्थानों में विवेचित हुआ है।

वंग देश में जो सहजिया और बाउल सम्प्रदाय विद्यमान थे इनके साहित्य से भी योग का घनिष्ठ परिचय मिलता है। महाराष्ट्र में अमृतानुभव तथा ज्ञानेश्वरी टीकाकार योगी ज्ञानेश्वर का परिचय सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। उत्कल में महिमा धर्म के प्रभाव से प्रभावित तथा महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के भक्तिभाव से अनुरंजित वैष्णव सम्प्रदाय के साहित्य में योगमार्ग के बहुत गुप्त रहस्यों का इंगित मिलता है। भारतीय सूफी सम्प्रदाय की बात यहाँ नहीं कही गई। उसी

प्रकार खीष्ट्रीय सम्प्रदायों की योगचर्चा भी यहाँ नहीं की गई। योग सर्वांगीण आलोचना करने के लिए पुराण और इतिहास में वर्णित योगतत्वों का विवरण भी द्रष्टव्य है।

। ५ ।

इस ग्रन्थ से हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि सम्पन्न हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। इसके अनुशीलन से अधिकारी पाठकों के हृदय में योग-विज्ञान निगूढ़ विषयों को जानने की आकांक्षा जाग्रत होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

२।ए सिगरा
वाराणसी

गोपीनाथ कविराज

—: ० :—

# दो शब्द

इस पुस्तक के प्रारम्भ करवाने का श्रेय डा० एम.एम० सिन्हा, भूत पूर्व अध्यक्ष दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, तथा वर्तमान अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, को है। उन्होंने ही गोरख पुर विश्वविद्यालय बी० ए० ( दर्शन ) के पाठ्यक्रम में "योगमनोविज्ञान" विषय को रख कर मुझे इस विषय पर पुस्तक लिखने के लिये कहा था। मैंने उनके कथनानुसार बी० ए० के पाठ्य क्रम को दृष्टि में रखते हुए एक पुस्तक लिखी थी। जब मैंने उस पुस्तक को अपने पूज्य पिता जी (डा० भी० ला० आत्रेय) को दिखाया तो उन्होंने कहा कि अपनी जगह यह पुस्तक बहुत अच्छी है किन्तु तुम्हें तो "भारतीय मनोविज्ञान" पर एक उच्च स्तर का ग्रन्थ लिखना चाहिए क्योंकि अभी तक इस पर किसी ने कोई ढंग का कार्य नहीं किया है; जो कुछ थोड़ा बहुत कार्य हुआ है वह नहीं के बराबर है। मैंने पूज्य पिता जी के आदेशानुसार "भारतीय मनोविज्ञान" नामक बड़ा ग्रंथ भी लिखा जिसमें आधुनिक मनोविज्ञान के समस्त विषयों का करीब करीब सब भारतीय शास्त्रों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'योग मनोविज्ञान' नाम पुस्तक के विषय में प्रसंग वश डा० जे० डी० शर्मा अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, धर्म समाज कॉलेज अलीगढ़, से बात चीत चल पड़ी तो उन्होंने कहा कि भाई आप इस पुस्तक को ऐसी बनावें जिससे कि एम० ए० के "मनोविज्ञान" विषय के अन्तर्गत "भारतीय मनोविज्ञान" विषय को पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक पाठ्य क्रम में रक्खी जा सके तथा उनके लिए उपयोगी हो क्योंकि आपका भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रंथ एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए बहुत अधिक हो जाता है। मुझे उनकी यह बात समझ में आ गई और मैंने पुस्तक को दूसरा रूप प्रदान किया जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक इस रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। उपर्युक्त कारणों से "योग मनोविज्ञान" तथा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक दो अलग अलग पुस्तकें तैयार हुई जिसके लिए मैं डा० सिन्हा साहेब, आदरणीय पिता जी, तथा डा० जे० डी० शर्मा का आभारी हूँ और उन्हें इसके लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इन उपर्युक्त पुस्तकों को छपवाने के लिये मैं काशी आया किन्तु श्रीरमाशंकर जी तारा पब्लिकेशन्स ने इन पुस्तकों को छापने के पूर्व मेरी अन्य तीन पुस्तकें

"भारतीय तर्क शास्त्र", "Descartes to kant" तथा "मनोविज्ञान तथा शिक्षा में सांख्यिकीय विधियाँ" प्रकाशित कर दीं। इन तीनों पुस्तकों को प्रकाशित करने के बाद उन्होंने "भारतीय मनोविज्ञान" और "योगमनोविज्ञान" पुस्तकें भी छापनी प्रारम्भ की। उन्होंने जिस उत्साह के साथ यह कार्य किया उसके लिये मै उन्हें धन्यवाद देता हूँ "भारतीय मनोविज्ञान" बड़ा ग्रन्थ होने के कारण, व्यवसायिक दृष्टि, से उसे प्रकाशित करना उन्हें उपर्युक्त न जंचा, और उन्होंने ८० पृष्ठ छाप कर प्रकाशित करना बन्द कर दिया। योग मनोविज्ञान को अपने हिसाब से अधिक होते देख उसके प्रति भी उन्होंने उदासीनता दिखलाई किन्तु संकोचवश मना नहीं कर पा रहे थे। मैंने ऐसी स्थिति में उन्हें कष्ट देना उचित नहीं समझा और उन्हें इस भार से मुक्त कर दिया।

मेरे पास प्रकाशन के लिये धनाभाव होने के कारण 'योग मनोविज्ञान" पुस्तक को प्रकाशित करने की समस्या उपस्थित हुई। इसका पता जब मेरे मित्र श्री प्रभात रंजन साह जी को लगा तो उन्होंने मुझे समुचित आर्थिक सहायता प्रदान कर मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया, जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ तथा उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने इस प्रकार से सहायता प्रदान कर अपनी कृपा का परिचय दिया किन्तु फिर भी काफी कार्य रह गया। ऐसी स्थिति में 'The International standard Publications' ने इस कार्य को लेकर उदारता का परिचय दिया जिसके लिये मैं उसे भी धन्यवाद देता हूँ।

भारतीय शास्त्रों के वेत्ता महान् दार्शनिक परम श्रद्धेय पद्म विभूषण महामहोपाध्याय, डा० श्री गोपी नाथ कविराज जी ने अवकाश न होते हुये भी भूमिका लिखकर मेरी इस पुस्तक को प्रतिष्ठित कर मुझे बहुत ही अनुगृहीत किया है। उनका मैं सदैव आभारी रहूँगा तथा इसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने समय का अभाव होते हुये भी, इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखा हैं जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ और उन्हें इसके लिये हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस पुस्तक की प्रेस कापी करने तथा सन्दर्भग्रंथ- सूची एवं शब्दानुक्रमणिका बनाने के लिये मै अपनी धर्म-पत्नी श्रीमती इन्दुप्रभा आत्रेय प्राध्यापिका मनोविज्ञान विभाग महारानी ला० कुँवरि डिग्री कालेज, बलरामपुर (गोंडा), श्री कुलबीर सिंह जी प्राध्यापक समाज शास्त्र विभाग, महारानी लाल कुँवरि डिग्री कालेज, बलरामपुर, आत्मज श्री मनमोहन आत्रेय और अमरनाथ मिश्र, श्री

माता प्रसाद त्रिपाठी तथा श्री राजदेव सिंह को भी धन्यवाद देता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ तथा उन्हें धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय निकाल कर प्रकाशित होने से पूर्व इस पुस्तक को पढ़ने का कष्ट कर इस पर सम्मतियाँ लिखकर भेजीं।

मैं अपने माता, पिता गुरु जनों तथा मित्रों का भी जिनके आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन से पाठकों के सामने यह पुस्तक प्रस्तुत कर सका हूँ।

अभी तक इस विषय पर कोई दूसरी प्रकाशित पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई। अतएव इस पुस्तक को प्रस्तुत रूप देने में मेरा अपना ही पूर्ण हाथ है और मेरे ही अपने विचार इसमें प्रकट किये गये हैं, पर मैंने यह प्रयत्न किया है कि योग मनोविज्ञान सम्बन्धी विषयों पर जो चर्चा यहाँ की गयी है वह सर्वथा प्राचीन तथा अर्वाचीन तथा शास्त्रों के आधार पर हो। मैंने जहाँ तक भी हो सका है तुलनात्मक विवेचन किया है। इस कारण मैं समझता हूँ। कि यह पुस्तक विश्वविद्यालयों के "भारतीय मनोविज्ञान" विषय के विद्यार्थियों और शिक्षकों को पर्याप्त मात्रा में सामग्री देने के लिए समर्थ है। सहृदय पाठकों से निवेदन है कि वे इसकी त्रुटियों को लेखक के प्रति व्यक्त कर एवं उपयुक्त सुझाव देकर लेखक को अनुगृहीत करें।

अन्तिम कुछ फर्मों को उत्साह के साथ छापने का कार्य करने लिये मैं 'श्री हरि प्रेस" के सभी कार्य कर्त्तावों को हार्दिक धन्यबाद देता हूँ।

सिटी पैलेस — शान्ति प्रकाश आत्रेय

बलराम पुर ( गोंडा )

४-६-६५

— —

# योग-मनोविज्ञान

( Indian Psychology )

## विषय-सूची

## अध्याय १३



## अध्याय १४



## अध्याय १५



## अध्याय १६

## अध्याय १७



## अध्याय १८



## अध्याय १८



## अध्याय २०

———

# चित्र-सूची

चित्र | पृष्ठ संख्या

# योग-मनोविज्ञान

( Indian Psychology )

## प्रथम अध्याय

# भारतीय शास्त्रों में योग तथा मनोविज्ञान

सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान व्यावहारिक तथा क्रियात्मक है। पाश्चात्य दर्शनों के समान यहाँ दर्शनों का उदय केवल उत्सुकता और आश्चर्य से नहीं हुआ है। हमारे सभी दर्शन जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। दर्शन के अन्तर्गत जीवन के सब पहलुओं का अध्ययन आ जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी दार्शनिक अध्ययन के अन्तर्गत ही चला आ रहा है। पाश्चात्य मनोविज्ञान भी बहुत दिनों तक दर्शन का ही एक अंग था। बहुत थोड़े दिनों से वह स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है। भारतवर्ष में सभी भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का अपना-अपना मनोविज्ञान है। मुख्य भारतीय दर्शन ९ ( नौ ) माने गये हैं, जिनमें से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छः आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं, तथा चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीन नास्तिक दर्शन हैं। इन आस्तिक और नास्तिक सभी दर्शनों का अपना-अपना मनोविज्ञान है। इनके अलावा वेदों, उपनिषदों, पुराणों, तथा भगवद्गीता की दार्शनिक विचारधाराएँ भी हैं। इन सब का भी अपना-अपना मनोविज्ञान है।

योग एक स्वतन्त्र दर्शन भी है, जो सचमुच में अगर देखा जाय तो सम्पूर्ण मनोविज्ञान ही है। वह जीवन-यापन का सच्चा पथ-प्रदर्शक विज्ञान है। योग मनोविज्ञान का प्रायोगिक अंश है। इसलिए किसी न किसी रूप में वह हर दर्शन में आ जाता है। अत: इसकी प्राचीनता निर्विवाद है, योग-दर्शन पर अनेक भाष्य हुए हैं। वर्तमान समय में प्राप्त सभी भाष्यकारों का मत यह है कि महर्षि पतञ्जलि स्वयं योग-दर्शन के प्रथम वक्ता नहीं हैं। स्वयं महर्षि पतञ्जलि ने समाधि-पाद के प्रथम सूत्र "अथ योगानुशासनम्' में यह बता दिया है कि यह योग प्राचीन परम्परा से चला आ रहा है। अनुशासन शब्द से व्यक्त होता है कि इस विषय का शासन महर्षि पतञ्जलि से पूर्व का है। योग का वर्णन श्रुति और स्मृति में भी आया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में—'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता मान्य: पुरातनः।" से स्पष्ट होता है कि हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त और योग का आदि वक्ता नहीं है। महाभारत में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है:—

"सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता मान्यः पुरातनः ।।"
( महाभा० १२।३६४।६५ )

सांख्य-शास्त्र के वक्ता परम ऋषि कपिल कहे गये हैं और योग के प्राचीनतम वक्ता हिरण्यगर्भ कहलाते हैं ।

श्रीमद्भागवत में भी पंचमस्कन्ध के १९वें अध्याय में इसी अभिप्राय की पुष्टि की है ।

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ।।५।१९।१३।।

हे योगेश्वर ! मनुष्य अनन्तकाल में देहाभिमान त्याग आपके निर्गुण-स्वरूप में चित्त लगावें, इसी को भगवान् हिरण्यगर्भ ने योग की सबसे बड़ी कुशलता बतलाई है ।

हिरण्यगर्भ किसी मनुष्य का नाम नहीं है । हिरण्यगर्भ ही सर्व प्रथम उत्पन्न हुए प्रजापति हैं । इसकी पुष्टि वेदों में भी की गई है—

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय ।।"
(ऋ० १०।१२१।१, यजु० अ० १३ मन्त्र ४)

सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र पति हैं, जिन्होंने अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथिवी सबको धारण किया अर्थात् उपयुक्त स्थान पर स्थिर किया । उन प्रजापति देव का हम हव्य द्वारा पूजन करते हैं ।

हमें इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए । अतः यह प्राचीनतम पुरुष जिस योगशास्त्र के प्रथम वक्ता हैं वह योगशास्त्र भी प्राचीनतम हुआ ।

भारतवर्ष में योग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । ज्ञान का जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण हर क्षेत्र में क्रियात्मक विज्ञान की आवश्यकता रही है । लक्ष्य को क्रियात्मक रूप देना सबने ही आवश्यक समझा है । सब शास्त्रों ने

लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग बतलाये हैं। इन लक्ष्य तक पहुंचने के मार्गों को ही योग कहा जाता है। धर्म, दर्शन, विज्ञान सभी में योग का मुख्य स्थान है। भारतवर्ष में कोई भी सैद्धान्तिक-ज्ञान व्यवहारिक-ज्ञान के बिना नहीं रहा। हर सैद्धान्तिक ज्ञान को क्रियात्मक रूप दिया गया है। अतः भारतवर्ष में कोई भी शास्त्र योग के बिना पूर्ण नहीं माना गया है। वेदों, पुराणों, उपनिषदों, दर्शनों ( आस्तिक, नास्तिक ) और श्रीमद्भागवत आदि सभी में योग का उल्लेख आया है। इस उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि योग का क्षेत्र अति विस्तृत है।

## वेदों में योग और मनोविज्ञान

वेदों में योग के विषय में अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है जो कि कतिपय उद्धरणों से व्यक्त होता है।

"यस्माद्दते न सिध्यंति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति" ( ऋ० मंडल १, सूक्त १८, मंत्र ७ ) विद्वानों का भी कोई यज्ञ-कर्म, बिना योग के सिद्ध नहीं होता। ऐसा वेद वाक्य योग की महत्ता को बताता है। योगाभ्यास तथा योग द्वारा प्राप्त विवेक ख्याति ईश्वर-कृपा से ही प्राप्त होती है जैसा कि वेदों में कहा है—"स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः ।।" ( ऋ० १।५३। साम० ३०१।२।१०।३। अथर्व० २०।६९।१) अर्थात् "ईश्वर-कृपा से हमें योग ( समाधि ) सिद्ध होकर विवेक ख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारी तरफ आवें।" इसी कारण योग सिद्धि के लिए वेद में प्रार्थना की गई है। योग सिद्धि के लिए भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट करने के निमित्त ईश्वर प्रार्थना का मंत्र निम्नलिखित है—

"योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ।।" ( ऋ० १।३०। ७।, सा० उ० १।२।११।, अथर्व० १९।२४।७ ) अर्थात् हम ( साधक लोग ) हर योग (समाधि) में, हर मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आह्वान करते हैं।

वेदों में साधक के द्वारा अभय ज्योति के लिये प्रार्थना की गई है अर्थात् आत्मा की खोज का वर्णन किया गया है, जो कि मनोविज्ञान का विषय है। यह ऋग्वेद के मंडल २ सूक्त २७ मंत्र ११ तथा मंत्र १४ से व्यक्त होता है।

मंत्र—"न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीन मादित्या नीत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥"
(ऋ०, मंडल २, सूक्त २७, मंत्र ११)

इस मंत्र से जिज्ञासु, साधक दुःखों से निवृत्ति न कर पाने के कारण बेचैन होकर भगवान् आदित्य से प्रार्थना कर रहा है। जिसमें वह अपनी अज्ञानता को प्रकट करता हुआ तथा अपनी बुद्धि के अपरिपक्वत्व से हताश और व्याकुल होकर, उनसे पथ-प्रदर्शन करने की प्रार्थना करता है, जिससे कि उसे अभयज्योति का ज्ञान प्राप्त हो जाये।

इसके अतिरिक्त १४वें मंत्र में भी साधक अदित, मित्र, वरुण तथा इन्द्र से अपने अपराधों की क्षमा याचना करके अभयज्योति प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करता है। मंत्र निम्नलिखित है—

मंत्र—"अदिते मित्र वरुणोत मृत यद्वो वयं चकृया कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र भा नो दीर्घा अभि नशन्तमित्राः॥"
(ऋ०, मंडल २, सूक्त २७, मंत्र १४)

वेदों के मंत्रों से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यापक शक्ति है जिसका अभयज्योति, परम पद, परम व्योमन् आदि नामों से ऋग्वेद में वर्णन आया है। ऋग्वेद के मण्डल २ सूक्त २७ मंत्र ११ में अभयज्योति का वर्णन किया गया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ऋग्वेद सं० १ सूक्त २२ मंत्र २१ में परम पद का निर्देश है तथा ऋग्वेद सं० सूक्त १४३ मंत्र २ में परमव्योमन् का वर्णन है।

कर्मवाद का उल्लेख वेदो में प्राप्त होता है। अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार फल भोगने पड़ते हैं। देवता लोग भी कर्म-फल से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकते। वेदों में स्वतन्त्र इच्छा शक्ति एक मान्यता के रूप में है। मुक्ति का उल्लेख भी वेदों में है। शुभ कर्मो से मानव अमर हो जाता है। हर एक मनुष्य अपने कर्मो के अनुसार हो निरन्तर जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। जीव को अपने कर्मों के फल भोगने के लिये दूसरा जन्म ग्रहण करना पड़ता है। पूर्व जन्म के पापों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य देवताओं से प्रार्थना करता है, जैसा कि ऋग्वेद में मं० ६, सूक्त २, मंत्र ११, में उल्लेख है। ऋग्वेद मं० ३, सूक्त ३८, मंत्र २ तथा मं० १, सूक्त १६४,

मंत्र २० में संचित और प्रारब्ध कर्मों का वर्णन आया है। वेदों में कर्मों की गति के बहुत से पहलुओं का विवेचन किया गया है।

मनुष्य अपनी सारी क्रियाओं के लिये स्वतन्त्र है, जिस प्रकार की क्रिया वह करेगा, उसी के अनुकूल प्रतिक्रिया होगी। कर्म के प्रेरक कारण अपने पूर्व कर्म के संस्कार ही होते हैं। मनुष्य में ही आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है अर्थात् उसे ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में ज्ञान की सभी अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। उनमें पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच वायु, पंच भूत और मन से बने हुये स्थूल शरीर की धारणा है। वेदों में योग को सब कर्मों के, अर्थात् यज्ञादि के पूर्व करने में भी साधन माना गया है। ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में इन्द्रियों के कार्य का विवेचन तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों से भी बहुत कुछ प्राप्त होता है। ऋग्वेद में प्राण के स्वरूप का यथार्थ वर्णन किया गया है, जिसको सब इन्द्रियों का रक्षक और कभी नष्ट न होने वाला बताया गया है। उसके आने-जाने का मार्ग नाड़ियाँ हैं।[1] प्राणों की श्रेष्ठता बताकर, इन्द्रिय, मन आदि सबकी क्रियाओं का निरूपण किया गया है। प्राण को श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना का वर्णन भी वेदों में आया है। शरीर-विज्ञान का विवेचन भी किसी अंश तक वेदों में किया गया है।

वेदों में 'मन' बहुत स्थलों पर आया है किन्तु वास्तविक रुचि का विषय आत्मा ही है। ब्राह्मणों में भी मन शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु यहाँ भी प्रमुख रुचि का विषय आत्मा ही है। शतपथ ब्राह्मण में मन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। आरण्यकों में भी वेदों के समान ही मन का अविश्लेषणात्मक रूप पाया जाता है। मन को अलग-अलग भागों में विभाजित रूप में किसी भी स्थल पर नहीं पाया गया। मन की अलग अवस्थाओं का विवेचन नहीं प्राप्त होता है।

वेदों में प्रकृति-पूजा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनकी पूर्ति के लिये प्रकृति-पूजा का महत्त्व था। बड़े सुन्दर ढंग से मानव की जैविक आवश्यकताओं (biological needs) को धार्मिक रूप दिया गया है। वेदों के अध्ययन से स्पष्ट है कि यही प्राथमिक आवश्यकताएँ (primary needs) प्रेरक कारण हैं। वेदों में मनोविज्ञान और धर्म का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है।

## उपनिषदों में योग और मनोविज्ञान

किसी न किसी रूप में सब उपनिषदों में योग का निरूपण किया गया है। सभी उपनिषदों में योग की प्रधानता मानी गई है। योग को मुक्ति प्राप्ति का ज्ञान और परा भक्ति के समान ही साधन माना गया है। श्वेताश्वरोपनिषद् में योग का और उसकी क्रियाओं और फल का विवेचन किया गया है जिसमें प्राणायामविधि, नाड़िनों का वर्णन, ध्यान, ध्यान के उपयुक्त स्थान आदि सभी का वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद् में योग के महत्व को बहुत दर्शाया गया है। कठोपनिषद् में इन्द्रियों की स्थिर धारणा को ही योग कहा गया है। नचिकेता को यमराज ने अमरत्व प्राप्त करने का उपाय योग ही बताया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में इन्द्रियों और मन के संयम के द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त करके आत्म-उपलब्धि प्राप्त करना बताया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ उपनिषद् ऐसे हैं, जिनमें केवल योग ही का वर्णन है, और उनका नाम योग-उपनिषद् ही है, ये संख्या में २१ हैं, जिनमें से योगराजोपनिषद् अप्रकाशित है, तथा अन्य २० उपनिषद् प्रकाशित हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं :—

१—अद्वयतारकोपनिषद्, २—अमृतनादोपनिषद्, ३—अमृतबिन्दूपनिषद्
४—मुक्तिकोपनिषद्, ५—तेजोबिन्दूपनिषद्, ६-त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्,
७—दर्शनोपनिषद्, ८—ध्यानबिन्दूपनिषद्, ९—नादबिन्दूपनिषद्
१०—पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, ११—ब्रह्मविद्योपनिषद्, १२—मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
१३—महावाक्योपनिषद्, १४—योगकुण्डल्योपनिषद् १५—योगचूड़ामण्युपनिषद्,
१६—योगतत्वोपनिषद्, १७—योगशिखोपनिषद्, १८—वाराहोपनिषद्,
१९—शाण्डिल्योपनिषद्, २०—हंसोपनिषद्।

उपर्युक्त इन सभी योग-उपनिषदों में चित्त, चक्र, नाड़ी, कुण्डलिनी, इन्द्रियों आदि, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मंत्रयोग, लय-योग, हठ-योग, राज-योग, ब्रह्म-ध्यान-योग, प्रणवोपासना, ज्ञान योग, तथा चित्त की चारों अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन है।

उपनिषदों में मनस्, चित्त, विज्ञान, चेतस्, चेतना, बुद्धि शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु इन सभी शब्दों में मनस् का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। मन को शरीर और आत्मा का माध्यम माना गया है। उपनिषदों में जगत् को प्रपंचात्मक माना है, केवल सर्वव्यापक आत्मा ही सत् है जिसकी सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में जीव और ब्रह्म ( Universal Self )

में तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। अज्ञान के कारण जीव बद्ध है। ब्रह्म को अद्भुत शक्ति माया के द्वारा आत्मा का वास्तविक रूप छिपा रहता है। किन्तु दोनों में ( जीव और ब्रह्म में ) स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं है। जब आत्मा अपने आपको शरीर, मन, इन्द्रियां आदि समझने लगती है और सुख, दुःख आदि की भोगने वाली बन जाती है, वह शरीर, मन, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्धित होकर अपने सर्वव्यापक स्वरूप को भूल कर सांसारिक बन्धन को प्राप्त हो जाती है, जिससे शरीर, मन और इन्द्रियों के सुख, दुःख आदि भोगती रहती है। आत्मा शरीर, मन इन्द्रियों से परे हैं। जीव की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन अवस्थायें होती हैं। सर्वगत आत्मा इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है।

उपनिषदों में शरीर के तीन भेद बतलाये गये हैं:—१-स्थूल शरीर, २-सूक्ष्म शरीर और ३ - कारण शरीर। स्थूल शरीर, आंख, नाक, हाथ, पैर आदि अपने समस्त अंगों सहित, पंच भूतों के द्वारा निर्मित है, जो कि मृत्यु के बाद पंच भूतों में मिल जाता है। सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुये भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह मृत्यु के उपरान्त अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों और मन के द्वारा सारी क्रियायें, चेतना, संकल्प आदि होते हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, त्वक् के द्वारा क्रमशः देखना, सुनना, सूंघना, स्वाद लेना, और स्पर्श सम्वेदना प्राप्त करना होता है। पंच कर्मेन्द्रियों—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—के द्वारा क्रमशः बोलना, लेना-देना, चलना-फिरना, मल त्याग और रति भोग होता है। मन के द्वारा काम, संशय, श्रद्धा, धारणा, लज्जा, बुद्धि, भय, अधारणा आदि होती है। सारांश यह है कि मन ही सम्पूर्ण क्रियाओं का संचालक है। इसका विशाल वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् में १।५।३, ४।२।६ में किया गया है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पांच प्राण हैं। इन्हीं के ऊपर सम्पूर्ण जीवन आधारित है। आत्मा, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, और पांचों प्राणों सहित मृत्यु के अवसर पर शरीर को छोड़कर अन्य शरीर में प्रविष्ट होती है। इनसे कर्माश्रय भी सम्बन्धित रहता है जो कि जीवन काल में किये गये कर्मों का कोष है। इसी कर्माश्रय के द्वारा जो कि शरीर से निकल कर आत्मा के साथ जाता है, जीव का भविष्य निर्धारित होता है। इसी के अनुसार उसका अन्य शरीर में प्रवेश होता है अर्थात् फिर से जन्म होता है।

उपनिषदों में बड़े सुन्दर ढंग से कोषों का वर्णन आया है। ये पंचकोष, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय हैं। इन्हें एक प्रकार का चेतन का आवरण समझना चाहिये।

( १ ) **आनन्दमय कोष :**—चेतन तत्व पर सबसे पहला आवरण चित्त और कारण प्रकृति का है। इसके कारण प्रिय, मोद, प्रमोद रहित आत्मा प्रिय, मोद और प्रमोद वाली हो जाती है। यही आनन्दमय कोष कारण शरीर कहलाता है। इसके सहित आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं।

( २ ) **विज्ञानमय कोष :**—आत्मा का दूसरा आवरण अहंकार और बुद्धि का है। इसके द्वारा अकर्ता आत्मा कर्ता, अविज्ञाता आत्मा विज्ञाता, निश्चयरहित आत्मा निश्चययुक्त, जाति के अभिमान से रहित आत्मा अभिमान वाली हो जाती है। अभिमान ही इस विज्ञानमय कोष का गुण है।

( ३ ) **मनोमय कोष :**—मन, ज्ञानेन्द्रिय और तन्मात्राओं का आवरण है जो आत्मा पर चढ़ जाने से मनोमय कोष कहलाता है। संशय रहित आत्मा को संशय युक्त आत्मा ; शोक, मोह रहित आत्मा को शोक मोह युक्त आदि रूप में दर्शाता है। इस मनोमय कोष में इच्छाशक्ति वर्तमान रहती है।

(४) **प्राणमय कोष**—यह आत्मा के ऊपर पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणों का आवरण है जो आत्मा के वक्तृत्व, दातृत्व, गति, क्षुधा पिपासा आदि विकारों वाली न होते हुए भी उसमें इन विकारों को प्रकट करता है। विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोष तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा को तैजस कहते हैं।

(५) **अन्नमय कोष**—पाँचवां स्थूल आवरण है जो कि अन्न से बने हुए रज-वीर्य से उत्पन्न होता है और उसी से बढ़ता है। इसी के कारण अजर, अमर, अजन्मा आत्मा, मृत्यु, जरा और जन्मवाली प्रतीत होती है। इन पंच कोषों का तैत्तिरियोपनिषद् में विषद विवेचन है ( तैत्तिरियोपनिषद् २।१, २।२, २।३, २।४, २।५, २।६, २।६ )

इन पंच कोषों के अतिरिक्त जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का भी उपनिषदों में विषद विवेचन है। अन्नमय कोष स्थूल शरीर की अवस्था है जो कि व्यक्ति की जाग्रत अवस्था के अनुरूप है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाते हैं जो व्यक्ति की स्वप्नावस्था के अनुरूप है। आनन्दमय कोष कारण शरीर है जो व्यक्ति की सुषुप्ति अवस्था के अनुरूप है। सुषुप्ति अवस्था में जीव ब्रह्म का अस्थायी संयोग होता है किन्तु जाग्रत अवस्था आते ही जीव फिर अपनी वासनाओं के अनुसार कार्यों में लग जाता है। इसका प्रश्नोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में विषद विवेचन है।

कोश सम्बन्धी चित्र

पातञ्जल योग प्रदीप के लेखक स्वर्गीय श्री ओमानन्द तीर्थ जी की कृपा से प्राप्त

उपनिषदों में केवल एक ही आत्मा की सत्ता मानी गई है जिसे ब्रह्म कहते हैं। आत्मा की ही चेतन सत्ता है, मन और शरीर चेतना रहित हैं। मन भौतिक है। शरीर सर्वदा परिवर्तनशील है।

## महाभारत में योग तथा मनोविज्ञान

महाभारत, वेदों, उपनिषदों आदि सभी शास्त्रों का मिश्रित सरल रूप है। महाभारत में मोक्ष ही परम लक्ष्य माना गया है। धर्म, अर्थ, काम ये परम लक्ष्य नहीं हैं। मोक्ष प्राप्ति के साधनार्थ मन के ऊपर नियन्त्रण करके योग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का विवेचन किया गया है।

ब्रह्मोपलब्धि के लिए महाभारत में योग-मार्ग का निर्देश है। महाभारत में योग का अर्थ जीव और ब्रह्म का संयोग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिवाले, अष्टांग योग का वर्णन किया गया है। मन के द्वारा इन्द्रियों को और ध्यान के द्वारा मन को नियन्त्रित किया जाता है। ध्यान के द्वारा ही अन्त में समाधि प्राप्त होती है। अज्ञान के कारण ही बन्धन है। जीव और ब्रह्म में अभेद का ज्ञान प्राप्त करने से ही मोक्ष मिलता है। यह अभेद योग के द्वारा प्राप्त होता है, जिसमें इन्द्रियों को मन पर लगाने और मन के अहंकार पर केन्द्रित होने और अहंकार के बुद्धि पर केन्द्रित होने तथा बुद्धि के प्रकृति पर केन्द्रित होने के बाद आत्मा को ब्रह्म के ऊपर ध्यान लगाना चाहिये, जिससे समाधि अवस्था प्राप्त होती है और व्यक्ति पूर्ण रूप से ब्रह्म में लीन हो जाता है। योगमार्ग के ठीक-ठीक पालन करने से यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। महाभारत में निष्काम कर्मयोग का वर्णन आया है, जिसमें फलाशा को त्याग कर अपने कर्त्तव्यों का पालन करके मोक्ष प्राप्त किया जाता है। महाभारत में ज्ञान-योग का कर्म-योग से भी अधिक महत्त्व बताया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि मोक्ष प्राप्त करने का ज्ञान ही एकमात्र उपाय है। भक्ति-योग भी जीव-ब्रह्म मिलन का एक मार्ग बताया गया है। इस प्रकार से महाभारत में मोक्ष प्राप्त करने के कर्मयोग, भक्तियोग, और ज्ञानयोग तीनों ही मार्ग बतलाये गये हैं। आत्मा, जिसको महाभारत में क्षेत्रज्ञ कहा गया है, अत्रिगुणात्मक, अविषय तथा चेतन है, बुद्धि त्रिगुणात्मक अचेतन है। पुरुष प्रकृति तथा उसकी अभिव्यक्तियों ( बुद्धि, मन, अहंकार, इन्द्रियाँ, शरीर ) से भिन्न है। स्वयं में आत्मा अनादि, अनन्त तथा अमर है। ईश्वर के द्वारा इसका स्थूल शरीर से सम्बन्ध होता है

जो कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों से निर्मित है। महाभारत में लिंग शरीर के द्वारा, जो कि मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से मिलकर बना है, आत्मा एक शरीर को छोड़ करके अन्य शरीर में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार से मन, इन्द्रिय आदि सबकी क्रियाओं का निरूपण महाभारत में हुआ है। बद्ध जीव की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं हैं, किन्तु परम आत्मा इन तीनों अवस्थाओं से परे है। महाभारत में क्रिया संकल्प शक्ति, तथा मन की चारों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या का भी वर्णन आ जाता है। आत्मा सब अवस्थाओं ( जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ) में विद्यमान रहती है। ज्ञान द्वारा क्लेशों को भस्म करने पर जन्म, मरण का चक्र छूटजाता है : पुनर्जन्म, तथा कर्मों के नियम में पूर्ण विश्वास है। आत्मा मन को क्रियाशील करती है। मन के द्वारा इन्द्रियाँ संचालित होती हैं। मन आत्मा से सम्बन्धित होता है। इन्द्रियों से सम्बन्धित होकर ज्ञान प्रदान करता है। इन्द्रियाँ निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थात् आलोचन मात्र ही करती हैं, मन का काम संशय तथा बुद्धि का अध्यवसाय है। आत्मा जानती है। महाभारत में उद्वेगों के विषय में भी वर्णन किया गया है। उद्वेगों की उत्पत्ति के विषय में विस्तृत विवेचन महाभारत में है।

## तन्त्रों में योग तथा मनोविज्ञान

तन्त्रों में परम पदार्थ का ज्ञान ही लक्ष्य है, जो कि अलग-अलग श्रेणी के मनुष्यों के अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न रूप से बताया जाता है। आत्मज्ञानी को सदा सभी जगह पर वही परम पदार्थ दीखता है। योग-साधन के द्वारा इसी अवस्था को प्राप्त करना परम लक्ष है। उसको षट्-रिपुओं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर को योग के अष्टांगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा नष्ट करके, प्राप्त किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये आठ यम कहे गये हैं। तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजा, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप, और होम ये दस नियम हैं।

जो आसन सिद्ध हो जाय उसी पर बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम के सिद्ध होने पर प्रत्याहार का अभ्यास होता है। उसके बाद सोलह स्थानों में प्राणवायु को धारण करने को धारणा कहते हैं। अभीष्ट देवता का एकाग्र चित्त से चिन्तन करने को ध्यान कहते हैं। सर्वदा जीवात्मा

और परमात्मा की एकता का चिन्तन समाधि है। तन्त्रों में चक्रों और नाड़ियों का वर्णन अतीव सुन्दर रूप से किया गया है। ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, के भीतर रहनेवाली चित्रा, और चित्रा के भीतर रहनेवाली ब्रह्म नाड़ी का वर्णन है। मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र तथा कुण्डलिनी शक्ति आदि का भी वर्णन है।

## पुराण में योग तथा मनोविज्ञान

पुराणों में ईश्वरवादी सांख्य दर्शन की दार्शनिक विचार-धारा पाई जाती है। उनमें जीव, ब्रह्म, जगत् तथा जीव और जगत् के ब्रह्म से सम्बन्ध का विवेचन है। उनमें ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश, बन्धन, मोक्ष, पुण्य, पाप तथा कैवल्य प्राप्त करने के साधनों का विशद विवेचन किया गया है। कर्मयोग, भक्तियोग, तथा ज्ञानयोग इन तीनों साधनों का वर्णन है। ब्रह्मप्राप्ति के लिये योग के आठों अंगों का निर्देश भी पुराणों में किया गया है और योग के द्वारा कर्मों को दग्धबीज करने का मार्ग भी बताया गया है।

श्रीमद्भागवत में योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष संकेत प्राप्त होते हैं। अनेक स्थलों पर मनःप्रणिधान, आसन, योग-क्रिया द्वारा शरीर को त्यागने का, समाधि द्वारा देह त्याग करने का, ( सती के ) शरीर का योगाग्नि द्वारा भस्म होने का (चतुर्थ स्कन्ध, अध्याय ४, श्लोक संख्या २५, २६), ( ध्रुव के ) आसन, प्राणायाम द्वारा, मल को दूर कर एकाग्र चित्त से भगवान में ध्यान करने का उपदेश, (४।८।४४) और समाधि आदि का वर्णन भी आया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत में यम और नियम के १२, १२ भेद किये गये हैं, किन्तु पातंजल योग-दर्शन में और आग्नेय पुराण में केवल ५, ५ ही भेद किये गये हैं। स्कन्दपुराण में १०, १० यम, नियम हैं। योग के अन्य छः अंगों में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन पाया जाता है। नाड़ी, चक्र, कुण्डलिनी आदि का विशद वर्णन किया गया है। मन को जब किसी विषय में स्थिर किया जाता है उस क्रिया को स्थिर क्रिया ( धारणा ) कहते हैं।

## योगवाशिष्ठ में योग तथा मनोविज्ञान

योगवाशिष्ठ में योग का अर्थ संसार सागर से निवृत्ति प्राप्त करने की युक्ति है। योग के द्वारा मानव अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है।

योग के द्वारा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न तुरीयावस्था को प्राप्त करता है। योग की तीन रीतियाँ बतायी गयी हैं। एकतत्त्व घनाभ्यास, प्राणों का निरोध, और मनोनिरोध। १—एकतत्त्व का दृढ़ अभ्यास, ब्रह्माभ्यास करके अपने को उसी में लीन कर देना होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थों में असत् की भावना को दृढ़ करने से भी मन शान्त होकर आत्मस्थिति प्राप्त होती है। केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति मानकर अपने को द्वैतरहित आत्मस्वरूप में स्थित कर लेने से भी ऐसा होता है।

योग-वाशिष्ठ में मन का बड़ा विशद् विवेचन किया गया है। योग-वाशिष्ठ का सम्पूर्ण ज्ञान ही मनोविज्ञान है। मन का जितना गहरा निरूपण योग-वाशिष्ठ में किया गया है, उतना शायद और किसी भी शास्त्र में नहीं किया गया है। मन ही के द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है, तथा सम्पूर्ण संसारचक्र मन के द्वारा ही चल रहा है। मन के शान्त होने पर ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है। योग-वाशिष्ठ में मन को शान्त करने के अनेक उपाय बताये गये हैं। जीवन में पुरुषार्थ का बहुत बड़ा महत्त्व बताया गया है, अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को माना गया है। पूर्व जन्म के कर्मों के अतिरिक्त भाग्य और कुछ नहीं है। मन को संकल्प से भिन्न नहीं माना है। संकल्प करने का नाम मन है। मन के हाथ में ही बन्धन और मोक्ष है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रियाँ, देह, पदार्थ आदि को मन के रूप बतलाये हैं। जीव और शरीर के विषय में भी वर्णन किया गया है। जीव की सात अवस्थाओं (बीज जाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जागृत्-स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत्, सुषुप्ति) का वर्णन योग-वाशिष्ठ में किया गया है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति के अतिरिक्त चित्त की चौथी तुर्या अवस्था भी मानी गई है। योग-वाशिष्ठ में मन की अद्भुत शक्तियों का बड़ा विशद विवेचन किया गया है। मन सर्वशक्ति-सम्पन्न है। मन में जगत् को रचने की शक्ति है, मन जगत् की रचना में पूर्णतया स्वतन्त्र है। भावना के आधार पर ही सब अनुभव प्राप्त होते हैं। सब कुछ मन की ही देन है। सुख दुःख सब मन के ऊपर आधारित हैं। मन के द्वारा ही शरीर भी बना है। अपनी वासनाओं के अनुसार शरीर प्राप्त होता है। योग-वाशिष्ठ में शरीर को निरोग रखने के लिए मानसिक चिकित्सा का विशद वर्णन किया गया है जिसमें मन्त्र-चिकित्सा भी आ जाती है। मानसिक अवस्था के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्राणों की गति में विकृति आ जाती है, पाचन-प्रणाली बिगड़ जाती

है। मानसिक रोगों के नष्ट हो जाने पर शारीरिक रोग स्वतः नष्ट हो जाते हैं। योग-वशिष्ठ में बड़े सुन्दर ढंग से जीवन को सुखी और निरोग रखने के उपायों का वर्णन किया गया है। मन की शुद्धि के द्वारा अनेक सिद्धियों के प्राप्त करने का वर्णन भी योगवाशिष्ठ में किया गया है। दूसरों के मनों का ज्ञान, सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने आदि की सिद्धियाँ मन की शुद्धता के द्वारा प्राप्त होती हैं। योगवाशिष्ठ में कुंडलिनी-शक्ति तथा अन्य नाड़ियों का वर्णन किया गया है। कुंडलिनी-शक्ति के जागृत करने की विधि तथा उससे प्राप्त सिद्धियों का वर्णन भी इसमें आया है। सच पूछा जाय तो योगवाशिष्ठ योग और मनोविज्ञान का ही शास्त्र है।

## गीता में योग तथा मनोविज्ञान

गीता में योगाभ्यास को बहुत मान्यता दी गई है। योगाभ्यास के द्वारा मन की एकाग्रता तथा समता प्राप्त की जाती हैं। गीता में हठ-योग को उचित नहीं माना गया है। इच्छाओं को बल-पूर्वक दमन करने को गीता में मन के निरोध का ठीक मार्ग नहीं बताया गया है, क्योंकि बल-पूर्वक इच्छाओं का दमन करने से इच्छाओं को समाप्त नहीं किया जाता है। वे सब इच्छाएँ मन के अन्तस्तल में रहती हैं। योग के समान ही गीता भी सांख्य के बहुत से विचारों को मान लेती है। यह योग-दर्शन के समान ईश्वरवादी है। बुद्धि, अहंकार और मन का करीब-करीब सांख्य की तरह ही गीता में भी निरूपण किया गया है। गीता में आत्मा और ब्रह्म की एकता को बहुत से स्थलों पर व्यक्त किया गया है। अज्ञान के कारण जीव अपने यथार्थ स्वरूप को न पहचान कर अपने आपको गलत समझ लेता है। शरीर, मन और इन्द्रियाँ आदि समझ कर वह ( जीव ) सुख, दुःख, क्षीणत्व तथा विनाशत्व के चक्र में घूमता रहता है। गीता में स्मृति, बुद्धि, चेतना, उद्वेग, अनुभूति आदि का सुन्दर विवेचन है।

गीता में कर्म-योग, ध्यान-योग, ज्ञान योग, भक्ति-योग आदि सभी योग के मार्गों का बड़े सुंदर ढंग से विवेचन किया गया है। उपनिषद्-पद्धति के अनुसार ही गीता में ध्यान-योग का विशद वर्णन किया गया है। गीता में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि सभी योग-साधनों को बताया गया है। गीता के छठे अध्याय में ध्यान-योग का वर्णन किया गया है। मन को निग्रह करने के लिए गीता में अभ्यास और वैराग्य बतलाया गया है, क्योंकि मन अत्यन्त चंचल, बलवान्, हठीला और दृढ़ है। ध्यान-योग के द्वारा चित्त को एकाग्र करके सर्वत्र व्याप्त भगवान् के भजन में लगाना चाहिए। यही ध्यान-

योग का उपयोग है। ध्यान-योग के द्वारा ध्याता, ध्येय, ध्यान तीनों का योग होता है। यही योग का परम लक्ष्य है। ध्यान से ही समाधि प्राप्त होती है। गीता का परम लक्ष्य आत्मोपलब्धि है, जीव का ब्रह्म में लीन हो जाना है, चाहे वह ज्ञान-मार्ग से, भक्ति-मार्ग से, वा कर्म-मार्ग से, अथवा और किसी मार्ग द्वारा हो।

मनोविज्ञान का विषय शरीर, मन, और इन्द्रियों से संयुक्त बद्ध जीव है। गीता के अनुसार बद्ध जीव के शरीरों के तीन भेद किये गये हैं: १—स्थूल शरीर, जो कि पञ्चभूतों से निर्मित है। २—सूक्ष्म शरीर जो कि बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों से बना है। ३—कारण शरीर जो कि हमारे सब कर्मों और वासनाओं का आधार है और जिसके कारण हमारे निरन्तर जन्म-मरण होते रहते हैं।

## जैनदर्शन में योग तथा मनोविज्ञान

जैनदर्शन के अनुसार हरएक जीव स्वरूपतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य वाला होता है। अनादि काल से कर्म बन्धन में होने के कारण सर्वज्ञता रहित होता है। कर्म-पुद्गलों के नष्ट होने से वह सर्वज्ञता को प्राप्त होता है। जैन-दर्शन में कर्म-परमाणुओं को जीव की योग-शक्ति जीव तक लाती है। राग, द्वेष आदि कषाय उन कर्म-परमाणुओं को जीव के साथ बांधते हैं, अर्थात् बन्धन के कारण जीव की योग-शक्ति और कषाय ( क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि ) हैं। इन कर्म-पुद्गलों का जीव से अलग होना ही मोक्ष है। जब तक नवीन कर्म पुद्गलों का आस्रव होना बन्द नहीं होता तथा पूर्व के कर्म-पुद्गल क्षीण नहीं होते, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता। काम, क्रोध, मान, लोभ, मोह, माया आदि कषायों के कारण ही कर्म-पुद्गल का आस्रव है, जिनका कारण अज्ञान है। ज्ञान से ही अज्ञान दूर होता है। जैनदर्शन में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चरित्र का मार्ग बतलाया गया है। इन्हीं तीनों को जैनदार्शनिकों ने त्रिरत्न कहा है। इसका पूर्ण विवेचन, जैनग्रन्थों में किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के ये ही साधन हैं। सम्यक्-चरित्र के अन्तर्गत पंच महाव्रत आते हैं, जो पातंजल योग-दर्शन के यम के समान हैं। इसके अतिरिक्त अन्य बातें भी सम्यक्-चरित्र के अन्तर्गत आ जाती हैं, ये सब योग के समान ही हैं। इस प्रकार योग चार्वाक तथा मीमांसा को छोड़कर, सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप से आ जाता है।

जैनदर्शन की विचारधारा के अनुसार चेतना (Consciousness) जीव का आवश्यक गुण है जो उससे कभी अलग नहीं होता। इस प्रकार से न्याय, वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसा जो चेतना को आत्मा का आवश्यक तत्त्व नहीं मानते थे, भिन्न मत वाले हैं। जैन जीव द्रव्य तथा गुण चेतना को अपने तरीके से भिन्न बताते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान के समान चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तीन रूप हैं। जैन-दर्शन में मानसिक क्रिया के दो कारण होते हैं—( १ ) उपादान, ( २ ) निमित्त। इन दो कारणों के सिद्धान्त के अनुसार जैन-मनोविज्ञान सब मानसिक क्रियाओं के दो-दो पहलुओं को लेते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय, दोनों प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा होता है। साधारण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिये दर्शन शब्द का प्रयोग होता है, अन्य के लिये ज्ञान का। इनका पूर्ण रूप से विवेचन जैन ज्ञान मीमांसा में दिया गया है, जिसका, किसी अंश में आधुनिक मनोविज्ञान के निरूपण से भी अधिक सूक्ष्म विवेचन है।

भाव का अर्थ उद्वेग है। नैतिकता की दृष्टि से इसके तीन रूप माने गये हैं—शुद्ध, अशुद्ध और शुभ। उद्वेगों को इसके अतिरिक्त दो प्रकार का माना गया है—सकषाय और अकषाय। कर्म या चेतना सब दशाओं में जीव के द्वारा ही होती है। जीव के अनेक रूप बताये गये हैं—मुक्त जीव, बद्ध जीव। मुक्त जीव वे होते हैं जो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं - स्थावर और जंगम।

## बौद्ध दर्शन में योग तथा मनोविज्ञान

बौद्ध-दर्शन का उदय भी दुःख से निवृत्ति प्राप्त करने के फलस्वरूप हुआ है। बुद्ध-भगवान् ने चार आर्य-सत्य बताये हैं—( १ ) संसार दुःखमय है, ( २ ) दुःखों का कारण है, ( ३ ) दुःखों का नाश होता है, ( ४ ) दुःखों के नाश के उपाय भी हैं।

दुःखों के नाश होने पर जीव सदा के लिये जन्म-मरण से छुटकारा पाकर परम-पद की प्राप्ति कर सकता है, जिसे बौद्ध निर्वाण कहते हैं। दुःख निरोध के उन्होंने आठ मार्ग बताये हैं—( १ ) सम्यक्-दृष्टि, ( २ ) सम्यक्-संकल्प, ( ३ ) सम्यक्-वाक्, ( ४ ) सम्यक्-कर्मान्त, ( ५ ) सम्यक्-आजीव, ( ६ ) सम्यक्-व्यायाम, ( ७ ) सम्यक्-स्मृति, ( ८ ) सम्यक्-समाधि।

उपर्युक्त आठों अंगों से पहिले सात अंगों का पालन करके साधक आठवें अंगसमाधि अवस्था में पहुँचता है। सम्यक्-समाधि की चार अवस्थाओं को क्रमशः पार कर निर्वाण प्राप्त करता है। प्रज्ञा, शील और समाधि अष्टांग मार्ग के तीन प्रधानं अंग माने गये हैं और इन्हें त्रिरत्न कहा गया है। बौद्धों में राज-योग और हठ-योग, दोनों प्रकार के योगों की साधना की जाती थी, जैसा कि 'गुह्य-समाज' नामक तन्त्र से स्पष्ट होता है। उसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि इन छः का उल्लेख आया है। नागार्जुन के विषय में योगाभ्यास से बड़ी-बड़ी सिद्धियां प्राप्त करने की किंवदन्तियां प्रचलित हैं। बौद्धों के यहाँ मन्त्र-योग तथा तन्त्र-योग दोनों ही प्रचलित थे। बौद्ध-दर्शन में चित्त, विज्ञान, मन पर्यायवाची शब्द हैं। चित्त की उत्पत्ति इन्द्रिय और विषयों के आघात, प्रतिघात से होती है, जिसका नाश होने से चित्त का भी नाश हो जाता है। चित्त चेतना का स्थान माना गया है। आलयविज्ञान सूक्ष्म रूप से हमारी बासनाओं का भंडार है जो हमारे बाह्य और आन्तरिक अनुभवों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उन अनुभवों से संस्कार बनते हैं जो भविष्य में अनुभव प्रदान करते हैं। आलय-विज्ञान निरन्तर परिवर्तनशील है। आधुनिक मनोविज्ञानों की तरह से बासनाओं की पूर्ण इकाई, जिनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, मन कहलाता है। आलय-विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के अनुभव मन और इन्द्रियों के साथ होते हैं।

बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदाय वाले भ्रम में विषयगत सामग्री को पूर्णतया असत् मानते हैं। उनके यहाँ अविद्यमान को विद्यमान अनुभव करना ही ज्ञान का सामान्य धर्म है। बौद्ध-योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम में उपस्थित सामग्री वस्तु जगत् में विद्यमान नहीं होती। वह तो मन की कल्पनामात्र है। योगाचार के मत से मन के बाहर किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। बौद्धों के यहां केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष को माना गया है। इनका प्रत्यक्ष (Perception) का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, पुनर्जन्म आदि को क्षणिकवाद के द्वारा ही ये समझाते हैं। परिवर्तनशील विज्ञानों से भिन्न किसी चेतना सत्ता को ये आत्मा के रूप में नहीं मानते। व्यावहारिक आत्मा को विज्ञानवादी नहीं मानते। ये इसको मनोविज्ञान कहते हैं जो कि आलयविज्ञान पर आधारित है। उसके नष्ट हो जाने पर समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं।

## न्याय दर्शन में योग तथा मनोविज्ञान

न्याय दर्शन में १६ पदार्थों का विवेचन किया गया है जो कि—१—प्रमाण, २—प्रमेय, ३—संशय, ४—प्रयोजन, ५—दृष्टान्त, ६—सिद्धांत, ७—अवयव, ८—तर्क, ९—निर्णय, १०—वाद, ११—जल्प, १२—वितण्डा, १३—हेत्वाभास, १४—छल, १५—जाति, और १६—निग्रहस्थान हैं। प्रमा (ज्ञान) प्राप्त करने के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमा (ज्ञान) वस्तु को उसके वास्तविक रूप में, जिस प्रकार की वह है, जानना है। वस्तु को उसके विपरीत रूप में जानने को अर्थात् उसके अवास्तविक ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। अप्रमा चार प्रकार की होती है—(१) स्मृति, (२) संशय (३) भ्रम, और (४) तर्क। उनका वर्णन न्याय में अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत किया गया है। ये भी मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय हैं। ज्ञाता के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। अतः चेतन सत्ता ज्ञाता है, जिसे प्रमाता कहा जाता है। ज्ञान के विषयों को प्रमेय कहते हैं। आत्मा, शरीर इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ), बुद्धि, मन ( जिसके द्वारा सुख, दुःख आदि का ज्ञान होता है तथा जो प्रमाणु रूप होने से एक समय में एक ही विषय का ज्ञान प्रदान करता है ), प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल ( दोषों के द्वारा प्राप्त सुख या दुःख का अनुभव ), दुःख, मोक्ष, इन १२ प्रमेयों का वर्णन गौतम ऋषि ने किया है, जो कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है।

आत्मज्ञान का प्राप्त करना भी मनोविज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत आ जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा, ज्ञान का आश्रय, अमूर्त, देशकालातीत, विभु अर्थात् सर्वव्यापी, निरवयव, नित्य, अजन्मा, अमर, अनादि, अनन्त, असीम है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और बुद्धि ये जीव-आत्मा के गुण हैं। जीवात्मा और परमात्मा के रूप से आत्मा के दो भेद न्याय में माने गये हैं। न्याय के अनुसार प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न आत्मा होती है। शरीर, मन, इन्द्रिय तथा विज्ञान-प्रवाह से आत्मा भिन्न है। मन आन्तर इन्द्रिय है, जो सुख, दुःख के अनुभव को प्रदान करता है। इसके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इन्द्रियां स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्रदान नहीं कर सकतीं। स्मृति आदि ज्ञान से मनका अस्तित्व सिद्ध है। परमाणु रूप होने के कारण मन एक समय में एक ही विषय का ज्ञान प्रदान कर सकता है अर्थात् एक समय में एक ही विषय पर ध्यान केन्द्रित हो सकता है, किन्तु

गतिशीलता के कारण, अर्थात् अति चंचल होने के कारण पौर्वापर्य का ज्ञान न होकर एक साथ बहुत से विषयों के ज्ञान होने का भ्रम होता है। ज्ञान की प्रक्रिया, जिसके द्वारा आत्मा को बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार से हैं :— पहले इन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्ष होता है। उसके बाद उनके साथ मन का संयोग होता है, और मन के द्वारा आत्मा को ज्ञान होता है। इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। मन के सहयोग के बिना कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मन का तो आत्मा के साथ निरन्तर सम्बन्ध रहता है, क्योंकि आत्मा विभु है। मन का निरन्तर आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर भी, बिना इन्द्रिय-विषय से सम्बन्धित रूप में पुनः आत्मा के साथ मन के नवीन संयोग के ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष का विशद विवेचन किया गया है। ईश्वर का प्रत्यक्ष नित्य तथा मानव का प्रत्यक्ष अनित्य कहा गया है। अनित्य प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भेद होते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का होता है। लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियों के ६ सन्निकर्षो के कारण ६ प्रकार का होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का होता है। १—सामान्य लक्षण, २—ज्ञान लक्षण, ३—योगज। इस प्रकार से ज्ञान के विषय में न्यायदर्शन में बड़ा विषद विवेचन हुआ है। भ्रम के विषय में इनका अन्यथाख्याति वाद ( या विपरीतख्याति वाद ) का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार भ्रम में हम विषयों के उन-उन गुणों का प्रत्यक्ष करते हैं, जो विषय-विशेष में कालविशेष और स्थलविशेष में विद्यमान नहीं हैं, किन्तु वे अन्यत्र विद्यमान हैं और उनका प्रत्यक्ष होता है। लौकिक प्रत्यक्ष को भी न्याय में दो प्रकार से बताया गया है। एक दृष्टि से वह बाह्य तथा आन्तर भेद से दो प्रकार का होता है; दूसरी दृष्टि से उसके तीन भेद किये गये हैं—(१) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, (२) सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा (३) प्रत्यभिज्ञा। इन तीनों में जो भेद नैयायिकों ने किया है वह बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्तियों को मान्य नहीं है। न्याय में बुद्धि ( ज्ञान ) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के गुण माने गये हैं। सांख्य योग में बुद्धि आत्मा से बिल्कुल भिन्न, प्रकृति की प्रथम अभिव्यक्ति है और सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि आत्मा से सम्बन्धित न होकर प्रकृति से सम्बन्धित हैं। न्यायदर्शन ने जीव को प्रयत्नशील, सुखी, दुःखी और ज्ञानवान् होने के कारण क्रमशः कर्त्ता, भोक्ता और अनुभवी कहा है, लेकिन ये

सब गुण शरीर से आत्मा के सम्बद्ध रहने तक ही हैं। न्याय और वैशेषिक वाले चैतन्य को भी आत्मा का आकस्मिक गुण मानते हैं। वे चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं मानते। मुक्त अवस्था में आत्मा शान्त और निर्विकार हो जाती है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि न्याय में आत्मा, मन, इन्द्रियों, चेतना, अनुभूति, उद्वेग, क्रिया ( प्रयत्न ), स्मृति आदि सभी मनोवैज्ञानिक विषयों का विवेचन किया गया है।

न्याय के अनुसार मोक्ष आत्मा के इन्द्रियों आदि के बन्धनों से मुक्त हो जाने पर ही प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप दुःखों, सुखों तथा हर प्रकार की अनुभूतियों की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार से आत्मा की दुःख, सुख और सब प्रकार की अनुभूतियों से एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही आत्मा की चरम अवस्था है। प्रत्येक भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बताना ही है। न्यायदर्शन ने मोक्ष प्राप्त करने के उपाय—श्रवण, मनन और निदिध्यासन बताये हैं। यहां पर न्याय ने भी योग के बतलाये मार्ग को अपनाया है और उसी विधि से आत्मा का निरन्तर ध्यान करने का आदेश दिया है। योगमार्ग को किसी न किसी रूप में सब भारतीय दार्शनिकों ने अपनाया है। थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ उसी के अभ्यास का निर्देशन चार्वाक दर्शन को छोड़कर हर दर्शन में किया गया है।

## वैशेषिक-मनोविज्ञान

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं। आत्मा को उसने द्रव्य माना है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बुद्धि आदि गुणों के कारण यह अन्य द्रव्यों से भिन्न है। बुद्धि के कारण यह चैतन्य का आश्रय है। शरीर और इन्द्रियों में चैतन्य नहीं रह सकता। आत्मा ही में अहंकार होता है। संस्कार भी आत्मा में रहते हैं जिनके द्वारा स्मृति होती है। आत्मा धर्म अधर्म गुणों वाली भी होती है। ज्ञान की क्रिया, जिसके द्वारा आत्मा को बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार से होती है :—हमारी बाह्य इन्द्रियों से बाह्य विषयों का संयोग होता है। उसके बाद इन्द्रियों और विषयों के साथ मन का संयोग होता है, मन के द्वारा आत्मा को ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मा ज्ञाता है, मन ज्ञान का करण है। अर्थात् मन ज्ञान का साधन मात्र है। मन के बिना केवल इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष से आत्मा को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

मन आत्मा से संयुक्त रहता है। यह परमाणुरूप होने के कारण बहुतसी वस्तुओं का एक साथ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ध्यान मन के संयोग को कहते हैं। आत्मा के प्रयत्न द्वारा क्रिया करने की प्रक्रिया निम्नलिखित है :— प्रयत्न का सीधा सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों से नहीं है। वह आत्मा से संयुक्त मन और कर्मेंद्रियों से है। इसलिये मन के द्वारा ही उनमें क्रिया हो सकती है। मन के परमाणुरूप होने के कारण एक समय में एक कर्मेन्द्रिय के द्वारा एक ही क्रिया हो सकती है। किन्तु अति चंचल होने के कारण वह शीघ्रतया शीघ्र एक कर्मेंद्रिय से दूसरी कर्मेन्द्रिय पर पहुंच कर उसकी क्रिया करवाने में सफल हो सकता है।

इसके अतिरिक्त मन आन्तर इन्द्रिय भी है जिसके द्वारा संस्कार स्मृति के रूप में उत्तेजित होते हैं, जब कि वह वाह्य इन्द्रियों के द्वारा उत्तेजित नहीं होती। मन के द्वारा ही सुख दुःख आदि का आन्तर प्रत्यक्ष सम्भव होता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के समान ही वैशेषिक दर्शन भी मन के ध्यान को एक समय में एक ही विषय पर केन्द्रित किया जाना सम्भव मानता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह न्याय वैशेषिक मत से ध्यान परिवर्तनशील है। मन की गति अति तीव्र होने के कारण अनुभव में एकता ( unity ) और एकान्तता (continuity) प्रतीत होती है।

## सांख्य-मनोविज्ञान

सांख्यकारिका में मन के भावात्मक और क्रियात्मक पहलुओं से अधिक ज्ञानात्मक पहलू का विवेचन किया गया है। मन के ज्ञानात्मक पहलू के अन्तर्गत ज्ञान के साधन तथा उनकी क्रियायें आती हैं। बुद्धि, अहंकार और मन को अन्तःकरण कहा गया है। अन्य पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वाह्यकरण कहा जाता है। बुद्धि का विशिष्ट कार्य अध्यवसाय है। इसके द्वारा ही विषय का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। अहंकार का कार्य अभिमान करना है। अहंकार अभिमान को ही कहते हैं, क्योंकि अभिमान अहंकार का असाधारण कार्य है। इसी के द्वारा बुद्धि निश्चय करती है। "मैं" अभिमान सूचक है। इसी को अहंकार कहते हैं। मन का कार्य सत्ताइसवीं कारिका में बताया गया है। मन को भी इन्द्रिय ही माना गया है। मन के कार्य संकल्प, विकल्प हैं जो कि निश्चयात्मक ज्ञान से पूर्व की स्थिति है। पाश्चात्य मनोविज्ञान

इसको विषय को assimilation and differentiation कहते हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही है। मन से ज्ञानेन्द्रियों का तथा कर्मेन्द्रियों का संयुक्त होना ही उन्हें अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करता है। मनको इन्द्रिय ही माना है। किन्तु इन्द्रिय होते हुए भी बुद्धि और अहंकार की तरह मन का असाधारण धर्म संकल्प भी होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों ( आंख, कान, नाक, रसना, त्वक् ) का असाधारण व्यापार अपने-अपने विषयों का आलोचन करना मात्र है ।

इसी प्रकार से वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, पंच कर्मेन्द्रियों का असाधारण व्यापार क्रमशः बोलना, लेना-देना, चलना-फिरना, मल-त्याग और रति है।

ज्ञान की प्रक्रिया में सर्व प्रथम इन्द्रिय-विषयसन्निकर्ष होता है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा विषय-देश में पहुँच कर विषयाकार हो जाता है। अन्तःकरण के विषय रूप में बदल जाने वाले इसी परिणाम को चित्त-वृत्ति, ज्ञान आदि शब्दों से पुकारा जाता है। इसके बाद उच बुद्धि की वृत्ति के आधार पर अग्रिम लक्षण में पुरुष को होने वाले बोध को पौरुषेय बोध कहते हैं।

ज्ञान की यथार्थता चित्त के विषयाकार होने पर आधारित है। अनधिगत, अबाधित, असंदिग्धार्थ विषय ज्ञान को प्रमाज्ञान कहते हैं, अर्थात् संशयात्मक ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान से शून्य तथा पूर्व में जाने हुये विषय वाले स्मृतिरूप ज्ञान से भिन्न, चित्त-वृत्ति द्वारा पुरुष को होने वाला ज्ञान प्रमाज्ञान माना गया है।

सांख्य तथा प्राभाकर मीमांसा सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम के विषय में अख्यातिवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक भ्रम दो प्रकार के ज्ञानों में भेद न कर सकने के कारण होता है। कभी-कभी तो आंशिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा उत्तेजित की गई स्मृति प्रतिमा में तथा कभी कभी दो इन्द्रिय अनुभवों में गड़बड़ होने के कारण भ्रम होता है। पुरुष तथा बुद्धि दोनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी केवल सन्निधान के कारण ऐक्य भ्रान्ति होती है। बुद्धि की वृत्तियों का आरोप पुरुष में हो जाता है जिससे वह अपने आपको सुखी दुःखी तथा परिणामी समझने लगता है।

अगर ज्ञान के क्रम को देखा जाय तो सांख्य में इन्द्रिय का व्यापार आलोचन होता है तथा मन, अहंकार और बुद्धि के व्यापार क्रमशः संकल्प, अभिमान, और निश्चय होते हैं। ये व्यापार साथ-साथ और क्रमशः दोनों प्रकार से होते हैं। विषय

की अनुपस्थिति में भी अन्तःकरण (मन, अहंकार, बुद्धि) की क्रिया होती रहती है, जैसे स्मृति, कल्पना, विचारणा और अनुमान आदि में होती है। इनकी क्रियायें भी साथ-साथ तथा क्रमशः दोनों ही प्रकार से होती हैं; पूर्व में इनका प्रत्यक्ष हुआ रहता है।

सांख्य ने मन की पांच भावात्मक अवस्थायें बताई हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेश और अभिनिवेश। पातंजल योगसूत्र में क्लेश के सिद्धान्त के अन्तर्गत इनका विशद विवेचन किया गया है। ये क्लेश योगाभ्यास में विघ्न-कारक हैं। इन्हें पंच-क्लेश के नाम से कहा गया है। इनमें से अविद्या अन्य चारों क्लेशों (अस्मिता, राग, द्वेष, तथा अभिनिवेश) का मूल कारण है। इनका विशद विवेचन पुस्तक के पृथक् अध्याय में किया जावेगा। अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म-बुद्धि रखना अविद्या है। इस अविद्या से ही सबकी उत्पत्ति है। पुरुष और बुद्धि की अभेदता अस्मिता है। सुख देनेवाले विषयों से प्रेम राग कहलाता है। दुःख प्रदान करनेवाले विषयों से घृणा द्वेष कहलाती है। मृत्युभय को अभिनिवेष कहते हैं। उद्वेग के साथ-साथ सांख्य में नव तुष्टियां भी मनोवैज्ञानिक ज्ञान का विषय हो सकती हैं जो योगाभ्यास से सम्बन्धित हैं तथा जिनका विवेचन ५०वीं कारिका में किया गया है।

सांख्य के उद्वेग के सिद्धान्त के अनुसार सब उद्वेगों वा भावों का मूल कारण त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) हैं। इन्हीं पर हमारा सम्पूर्ण भावात्मक जीवन आधारित है। सत्व से सुख, रजस् से दुःख, तथा तमस् से मोह होता है। जितने भी उद्वेग हैं वे सब इन्हीं तीन के भिन्न-भिन्न अनुपात के मिश्रण के कारण हैं। इस विषय का कोई विशद विवेचन सांख्य सिद्धान्त में नहीं मिलता कि इस प्रक्रिया के द्वारा नवीन उद्वेगों की उत्पत्ति कैसे होती है।

सांख्य में मन के क्रियात्मक पहलू का विवेचन भी अधिक नहीं है। सांख्य अन्य सम्प्रदायों की ही तरह, दो प्रकार के भावो के अनुरूप दो प्रकार की क्रियाओं को मानता है। जिस विषय से सुख मिलता है उसकी इच्छा अर्थात् उसके प्राप्त करने की प्रेरणा तथा तत्सम्बन्धी क्रिया होती है। जिस बिषय से कष्ट प्राप्त हुआ हो उससे दूर भागने की प्रवृत्ति होती है। निष्क्रियता मोह के कारण होती है। गुणों पर आधारित क्रिया का सिद्धान्त भिन्न है। सत्व-

गुण, रजोगुण तथा तमोगुण में रजस् ही क्रियाशील है। सत्व सुखात्मक होते हुये भी स्वयं क्रियाशील नहीं है। बिना रजस् के क्रिया नहीं हो सकती। सत्वगुण को क्रिया के लिये रजोगुण के आश्रित रहना पड़ता है। तमोगुण अवरोधक है। क्रिया में रुकावट डालता है। ऐच्छिक क्रियाओं का आधार बुद्धि या मन अथवा दोनों ही हैं। प्रतीत तो ऐसा होता है कि मन तथा बुद्धि दोनों ही का हाथ ऐच्छिक क्रियाओं में है। किन्तु क्रिया बिना मन के नहीं हो सकती क्योंकि कर्मेन्द्रियों से मन का सीधा सम्बन्ध है।

## योग-मनोविज्ञान

पातंजल योग तो करीब-करीब सब मनोविज्ञान ही है। यहां संक्षेप में योग-मनोविज्ञान का परिचय देना पर्याप्त होगा। चित्त (मन) तथा उसकी वृत्तियां, पंच क्लेश ( अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ) तापत्रय, संस्कार, चित्त भूमि, तथा संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) आदि योग-मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय हैं। इस ग्रंथ में इन सबका विशद विवेचन किया गया है।

योगदर्शन में ईश्वर, अनेक पुरुष, और प्रकृति तीन अन्तिम सत्तायें मानी गई हैं। पुरुषविशेष को ईश्वर कहा है। चित्त प्रकृति की अभिव्यक्ति होने से प्रकृति के समान ही त्रिगुणात्मक ( सत्व, रजस् , तमस्-मय) है। चित्त जड़ होते हुये भी सत्व गुण प्रधान तथा पुरुष के निकटतम होने से पुरुष के प्रकाश से प्रकाशित होता है, तथा पुरुष के उसमें प्रतिबिम्बित होने से यह चेतन सम प्रतीत होता है। जीव शुद्ध चैतन्य रूप होते हुए भी अज्ञान के कारण मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय शरीर आदि से सम्बद्ध है। इन्द्रियों के द्वारा चित्त विषय देश में पहुँचकर विषयाकार हो जाता है जिससे आत्मा को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पुरुष ( आत्मा ) स्वयं अविकारी, निष्क्रिय होते हुये भी इन्हीं चित्त-वृत्तियों के कारण परिणामी प्रतीत होता है। कारण चित्त तथा कार्य चित्त के रूप से योग में चित्त के दो भेद माने हैं। कारण चित्त विभु है तथा कार्य चित्त सीमित है। योग ने जीव के चित्त की चेतना के तीन स्तर माने हैं: १— अचेतन ( Subconscious ) २—चेतन (Conscious) ३—अतिचेतन (Superconscious)। पूर्व जन्म के ज्ञान, भावनायें, वासनायें, क्रियायें तथा उन सबके संस्कार अचेतन चित्त को बनाते हैं। प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, शब्द, भ्रम, स्मृति, विकल्प, अनुभूति, उद्वेग और संकल्प चेतन चित्त की प्रक्रियायें

हैं। चित्त को समस्त दोषों से मुक्त कर और उसकी प्रक्रियाओं को समाप्त करने से अतिमानस अवस्था में स्थिति होती है। जिससे भूत, भविष्य, वर्तमान, निकट, दूरस्थ तथा सूक्ष्म विषयों का सहज ज्ञान प्राप्त होता है। इसके बाद की भी एक अवस्था है जिसे स्वरूपस्थिति कहते हैं, यही प्राप्त करना परम लक्ष्य है।

चित्त की अनन्त वृत्तियों को योगदर्शन ने पांच के अन्तर्गत ही कर दिया है। ये पांच वृत्तियां १—प्रमाण, २—विपर्यय, ३—विकल्प, ४—निद्रा तथा ५—स्मृति हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप से ये दस हुई। क्लिष्ट वृत्तियां लक्ष्य प्राप्ति में बाधक हैं और अक्लिष्ट वृत्तियां लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होती हैं। प्रमा ज्ञान को प्रदान करनेवाली वृत्तियां प्रमाण कही गई हैं, जो योग में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन हैं। अनधिगत अबाधितअर्थ विषय ज्ञान को प्रमा कहा गया है जो भ्रम तथा स्मृति से भिन्न है। १—इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष के द्वारा विषयाकार होनेवाले चित्त के परिणाम को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। २—लिंग लिंगी के व्याप्ति ज्ञान तथा लिंग की पक्षधर्मता पर आधारित वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। अनुमान, पूर्ववत, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट तीन माने गये हैं। कारण से कार्य का अनुमान पूर्ववत, कार्य से कारण का अनुमान शेषवत्, तथा लिंग के सामान्य सादृश्य के आधार पर किया गया अनुमान सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। ३—प्रत्यक्ष या अनुमान से जाने गये विषय को जब आप्त पुरुष अन्य व्यक्ति को उसका ज्ञान देने के लिये शब्दों से उस विषय को बताता है तब शब्द से अर्थ का विषय करनेवाली चित्त की वृत्ति को आगम प्रमाण कहते हैं। योग ने वेद, उन पर आश्रित शास्त्रों, तथा उन पर आश्रित ऋषि-मुनियों के बचनों को ही आगम प्रमाण माना है।

"विषय के अपने स्वरूप में अप्रतिष्ठित होने वाले मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं।" इस ज्ञान का प्रमा ज्ञान से उत्तर काल में बाध हो जाता है, अतः यह प्रमा नहीं कहा जा सकता। संशय यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित होने के कारण विपर्यय के ही अन्तर्गत आ जाता है। जो नहीं है वह दीखना विपर्यय कहलाता है।

"अविद्यमान अर्थात् असत् विषय की केवल शब्द ही के आधार पर कल्पना करने वाली चित्त की वृत्ति को विकल्प कहते हैं।" यह प्रमाण और विपर्यय दोनों से भिन्न है। विकल्प में कहीं तो भेद में अभेद का ज्ञान तथा कहीं अभेद में भेद का ज्ञान होता है।

निद्रा वह वृत्ति है जिसमें केवल अभाव की प्रतीति मात्र रहती है। यहाँ अभाव का अर्थ जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव से है। योग में आत्मस्थिति के अतिरिक्त सभी स्थितियों को वृत्ति माना गया है। अतः निद्रा भी वृत्ति है जिसका निश्चय स्मृति द्वारा हो जाता है।

"चित्त के अनुभव किये हुये विषयों का फिर से उतना ही या उससे कम रूप में (अधिक नहीं) ज्ञान होना स्मृति है।" ज्ञान दो प्रकार का होता है — अनुभव और स्मृति। अनुभव से भिन्न ज्ञान स्मृति है। विषय तथा विषयज्ञान दोनों ही अनुभव का विषय होने से, अनुभव के संस्कार भी विषय तथा विषय-ज्ञान दोनों के हुये। स्मृति संस्कारों की होती है। अतः वह भी विषय तथा विषय ज्ञान दोनों की ही होगी। स्मृति दो प्रकार की होती है : —(१) अयथार्थ स्मृति वा भावित-स्मर्तव्य स्मृति, (२) यथार्थ स्मृति वा अभावित स्मर्तव्य स्मृति। स्वप्न के विषय ज्ञान को भावित स्मर्तव्य स्मृति कहते हैं।

इन पाँचों वृत्तियों काका निरोध करना ही योग है।

आत्मा को अज्ञान के कारण ये सब चित्त की अवस्थायें अपनी भासती हैं। यही भ्रम है। शरीर मन इन्द्रियां आदि के विकारों से आत्मा परे है। चित्त के निर्मल तथा सत्व प्रधान होने के कारण पुरुष चित्त में प्रतिबिम्बित होता है तथा भ्रमवश सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होता है।

योग में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष पंच क्लेशों का वर्णन है जिसका विशद विवेचन आगे किया जायेगा तथा संक्षिप्त वर्णन सांख्य मनोविज्ञान में किया जा चुका है।

योग में सांख्य के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक दुःखों को तापत्रय माना है जिनको परिणाम दुःख, तापदुःख और संस्कार दुःख कहा गया है। योग में संस्कारों का भी विवेचन है।

योग ने ध्यान के पाँच स्तर बताये हैं अर्थात् चित्त की पांच भूमियों का विवेचन किया है। चित्त की पांच अवस्थायें—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध हैं। ध्यान चित्त का कार्य है जिसकी ये पांच अवस्थायें हैं। इन पाँच अवस्थाओं वाला होने के कारण चित्त एक होते हुए भी पांच प्रकार का कहा गया है। क्षिप्त चित्त रजस् प्रधान होने से अस्थिर चित्त है अतः योगाभ्यास के उपयुक्त नहीं है। (२) मूढ़ चित्त तमसप्रधान

होने से निद्रा तथा आलस्य पूर्ण होता है अतः योगाभ्यास के उपयुक्त नहीं है। ( ३ ) विक्षिप्त चित्त, चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था को कहते हैं। इसे भी योगोपयुक्त नहीं कहा जा सकता। एकाग्र तथा निरुद्ध ये ही दो अवस्थायें योगयुक्त कही जा सकती हैं। ( ४ ) एकाग्र अवस्था में एक विषय पर चित्त देर तक लगा रहता है। ( ५ ) निरुद्धावस्था अन्तिम अवस्था है जिसमे चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

योग में समाधि का विशद विवेचन किया गया है। समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दो प्रकार की होती हे। एकाग्रता वा समाधि चित्त को बिना दूसरे विचारों के आये लगातार एक विषय में लगाये रहने को कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि ( १ ) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, ( २ ) विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि ( ३ ) आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, ( ४ ) अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के भेद से चार प्रकार की होती है। किसी स्थूल विषय में चित्त की वृत्ति की एकाग्रता को वितर्कानुगत, सूक्ष्म विषय में चित्तवृत्ति की एकाग्रता को विचारानुगत, अहंकार विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता को आनन्दानुगत तथा अहंकाररहित अस्मिता विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सम्पूर्ण चित्त की वृत्तियों के निरोध की अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

योग में संयम के विषय में भी बहुत सुन्दर तथा विशद विवेचन है। धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को संयम कहा है। संयम के बिना परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।

अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

योग में चित्त बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सर्वोत्तम रीति से चित्त के वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिये, समाधिपाद में वर्णित क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्त की पाँच भूमियों से भिन्न नो विशेष अवस्थाओं को बताना अति आवश्यक प्रतीत होता है—( १ ) जाग्रत् अवस्था, ( २ ) स्वप्नावस्था, ( ३ ) सुषुप्तावस्था, ( ४ ) प्रलयावस्था, ( ५ ) समाधि प्रारम्भावस्था, ( ६ ) सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था, ( ७ ) विवेक ख्याति अवस्था ( सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था और असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था के बीच की अवस्था ), ( ८ ) स्वरूपा-

स्थिति की अवस्था ( असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था ), ( ६ ) प्रति-प्रसव-अवस्था ( चित्त की उत्पत्ति करने वाले गुणों की प्रकृति में लीन होने की अवस्था ) इनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

## मीमांसा-मनोविज्ञान

निर्दोष कारण सामग्री के द्वारा प्राप्त अज्ञात नवीन तथा सत्यभूत विषय के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। मीमांसक सब अनुभवों को यथार्थ मानते हैं जब तक कि वे अन्य अनुभव द्वारा विपरीत साबित न हो जायें। अतः वे स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। उनके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता का, ज्ञान का प्रामाण्य, बाह्य नहीं है। वह तो ज्ञान की उत्पादक सामग्री के साथ-साथ ही उपस्थित रहता है, कहीं बाहर से नहीं आता। ज्ञान के होते हुए उसके प्रामाण्य की चेतना उसी समय हो जाती है। ज्ञान की सत्यता तो स्वयं सिद्ध है जो उसके उत्पन्न होते ही उसमें निहित होती है।

मीमांसक भी दो प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं एक तो निर्विकल्पक ज्ञान या आलोचन ज्ञान और दूसरा सविकल्पक ज्ञान। पूर्वानुभव के आधार पर किसी विषय के स्वरूप को निश्चित करना सविकल्प ज्ञान है। निर्विकल्प ज्ञान में वस्तु क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, केवल इन्द्रिय विषय संयोग के द्वारा विषय की प्रतीति मात्र होती है अर्थात् विषय का स्पष्टतः ज्ञान नहीं होता। मीमांसा के अनुसार सत्य वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है। मीमांसकों के यहाँ ज्ञान के विषय का बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। भ्रम के विषय में इनका अख्याति वाद का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनके अनुसार दो भिन्न ज्ञानों को भिन्न न समझने के कारण भ्रम उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी तो आंशिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष के द्वारा उत्तेजित की गई स्मृति प्रतिमा तथा कभी-कभी दो इन्द्रियों में गड़बड़ी होने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। प्राभाकर मिमांसक किसी भी ज्ञान को असत्य नहीं मानते, उनके यहाँ सब ज्ञान सत्य हैं। भाट्ट मीमांसकों को अख्यातिवाद का मत मान्य नहीं है। उनका भ्रम के विषय में विपरीत-ख्यातिवाद का मत है। इसका विषद विवेचन आगे उपयुक्त स्थल पर किया जाएगा।

मीमांसक कारण में अदृष्ट शक्ति को मानते हैं। इस कारण शक्ति के द्वारा ही कार्य की उत्पत्ति होती है। मीमांसकों के अनुसार जो कर्म हम करते हैं, वे एक अदृष्ट-शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसे वे अपूर्व कहते हैं। इस शक्ति की कल्पना

केवल मीमांसकों के द्वारा की गई है। यह उनकी एक विशेषता है। हर प्रकार के कर्मों का फल संचित होता रहता है। वे इस कर्म-फल के व्यापक नियम को मानते हैं। मीमांसकों का आत्मा का विचार न्याय वैशेषिक से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इनके अनुसार भी चैतन्य आत्मा का एक औपाधिक गुण है। जो कि सुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में उसके उत्पादक कारणों के अभाव के कारण नहीं रह जाता। हर जीव की आत्मा भिन्न-भिन्न है।

मीमांसा दर्शन में ज्ञान, ज्ञान की प्रामाणिकता, प्रत्यक्ष, भ्रम, आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा कर्मों का विवेचन किया गया है, जो कि मनोविज्ञान के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। कर्मों के विषय में तो अति अधिक विवेचन मीमांसा शास्त्र में हुआ है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और संकल्प शक्ति को भी उन्होंने मुख्य स्थान दिया है। यज्ञ आदि के द्वारा स्वर्ग आदि की प्राप्ति तथा अपनी इच्छा शक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति व्यक्ति कर लेता है।

## अद्वैत वेदान्त में योग और मनोविज्ञान

वेदान्त दर्शन भारतीय विचार प्रणाली के विकास में सर्वोच्च स्थान रखता है। उसमें बहुत सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भारतीय दर्शनों में केवल कोरा तत्त्व विवेचन ही नहीं है यहां तत्त्व ज्ञान के साथ-साथ जीवन को भी दृष्टि में रक्खा गया है। सच तो यह है कि यहां जीवने के लिये ही दर्शन था। यही कारण है कि भारतीय दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं थे बल्कि व्यवहारिक भी थे। वे केवल सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करके तृप्त नहीं हुये, किन्तु उन्होंने, परम लक्ष्य, आत्मोपलब्धि, के लिये साधन भी बताये हैं। सत्य के साक्षात्कार करने के मार्ग का निर्देशन प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में हुआ है। वेदान्त दर्शन के द्वारा भी साधना बताई गई है जो कि मुख्यतया ज्ञान साधना है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है। माया के कारण ही ब्रह्म के अधिष्ठान में संसार भास रहा है, जिसकी इस भ्रान्ति को, ज्ञान के द्वारा समाप्ति हो जाती है। शंकराचार्य के "विवेक चूड़ामणि" नामक ग्रन्थ में ज्ञानोपलब्धि के उपाय बताते हुये नवें श्लोक में, योगारूढ़ होने का आदेश मिलता है जो कि नीचे दिया जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।
योगारूढ़त्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया (विवेक चूडामणि। ९)

अर्थ :—संसार सागर में डूबी हुई अपनी आत्मा का, हर घड़ी आत्म दर्शन में मग्न रहता हुआ योगारूढ़ होकर स्वयं ही उद्धार करे।

भारतीय दर्शन व सभी भारतीय शास्त्र अधिकारी को ही ज्ञान प्रदान करने का निर्देशन करते हैं। वेदान्त में साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति में ही ब्रह्म जिज्ञासा की योग्यता मानी जाती हैं। इन साधनों में से प्रथम साधन नित्य-अनित्य वस्तु-विवेक है जिसके अनुसार ऐसा निश्चय हो जाता है कि ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है अर्थात् ब्रह्म एक मात्र नित्य वस्तु है और उसके अतिरिक्त सभी अनित्य हैं। दूसरा, सब सुख भोगों लौकिक एवं पारलौकिक) से वैराग्य होना। सभी सांसारिक भोग, विलास, ऐश्वर्य आदि तथा यज्ञ आदि द्वारा प्राप्त स्वर्ग आदि के भोगों को अनित्य जानकर उनमें घृणा बुद्धि करना वैराग्य है। तीसरा, षट् सम्पत्तियां (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) है। विषयों में दोष दृष्टि बारंबार रखने से चित्त का उनसे विरक्त होकर अपने ध्येय में स्थिर होना शम है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से हटा लेना ही दम है। बाह्य विषयों का आलम्बन न लेना ही उपरति है। प्रतिकार की भावना से रहित, चिन्ता शोक से रहित होकर शीत, उष्ण आदि और किसी भी प्रकार से उत्पन्न कष्टों को प्रसन्न मन से सहन करना तितिक्षा कहलाती है। शास्त्र के वाक्य तथा गुरु वाक्य में विश्वास रखना ही श्रद्धा है। बुद्धि को सदा ब्रह्म में लीन रखना समाधान कहलाता है। अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण सांसारिक अज्ञान, कल्पित बंधनों को त्यागने की इच्छा मुमुक्षुता है। इस प्रकार से साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही गुरु के उपदेश द्वारा आत्मोपलब्धि प्राप्त कर संसार के दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। वेदान्तज्ञान का उसी को अधिकारी बताया गया है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन (निरन्तर, हमेशा, बारबार चिरकाल तक ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना) रूपी साधना वेदान्त में बताई गई है। वेदान्त की साधना ज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। साधन अवस्था में भी लक्ष्य, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्म ही होता है। अनेकत्व के मिथ्यात्व की भावना वेदान्त में बतलाई गईहै। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वेदान्त में भी योग साधन है। योग का उद्देश्य आत्मा के आवरण को हटाना ही होता है तथा सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही सत्ता का अपने भीतर अनुभव करना होता है। योग के अभ्यास के द्वारा अभेद की स्थापना होती है। ब्रह्म के सगुण रूप का एक निष्ठ ध्यान और उसमें लीन होना ही योग का वास्तविक रूप है। वेदान्त के योग में ब्रह्म और जीव के एकत्व की

स्थापना होती है। वेदान्त की इस साधना के द्वारा ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य के अनुभव से अहंभाव आदि दोष निवृत हो जाते हैं और उसको निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है। व्यक्ति स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होना ही मोक्ष है। यही वेदान्त की अपनी विशिष्ट योग की साधना है। उसके द्वारा देश कालाद्यनवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्म को पाना होता है, जो कि निर्गुण है, जिसमें काल की परिच्छिन्नता नहीं होती है। सगुण तो देश काल परिच्छिन्न है अतः जब तक देश काल की परिच्छिन्नता को हटा कर निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता तब तक वेदान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार के मोक्ष को प्राप्त करने का साधन ही वेदान्तिक योग या ज्ञान योग का आधार है। श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग को मुक्ति प्रदान करने का साधन कहा गया है। श्रीशंकराचार्य जी ने "विवेक-चूड़ामणि" नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है :—

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ।।
( विवेक चूडामणि ४८ )

भगवती श्रुति में श्रद्धा, भक्ति, ध्यान तथा योग को मुमुक्षु की मुक्ति का साक्षात् कारण बताया गया है। केवल इन्हीं में स्थिति होने से व्यक्ति अविद्या कल्पित देह-इन्द्रिय आदि के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

वेदान्त में निर्विकल्पक समाधि से अज्ञान का नाश होकर आत्मोपलब्धि बताई गई है। ( विवेकचूड़ामणि । ३५४ ) समाधि के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान के कारण उत्पन्न हुये दोष तथा अज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। योगी निरन्तर समाधि के अभ्यास से अपने में ब्रह्मभाव का अनुभव करता है। आत्मा में सारे भेदों की प्रतीति उपाधि भेद से ही होती है तथा उसकी समाप्ति पर केवल आत्म तत्त्व ही रह जाता है। उपाधि की समाप्ति समाधि द्वारा होती है। अतः उपाधि को समाप्त करने के लिये निरन्तर निर्विकल्पक समाधि में रहना चाहिये। वेदान्त में चित्त के निरोध करने के विषय में भी कहा गया है। एकान्त में रहकर इन्द्रिय दमन करना तथा इन्द्रिय दमन से चित्त निरोध, चित्त निरोध से वासना का नाश होता है, वासना नाश होने से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिये चित्त का निरोध अति आवश्यक है। योग की बड़ी ही सुन्दर विधि नीचे दिये श्लोक में बताई गई है :—

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि ।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ।।
( विवेकचूड़ामणि । ३७० )

"वाणी का मन में, मन का बुद्धि में, और बुद्धि का आत्मा ( साक्षी ) में, बुद्धि-साक्षी ( कूटस्थ ) का पूर्ण ब्रह्म में लय करके परम शान्ति प्राप्त करे ।"

वेदान्त में वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि का वर्णन है। आत्मा मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। वेदान्त के अनुसार आत्म तत्व के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है। ब्रह्म से आत्मा भिन्न नहीं है, दोनों एक ही हैं। जीव तथा ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध है। माया के द्वारा आत्मा का वास्तविक रूप छिपा रहता है। माया ब्रह्म की ही अद्भुत शक्ति है। आत्मा, ब्रह्म, सत्-चित्-आनन्द, स्वयं प्रकाश, कूटस्थ, साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा, एक है। सत्ता केवल एक ही है, अनेकता भ्रान्ति है। उपनिषदों के समान ही आत्मा का निरूपण वेदान्तदर्शन में है। निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, तथा जीव में तनिक भी भेद नहीं है। आत्म तत्व का बहुत सुन्दर विवेचन वेदान्त दर्शन में है।

अज्ञान के द्वारा जब आत्मा अपने को शरीर, मन, इन्द्रियां आदि समझने लगती है और सुख दुःख आदि की अनुभूति करने लगती है, तब वह शरीर मन इन्द्रियों आदि के साथ सम्बन्धित होकर अपने सार्वदेशिक रूप को भूल कर सांसारिक बंधनों में लीन हो जाती है। इससे शरीर मन इन्द्रियों के सुख दुःख आदि भोगती रहती है। किन्तु वस्तुतः न तो आत्मा सुखी, दुःखी होती है, न उसका किसी से सम्बन्ध होता है। यह तो केवल भ्रान्तिमात्र है। वह तो सचमुच में निर्गुण तथा निर्विकार है। उसके सिवाय किसी की सत्ता ही नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में वह रहने वाली है।

वेदान्त ने निर्गुण ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के अतिरिक्त व्यावहारिक सत्ता को भी माना है और जब तक ज्ञान के द्वारा इस व्यावहारिक सत्ता का बोध नहीं हो जाता है तब तक उसकी सत्ता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय ( श्रोत्र, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा घ्राण ) पंच कर्मेन्द्रिय ( वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ ) पंच वायु ( प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ) तथा अन्तःकरण ( चित्, बुद्धि, मन, अहंकार ) मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। आत्मा अपने कर्मो के अनुसार सूक्ष्म शरीर सहित एक शरीर से निकल कर अन्य शरीर में प्रवेश करती है। यह सूक्ष्म शरीर और वासना युक्त होकर कर्मों के भोगों को भोगती रहती है।

जब तक कि स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक आत्मा की यह उपाधि बनी रहती है। हमारी सम्पूर्ण क्रियाएं इस सूक्ष्म शरीर से प्रभावित होने के कारण यह मनोविज्ञान का विषय है। अहंकार के कारण ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। अन्न से उत्पन्न यह शरीर अन्न-मय कोष कहा गया है। यह त्वचा, मांस, रुधिर, मल, मूत्र, अस्थि आदि का समूह है। इसे आत्मा नहीं कह सकते। यह अज्ञान के कारण आत्मा के ऊपर अन्तिम पांचवा आवरण है। पारमार्थिक रूप इससे नितान्त भिन्न है। यह स्थूल आवरण अन्न से बने हुए रज वीर्य से उत्पन्न होती है। तथा उसीसे बढ़ता है। आत्मा के ऊपर चौथा खोल पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंच प्राणों का है। इससे युक्त होकर आत्मा समस्त कर्मों में प्रवृत्त होती है। इस प्राणमय कोष को आत्मा नहीं कहा जा सकता। आत्मा का तीसरा खोल मनोमय कोष है जो कि आत्मा का मन और ज्ञानेन्द्रिय रूप आवरण है। वेदान्त में मन का विषद विवेचन किया गया है। इस मनोमय कोष में इच्छा शक्ति वर्तमान रहती है। सब वासनाओं का यही हेतु है। उसी से सारा संसार, जन्म मरण, आदि सब हैं। सारा संसार मन की कल्पनामात्र है। मन ही के द्वारा बन्धन और मोक्ष की कल्पना होती है। रजोगुण से मलीन हुआ मन बन्धन तथा विवेक, वैराग्य आदि के द्वारा शुद्ध हुआ मन, मुक्ति प्रदान करने में कारण होता है। दूसरा कोष ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि का है जिसको विज्ञानमय कोष कहते हैं। इससे युक्त चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्तापन के स्वभाव वाली हो जाती है। इसी के द्वारा संसार है, अर्थात् जीव जन्म मरण को प्राप्त होता है। मृत्युलोक और स्वर्ग आदि लोकों में गमन करता रहता है। वेदान्त में व्यवहारिक अवस्था में विज्ञानमय कोष से आवृत्त आत्मा ही जीव कहलाती है जो कि निरन्तर अभिमानी बनता रहता है। इसमें भ्रम से आत्म-अध्यास के कारण ही जन्म मरण के चक्र में फंसना होता है। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तीनों कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। उपनिषदों में जो पंच कोषों की धारणा है, करीब-करीब उससे मिलती-जुलती हुई धारणा ही वेदान्तदर्शन में है। उपनिषदों के समान ही जाग्रत् सुषुप्ति अवस्थाओं का विवेचन वेदान्त में किया गया है।

वेदान्त में निर्विकल्पक ज्ञान को ही माना गया है। उसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान जिनमें नामरूप का ज्ञान हो वे केवल भ्रान्तिमात्र हैं। इनका भ्रान्ति का सिद्धान्त अनिर्वचनीय ख्यातिवाद है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार भ्रान्ति के सर्प की देश-काल में अनुभव की हुई वास्तविक सत्ता है। भ्रम का प्रत्यक्ष होता है, जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब तक

जिस सर्प को हम भ्रम में देख रहे हैं, तब तक हमारा सम्पूर्ण अनुभव सर्परूप ही होता है। ठीक जैसी हमारी हालत सर्प के सम्मुख होती है, वैसी ही हालत इस सांप के भ्रम में भी होती है। हम प्रत्यक्ष भ्रम को अस्वीकार नहीं कर सकते। यह एक विशिष्ट प्रकार का विषय होता है, जो न तो आकाश-कुसुम और बन्ध्यापुत्र के समान असत् ही है और न प्रबल अनुभव से बाध होने के कारण सत् ही कहा जा सकता है। इसलिये इसे अनिर्वचनीय कहा है। अद्वैत वेदान्त के इस अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का विशद विवेचन आगे किया जायेगा। उपर्युक्त विषय मनोविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

## आयुर्वेद में मनोविज्ञान

आयुर्वेद में पंच इन्द्रियों का वर्णन किया गया है, किन्तु सांख्य और वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी, उसने ( आयुर्वेद ने ) मन को इन्द्रिय नहीं माना है। अतः इस विषय में उसका मत सांख्य और वैशेषिक दोनों से भिन्न है। चक्रपाणि का कहना है कि मन के ऐसे कार्य हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकते। मन को उन्होंने अतीन्द्रिय माना है, क्योंकि यह अन्य इन्द्रियों की तरह हमें वाह्य-विषयों का ज्ञान प्रदान नहीं करता। हमें सुख, दुःख मन ही के द्वारा प्राप्त होता है। मन द्वारा ही इन्द्रियाँ ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होती हैं। मन के द्वारा ही इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करके, ज्ञान प्रदान करती हैं। मन विभिन्न विषयों के विचारों के अनुकूल विभिन्न प्रकार का भासता है। एक ही व्यक्ति मन के कारण, कभी क्रोधी, कभी गुणवान्, कभी मूर्ख आदि प्रतीत होता है। मन को इन्होंने परमाणु रूप माना है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और शरीर का सम्बन्ध ही जीवन है। इनमें से किसी एक के भी न रहने से जीवन नहीं होता। शरीर क्षणिक है। निरन्तर परिवर्तनशील है। किन्तु परिवर्तन की शृङ्खला एक है, जिसका आत्मा से सम्बन्ध होता है। आत्मा को चरक में क्रियाशील कहा है। उसी की क्रियाशीलता पर मन की गति आधारित है। मन के ही द्वारा इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं। चेतना (Consciousness) मन के द्वारा आत्मा के इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने से होती है। केवल आत्मा का ही गुण चेतना नहीं है।

चरक के अनुसार इस आत्मा से भिन्न पर-आत्मा भी एक दूसरी आत्मा है जो संयोगी पुरुष ( शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्धित आत्मा ) से भिन्न है। वह निर्विकार और शाश्वत है। चेतना उसमें आकस्मिक रूप से उत्पन्न होती है। आत्मा अपरिवर्तनशील न होती तो स्मृति ही असम्भव थी। सुख, दुःख मन को होते हैं, आत्मा को नहीं। विचारक्रिया में जो गति होती है वह मन की ही मानी गई है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप अपरिवर्तनशील है। इन्द्रियों से संयुक्त होने पर ही इसमें चेतना होती है। आत्मा की क्रियाशीलता से ही मन भी क्रियाशील होता है।

वैशेषिक के समान किन्तु उससे कम गुणों की तालिका आयुर्वेद में दी गई है जिनका अर्थ वैशेषिक के गुणों से भिन्न और आयुर्वेद से सम्बन्धित है। प्रयत्न एक विशिष्ट गुण है जो आत्मा में उदय होने से मन को क्रियाशीलता प्रदान करता है। सांख्य के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को श्रुषुत ने माना है। इन्द्रियों को भी जड़ ही माना गया है। आत्मा का जब मन से सम्बन्ध होता है तो उसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, निश्चय, संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषय की उपलब्धि होती है। सत्व, रजस और तमस् इन तीनों में मन के सब गुण विभक्त हैं। सम्पूर्ण मानव की प्रवृत्ति इन्हीं गुणों के ऊपर आधारित है। इन्हीं के अनुपात के अनुसार व्यक्तित्व निर्धारित होता है। आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। चक्रपाणि ने यह संयोग सम्बन्ध पांच प्रकार का बताया है :—

१ - संयोग सम्बन्ध, २—संयुक्तसमवाय सम्बन्ध, ३—संयुक्तसंवेत समवाय सम्बन्ध, ४ - समवायसम्बन्ध, ५—संवेतसमवाय सम्बन्ध। इन पाँच सम्बन्धों के द्वारा ही हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उपर्युक्त विवेचन सूक्ष्म रूप से आयुर्वेद के मनोविज्ञान का है। आयुर्वेद में शरीर, आत्मा, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, क्रिया, उद्वेग, दुःख, सुख, अनुभूति तथा संकल्प शक्ति आदि सभी मनोवैज्ञानिक विषयों का विशद विवेचन किया गया है।

---

## अध्याय २

# योग-मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय

योग शब्द 'युज्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बना है। युज् धातु का अर्थ जोड़ना होता है। पातंजल योगदर्शन में 'योग' शब्द समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योग, एकाग्रता, समाधि, सबका प्राय: एक ही अर्थ है। पातंजल योगदर्शन का दूसरा सूत्र योग के अर्थ को व्यक्त करता है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध." अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। चित्त प्रकृति का वह प्रथम विकार है, जिससे सारी सृष्टि विकसित होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इन तीनों गुणों का परिणाम ही सृष्टि है। चित्त सत्व प्रधान परिणाम है। इस चित्त की जो वहिर्मुखी वृत्तियाँ हैं उनको विषयों से हटाकर उन्हें कारणचित्त में लीन करना ही योग है। चित्त निरन्तर वाह्य विषयों के द्वारा आकर्षित होकर उन्हीं के आकार में परिणत होता रहता है।

चित्त के इस निरन्तर परिणत होने को 'वृत्तियां' कहते हैं। इनको त्याग कर चित्त की अपने स्वरूप में अवस्थिति को ही चित्त की वृत्तियों का निरोध कहते हैं। "चित्तवृत्तिनिरोध" से दोनों समाधियों (सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात) का अर्थ निकलता है। समाधि का अर्थ ही स्वरूपावस्थिति है। स्वरूपावस्थिति विवेक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। विवेक ज्ञान पुरुष-प्रकृति के भेद ज्ञान को कहते हैं। यह विवेक-ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था है। एकाग्र अवस्था चित्त की स्वाभाविक अवस्था है जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की बनाई गई है। एकाग्रता की वृद्धि के स्तरों के अनुसार यह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, और अस्मितानुगत कहलाती है। वितर्कानुगत समाधि में स्थूल विषयों, विचारानुगत में सूक्ष्म विषयों, इन्द्रिय तथा तन्मात्राओं, आनन्दानुगत में अहंकार, और अस्मितानुगत में चेतन प्रतिबिम्बित चित्त में एकाग्रता होकर उनका यथार्थरूप में प्रत्यक्ष होने लगता है। इस स्थिति के बाद एकाग्रता का अभ्यास निरन्तर चलते रहने से चित्त और पुरुष

का भेद ज्ञान प्राप्त होता है। यह विवेक ज्ञान की स्थिति चित्त की वृत्तियों के निरोध के द्वारा प्राप्त होती है। किन्तु यह स्वयं भी चित्त की वृत्ति है, जिसका निरोध पर वैराग्य के द्वारा होता है। इसमें वास्तविक स्वरूप-स्थिति नहीं होती क्योंकि चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष का ही साक्षात्कार इसमें होता है। अतः इसमें भी आसक्ति हट जानी चाहिये। इसके निरोध होने पर चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध होकर स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है। योग अथवा समाधि का यही अन्तिम लक्ष्य है। अतः योग का वास्तविक अर्थ समाधि ही होता है, जिसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार होकर सर्व दुःखों से एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। अतः योग आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने का मार्ग है।

मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ मन का विज्ञान है। साइकोलॉजी शब्द का शाब्दिक अर्थ आत्मा का विज्ञान है। अतः मनोविज्ञान (Psychology) के अध्ययन का विषय मन वा आत्मा हुआ। पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा और मन पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान में मन और आत्मा नितान्त भिन्न हैं। आत्मा चेतन सत्ता है, मन जड़ प्रकृति की विकृति है। पातञ्जल योगदर्शन में ईश्वर (पुरुष विशेष) आत्मा (जीव) प्रकृति ( जड़ तत्त्व ) तीनों अन्तिम सत्ताओं को माना गया है। सारा विश्व जड़ तत्त्व प्रकृति की ही अभिव्यक्ति मात्र है। यह जड़तत्व चेतनतत्व से भिन्न, उसके विपरीत त्रिगुणात्मक, परिणामी, अचेतन, और क्रियाशील है। किन्तु बिना चेतनसत्ता के सान्निध्य के प्रकृति परिणामी नहीं होती। अतः ईश्वर, पुरुषविशेष, के सान्निध्यमात्र से त्रिगुणात्मक प्रकृति की साम्य अवस्था भंग हो जाती है। साम्य अवस्था के भंग हो जाने पर उसका प्रथम विकार बुद्धि वा चित्त कहलाता है जो कि समष्टिरूप में महत्तत्व अर्थात् ईश्वर का चित्त कहलाता है और व्यष्टिरूप में बुद्धि। बुद्धि से अहंकार, अहंकार से मन पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय तथा महत् से विकास की दूसरी समानान्तर धारा चलती है जिससे महत्तत्व से पंच तन्मात्राएं, पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों तथा पंच महाभूतों से सम्पूर्ण सृष्टि ( दृष्ट जगत् ) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच तन्मात्रायें, ये अतीन्द्रिय हैं जिनका केवल योगी को ही प्रत्यक्ष हो सकता है। योग में चित्त वा मन (Mind) अन्तःकरण ( बुद्धि, अहंकार और मन ) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; और कहीं-कहीं बुद्धि के अर्थ में भी चित्त वा मन शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः चित्त का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। चित्त में निरन्तर

परिवर्तन होते रहते हैं। चित्त विषयों के द्वारा आकर्षित हो कर विषयाकार होता रहता है। चित्त का विषयाकार होना ही चित्त का परिणाम है। चित्त के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। असंख्य विषय होने से चित्त की वृत्तियां भी असंख्य हैं। योग ने इन सब वृत्तियों को पांच वृत्तियों के ही अन्तर्गत कर दिया है। यह पांच वृत्तियां प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति हैं, जिनका अध्ययन भी मनोविज्ञान का विषय है। बिना ज्ञानेन्द्रियों के हमें विषयों का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, अर्थात् चित्त बिना इन्द्रिय विषय संयोग के विषयाकार नहीं हो सकता। अतः चित्त के अध्ययन के साथ-साथ ज्ञानेन्द्रियों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। मस्तिष्क, नाड़ियां आदि भी, ज्ञान का साधन होने के कारण, मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय हैं। वृत्तियों के द्वारा सदृश संस्कार उत्पन्न होते हैं और उन संस्कारों के द्वारा वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से यह चक्र चलता रहता है। इसके अनुरूप ही मानव के व्यवहार होते हैं। अतः मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय व्यक्ति की अनुभूति तथा व्यवहार भी हैं। चित्त की सब वृत्तियां निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण उनका केवल स्थायी रूप में अध्ययन नहीं हो सकता। उनके गत्यात्मक रूप का अध्ययन अति आवश्यक हो जाता है।

योग मनोविज्ञान में व्यक्ति के वाह्य-व्यवहार का भी अध्ययन होता है जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। व्यवहार तो वे क्रियाएं हैं, जिनका हम निरीक्षण कर सकते हैं। मन की स्थिति के ऊपर हमारा व्यवहार आधारित है। हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं में चित्त की झलक प्राप्त होती है। यही नहीं, बल्कि शारीरिक अवस्थाओं के द्वारा भी हमारा चित्त प्रभावित होता है। मन और शरीर अन्योन्याश्रित हैं। इसी कारण से योग में शरीर नियन्त्रण से चित्त की वृत्तियों का नियन्त्रण करने का मार्ग भी बतलाया गया है। अतः योग मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय शरीर-शास्त्र भी है, जिसमें स्नायुमण्डल, नाड़ियां, मस्तिष्क चक्र, कुण्डलिनी, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां आदि आ जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि योग मनोविज्ञान समग्र मन (चित्त) का उसके साधनों (मस्तिष्क, नाड़ियां, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, चक्र, कुण्डलिनी, आदि) सहित मानव की अनुभूति तथा उसके व्यवहार के गत्यात्मक अध्ययन का विज्ञान है।

योग मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय केवल चित्त तथा मस्तिष्क आदि साधन ही नहीं हैं, बल्कि चेतन सत्ता भी उसके अध्ययन का विषय है। चित्त तथा मस्तिष्क आदि साधनों का अध्ययन ही प्रर्याप्त नहीं है। ये सब तो त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण, जड़ तथा अचेतन हैं। जड़ और अचेतन के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। चित्त के विषयाकार हो जाने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है। चित्त स्वयं अचेतन है, अतः उसे अन्य के प्रकाश की अपेक्षा बनी रहती है और वह बिना किसी चेतन सत्ता के प्रकाश से प्रकाशित हुये, विषयाकार हो जाने पर भी ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। किसी न किसी प्रकार से चेतन सत्ता का संयोग जड़ प्रकृति की क्रियाशीलता व प्रकाश के लिये अति आवश्यक है। बिना चेतन सत्ता के सान्निध्य के तो प्रकृति की साम्य अवस्था भी भंग नहीं हो सकती। मनोविज्ञान से चेतन सत्ता का अध्ययन निकाल देने पर चित्त का अध्ययन करना भी असम्भव हो जाता है। जिस प्रकार विद्युत-यंत्रालय में यन्त्रों, बिजली के तारों, बल्बों आदि सम्पूर्ण सामग्री के होने पर भी बिना विद्युत् के कोई कार्य सम्पादन नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार बिना चेतन सत्ता के चित्त और शरीर आदि की किसी भी क्रिया का अध्ययन नहीं हो सकता। अतः योग मनोविज्ञान केवल मन का उसके साधनों सहित ज्ञान प्राप्त करने का विज्ञान ही नहीं है, बल्कि योग मनोविज्ञान तो समग्र मन का उसके साधनों सहित, मानव की अनुभूतियों और व्यवहारों, का चेतन सापेक्ष गत्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने का विज्ञान है।

योग मनोविज्ञान केवल साधारण मानसिक तथ्यों तथा व्यवहारों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसके अन्तर्गत चित्त को पूर्ण विकसित करने की पद्धति भी आ जाती है। हमारे चित्त का साधारण दृष्ट स्वरूप, वास्तविक स्वरूप नहीं है। चित्त के दो रूप हैं, एक कारण चित्त और दूसरा कार्य चित्त। कारण चित्त आकाश के समान विभु है। आकाश के समान विभु होते हुए भी भिन्न भिन्न जीवों के चित्त घटाकाश आदि के समान ही सीमित हैं। योग मनोविज्ञान में चित्त की इस सीमा को समाप्त करने का उपाय बताया गया है। अर्थात् इसका सर्व प्रथम कार्य चित्त को उसका वास्तविक रूप प्रदान करना है, जो कि देश-काल-निरपेक्ष है। साधक का अन्तिम ध्येय, चित् को अपने स्वरूप में अवस्थित करना है। बिना विवेक ज्ञान के चित् अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं हो सकता। अतः मनोविज्ञान विवेक ज्ञान प्रदान करने का मार्ग बताता है।

योग साधना का अन्तिम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार (Self-Realization) अर्थात् स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करना है। जब तक चित्त और पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं प्राप्त होगा, तब तक चित्त प्रकृति में लीन नहीं हो सकता। चित्त के प्रकृति में लीन होने पर ही आत्मा की स्वरूपावस्थिति होती है। अतः स्वरूपावस्थिति के लिये विवेक ज्ञान अति आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का कार्य चित्त को विकसित कराने तथा उसको विकसित करके विवेक ज्ञान प्रदान करना भी है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करके चित्त को उसके वास्तविक रूप में लाया जाता है जिससे आत्म-उपलब्धि होती है। इसके लिये योग में अष्टांग मार्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि बताये गये हैं। इस अष्टांग मार्ग में यम, नियम, आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार यह पांच योग के वाह्य अंग हैं; और धारणा, ध्यान, समाधि यह अन्तरंग साधन हैं। बहिरंग साधनों से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप योग साधन में रुचि बढ़ती है। अन्तरंग साधनों से चित्त (अन्तःकरण) एकाग्र होता है। अन्तरंग साधन कैवल्य प्राप्त करने के साक्षात् कारण कहे जाते हैं। पांच बहिरंग साधन मुक्ति के साक्षात् साधन नहीं कहे जा सकते। ये आठों साधन योग मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय हैं।

इन आठों साधनों के अभ्यास के फलस्वरूप साधक को बहुत सी अद्भुत शक्तियां प्राप्त होती हैं, जो साधारण व्यक्तियों की समझ के परे हैं। इन शक्तियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना भी योग मनोविज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। सत्य तो यह है कि योग मनोविज्ञान क्रियात्मक मनोविज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि योग मनोविज्ञान समग्र मन, चित्त, उसके साधनों, मस्तिष्क, नाड़ियों, कुण्डलिनी, चक्र; आदि सहित मानव की अनुभूतियों तथा व्यवहारों का चेतन सापेक्ष गत्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करने, कैवल्य प्राप्त करने के अष्टांगों-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अध्ययन करने तथा चित्त को विकसित करके अद्भुत शक्तियों तथा विवेक ज्ञान प्रदान करने का क्रियात्मक विज्ञान है।

## अध्याय ३

# योग-मनोविज्ञान की विधियाँ

हर विज्ञान की ज्ञान प्राप्त करने की अपनी अलग-अलग विधियां होती हैं। इसी प्रकार से योग मनोविज्ञान की भी अपनी निज की विधियां हैं जो वैज्ञानिक होते हुए भी अन्य किसी विज्ञान के द्वारा नहीं अपनाई जातीं। इन विधियों की वैज्ञानिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक विधियां योग मनोविज्ञान के ज्ञानके लिये प्रयोग में नहीं लाई जा सकतीं, क्योंकि, ठीक वैसे ही जिस प्रकार से मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय दूसरे विज्ञानों के अध्ययन के विषय से भिन्न है, योग-मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय से बहुत भिन्न है। योग-मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय आत्मा, चित्त, मन, इन्द्रिय आदि हैं, जो कि भौतिक इन्द्रिय-सापेक्ष विषय नहीं हैं। इन इन्द्रिय निरपेक्ष सूक्ष्म विषयों का अध्ययन करने के लिये प्राचीन ऋषियों ने एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को अपनाया था। हर व्यक्ति इस योग्य नहीं होता कि वह किसी एक विशिष्ट विषय का वैज्ञानिक अन्वेषण कर सके। इसी प्रकार से मनोवैज्ञानिक विधियों को हर साधारण व्यक्ति अपनाकर मनोवैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। अन्वेषण करने से पूर्व व्यक्ति को विज्ञान का ज्ञान वांछनीय है। उसके बिना वह वैज्ञानिक प्रयोगात्मक पद्धति के द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार से योग मनोविज्ञान के ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति का प्रयोग हर व्यक्ति नहीं कर सकता। योग हर व्यक्ति के लिये नहीं है। योग-साधन के लिये विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति ही होते हैं। पातञ्जल-योग-सूत्र में १. मूढ़ २. क्षिप्त ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र तथा ५. निरुद्ध नामक चित्त की पांच अवस्थायें बताई गई हैं[१]। इनमें से पहली तीन अवस्थायें योग की अवस्थायें नहीं हैं। अन्तिम एकाग्र और निरुद्ध अवस्था ही योग की अवस्थायें हैं। मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त अवस्था वाले व्यक्ति योग के लिये उपयुक्त नहीं हैं। चित्त त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रथम विकार है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार होने के कारण यह भी त्रिगुणात्मक ही है। ये तीन गुण सत्व, रज और तम हैं।

१. पा. यो. सू. भा.—१।२

इन त्रिगुणों से निर्मित होने के कारण तथा इन तीनों गुणों के विषम अनुपात में होने के कारण हर व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है। जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है, वह मूढ़ चित्त वाला व्यक्ति निरन्तर आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय आदि में रहता है। ऐसा व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह से सम्पन्न होता है, और सदा अनुचित कार्यों को करनेवाला नीच प्रकृति का होता है। अतः इस प्रकार से मूढ़ता को प्राप्त व्यक्ति कभी भी अपने ध्यान को एकाग्र नहीं कर पाने के कारण योग के उपयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार से क्षिप्त चित्तवाला व्यक्ति, रजोगुण की प्रधानता के कारण अति चंचल तथा निरन्तर विषयों के पीछे भटकने वाला होने के कारण योग के उपयुक्त नहीं है। विक्षिप्त चित्तवाला व्यक्ति सत्वगुण प्रधान होता है, किन्तु इसमें सत्व की प्रधानता होते हुए भी रजस् के कारण चित्त में चंचलता व अस्थिरता आ जाया करती है। इसमें चित्त बाह्य विषयों से प्रभावित होता रहता है। इस चित्तवाले व्यक्ति, सुखी, प्रसन्न और क्षमा, दया आदि-आदि गुणवाले होते हैं। इस कोटि में महान् पुरुष, जिज्ञासु एवं देवता लोग आते हैं। ये उपर्युक्त तीनों अवस्थायें चित्त की स्वाभाविक अवस्थायें नहीं हैं। चित्त की चतुर्थ अवस्था एकाग्र अवस्था है, जिसमें चित्त सत्वगुण प्रधान होता है। तमोगुण और रजोगुण तो केवल वृत्तिमात्र होते हैं। इस प्रकार के चित्त वाले व्यक्ति अधिक देर तक एक ही स्थिति में स्थिर रहते हैं तथा इस स्थितिवाला चित्त सुख, दुःख, चंचलता आदि से तटस्थ रहता है। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था, जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है, योग की है। इसमें चित्त को समस्त विषयों से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा हटाकर विषयविशेष पर लगाया जाता है, जिससे जब तमस् और रजस् दब जाते हैं, तब विषय का सत्व के प्रकाश में यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। विषय भेद से इस अवस्था के चार भेद हो जाते हैं, जिन्हें क्रमशः वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है[1]। इस एकाग्रता के अभ्यास के चलते रहने पर इन चारों अवस्थाओं के बाद की विवेक-ख्याति नामक अवस्था आती है।

वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि—इसके द्वारा योगी को उस स्थूल पदार्थ के, जिस पर चित्त को एकाग्र किया जाता है, यथार्थ स्वरूप का, पूर्व में न देखे,

१. पा. यो. सू.—१।१७

न सुने, न अनुमान किये गये समस्त विषयों सहित, संशय विपर्यय रहित, साक्षात्कार होता है।

**विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि**— वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद निरन्तर अभ्यास के द्वारा योगी को समस्त विषयों के सहित, पंचतन्मात्राओं तथा ग्रहण रूप शक्ति मात्र इन्द्रियों का, जो कि सूक्ष्म विषय हैं, संशय विपर्यय रहित साक्षात्कार होता है। इस अवस्था को विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

**आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि**— विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा साधक की एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि वह समस्त विषयों सहित अहंकार का संशय विपर्यय रहित साक्षात्कार कर लेता है। इस अवस्था को आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

**अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि**— अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर योगी अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि को अवस्था में पहुँच जाता है। पुरुष से प्रतिविम्बित चित्त को अस्मिता कहते हैं। अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था में पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त अर्थात् अस्मिता के यथार्थ रूप का भी साक्षात्कार होता है।

अस्मिता अहंकार का कारण होने के नाते उससे सूक्ष्मतर है। इस अवस्था तक अस्मिता में आत्म-अध्यास बना रहता है। अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर योगी को विवेक ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद ज्ञान की प्राप्ति होती है जो कि आत्मसाक्षात्कार कराने वाली चित्त की एक वृत्ति है। यह चित्त की उच्चतम सात्विक वृत्ति है, किन्तु वृत्ति होने के नाते इसका भी निरोध आवश्यक है, जो कि परवैराग्य द्वारा होता है। इस वृत्ति के निरोध होने पर स्वतः ही सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्त की इस निरुद्धावस्था को ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसमें केवल निरोध परिणाम ही शेष रह जाते हैं। इसके द्वारा द्रष्टा स्वरूपावस्थिति को प्राप्त होता है। इस स्थिति में समस्त प्रकार की स्वाभाविक वृत्तियों का निरोध हो जाता है, जो कि एकाग्र अवस्था में नहीं होता है। चित्त जब तक प्रकृति में लीन नहीं होता, तब तक पुरुष की स्वरूपावस्थिति नहीं होती। वैसे तो पुरुष कूटस्थ और नित्य होने से सर्वदा स्वरूपावस्थित ही रहता है, भले ही व्युत्थान काल में अविवेक से विपरीत भासने लगता है। जैसे बालू में जल की भ्रान्ति के समय एक का अभाव और दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् बालू का अभाव तथा जल की

उत्पत्ति नहीं होती है। रस्सी में सर्प के भ्रान्ति काल में रस्सी का अभाव तथा सर्प की उत्पत्ति नहीं होती है। इनका भ्रम दूर होने पर जल और सर्प का अभाव तथा बालू और रस्सी की उत्पत्ति नहीं होती है। ठीक उसी प्रकार से पुरुष भी सर्वदा स्वरूपावस्थित रहते हुए भी अविवेक के कारण उल्टा ही भासता है। त्रिगुणात्मक चित्त तथा पुरुष सन्निधान से दोनों में ऐक्य भ्रांति होती है[1]। जैसे कि स्फटिक के निकट रक्खे हुए लाल फूल की लाली स्फटिक में भासती है, ठीक उसी प्रकार से चित्त की वृत्तियां भी पुरुष में भासती हैं, जिससे कि नित्य और कूटस्थ पुरुष भी अपने को सुखी और दुःखी मानने लगता है। पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना योगी का लक्ष्य है। विवेक ख्याति के बाद चित्त के प्रकृति में लीन होने के पश्चात् ही पुरुष स्वरूपावस्थित होता है। स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने की योग में एक विशिष्ट विधि है। स्वरूपावस्थिति का ज्ञान भी योग-मनोविज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत आता है। अतः यह विशिष्ट पद्धति योग-मनोविज्ञान की पद्धति हुई। इस पद्धति को सहजज्ञान (Intuition) कहते हैं। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, हर व्यक्ति योग पद्धति के प्रयोग के लिये समर्थ नहीं होता। अतः उस अवस्था तक पहुँचने के लिये योग-शास्त्र में साधन भी बताये गये हैं, जिन्हें अष्टांग-योग कहा जाता है।

## अष्टांग योग[2]

१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान ८. समाधि।

क्रमशः इनके अभ्यास के द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त करने पर, जिसका सूक्ष्म रूप से ऊपर वर्णन किया गया है, अपरोक्ष ज्ञान प्राप्ति की अवस्था आती है। योगी के अपरोक्ष ज्ञान का दायरा योगाभ्यास के साथ-साथ बढ़ता जाता है, और वह सूक्ष्मतर विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता चला जाता है। योगी की इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें अस्मिता जैसे सूक्ष्मतर विषय का अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार होता है। इसके बाद की अवस्था विवेकख्याति की अवस्था है जिसमें पुरुष और चित्त के भेद का अपरोक्ष ज्ञान (Intuitive Knowledge) प्राप्त होता है। किन्तु इस

१. पा. यो. सू. भा. १।४ २. पा. यो. सू.—२।२९

अपरोक्ष ज्ञान (Intuitive Knowledge) के लिये यम, नियम आदि का अभ्यास आवश्यक है। इनके अभ्यास से ही साधक को अन्तर्ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त होती है।

### यम के भेद[1]

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह।

### नियम के भेद

१. शौच २. सन्तोष ३. तप ४. स्वाध्याय ५. ईश्वरप्रणिधान।

आसन भी अनेक तरह के होते हैं। इसी प्रकार से प्राणायाम भी कई तरह के होते हैं। जिसका विशिष्ट विवेचन ग्रन्थ में स्थलविशेष[2] पर किया जायगा।

योग के इन आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये योग के बहिरंग साधन हैं; तथा धारणा, ध्यान और समाधि योग के अंतरंग साधन हैं।

### यम

यम नियम के अभ्यास से साधक योग के उपयुक्त होता है। अहिंसा के अभ्यास से साधक के सम्पर्क में आनेवाले समस्त भयंकर हिंसक प्राणी भी अपनी हिंसक वृत्ति को त्यागकर पारस्परिक वैर-विरोध रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार से सत्य का पालन करने से साधक को अद्भुत वाणी-बल प्राप्त होता है। उसके वचन कभी असत्य नहीं होते। साधक जब अस्तेय का दृढ़ अभ्यास प्राप्त कर लेता है, तब उसको किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की कमी नहीं रह जाती है। गुप्त से गुप्त धन का भी उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। उसको समस्त पदार्थ बिना इच्छा के स्वतः प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य का दृढ़ अभ्यास होने से अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि वीर्य ही प्रधान शक्ति है। वीर्य-लाभ से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक समस्त शक्तियाँ विकसित होती हैं। ब्रह्मचर्य का पूर्ण अभ्यास होने पर साधक को योगमार्ग में विघ्न और अड़चनें नहीं पड़ती हैं। अपरिग्रह का अभ्यास करके साधक अपने चित्त को शुद्ध और निर्मल बनाता है, जिससे उसको यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। उसे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों जन्मों का ज्ञान हो जाता है। अपरिग्रह का अर्थ साधक के लिये अविद्या आदि क्लेश तथा शरीर के साथ लगाव का त्याग

१. पा. यो. सू.—२।३०, ३१, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९

२. योगमनोविज्ञान का १९ अध्याय देखें

मुख्य रूप से है, क्योंकि उसके लिये सबसे बड़ा परिग्रह यही है। जितनी भी वस्तुओं तथा धन का संग्रह अपने भोगार्थ किया जाता है, वह सब शरीर में ममत्व और अहंभाव होने के कारण ही होता है। अपरिग्रह भाव के पूर्ण रूप से स्थिर होने पर ही साधक को समस्त पूर्व जन्मों तथा वर्त्तमान जन्म की सम्पूर्ण बातों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसा होने से उसे अपने जन्मों तथा उन जन्मों के कार्य तथा उनके परिणामों का ज्ञान स्पष्ट रूप से होने के कारण संसार से विरक्ति होकर योग साधन की ओर प्रवृत्ति होती है।

## नियम[1]

नियमों के पालन से भी योग के लिये शक्तियां प्राप्त होती हैं। शौच के अभ्यास से शरीर से राग और ममत्व छूट जाता है। आभ्यन्तर शौच की दृढ़ता से मन स्वच्छ होकर अन्तर्मुखी हो जाता है, जिससे चित्त में आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। सन्तोष के दृढ़ और स्थिर होने से तृष्णा की समाप्ति महान् सुख प्रदान करती है। तप के द्वारा अशुद्धि का नाश तथा साधक के शरीर और इन्द्रियों का मल नष्ट होकर, वह स्वस्थ, स्वच्छ होकर और लघुता को प्राप्त कर अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त कर लेता है। स्वाध्याय से ऋषि और सिद्धों के दर्शन होते हैं, जिसके फलस्वरूप योग में सहायता प्राप्त होती है। ईश्वर-प्रणिधान से योग साधन के समस्त विघ्न नष्ट होकर समाधि अवस्था शीघ्र प्राप्त हो जाती है। योग के सातों अंगों के अभ्यास में, समाधि के शीघ्र प्राप्त करने के लिये ईश्वरप्रणिधान अति आवश्यक हो जाता है। अन्यथा विघ्नों के कारण समाधिलाभ दीर्घकाल में प्राप्त होता है।

## आसन[2]

आसन बिना हिले डुले स्थिरता पूर्वक, कष्ट रहित, सुख पूर्वक, दीर्घकाल तक बैठने की अवस्था को कहते हैं। यह समाधि का बहिरंग साधन है। इसकी सिद्धि से साधक में कष्टसहिष्णुता प्राप्त हो जाती है। उसे गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास आदि द्वन्द्व, चित्त में चंचलता प्रदान करके साधन में विघ्न उपस्थित नहीं करते हैं। आसन की स्थिरता के सिद्ध होने के बाद प्राणायाम को सिद्ध किया जाता है। आसन भी यम, नियम के समान ही योग का स्वतंत्र अंग नहीं है। आसन तो प्राणायाम की सिद्धि का साधन है। बिना आसन के सिद्ध हुए प्राणायाम सिद्ध नहीं हो सकता है।

१. पा. यो. सू.—२:३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५
२. पा. यो. सू.—२।४६, ४७, ४८

## प्राणायाम[1]

रेचक, पूरक और कुम्भक की क्रिया को प्राणायाम समझा जाता है। कुम्भक के गोरक्ष संहिता तथा घेरण्ड संहिता में सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ८ भेद बताये गये हैं। प्राणायाम के अभ्यास से तम और रज से आवृत्त अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों के द्वारा ढका हुआ, विवेक ख्याति रूपी प्रकाश प्रगट होता चलता है। क्योंकि प्राणायाम से संचित कर्म संस्कार तथा मल भस्म होते चले जाते हैं। प्राणायाम के सिद्ध होने से मन के ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर साधक उसे कहीं भी स्थिर कर सकता है। इसलिये प्राणायाम समाधि प्राप्त करने के बहुत उत्कृष्ट साधनों में से है।

## प्रत्याहार[2]

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मन और इन्द्रियों में स्वच्छता आती चली जाती है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियां बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होती हैं और योगी समस्त विषयों से इन्द्रियों को हटाकर मन में विलीन कर लेता है। इस अभ्यास को ही प्रत्याहार कहते हैं। साधक साधन करते समय विषयों को त्याग करके चित्त को ध्येय में लगाता है। तब चित्त में इन्द्रिय के विलीन से होने को प्रत्याहार कहते हैं। इस प्रत्याहार के अभ्यास के सिद्ध होने से साधक पूर्णरूप से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

## धारणा[3]

पंच बहिरंग साधनों के निरन्तर अभ्यास के बाद, उनके सिद्ध होने पर, साधक को ऐसी अवस्था आ जाती है, कि मन और इन्द्रियां सब उसके वश में हो जाती हैं और वह चित्त को किसी भी विषय पर अपनी इच्छानुसार लगा सकता है। चित्त का यह स्थान विशेष में वृत्तिमात्र से ठहराना ही धारणा कहलाता है। चित्त का सूर्य, चन्द्र या देवमूर्ति व अन्य किसी बाह्य विषय तथा शरीर के भीतरी चक्र, हृदय-कमल आदि स्थानों पर ठहराने को धारणा कहते हैं। अर्थात् चित्त को किसी भी बाह्य और आन्तरिक स्थूल और सूक्ष्म विषय में लगाने को धारणा कहते हैं।

## ध्यान[4]

उपर्युक्त धारणा का निरन्तर रहना, अर्थात् जिस वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी विषयविशेष में चित्त का लीन हो जाना अर्थात् किसी अन्य

१. पा. यो. सू.—२।४६, ५०, ५१, ५२, ५३ २. पा. यो. सू.—२।५४, ५५
३. पा. यो. सू.—३।१ ४. पा. यो. सू.—३।२

वृत्ति का चित्त में न उठना तथा निरन्तर उस एक ही वृत्ति का प्रवाह चलते रहना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान की अवस्था धारणा को निरन्तर दृढ़ करने के बाद आती है। जिसमें वस्तुविशेष के अतिरिक्त अन्य किसी का बोध नहीं होता। अर्थात् मन या चित्त उस विषयविशेष से क्षणमात्र के लिए भी नहीं हटता हुआ निरन्तर उसी में प्रवाहित होता रहता है।

## समाधि

ध्यान की पराकाष्ठा समाधि है। धातृ ( ध्यान करने वाला आत्म प्रतिबिम्बित चित्त ) ध्यान ( विषय का ध्यान करने वाली चित्त की वृत्ति ) ध्येय ( ध्यान का विषय ) इन तीनों के मिश्रित होने का नाम त्रिपुटी है। जब तक चित्त में उपर्युक्त तीनों का अलग अलग भान होता है तब तक वह ध्यान ही है। धारणा अवस्था में चित्त को जब विषय में ठहराते हैं, तब वह विषयाकार वृत्ति समान रूप से प्रवाहित न होकर बीच बीच में अन्य वृत्तियां भी आती रहती हैं, किन्तु ध्यान में यह त्रिपुटी की विषयाकार वृत्ति व्यवधानरहित हो जाती है। समाधि अवस्था में उपर्युक्त त्रिपुटी का भान नहीं रह जाता है। अर्थात् धातृ, ध्यान और ध्येय तीनों की अलग अलग विषयाकार वृत्ति न होकर केवल ध्येय स्वरूपाकार वृत्ति का ही निरन्तर भान रहता है।

## संयम

योग में धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के किसी विषय में होने को संयम कहा जाता है। इन तीनों में अंग-अंगीभाव है। इन तीनों में समाधि अंगी है तथा धारणा और ध्यान समाधि के ही अंग हैं। समाधि की ही पहली अवस्था धारणा और ध्यान है। स्कन्दपुराण में चित्तवृति की २ घण्टे तक की स्थिति को धारणा, २४ घण्टे तक ध्येय में चित्त वृत्ति की स्थिति को ध्यान तथा १२ दिन निरन्तर ध्येय रूप विषय में चित्तवृत्ति को स्थिर रखने को समाधि कहा गया है। संयम की सिद्धि होने पर चित्त के अन्दर ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि साधक ( योगी ) अपनी इच्छानुसार जिस विषय में चाहता है, उसी विषय में तत्काल संयम कर लेता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर चित्त में अद्भुत ज्ञानशक्ति प्राप्त हो जाती है जिसे कि योग में अध्यात्म-प्रसाद और ऋतम्भरा-प्रज्ञा का नाम दिया गया है। संयम जय होने पर ध्येय वस्तु का यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् वह संयम प्राप्त साधक विषय को यथार्थ रूप से जान लेता है। योग में संयम का बड़ा महत्व है।

साधक को संयम के द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु हर शक्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। इसके दुरुपयोग से अधोगति होती है। अन्यथा संयम की क्रिया तो स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिये ही है। सब कुछ प्रयोग के ऊपर आधारित है।

समाधि और योग दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं। समाधि के द्वारा ही सम्पूर्ण ज्ञान अपरोक्ष रूप से प्राप्त होता है। समाधि तक पहुँचने के उपर्युक्त साधन हैं। इस समाधि अवस्था में पहुँचने के बाद निरन्तर समाधि के अभ्यास को बढ़ाते रहने पर स्थूल विषयों के साक्षात्कार से सूक्ष्मतर विषयों का साक्षात्कार साधक को होता चलता है अर्थात् समाधि की प्रथम अवस्था में समस्त स्थूल भूतों का साक्षात्कार होने के बाद सूक्ष्मतन्मात्राओं तथा इन्द्रियों का साक्षात्कार होता है। उसके बाद अभ्यास के निरन्तर चलते रहने के बाद अहंकार का, जो कि इन्द्रियादि की अपेक्षा सूक्ष्मतर है, साक्षात्कार होता है। उसके बाद की समाधि की अवस्था के द्वारा चित्त का, जो कि अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर है, साक्षात्कार होता रहता है। सारी सृष्टि चित्त का खेल ही है। चित्त के यथार्थरूप का साक्षात्कार होने पर समस्त विश्व के यथार्थरूप का साक्षात्कार स्वयं ही होने लगता है। चित्त की सूक्ष्म अवस्था को समाधि कहते हैं, जिसके द्वारा सन्देह, संशय, विपर्यय आदि रहित पदार्थ के सूक्ष्म स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। यह समाधिजन्य ज्ञान प्रयोगात्मक है।

अन्य विज्ञानों की प्रयोगात्मक पद्धति से योग मनोविज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति भिन्न है। योग-मनोविज्ञान में प्रयोगकर्त्ता तथा प्रयोज्य दोनों, एक ही व्यक्ति होता है। अर्थात् योगी ( प्रयोज्य ) स्वयं ही प्रयोगकर्त्ता है। वैसे तो बहुत से प्रयोग, मनोविज्ञान ( आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान ) में भी इस प्रकार के हैं, जिनमें प्रयोगकर्त्ता और प्रयोज्य एक ही व्यक्ति होता है। उदाहरणार्थ मनोवैज्ञानिक एबिहौस (Ebbinghaus) ने स्मृति का परीक्षण स्वयं अपने ही ऊपर किया था। इस प्रकार वह स्वयं प्रयोगकर्त्ता और प्रयोज्य दोनों ही थे। इसी प्रकार से मनोविज्ञान के अन्य बहुत से ऐसे परीक्षण हैं, जिनमें प्रयोगकर्त्ता स्वयं ही अपने ऊपर परीक्षण कर सकता है। जैसे बुद्धिसम्बन्धी तथा सीखने आदि के परीक्षण। दूसरे अन्य प्राकृतिक विज्ञानों और बहुत से मनोविज्ञान के परीक्षणों में भी परीक्षण बाह्य होते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों में तो केवल बाह्य विषयों का ही परीक्षण होता है और उन्हीं के ऊपर परीक्षणकर्त्ता प्रयोगशाला में उन

विषयों के ऊपर परीक्षण करके बाह्य इन्द्रियों द्वारा विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करता है। मनोविज्ञान में भी प्रयोगकर्त्ता प्रयोज्य के व्यवहारों का परीक्षण प्रयोगशाला में करके प्रयोज्य ( प्राणी ) की मानसिक क्रिया का ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु योग-मनोविज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञान अन्तर्बोध ( Intuition ) के द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतः अन्तर्बोध-पद्धति ( Intuition-Method ) योग-मनोविज्ञान की मुख्य पद्धति है जो कि परीक्षणात्मक (Experimental) है। योगी अपने ऊपर ही समस्त परीक्षण करता है। योग-विज्ञान में ज्ञान प्राप्त करने का प्रारम्भ संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि ) के द्वारा होता है। प्रारम्भ में योगी स्थूल विषयों में से अपनी रुचि के अनुसार किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित करता है अर्थात् प्रथम योगी के अभ्यास का विषय स्थूल होता है। इसके पश्चात्, अभ्यास निरन्तर होते रहने से सूक्ष्मतर विषयों की ओर होता रहता है। स्थूल ग्राह्य विषयों में समाधि के अभ्यास के दृढ़ होने से समस्त सार्वदेशिक और सार्वकालिक स्थूल विषयों का विषय विशेष सहित सन्देह, संशय, विपर्यय रहित अपरोक्ष ज्ञान अन्तर्बोध (Intuition) के द्वारा होता है। योगी (प्रयोज्य) तो इसका परीक्षण करता ही है, जो परीक्षण अन्य साधकों के द्वारा भी समस्त परिस्थितियों के ऊपर नियंत्रण करके योग-पद्धति के द्वारा किया जा सकता है। जिस प्रकार से प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों के द्वारा किये गये प्रयोग, अन्य वैज्ञानिकों द्वारा उस प्रयोग की समस्त परिस्थितियों के ऊपर नियंत्रण कर दोहराये जाकर उन्हीं परिणामों को प्राप्त कर उनकी यथार्थता सिद्ध करते हैं; ठीक उसी प्रकार से सभी साधक समस्त परिस्थितियों पर योग पद्धति के द्वारा नियंत्रण प्राप्त कर, योग के परिणामों की यथार्थता सिद्ध कर सकते हैं। योगी के द्वारा किये गये परीक्षणों की भी भिन्न-भिन्न अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था को वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, जिसमें योगी के ध्यान का विषय स्थूल होता है, और उस स्थूल विषय के, जो कि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, देवमूर्त्ति आदि कुछ भी हो सकता है, यथार्थ स्वरूप के साथ-साथ विश्व के समस्त स्थूल विषयों के यथार्थ स्वरूप का संशय, विपर्यय रहित अपरोक्ष ज्ञान होता है। इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में योगी को अपने स्थूल शरीर का भी समस्त स्थूल अवयवों के सहित अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उपनिषदों में इसे ही अन्नमय कोष कहा गया है। समझने के लिये इसे आत्मा के ऊपर का पांचवां आवरण कहा जा सकता है। इस अन्नमय कोष को ही आत्मपुरी अयोध्या कहा गया है। इसके द्वारा ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर पाता है। अतः सर्वप्रथम योगी को इसका ज्ञान परम आवश्यक है। क्योंकि यही सबका आधार है।

[1]इस वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि की भी दो अवस्थायें हैं १. सवितर्क २. निर्वितर्क।

१. **सवितर्क**—सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान की भावना बनी रहती है।

२. **निर्वितर्क**—निर्वितर्क में शब्द अर्थ और ज्ञान की भावना नहीं रहती।

जब योगी इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सार्वदेशिक और सार्वकालिक समस्त स्थूल विषयों का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह अभ्यास को निरन्तर करता रहकर पंचतन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के यथार्थ स्वरूप शक्तिमात्र का साक्षात्कार करता है। इस अवस्था को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—(१) सविचार, (२) निर्विचार।

१. **सविचार**—सविचार समापत्ति उस स्थिति को कहते हैं जिसमें उपर्युक्त सूक्ष्म ध्येय पदार्थों में योगी चित्त लगाकर उन सूक्ष्म पदार्थों के नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों सहित अनुभव प्राप्त करता हैं।

२. **निर्विचार**—निर्विचार समापत्ति में उनके नाम और ज्ञान से रहित केवल ध्येय पदार्थ मात्र (सूक्ष्म विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पंच-तन्मात्राओं तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों) का अनुभव प्राप्त होता है। अर्थात् इस अवस्था में चित्त का स्वरूप लीन होकर विस्मृत हो जाता है और केवल ध्येय ही ध्येय का अनुभव प्राप्त होता रहता है।

सविचार समाधि की स्थिति के दृढ़ होने पर सभी दिव्य विषयों को योगी की सूक्ष्म इन्द्रियां ग्रहण करने लगती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अति दूरस्थ तथा दिव्य शब्दों को सुनने की शक्ति योगी को प्राप्त होती है। समस्त विषयों का स्पर्श योगी सूक्ष्म स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा कर लेता है। समस्त दिव्य विषयों को चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा देख लेता है। इसी प्रकार से सूक्ष्म रस इन्द्रिय के द्वारा समस्त दिव्य रसों का आस्वादन योगी कर लेता है। इसी प्रकार से समस्त दिव्य गन्धों का अनुभव सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय के द्वारा योगी कर लेता है। इस समाधि अवस्था में सूक्ष्म विषय, पंचतन्मात्राओं तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का

१. पा. यो. सू. भा.—१।१७

साक्षात्कार साधक करता है। यह साक्षात्कार अन्तर्बोध के द्वारा होता है, जो कि केवल व्यक्तिविशेष से ही सम्बन्धित नहीं है, किन्तु कोई भी योगी योगपद्धति द्वारा अभ्यास कर समस्त योगसम्बन्धी परिस्थितियों पर नियन्त्रण करके इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस तरह से इस ज्ञान की यथार्थता प्रयोगात्मक पद्धति के द्वारा स्थापित की जा सकती है। तथा प्राचीनकाल से इसी प्रकार से होती आ रही है। अभ्यास के निरन्तर होने से योगी को ऐसी अवस्था हो जाती है कि उसका चित्त इतना अधिक एकाग्र हो जाता है कि उसमें अहंकार का, जो कि इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं का कारण होने से सूक्ष्मतर है, साक्षात्कार होता है। एकाग्रता की इस स्थिति को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसमें चित्त में सत्वगुण का आधिक्य हो जाने से वह आनन्दरूप हो जाता है। आनन्द के अतिरिक्त उसका कोई और विषय नहीं होता है। इस स्थिति के प्राप्त होने के बाद ही अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर योगी की एकाग्रता इतनी बढ जाती है कि अहंकार के कारण चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त अर्थात् अस्मिता के यथार्थ रूप का साक्षात्कार होने लगता है, जो कि अहंकार से अधिक सूक्ष्म है। इन चारों समाधियों में किसी न किसी प्रकार का ध्येय होता है। ध्येय का आलम्बन होने के कारण, जो कि बीज रूप है, ये समाधियाँ सालम्ब और सबीज भी कहलाती हैं। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर 'अस्मि-अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ, मैं हूँ' अहंकार से रहित वृत्ति की सूक्ष्मता से, विवेक-ख्यातिरूपी वृत्ति उत्पन्न होती है, अर्थात् पुरुष और चित्त के भेद को पैदा करनेवाला विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस स्थिति से योगी चित्त को और पुरुष को अलग-अलग देखता है, किन्तु इस अलग-अलग देखने पर भी यह आत्मस्थिति (स्वरूपावस्थिति) नहीं होती। अतः निरन्तर अभ्यास के चलते रहने पर इस आत्मसाक्षात्कार प्रदान करनेवाली चित्त की सर्वोच्च सात्विक वृत्ति में स्वरूपावस्थिति के अभाव को बतानेवाली 'नेति-नेति' रूपी ( यह आत्म-स्थिति नहीं है, यह आत्म-स्थिति नहीं है ) पर वैराग्य की वृत्ति उदय होती है। इस पर वैराग्यरूपी वृत्ति के द्वारा विवेक-ख्याति रूपी वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। जिस प्रकार से दर्पण-प्रतिबिम्बित स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं होता, ठीक वैसे ही विवेक-ख्यातिरूपी वृत्ति द्वारा चित्त में प्रतिबिम्बित आत्म-साक्षात्कार, वास्तविक आत्म-साक्षात्कार नहीं है, वह तो चित्त में आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतःपर-वैराग्यरूपी वृत्ति के द्वारा इस वृत्ति का निरोध रहने पर ही आत्म-

स्थिति ( स्वरूपावस्थिति ) प्राप्त होती है, इसे ही असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहते हैं। इस तरह से समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, किन्तु निरोध-संस्कार तब तक वर्त्तमान रहते हैं, जब तक उनके द्वारा व्युत्थान के समस्त संस्कार नष्ट नहीं हो जाते। इसे हो 'स्वरूपावस्थिति' कहते हैं, जो कि असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा प्राप्त होती है।

इस उपर्युक्त आत्म-साक्षात्कार की अवस्था, अर्थात् 'आत्म-दर्शन' प्राप्त करने की अवस्था, को योगमार्ग के द्वारा हर साधक प्राप्त कर सकता है। अतः इस अवस्था का परीक्षण हर साधक के द्वारा समस्त परिस्थितियों का नियन्त्रण करके किया जा सकता है। भले ही अन्य वैज्ञानिक परीक्षणों से अपेक्षाकृत यह अत्यधिक कठिन तथा बिलम्ब से होनेवाला परीक्षण है। वैसे तो बहुत से वैज्ञानिक परीक्षण भी अत्यधिक समय में सम्पन्न होते हैं।

---

## अध्याय ४

# मन-शरीर-सम्बन्ध (Mind-body-relation)

मनोविज्ञान के अध्ययन में मन-शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचार करना अति आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि हमारी मानसिक क्रियाओं के द्वारा शारीरिक क्रियायें निरन्तर प्रभावित होती रहती हैं। यही नहीं साथ ही साथ यह भी देखने में आता है कि शारीरिक विकारों का मन के ऊपर भी प्रभाव पड़ता है। इन दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की उपेक्षा मनोवैज्ञानिक अध्ययन में नहीं की जा सकती है। व्याधियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार से हमारा मन उनके द्वारा प्रभावित होता है। पेट की खराबी से विचार शक्ति में अन्तर आ जाता है। तीव्र आघात से चेतना भी लुप्त हो सकती है। कतिपय नशीले पदार्थों का सेवन अचेतनता प्रदान कर देता है। हमारी मानसिक प्रकृति रोगों के द्वारा प्रभावित होती है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि हमारे शारीरिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप मानसिक परिवर्तन भी निश्चित रूप से होते हैं, भले हो वे अपेक्षाकृत न्यूनाधिक हों।

केवल शारीरिक परिवर्तनों का ही मन के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता अपितु हमारे विचारों अथवा मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर भी पड़ता है। हमारे बिचारों के द्वारा ही हमारे शरीर में परिवर्तन उत्पन्न होकर अनेक विकृतियाँ उपस्थित हो जाती हैं तथा विचारों से ही अनेक शारीरिक विकृतियों से हमें मुक्ति प्राप्त हो जाती है। मन का ऐसा अद्भुत प्रभाव देखने में आया है कि अनेक असाध्य व्याधियों से ग्रसित रोगियों को भी केवल मानसिक विचारों के द्वारा चमत्कारिक रूप से स्वस्थ होते पाया गया है।

प्रयोगों के द्वारा मन और शरीर का सम्बन्ध निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया गया है। मानसिक कार्य करते समय व्यक्ति का रक्त-चाप (Blood Pressure) बढ़ जाता है। उद्वेगों से प्रेरित होकर कार्य करने में भी रक्त-चाप की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनसे शरीर पर बिचारों का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। हम मन का शरीर के ऊपर प्रभाव तो प्रतिदिन के जीवन में ही देखते रहते हैं। मन से ही शरीर का

संचालन होता है। हाथ उठाने की इच्छा होती है तभी हाथ उठता है। इसी आधार पर व्यवहार के द्वारा मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन होता है। हमारे व्यवहारों के द्वारा ही मन व्यक्त होता है।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि मन और शरीर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अर्थात् एक का प्रभाव दूसरे पर निश्चित रूप से पड़ता है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। यह मन और शरीर के सम्बन्ध की समस्या प्राचीनकाल से ही पाश्चात्य दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों के सामने उपस्थित रही है और उन्होंने प्रायः इस समस्या के हल करने के लिये मन और शरीर का सम्बन्ध समझाने का प्रयत्न किया है।

पाश्चात्य दर्शन की तरह से योग दर्शन में मन और आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं किये गये हैं। योग दर्शन में आत्मा से मन को भिन्न माना गया है। मन का योग-मनोविज्ञान में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। मन के बिना केवल इन्द्रियों के आधार पर हमें कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। योग मनोविज्ञान में मन-शरीर सम्बन्ध का विवेचन करते समय इनके ( मन-शरीर के ) साथ-साथ आत्मा के सम्बन्ध का विवेचन करना भी अति उत्तम होगा क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध के बिना, मन-शरीर-सम्बन्ध का समझना कठिन है।

## पातञ्जल योग-दर्शन के अनुसार मन-शरीर-सम्बन्ध

ईश्वर, पुरुष तथा प्रकृति तीनों को ही योग में अन्तिम सत्ता मानी गयी है। पुरुष अनन्त हैं, प्रकृति एक है। दोनों ही अनादि हैं, किन्तु एक चेतन है, दूसरी जड़। चेतन पुरुष निष्क्रिय, अपरिणामी, नित्य, सर्वव्यापी, अनेक है, किन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मक, एक, परिणामी, सक्रिय है। समस्त विश्व इस परिणामी, त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही व्यक्त रूप है। त्रिगुणात्मक ( सत्व, रजस्, तमस् ) प्रकृति की साम्य अवस्था ईश्वर के सान्निध्य मात्र से भंग हो जाती है, जिसके फलस्वरूप अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होती है। बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म और स्थूल विषय तथा समस्त प्रपंचात्मक जगत् प्रकृति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। योग में मन, अहंकार, बुद्धि इन तीनों को ही चित्त माना गया है। ये स्वयं में जड़ हैं। चित्त में निरन्तर परिणाम होता रहता है। पुरुष अपरिणामी, निष्क्रिय होते हुए भी जब अज्ञान के कारण चित्त के साथ तादात्म्य मान कर अपने आपको परिणामी समझने लगता है, तब इस अवस्था

में उसे बद्ध जीव कहते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्व प्रधान है अर्थात् उसमें रज और तम निम्न मात्रा में तथा निर्बल अवस्था में रहते हैं। इसके सत्व प्रधान तथा आत्मा के निकटतम होने के कारण यह (चित्त) आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है अर्थात् जिस प्रकार से दीपक दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर दर्पण को प्रकाशित करके उसमें अन्य समस्त प्रतिबिम्बित विषयों को भी प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार से सात्विक चित्त के निर्मल होने के कारण पुरुष का उसमें प्रतिबिम्ब उसे प्रकाशित करके चित्त के अन्य समस्त विषयों को भी प्रकाशित करता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा को विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। चित्त निरन्तर विषय-सम्पर्क के कारण विषयाकार होता रहता है। चित्त के विषयाकार होने को ही चित्तवृत्ति कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ परिवर्तनशील होने के कारण निरन्तर चित्त में धारारूप से प्रवाहित होती रहती हैं, जिनमें अपरिणामी, निष्क्रिय, अविकारी पुरुष भी प्रतिबिम्बित होने के कारण परिणामी क्रियाशील तथा विकारी प्रतीत होने लगता है, जैसे जलतरंगों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्थिर होते हुए भी चंचल प्रतीत होता है। जैसा कि योग सूत्र के "समाधि-पाद" के चतुर्थ सूत्र—"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" से स्पष्ट होता है कि व्युत्थान अवस्था में जब कि निरन्तर वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है, तब उस अवस्था में पुरुष अर्थात् द्रष्टा वृत्तियों के समान ही प्रतीत होता है। उस प्रवाह के समाप्त हो जाने पर अर्थात् निरोधावस्था में पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। सत्य तो यह है कि आत्मा सर्वदा ही, चेतन, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य होने के कारण हर अवस्था में समरूप से वर्तमान रहती है, किन्तु भ्रम के कारण, सक्रिय, परिणामी, विकारी आदि प्रतीत होती है। जिस प्रकार से भ्रान्ति में सीप में चाँदी की प्रतीति होती है तथा भ्रान्ति समाप्त होने पर सीप में चाँदी की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है, किन्तु ऐसा होने से न तो सीप की उत्पत्ति ही होती है और न चाँदी का अभाव ही हो जाता है, ठीक इसी प्रकार से अज्ञान के कारण चिति शक्ति (पुरुष) व्युत्थान काल में भी अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हुए भिन्न रूप से भासती है। भ्रान्ति सान्निध्य के कारण होती है। चित्त के संनिधान के कारण पुरुष में चित्त की शान्त, घोर, मूढ़ आदि वृत्तियाँ प्रतीत होने लगती हैं, तथा पुरुष अपने आपको उन वृत्तियों का अभिमानी बनाकर अज्ञानवश सुखी, दुःखी, मूढ़ समझने लगता है, जैसे कि स्फटिक मणि के निकट गुड़हल के फूल की लालिमा स्फटिक मणि में भासने लगती है, वा मलीन दर्पण में मुख देखकर व्यक्ति दर्पण की

मलीनता को अपने मुख पर आरोपित करके मलीन मुख वाला समझने लगता है। वास्तव में जिस प्रकार से स्फटिक मणि लाल नहीं है, वा व्यक्ति का मुख मलीन नहीं है, ठीक उसी प्रकार से आत्मा में बुद्धि के शान्त, घोर, मूढ़ समझे जाने वाले धर्म विद्यमान नहीं होते हैं। अज्ञान के कारण ही पुरुष अपने में चित्त के धर्मों का आरोप कर लेता है।

पुरुष और चित्त दोनों में 'स्व' 'स्वामी' भाव अर्थात् उपकार्य—उपकारक भाव सम्बन्ध होता है। असंग होते हुए भी पुरुष में भोक्तृत्व और द्रष्टृत्व शक्ति होती है, तथा चित्त में दृश्यत्व और भोग्यत्व शक्ति है अर्थात् जिसके कारण वह 'स्वामी' कहा जाता है तथा चित्त दृश्य और भोग्य होने के कारण 'स्व' कहा जाता है। यहां इन दोनों की पारस्परिक योग्यता है, अर्थात् दोनों में योग्यता लक्षण सन्निधि है। अब प्रश्न उठता है कि दोनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी अर्थात् एक असंग, दूसरा परिणामी होते हुए भी, दोनों का पुरुष के भोग हेतु स्व-स्वामी-भाव सम्बन्ध जो कि दो में रहने वाला होता है, कैसे होता है ? इसका उत्तर व्यास जी ने योगसूत्र ४ समाधिपाद व्याख्या करते हुए बड़े सुन्दर ढंग से दिया है।

"चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः"

पा. यो. सू. भा.—१।४

जैसे चुम्बक में लोहे के टुकड़े को अपनी तरफ खींचने की शक्ति होती है, जिसके कारण वह लोहे के टुकड़े को खींच कर व्यक्ति का विनोद करता है जिससे उसका स्व कहा जाता है, तथा व्यक्ति बिना कुछ किये ही स्वामी कहा जाता है, ठीक उसी तरह चित्त भी विषयों को अपनी तरफ खींचकर सन्निधि मात्र से उपकार करने वाला होकर उसका 'स्व' तथा पुरुष बिना कुछ किये ही 'स्वामी' कहा जाता है। असंग होते हुए भी पुरुष का चित्त से सम्बन्ध मानना ही पड़ता है जो कि ऊपर कथित पारस्परिक योग्यता सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चित्त का स्वामी हो जाने से पुरुष में विकारादि दोष नहीं होते और उसकी चित्त के साथ सन्निधि मात्र है, जो कि देशकाल निरपेक्ष केवल योग्यतारूप है। योग्यतारूप सन्निधि के कारण ही चित्त परिवर्तित अर्थात् विकारी होने से योग्य तथा दृश्य होकर आत्मा का स्व हुआ तथा पुरुष भोक्ता व द्रष्टा होकर स्वामी हुआ। यह स्व-स्वामी भाव सम्बन्ध चित्त के

साथ पुरुष का कोई संयोग न होते हुए भी होता है, भले ही वह चित्त के द्वारा किए गए उपकार का भागी होता है, किन्तु चुम्बक के द्वारा खींचे गये लोहे का द्रष्टा और भोक्ता होने वाले व्यक्ति के समान पुरुष स्वयं में अपरिणामी ही रहता है। यह पुरुष और चित्त का सम्बन्ध अविद्या के ही कारण है। यह अविद्या भोग-वासना के कारण होती है। अतः इस अविवेक और वासना का प्रवाह बीज और वृक्ष के प्रवाह के सदृश्य ही अनादि है।

अनादि काल से बद्ध जीवों की मुक्ति के लिये ईश्वर के सन्निधि मात्र से त्रिगुणात्मक प्रकृति की साम्य अवस्था भंग होकर विकास प्रारम्भ होता है। इस विकास का मुख्य उद्देश्य पुरुष का भोग तथा अपवर्ग है। चित्त के द्वारा ही पुरुष भोगों का भोक्ता होता है तथा अन्त में विवेक ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। प्रकृति के विकास के क्रम में प्रथम विकार महत्, बुद्धि वा चित्त है, जिससे दो अलग-अलग समानान्तर धारायें विकसित होती हैं—

( १ ) अहंकार मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय।

( २ ) महत् से पंचतन्मात्रा और पंचतन्मात्रा से पंच महाभूत तथा पंच महाभूत से समस्त स्थूल जगत्। ये सब प्रकृति की ही अभिव्यक्तियां हैं, किन्तु अज्ञानवश पुरुष अपने आपको मन, इन्द्रिय, शरीर आदि तथा चित्त के परिणामों को अपने परिणाम समझ कर सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होता रहता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यही आत्मा के बन्धन की अवस्था है। पुरुष चित्त की समस्त अवस्थाओं को अपनी अवस्था समझता है। इन्द्रियों और शरीर की क्रियाओं को अपनी क्रिया समझता है। उत्पत्ति, विनाश, शरीर का होते हुए भी अज्ञान के कारण उसमें लगाव होने के नाते अपना उत्पत्ति विनाश समझता है। आत्मा इन सबसे परे है। उसका इनमें केवल सन्निधि सम्बन्ध होने से ही ऐसा होता है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

चित्त वा मन अचेतन वा जड़ होते हुए भी सूक्ष्म है, जिसके साथ हमारे इस जन्म और पूर्व जन्म की वासनाओं के संस्कार विद्यमान रहते हैं और जीव के साथ वह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर को अपने कर्मानुसार धारण करता रहता है। शरीर पंचभूतों से निर्मित है जिनकी उत्पत्ति पंचतन्मात्रावों से होती है। महत् से अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। मन और स्थूल शरीर दोनों ही जड़-तत्व प्रकृति की सूक्ष्म और स्थूल अवस्थायें हैं। अतः मानसिक क्रियाओं के द्वारा शारीरिक

क्रियाओं का प्रभावित होना ठीक ही है। इसी प्रकार से शारीरिक अवस्थाओं का प्रभाव मन पर निश्चित रूप से पड़ता ही है। वस्तुतः जब दोनों एक ही जड़-तत्व की अभिव्यक्तियां हैं तो उनके सम्बन्ध को समझने में कोई कठिनाई ही नहीं है। इनका पारस्परिक प्रभाव योग के द्वारा स्पष्ट ही है। इतना अवश्य है कि स्थूल से सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली तथा अधिक क्षमतावान् तथा सम्भाव्यता वाला होता है। उसके कार्य बिना शरीर की सहायता के भी सम्पादित होते हैं। चित्त की ऐसी विलक्षण शक्ति मानी गई है कि वह शरीर को जिस प्रकार से चाहे उस प्रकार से चला सकता है। वैसे तो मन और शरीर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ही, किन्तु मन सूक्ष्म होने के कारण स्वतन्त्र रूप से भी क्रियाशील होता है। यह सब क्रियाशीलता बिना चेतन के सान्निध्य के सम्भव नहीं है। स्वयं में अपरिणामी होते हुए भी वह समस्त विश्व के इस विकास का निमित्त कारण होता है, जिसका कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है।

योग-दर्शन के अनुसार मन और शरीर के सम्बन्ध को समझने में तो कोई विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित होती है, किन्तु चेतन और जड़ जो कि विपरीत अन्तिम सत्तायें हैं, उनके सम्बन्ध में उलझन उपस्थित हो जाती है। भले ही व्यास आदि भाष्य-कारों ने इसको दूर करने का काफ़ी सुन्दर प्रयास किया है, जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है। योग में अज्ञान-वश जीव को बन्धन की अवस्था में बताया गया है। वह अविद्या के कारण ही चित्त तथा चित्त की वृत्तियों से अपना तादात्म्य समझता है। अगर प्रश्न पूछा जाता है कि यह अविद्या कहाँ से आई और जीव का अविद्या से कैसे सम्बन्ध हुआ तो दोनों को अनादि कहकर मुँह बन्द कर देते हैं।

योग व्यावहारिक विज्ञान होने के कारण बिना उसके कथित मार्ग पर चले उसके विषय में केवल सिद्धान्त के ऊपर कुछ कहना उचित-सा प्रतीत नहीं होता है।

## अध्याय ५
# चित्त का स्वरूप

योग, सांख्य के समान ही त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति से सम्पूर्ण विश्व का उदय मानता है। प्रकृति की अपनी साम्य अवस्था में तीनों गुण अलग-अलग अपने में ही परिणत होते रहते हैं; अर्थात् सत्व सत्व में, रजस रजस में तथा तमस तमस में परिणत होता रहता है। इन तीनों की साम्य अवस्था को मूल प्रकृति वा प्रधान नाम से पुकारते हैं। प्रकृति के इन तीनों तत्वों के अलग अलग धर्म होते हैं; अर्थात् सत्व तत्व का धर्म प्रकाश और सुख, रजस का प्रवृत्ति और दुख, तथा तमस का अवरोध और मोह है। अतः प्रकृति में ये तीनों ही धर्म विद्यमान हैं। प्रकृति अचेतन होते हुए भी क्रियाशील है। योग ने सांख्य के पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर को भी अन्तिम सत्ता के रूप में माना है। इस रूप में योग सांख्य से भिन्न है। योग में ईश्वर के सान्निध्य मात्र से प्रकृति की साम्य अवस्था भंग हो जाती है। तीनों तत्वों (सत्व, रजस, तमस) में हलचल पैदा हो जाती है। जिसके फलस्वरूप इन तीनों में से कोई एक तत्व प्रबल होकर अन्य दोनों तत्वों को दबाकर तथा उनके सहयोग से सम्बन्धित रूप में एक नवीन परिणाम प्रदान करता है। प्रारम्भ में रजस् के द्वारा ही, उसका प्रवृत्ति गुण होने के कारण, हलचल उत्पन्न होती है। उसके बाद सत्व तत्व प्रबल होकर महत् रूपी विकार को उत्पन्न करता है। यह प्रथम विकार सांख्य में समष्टि रूप में महत् तथा व्यष्टिरूप में बुद्धि कहा जाता है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। इन तीनों का सांख्य में अलग-अलग विवेचन किया गया है और इन तीनों को अन्तःकरण का नाम प्रदान किया है। तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी सांख्य में इनके अलग-अलग कार्यों का निरूपण किया गया है। योग में इन तीनों को चित्त नाम से व्यवहृत किया गया है। योग में व्यासजी के द्वारा कहीं-कहीं चित्त को बुद्धि और मनस् के रूप में भी लिया गया है। चित्त प्रकृति का विकार होने के कारण स्वभावतः जड़ है, किन्तु सत्व प्रधान होने तथा आत्मा के निकटतम होने के कारण चेतनसम प्रतीत होता है। पुरुष के प्रकाश से प्रकाशित चित्त विषय सम्पर्क से विषयाकार हो जाता है,

जो कि आत्मा को विषयों का ज्ञान प्रदान करता है। वैसे तो चित्त को समस्त विषयों को प्रकाशित करना चाहिये, किन्तु तमस्‌रूपी अवरोधक तत्व इसमें बाधक हो जाता है। रजस्‌ के द्वारा किसी विषय पर से तमस्‌ के हटने से वह विषय चित्त के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है। चित्त में सत्व, रजस्‌; और तमस्‌ तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं। सत्व प्रकाशक, लघु तथा सुखद, रजस क्रियाशील तथा दुःखद; और तमस्‌ स्थितिकारक तथा मोह प्रदान करने वाला होता है। अगर सत्वप्रधान चित्त तमस्‌ के द्वारा आवृत न हो तो समस्त विषयों को अभिव्यक्त कर सकता है। रजस के द्वारा जब तमस्‌ हटता है तभी विषय का ज्ञान होता है, अर्थात्‌ दोषों से रहित चित्त के द्वारा समस्त विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु चित्त स्वयं में अचेतन वा जड़ होने के कारण जब तक उसमें आत्मा प्रतिबिम्बित नहीं होता तब तक उसमें ज्ञान प्रदान करने की शक्ति नहीं आती, जैसे एक दर्पण में बिना प्रकाश के किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार से आत्मारूपी प्रकाश के बिना चित्त विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता है चित्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है तथा उनके आकार वाला हो जाता है। चित्त स्वयं में चंचल, परिवर्त्तनशील, अथवा परिणामी भी है। आत्मा ही केवल स्थायी, अपरिवर्त्तनशील, और अपरिणामी है। चित्त के अनेक परिणाम होते रहते हैं। उसमें निरन्तर परिवर्त्तन चलता रहता है। विषयों के कारण जो चित्त में परिणाम होते हैं, उन्हें ही वृत्तियां कहा जाता है। चित्त वृत्तियों के निरन्तर परिवर्त्तनशील होने के कारण उनमें प्रतिबिम्बित पुरुष भी परिवर्त्तनशील प्रतीत होता है, जो कि स्वभावतः अपरिणामी एवं अपरिवर्त्तनशील है। जिस प्रकार से जलाशय की लहरों में स्थाई चन्द्रमा भी अस्थिर और चंचल प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार से चित्त-वृत्तियों के परिवर्त्तनशील होने के कारण प्रतिबिम्बित पुरुष परिणामी तथा परिवर्त्तनशील प्रतीत होता है। चित्त में आभ्यन्तर और बाह्य सम्बन्ध से दोनों ही प्रकार के परिवर्त्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार से पृथ्वी के संसर्ग में आने से जल, खाड़ी, बावड़ी, झील आदि आन्तरिक परिणाम को प्राप्त करके उनका रूप धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार से राग द्वेष आदि से चित्त भी राग द्वेष आदि के आकार वाला हो जाता है। जिस प्रकार से वायु के द्वारा जल में तरंगें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार से चित्त इन्द्रिय विषय सम्पर्क के द्वारा विषयों के आकारवाला होकर बाह्य परिणाम को प्राप्त होता रहता है। किन्तु जैसे वायु के न रहने से जल लहरों

रहित होकर शान्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से चित्त भी विषयाकार परिवर्त्तनशील वृत्तियों से रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसे ही चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं।

चित्त के त्रिगुणात्मक होने से, गुणों के उद्रेक होने के कारण, अनुपातानुसार चित्त विभिन्न प्रकार का होता है। चित्त में गुणों की न्यूनाधिकता के कारण व्यक्तिगत अन्तर होता है। वैसे तो चित्त एक ही है, किन्तु त्रिगुणात्मक होने के कारण, गुणों के न्यूनाधिक्य से, एक दूसरे को दबाता हुआ, अनेक परिणामों को प्राप्त होकर, अनेक अवस्थावाला बन जाता है। एक ही व्यक्ति में चित्त की विभिन्न अवस्थायें हो सकती हैं, साथ ही साथ चित्त भिन्न भिन्न व्यक्तियों में गुणों की विषमता की विचित्रता से भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। अर्थात् हर जीव का चित्त अपनी विशिष्टता से अन्यों से भिन्न होता है। इस प्रकार से चित्त सब व्यक्तियों में भिन्न भिन्न तथा एक ही व्यक्ति में भी भिन्न भिन्न अवस्था वाला होता है। चित्त विषय होने के कारण स्वयं नहीं जाना जा सकता है। इसका ज्ञान स्वयं प्रकाशित आत्मा के द्वारा होता है।

सांख्य की चित्त की धारणा से योग की चित्त की धारणा भिन्न है। सांख्य में मन मध्य आकार का माना जाता है। अतएव वह त्रसरेणु के समान परिमाण वाला अर्थात् सावयव द्रव्य है। योग में कारण-चित्त और कार्य-चित्त के रूप से चित्त का विभेदीकरण माना गया है। कारण चित्त आकाश के समान विभु है। कार्य चित्त भिन्न-भिन्न जीवों में भिन्न भिन्न है। जीव अनन्त होने के कारण कार्य-चित्त भी अनन्त हैं। चित्त भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। ये चित्त भी घटाकाश, मठाकाश आदि की तरह से भिन्न-भिन्न जीवों में होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। ये चित्त ही जीवों के सुख दुःख के साधन हैं। मनुष्य शरीर का चित्त जब मृत्यु के उपरान्त पशु शरीर में प्रविष्ट होता है तो अपेक्षाकृत सिकुड़ जाता है। यह सिकुड़ने और फैलनेवाला चित्त ही कार्य चित्त कहलाता है, जो कि चेतन अवस्थाओं में अभिव्यक्त होता रहता है। कारण चित्त सदैव पुरुष ( जीव ) से सम्बन्धित रहता है तथा नवीन शरीरों में कार्य-रूप चित्त से अपने भले, बुरे कर्मों के अनुसार अभिव्यक्त होता रहता है। चित्त तो स्वयं में विभु ही है, किन्तु उसके प्रकार सिकुड़ते और फैलते रहते हैं। ये सिकुड़ने और फैलनेवाले प्रकार कार्य चित्त कहे जाते हैं। चित्त आकाश के समान विभु होते हुए भी वासनाओं के कारण सीमित होकर कार्य चित्त का रूप

धारण कर लेते हैं। उनका सर्वव्यापकत्व अनन्त जीवों से सम्बन्धित होने के कारण अनन्त हो जाने पर भी वास्तविक रूप में नष्ट नहीं होता। जैसे सर्वव्यापी आकाश घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में सीमित हो जाने पर भी आकाश ही है और उन सीमाओं के हटते ही फिर उसी प्रकार से असीमित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से अज्ञान के कारण चित्त भी सीमित हो जाता है, जिसके कारण वह समस्त विषयों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सकता है। चित्त के विषय में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि वह जड़ होने के कारण स्वयं ज्ञाता नहीं है। जिस प्रकार से दीपक के प्रकाश के बिना दर्पण में समस्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब मौजूद रहते हुए भी उनका प्रकाशन नहीं हो पाता, ठीक उसी प्रकार से चित्त में बिना आत्मा वा चेतन के प्रतिबिम्बित हुए विषयों का ज्ञान असम्भव है। यह सम्भव है कि अज्ञान वा वासनाओं के कारण चित्त सीमित होकर समस्त विषयों का स्पष्ट ज्ञान न प्रदान कर सके, किन्तु वासनारहित शुद्ध चित्त विभु होते हुए भी बिना पुरुष के प्रकाश के विषयों का ज्ञान बिल्कुल ही प्रदान नहीं कर सकता।

योग का प्रमुख कार्य चित्त को उसके वास्तविक रूप में लाना है। चित्त का वास्तविक रूप असीमित, सर्वव्यापक, अथवा विभु है। पुण्य के द्वारा चित्त की सीमा बढ़ती जाती है और पाप के द्वारा वह सीमा घटती चली जाती है। प्रार्थना, दान आदि के द्वारा चित्त की सीमा फैलती जाती है। इनके साथ-साथ विश्वास, एकाग्रता, अन्तर्बोध आदि के द्वारा भी चित्त की सीमा का विस्तार बढ़ता है। योग तो मुख्य रूप से इस चित्त की सीमा को बढ़ाने का ही प्रयत्न करता है। योगाभ्यास से प्राप्त असामान्य शक्तियाँ इसके दायरे को अत्यधिक विस्तृत कर देती हैं। योगाभ्यास से चित्त की वह अवस्था पहुँच सकती है, जिसमें चित्त की समस्त सीमायें समाप्त होकर वह अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है अर्थात् असीमित और विभु हो जाता है। इस प्रकार से योगाभ्यास के द्वारा योगियों को ज्ञान की वह अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसमें देशकाल निरपेक्ष समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त हो सके। योगाभ्यास के द्वारा ज्ञान के आवरण तमस् से, पूर्णतया निवृत्ति प्राप्त हो सकती है। सामान्य चित्त की तरह योगी का अलौकिक वा अतिसामान्य ( Supernormal ) चित्त देशकाल से सीमित नहीं होता। योग के अनुसार एकाग्रता से, सीमित चित्त समष्टि चित्त का रूप धारण कर अन्य समस्त चित्तों से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। वस्तुतः जिस प्रकार किसी कमरे की चार दीवारी ही उस कमरे के आकाश को समष्टि रूप

आकाश से अलग कर देती है उसी प्रकार से शरीर के द्वारा व्यक्तिगत वा कार्य-चित्त, कारण चित्त से भिन्नता को प्राप्त होता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में चेतना के मुख्यरूप से केवल दो ही स्तरों, चेतन और अचेतन का विवेचन प्राप्त होता है किन्तु योग में अतिचेतन स्तर भी वर्णित है। अचेतन चित्त की खोज पाश्चात्य मनोविज्ञान में बहुत थोड़े दिनों की है। मुख्यरूप से इसका श्रेय सिगमंड फ्रायड ( Sigmund Freud ) को है, जिनसे पूर्व केवल चेतना का ही अध्ययन मुख्य रूप से प्रायः किया जाता था, किन्तु भारतीय दार्शनिकों को इसका ज्ञान अति प्राचीन काल से था जिसका विवेचन हमको भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। योग में, जो अति प्राचीन माना जाता है, अचेतन चित्त को पूर्व जन्म के ज्ञान, भावनायें, वासनायें, क्रियायें तथा उन सबके संस्कार बनाते हैं। चेतन चित्त की प्रक्रियाओं के अन्तर्गत संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, शब्द, स्मृति, भ्रम, अनुभूति, विकल्प, तर्क, उद्वेग और संकल्प शक्ति आदि आते हैं। जब चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है और उसकी समस्त प्रक्रियायें समाप्त हो जाती हैं अर्थात् चित्त अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है, तब चित्त की ऐसी अवस्था में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में निकट तथा दूर के स्थूल तथा सूक्ष्म समस्त विषयों का सहज ज्ञान प्राप्त होता है। यह चित्त की अतिचेतन अवस्था (Supra Conscious State) है। इन तीनों स्तरों से अतिरिक्त, चित्त से परे, आत्मा का शुद्ध विषय रहित स्तर भी है। जब चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है, और जीव मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है, तब पुरुष विषयरहित शुद्ध चेतन अवस्था में होता है। चित्त के अपने शुद्ध रूप में स्थित होने पर ही जीव मुक्त होता है। पुरुष को चित्त के द्वारा ही विषयों का ज्ञान प्राप्त होता तथा उसका संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। जब तक पुरुष विषयाकार चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं होता, तब तक उसे विषयों का ज्ञान तथा संसार सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता है। चित्त स्वयं में अचेतन होने के कारण विषयों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। आत्मा ही ज्ञाता है, जो कि अपरिणामी है। इसीलिये चित्त के परिवर्तनशील होने पर भी ज्ञान में स्थायित्व है।

चित्त के स्वयं चंचल क्रियाशील गुणों के कारण उसमें निरन्तर परिवर्तनशील क्रियायें होती रहती हैं। इन निरन्तर जारी रहने वाली मानसिक क्रियाओं को योग ने चित्त की धारा के रूप में माना है, किन्तु बिना आधार के

केवल धारा मात्र स्वयं में अस्तित्व नहीं हो सकता। चित्त ही इन धाराओं का आधार है। हमारी रुचियां, इच्छायें, जन्म तथा अनुभव आदि चित्त के संस्कारों के कारण प्राप्त होते हैं। इसकी प्रक्रियाओं से अव्यक्त प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे चित्त की पुनः क्रियायें होती हैं और उनसे फिर अव्यक्त प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं। इन प्रवृत्तियों से ही वासना और इच्छाओं का उदय होता है। जिनके द्वारा हमारा व्यक्तित्व निर्मित होता है। यह हमारा जीवन इस संसार में इन वासनाओं और इच्छाओं के ही ऊपर आधारित है। किसी उर्दू कवि ने अति सुन्दर रूप से इसका वर्णन निम्नलिखित किया है :—

"आर्जूये दीदे जानां बज्म् में लाई मुझे।
आर्जूये दीदे जानां बज्म् से भी ले चलो॥'

"मुझे संसार में लाने का कारण प्रिय वस्तु की प्राप्ति की वासना ही है और वही वासना मुझे इस संसार से ले भी जाती है"।

कठोपनिषद् में भी बड़े सुन्दर ढंग से इसका वर्णन किया है :—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥अ० २।३।१४॥

"जब जीव के हृदय की सम्पूर्ण कामनायें तथा वासनायें नष्ट हो जाती है, तब वह मरणशील जीव अमर होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है।"

चित्त में अनेकानेक भावनाग्रन्थियां अज्ञानवश उत्पन्न होकर स्थित रहती हैं, जिनकी वजह से दुःख सुख का सांसारिक चक्र चलता रहता है। जब ज्ञान के द्वारा चित्त की इन समस्त ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है, तब यह मरणशील जीव अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। इसे कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है :—

"यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम्॥ अ० २।३।१५॥"

संस्कार, मूल प्रवृत्तियां तथा वासनायें चित्त में रहती हैं। चित्त में जन्म-जन्मान्तरों के सम्पूर्ण अनुभव के संस्कार विद्यमान रहते हैं। चित्त प्रत्येक जीव में अपने उस सीमित व्यक्तिगतरूप से ही इन समस्त संस्कारों के सहित रहता है तथा शरीर के छूटने पर कर्मानुसार अन्य शरीर में उन समस्त संस्कारों के सहित चला जाता है। चित्त के संस्कारों की एक विशेषता यह है कि वे उपयुक्त

सम्बन्धों के द्वारा उदय होते हैं। जीव कर्मानुसार अनेक योनियों में होकर विचरण करता रहता है। वही जीव कभी पशु, कभी पक्षी वा कभी मनुष्य आदि योनियों को प्राप्त होता रहता है। उन प्राप्त होने वाली समस्त योनियों की प्रवृत्तियां तथा वासनायें चित्त में विद्यमान रहती हैं, क्योंकि वही चित्त समस्त योनियों में होकर गुज़रा है। वासनाओं का सचमुच में अद्भुत और जटिल जाल-सा बुना हुआ है। जिस योनि में जीव जन्म लेता है, उसी योनि के उपयुक्त पूर्व के जन्मों के उस योनि के संस्कार तथा प्रवृत्तियां इस योनि में उदय हो जाते हैं और अपने पूर्व जन्म का विस्मरण कर वर्तमान योनि के अनुसार कार्य करने लगते हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य मरने के उपरान्त अगर हाथी की योनि को प्राप्त करता है तो उस जीव में अपने पिछले अनन्त जन्मों में से हाथी की योनिवाले जन्मों की वासनाओं और प्रवृत्तियों का उदय होता है तथा वह अपने मनुष्य जीवन से विल्कुल अनभिज्ञ होकर, जीवन के अनुकूल क्रिया करने लगता है। उपर्युक्त उदाहरण की तरह से अन्य समस्त स्थलों पर भी इसी प्रकार से समझाया जा सकता है। ये समस्त संस्कार बिना किसी प्रयास के ही उदय हो जाते हैं। अवांछनीय-प्रवृत्तियों को अगर उदय न होने देना चाहें तो उसके लिए उनकी संस्काररूपी जड़ को नष्ट करने के लिए पूर्णरूप से विपरीत बलवान प्रवृत्तियों की आदत डालनी चाहिये, जिससे विपरीत संस्कार उदय होकर वे अवांछनीय संस्कार उदय न होने पायेंगे।

इन सब बातों के अतिरिक्त चित्त में चेष्टा विद्यमान है। इस चेष्टा के विद्यमान होने के फलस्वरूप विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध स्थापित होता है। चित्त के भीतर एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है। जिस शक्ति के आधार पर मनुष्य अपने ऊपर नियंत्रण करके अपने मार्ग को जिस प्रकार का चाहे परिवर्तित कर सकता है। ये सब धर्म चित्त के सार हैं और इन्हीं के ऊपर योग का अभ्यास आधारित है।

# अध्याय ६

# चित्त की वृत्तियाँ

चित्त के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। चित्त निरन्तर परिवर्त्तनशील होने के कारण विभिन्न परिणामवाला होता रहता है। विषयों का ज्ञान ही चित्त के विषयाकार होने पर प्राप्त होता है। चित्त बाह्य और आन्तरिक विषयों से सम्बन्धित होकर विषयाकार होता रहता है। चित्त का यह विषयाकार होना ही चित्त का परिणाम है। इस प्रकार से चित्त निरन्तर परिणामी होता रहता है। इस निरन्तर परिणामी होने का तात्पर्य यह हुआ कि असंख्य विषयों के कारण चित्त की भी असंख्य वृत्तियां होती हैं, क्योंकि वह अनेक बार उनके कारण परिणामी होता है। इन असंख्य वृत्तियों को, सुगमता से ज्ञान प्राप्त करने के लिये, पांच वृत्तियों के अन्तर्गत कर दिया गया है, जिनको कि योगसूत्र में समाधिपाद के पांचवें सूत्र में व्यक्त किया है, जो निम्नलिखित है:—

"वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः" ॥
(स० पा० ५)

समस्त वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं तथा उन पांचों वृत्तियों में से प्रत्येक वृत्ति क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट रूप से दो दो प्रकार की होती हैं। इन पांचों वृत्तियों का वर्णन योगसूत्र में किया गया है। ये पाँचों वृत्तियां —(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा और (५) स्मृति, कहलाती हैं, जिनका वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में आगे के अध्यायों में किया गया है। रजस् तथा तमस् प्रधान वृत्तियां जो कि मनुष्य को विवेकज्ञान के विपरीत ले जाती हैं, जिनके द्वारा समस्त संसारचक्र चल रहा है, जो अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश रूपी पंच क्लेषों का कारण हैं, जो समस्त कर्माशयों का कारण हैं तथा जो धर्म अधर्म और वासनाओं को उत्पन्न करनेवाली गुण अधिकारिणी वृत्तियां हैं, उन्हें ही योग में क्लिष्ट वृत्तियों के नाम से व्यवहृत किया गया है। ये क्लिष्ट वृत्तियां अविद्या आदि पंच क्लेषों को प्रदान करनेवाली होती हैं। इन क्लिष्ट वृत्तियों के कारण ही व्यक्ति संसारचक्र में फ़ंसा रहता है तथा उससे निकलने का प्रयत्न भी नहीं करता। इनका ऐसा जाल फैला हुआ है, जो व्यक्तियों को फँसाकर जन्म-मरण

के चक्र में घुमाता रहता है। व्यक्ति इन वृत्तियों के कारण ही अशान्त, दुःखी और भ्रमित रहता है। कर्मों तथा वासनाओं के कारण ही मृत्यु के बाद जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ये क्लिष्ट वृत्तियां ही धर्म अधर्म को उत्पन्न करती हैं, जिनके द्वारा अगले जन्मों का आरम्भ होता है। इसी को गुण अधिकार कहते हैं। इसके विपरीत जो वृत्तियां प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान की ओर ले जाती हैं, वे गुण अधिकार विरोधिनी अर्थात् आगामी जन्म आदि का आरम्भ न होने देनेवाली अक्लिष्ट वृत्तियां हैं। ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ अविद्या आदि पांचों क्लेषों को नष्ट करनेवाली वृत्तियां हैं। अक्लिष्ट वृत्तियां सत्व प्रधान वृत्तियां हैं। इन अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा ही पुरुष तथा प्रकृति का भेद ज्ञान अर्थात् विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। ये अक्लिष्ट वृत्तियां ही हमें जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करने में सहायक होती हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब कोई स्थल ऐसा नहीं है, जहाँ पर प्राणियों का जन्म न देखा जाता हो अर्थात् समस्त प्राणियों का जन्म होता है और जन्म प्रदान करनेवाली वृत्तियों को ही क्लिष्ट वृत्तियां कहते हैं तो फिर ऐसी स्थिति में निरन्तर क्लिष्ट वृत्तियां ही होनी चाहिये उनके बीच में अक्लिष्ट वृत्तियां किस प्रकार से उत्पन्न हो सकती हैं? अगर अकस्मात् किसी प्रकार से उनका उत्पन्न होना मान भी लिया जाय तो वे प्रबल क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य किस प्रकार से स्थित रह सकती हैं? क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य अक्लिष्ट वृत्तियां अपने स्वरूप को समाप्त किये बिना कैसे रह सकती हैं?

जिस प्रकार से अब्राह्मणों के गांव में एक वा दो ब्राह्मण घर में जो सैकड़ों अब्राह्मणों के मध्य स्थित है, पैदा होनेवाला ब्राह्मण अब्राह्मण नहीं होता, बल्कि वह ब्राह्मण ही बना रहता है, वैसे ही क्लिष्ट वृत्तियों के बीच में भी अक्लिष्ट वृत्तियों की उत्पत्ति होती है, जो कि क्लिष्ट वृत्तियों के छिद्र में उत्पन्न होकर भी उनमें अक्लिष्ट रूप से ही विद्यमान रहती हैं। ऐसा न मानने पर शास्त्रों द्वारा वर्णित जीवन-मुक्तावस्था का ही खण्डन हो जावेगा। दुःखों से छुटकारा प्राप्त हो ही नहीं सकेगा। जीव सदा जन्म-मरण के चक्र में भटकता ही रहेगा। इस प्रकार से तो सुधार अथवा विकास के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। विवेक ज्ञान काल्पनिक बन जाता है। अतः यह निश्चित है कि क्लिष्टवृत्तियों के छिद्र में अक्लिष्ट वृत्तियों की उत्पत्ति होती है तथा वे अपने स्वरूप में ही स्थित रहती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियाँ सत्शास्त्रों,

गुरुजनों तथा महान् पुरुषों के उपदेश के अनुसार अभ्यास तथा वैराग्य से उत्पन्न होती है।

सामान्यतः इन दोनों ही वृत्तियों का प्रवाह न्यूनाधिक रूप में सदा ही चलता रहता है। इनके प्रवाह का न्यूनाधिक होना अभ्यास तथा वैराग्य के न्यूनाधिक्य पर आधारित है। अभ्यास तथा वैराग्य की कमी से क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में वृद्धि तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में न्यूनता आ जाती है। ज्यों-ज्यों अभ्यास तथा वैराग्य बढता जाता है त्यों-त्यों अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह की अपेक्षा बढता जाता है तथा उसी अनुपात से क्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह घटता जाता है। वृत्तियों द्वारा उन वृत्तियों के सदृश संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा उन क्लिष्ट वृत्तियों के सदृश ही क्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा उन अक्लिष्ट वृत्तियों के सदृश ही अक्लिष्ट संस्कारों की उत्पत्ति होती है। ये संस्कार भी अपने समान वृत्तियों को पैदा करते हैं अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार क्लिष्टवृत्तियों को तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार से वृत्तियों के द्वारा संस्कारों की तथा संस्कारों के द्वारा वृत्तियों की उत्पत्ति का चक्र चलता रहता है। यह चक्र निरन्तर जारी रहता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अभ्यास तथा वैराग्य से अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह बढ़ता है। जब निरन्तर अत्यधिक काल तक अभ्यास तथा वैराग्य दृढ़ हो जाता है, तब एक समय ऐसा आता है कि अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का नाश हो जाता है। जब निरन्तर अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा अक्लिष्ट संस्कार तथा अक्लिष्ट संस्कारों द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियों का चक्र चलता रहता है तो क्लिष्ट वृत्तियों का स्वतः निरोध हो जाता है किन्तु अक्लिष्ट वृत्तियों के छिद्र में तो क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार वर्त्तमान रहते ही हैं। यह वृत्ति-संस्कार-चक्र अन्तिम निर्बीज समाधि तक चलता रहता है। निर्बीज-समाधि से ही उनकी समाप्ति होती है। क्लिष्ट वृत्तियों के सर्वथा दब जाने पर भी अक्लिष्ट-वृत्तियों के संस्कारों का चक्र जारी रहता है। किन्तु अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी वृत्तियाँ है अतः आवश्यक होने के कारण इनका भी निरोध पर-वैराग्य के द्वारा किया जाता है। समस्त वृत्तियों के निरोध की अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। निर्बीज-समाधि प्राप्त करने के लिये अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध भी परम आवश्यक है क्योंकि निर्बीज समाधि तक ही यह चक्र चल सकता है उसके बाद नहीं। विवेक ख्याति के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों

का निरोध होता है किन्तु विवेक ख्याति भी चित्त की वृत्ति है, भले ही वह अक्लिष्ट वृत्ति है। अतः उन विवेक ख्यातिरूप अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध अति आवश्यक है। इन विवेक ख्याति नामक अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध पर-वैराग्य के द्वारा होता है, जिसको निरोध किये बिना निर्बीज समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं होती। इसी अवस्था में यह वृत्ति-संस्कार चक्र वाला परम चित्त, कर्त्तव्य से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। जीवन्मुक्तावस्था में चित्त अपने स्वरूप में स्थित रहता है तथा विदेह मुक्तावस्था में चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है अर्थात् प्रलय अवस्था प्राप्त करता है। योग का परम लक्ष्य यह लीनावस्था वा प्रलय अवस्था ही है।

# अध्याय ७

## प्रमा ( Valid Knowledge )

पौरुषेयबोध, अनधिगत, अबाधित, अर्थविषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। भ्रम और स्मृति प्रमा ज्ञान नहीं हैं। भ्रम अनधिगत ( नवीन-ज्ञान ) होते हुए भी अबाधित नहीं है, क्योंकि उसका अन्य प्रबल अनुभव के द्वारा वा यथार्थ-ज्ञान के द्वारा बाध हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान अनधिगत है किन्तु रस्सी के ज्ञान से वह बाधित हो जाता है। इसलिये भ्रम प्रमा ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार स्मृति ज्ञान अबाधित न होते हुये भी अनधिगत नहीं है अर्थात् अधिगत है यानी पूर्व में उसकी किसो प्रमाण के द्वारा जानकारी हो चुकी है। इसलिये पौरुषेयबोध अनधिगत, अबाधित, अर्थविषयक ज्ञान ( अर्थ को विषय करनेवाला ज्ञान ) ही "प्रमा" है। यह ज्ञान पुरुष को होता है। यह पुरुष-निष्ठ ज्ञान है। जिसकी पूर्व में किसी प्रमाण द्वारा जानकारी न हुई हो तथा जो किसी के द्वारा बाधित न हो, ऐसा अर्थ को विषय करनेवाला पुरुषनिष्ठ ज्ञान प्रमा कहा जाता है। यह यथार्थ वा सत्य ज्ञान का ही पर्यायवाची है। ज्ञानेन्द्रियों, लिंगज्ञान तथा आप्तवाक्य-श्रवण द्वारा उत्पन्न जो चित्तवृत्ति से प्रमाण के द्वारा प्राप्त ज्ञान है उसे प्रमा कहते हैं। ये चित्त वृत्तियां पौरुषेय बोध प्रमा का करण होने से प्रमाण कोटि में आती हैं। सांख्य-योग में चित्त का चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर विषयाकार हो जाना तथा विषय के स्वरूप का यथार्थ रूप से ज्ञान हो जाना ही प्रमा ज्ञान कहलाता है। इन्द्रियों द्वारा विषया-कार चित्त वृत्ति तथा उसके बाद चित्तवृत्ति के आधार पर होनेवाला पौरषेय बोध दोनों ही प्रमा कहे जाते हैं। जिस प्रकार कुएँ से निकला हुआ जल नाली के द्वारा खेत की क्यारियों में जाकर उन्हीं क्यारियों के आकारवाला हो जाता है, अर्थात् चतुष्कोणाकार क्यारियों में चतुष्कोणाकार, त्रिकोणाकार में त्रिकोणाकार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से चित्त भी विषयाकार हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि चित्त इन्द्रियों के द्वारा विषय देश में पहुँचकर विषयाकार हो जाता है। इसी चित्त के विषयाकार हो जाने को चित्तवृत्ति-ज्ञान आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं। यह प्रमा-प्रमाण दोनों है। जिस मत में चित्त-वृत्ति प्रमा है, उस मत में इन्द्रियां प्रमाण मानी गई हैं, तथा जिस मत में

चित्तवृत्ति प्रमाण है, उस मत में पौरुषेय बोध ही प्रमा है। पौरुषेय बोधरूप प्रमा ही मुख्य प्रमा कहलाती है। योग-दर्शन के सातवें सूत्र के व्यासभाष्य से यह स्पष्ट हो जाता है :—

"फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः" पौरुषेय = पुरुष को होनेवाला। बोधः = बोध (ज्ञान)। अविशिष्टः = सामन्य रूप से। फलम् = फल (प्रमा) है। तथा चित्तवृत्तिः = अन्तः करण की विषयों के आकार को धारण करने वाली वृत्ति; बोधः = वह वृत्ति स्वरूप बोध वह सामान्यरूप से फल है। अर्थात् पौरुषेय जो बोध है वह भी सामान्यरूप से फल (प्रमा) माना गया है और चित्तवृत्ति रूप जो बोध है वह भी सामान्यरूप से फल माना गया है। इस प्रकार पौरुषेयबोध तथा चित्तवृत्ति रूप जो बोध हैं ये दोनों ही फल हैं।

इन दोनों की प्रमा स्वरूपता का कथन टीका में भी स्पष्ट रूप से कर दिया है कि :—

(१) "चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः"
"पुरुषनिष्ठ चैतन्य के प्रतिबिम्ब से विशिष्ट बुद्धि वृत्तिरूप बोध (प्रमा) है।

(२) "बुद्धिवृत्तौ बिम्बितं वा चैतन्यं बोध इति तदर्थः।"

अथवा बुद्धि वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चैतन्यरूप बोध है वह प्रमा है।

"एवं च प्रमा द्विविधा-बुद्धिवृत्ति पौरुषेयो बोधश्च। प्रमाणमपि द्विविधम् इन्द्रियादयः, बुद्धिवृत्तिश्चेति। यदा पौरुषेयबोधस्य प्रमात्वं तदा बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वम्। यदा च बुद्धिवृत्तेः प्रमात्वं तदेन्द्रियादीनां प्रमाणत्वम्। प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते। पुरुषस्तु प्रमायाः साक्षी न तु प्रमाता। अथ कदाचिद् बुद्धिवृत्तिः, पौरुषेयबोधश्चेत्युभयमपि प्रमा, तदा क्रमेण इन्द्रियतत्सन्निकर्षाः, बुद्धिवृत्तिश्चेत्युभयमपि प्रमाणमिति।"

अर्थ :—इस प्रकार से प्रमा ज्ञान दो प्रकार का माना गया है। एक तो बिषयाकाराकारित बुद्धि की वृत्ति तथा दूसरा उस बुद्धि की वृत्ति के आधार पर अग्रिम क्षण में पुरुष को होने वाला बोध। जब प्रमा ज्ञान दो प्रकार का होता है, तब फिर उस प्रमा ज्ञान का कारणीभूत प्रमाण भी दो प्रकार का है। (१) इन्द्रियां, (२) बुद्धिवृत्ति। जिस पक्ष में पौरुषेय बोध को प्रमा माना गया है, उस पक्ष में बुद्धि की वृत्ति प्रमाण है, और जिस पक्ष में बुद्धिवृत्ति प्रमा है उस

पक्ष में इन्द्रियां प्रमाण हैं, और वह प्रमारूप फल एकमात्र पुरुषनिष्ठ है। पुरुष प्रमा ज्ञान का साक्षी है वह प्रमाता नहीं है। जिस सिद्धान्त में बुद्धिवृत्ति तथा पौरुषेयबोध इन दोनों को प्रमा माना गया है, उस सिद्धान्त में भी क्रम से इन्द्रिय तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष और बुद्धिवृत्ति इन तीनों को प्रमाण जानना चाहिये।

ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है, "असंदिग्ध, अविपरीत, अनधिगतविषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्।"

**व्याख्या**—असंदिग्ध = संशय रहित ज्ञान। अविपरीतज्ञान = मिथ्याज्ञान से शून्य। अनधिगतविषया = पूर्व में, न अनुभव हुये विषय अर्थात् अधिगत (जाने हुए) विषयवाले स्मृतिरूप ज्ञान से भिन्न। चित्तवृत्तिः = जो चित्तवृत्ति। च = और। पौरुषेय = पुरुष को होनेवाला। बोधः = जो बोध (ज्ञान)। प्रमा = प्रमाज्ञान। फलम् = फल माना गया है। तत् साधनम् = इन दोनों प्रकार की प्रमारूप फल का साधन। प्रमाणम् = प्रमाण है।

वृक्ष को देखकर उसमें होने वाला 'यह वृक्ष है' वा 'पुरुष है' इस प्रकार के संशयात्मक ज्ञान से शून्य, पड़ी हुई रस्सी को देखकर 'यह सर्प है', इस प्रकार से होने वाले विपरीत ज्ञान से शून्य, एवं पूर्व के अनुभूत विषय को प्रकाशित करने वाली स्मृतिरूपा चित्तवृत्ति से शून्य चित्तवृत्ति ही प्रमा है। उसके पश्चात् उस चित्तवृत्ति के सहारे पुरुष को होने वाले बोध को भी प्रमा ज्ञान माना गया है। इन दोनों, बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और पौरुषेय बोधात्मक ज्ञान के साधन कारण को प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार से सांख्ययोग ने संशय, विपर्यय, विकल्प, स्मृतिरूपा चित्तवृत्ति से भिन्न जो चित्तवृत्ति है, उसे प्रमा माना है। किन्तु यदि संशयरूप, विपर्ययरूप, विकल्परूप तथा स्मृतिरूप को प्रमा मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसके उत्तर में सर्वप्रथम तो यह बात है कि किसी भी दर्शन में शास्त्रकारों ने संशय, विपर्यय, विकल्प तथा स्मृति ज्ञान को प्रमा नहीं माना है। दूसरी बात यह है कि अगर इन्हें प्रमा मान लिया जायगा तो इनके कारणों को भी तीन प्रमाणों के अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ जायगा। अर्थात् "अयं स्थाणुः पुरुषो वा" यह स्थाणु (ठूँठा वृक्ष) है अथवा पुरुष, इस संशय ज्ञान का कारण स्थाणु-पुरुष साधारण समान धर्म उच्चैस्तरत्व को माना है। उच्चैस्तरत्वरूप साधारण धर्म को भी प्रमाण मानना पड़ जावेगा। इसी प्रकार स्मृतिरूप ज्ञान के कारण संस्कार को भी प्रमाण स्वीकार करना होगा, एवं विपर्ययरूप (मिथ्या ज्ञान) के कारण दोष को भी प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन इन सब ज्ञानों के कारणों को प्रमाण स्वीकार करना सर्वथा सांख्य-योग

सिद्धान्त के तथा अन्य सिद्धान्तों के विरुद्ध है क्योंकि सांख्य-योग तीन ही प्रमाण मानते हैं और दो प्रमा मानते हैं :—( १ ) गौण-प्रमा, ( २ ) मुख्य-प्रमा। चित्तवृत्ति गौण प्रमा है और पौरुषेयबोध मुख्य प्रमा है। यह अनधिगत ( स्मृति भिन्न), अबाधित (रस्सी में सर्प की तरह जो नाशवान न हो), अर्थविषयक, पौरुषेयबोध प्रमा है, जो इन्द्रिय, लिंगज्ञान तथा आप्त-वाक्य श्रवण से उत्पन्न चित्त-वृत्तिरूप प्रमाणजन्य है। चित्तवृत्ति प्रमाण है, क्योंकि यह उक्त पौरुषेयबोधरूप प्रमा का करण है।

इन्द्रिय वा इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा जहां चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है वहां प्रत्यक्ष प्रमाण; लिंग ज्ञान द्वारा जहां बुद्धि-वृत्ति पैदा होती है वहां अनुमान प्रमाण; तथा पदज्ञान से जहाँ बुद्धि-वृत्ति उत्पन्न होती है, वहाँ शब्द प्रमाण माना जाता है और इन तीनों से होनेवाला ज्ञान ही प्रमा है जो क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमितिप्रमा तथा शाब्दीप्रमा कहा जाता है। सांख्ययोग में ज्ञान प्रक्रिया में ६ पदार्थ माने गये हैं—१—प्रमाण, २—प्रमा-प्रमाण, ३—प्रमा, ४—प्रमेय, ५—प्रमाता, तथा ६—साक्षी।

बिना चैतन्य के बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए, ज्ञान सम्भव नहीं है। बुद्धि तो जड़ है उसमें बिना चैतन्य के प्रकाश के उसकी वृत्ति अर्थात् बुद्धि-वृत्ति प्रकाशित नहीं हो सकती। चैतन्य केवल पुरुष का ही धर्म होते हुये भी वह स्वतः विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा होने से आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण हमेशा ही हर विषय का ज्ञान होता रहेगा जो कि नहीं होता है। उसे ( पुरुष को ) तो बुद्धि मन इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों का ज्ञान होता है। इन्द्रिया वा इन्द्रिय-संन्निकर्ष ही एकमात्र प्रमाण की कोटि में आता है क्योंकि वे बुद्धि वृत्तिरूप प्रमा का करण हैं। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के साधन ( करण ) को प्रमाण कहते हैं। "यह घट है' इत्यादि बुद्धि-वृत्ति प्रमा प्रमाण कही जाती है, क्योंकि पौरुषेय बोध प्रमा का यह ( बुद्धि-वृत्ति ) करण है। अर्थात् एक रूप से यह प्रमा है, किन्तु जहां पौरुषेय बोधरूप ज्ञान प्रमा है वहां यह ( बुद्धि-वृत्ति ) प्रमाण है। पौरुषेय बोध फलरूप होने से किसी का कारण नहीं है इसलिए यह केवल प्रमा ही कहा जाता है। यथार्थ बोध को प्रमा और अयथार्थ बोध को अप्रमा कहते हैं। प्रमा का आश्रय होने से बुद्धि प्रतिबिम्बित चेतनात्मा ( चिति-शक्ति ) प्रमाता कहा जाता है। बुद्धि-वृत्ति उपहित शुद्ध चेतन साक्षी कहा जाता है। प्रमाण अर्थात् बुद्धि-वृत्ति के द्वारा पुरुष को जिस विषय का ज्ञान होता है, वह प्रमेय कहलाता है।

# अध्याय ८

# प्रमाण विचार

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति पांचों वृत्तियों में सर्वप्रथम प्रमाणवृत्ति का वर्णन करना ही उचित होगा। यथार्थ ज्ञान ( प्रमा ) को प्रदान करने वाले को प्रमाण कहते हैं। "प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्" अर्थात् जिसके द्वारा प्रमा ज्ञान प्राप्त हो, उसे प्रमाण कहते हैं। योग के अनुसार, प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं जैसा कि नीचे लिखे सूत्र से व्यक्त होता है।

'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' ( समाधिपाद ७ )

सांख्य-योग ने केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण माने हैं। जहां बुद्धि वृत्ति को इन्द्रियां उत्पन्न करती हैं, वहा प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, जहां बुद्धि वृत्ति लिंग द्वारा उत्पन्न होती है, वहाँ अनुमान प्रमाण होता है; तथा जहां बुद्धि वृत्ति को उत्पन्न करनेवाला पदज्ञान होता है, वहां शब्द प्रमाण माना जाता है। इन तीनों प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान ही प्रमा ज्ञान है। प्रमाण केवल तीन ही हैं। अन्य दार्शनिकों के द्वारा माने गये इनसे अधिक प्रमाणों का योग ने तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव कर दिया है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का ही निरूपण शास्त्र में किया गया है। यह प्रमाण मुख्य प्रमाण है जिसे सब दार्शनिकों ने मान्यता दी है। अनुमान प्रमाण का ज्ञान पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर ही होता है। जिस प्रकार से अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर आधारित है ठीक ऐसे ही शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के ऊपर आधारित है। अनुमान प्रमाण को भी चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सब दर्शनों ने माना है किन्तु शब्द प्रमाण को इतना महत्त्व प्राप्त नहीं है। इसी कारण सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का निरूपण, तब अनुमान का, तथा उसके बाद शब्द प्रमाण का निरूपण किया गया है।

### प्रत्यक्ष प्रमाण

"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।" ( समाधिपाद के ७वें सूत्र पर व्यास भाष्य )

अर्थ—चित्त का इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से सम्बन्ध होने पर सामान्य और विशेष रूप विषय पदार्थ के विशेष अंश को प्रधान रूप से अवधारण करने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

सांख्यकारिका की पंचम कारिका में "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" से प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का श्री ईश्वरकृष्ण ने निरूपण किया है।* इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष के आधार पर उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्तिस्वरूप अध्यवसाय को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इस वृत्तिरूप अध्यवसायात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण का फल ( प्रत्यक्ष प्रमा ) अनुव्यवसाय रूप माना है, जिसे पौरुषेय बोध कहते हैं। वृत्तिरूप अध्यवसाय, व्यवसायात्मक ज्ञान है। अनुव्यवसाय ( अनु+व्यवसाय ) का अर्थ बाद में होनेवाला ज्ञान है। व्यवसायात्मक ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का कारण होता है। सांख्ययोग में अनुव्यवसाय रूप प्रत्यक्ष प्रमा पौरुषेय बोध का कारण, वृत्तिरूप व्यवसाय ज्ञान को बताया है। जिस पक्ष में वृत्तिरूप व्यवसाय ज्ञान प्रमाण है, उस पक्ष में पौरुषेय बोध प्रमा है और जिस पक्ष में वृत्तिरूप व्यवसाय प्रमा है, उस पक्ष में इन्द्रियां और इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण हैं। चक्षु इन्द्रिय के आधार पर हुआ वृत्तिरूप ज्ञान चाक्षुष वृत्तिरूप ज्ञान कहलायेगा और यदि त्वचा आदि इन्द्रियों के आधार पर होगा तो स्पर्शनवृत्ति ज्ञान कहलायेगा इसके अनन्तर होनेवाला अनुव्यवसायरूप पौरुषेय बोध चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होगा तो वह भी चाक्षुष पौरुषेय बोध कहलायेगा। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों से होनेवाले बोध को भी जानना चाहिये।

इन्द्रियां तथा विषयों को अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए भी इनका सन्निकर्ष ही कैसे हुआ? कुछ इन्द्रियां प्राप्यकारी तथा कुछ अप्राप्यकारी होती हैं। प्राप्यकारी इन्द्रियां उन्हें कहा जाता है जो विषय देश में जाकर विषय को ग्रहण करती हैं। अप्राप्यकारी इन्द्रियां अपने प्रदेश में आये हुये विषय को ही ग्रहण करती हैं। चक्षु इन्द्रिय को तो प्रायः सभी दार्शनिकों ने प्राप्यकारी माना है। प्रश्न उठता है कि अगर कोई भी कहीं गमन करता है तो पूर्वस्थान विशेष से सम्बन्ध बिच्छेद हो जाता है। इस प्रकार से चक्षु के गमन में तो अन्धत्व हो जाना चाहिये, सो क्यों नहीं होता है? चक्षु को प्रायः सभी दार्शनिकों ने तेजस् माना है। जैसे विद्युत् रश्मियां अथवा प्रकाश, विषय देश में जाने पर भी अपने स्थान से पूर्ण रूप से सम्बन्धित रहता

---

* विशद विवेचन के लिये हमारा सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ देखें।

है इसी प्रकार नालिका रूप में चक्षु के, विषय देश में जाने पर भी, स्वस्थान से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है। जिससे कि अन्धत्व आदि धर्मों का प्रसंग न हो पाये। उसी चक्षु इन्द्रिय नाली के द्वारा चित्त विषय से प्रेम होने के कारण उस विषय देश मे अविलम्ब पहुँच कर विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार से चित्त का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष प्रमा ज्ञान का उत्पन्न होना कहा जाता है। उस चित्त में पुरुष के प्रतिबिम्बित होने से चित्त भी स्वयं प्रकाशित होकर अन्य सबको प्रकाशित करने लगता है। इस समय प्रतिबिम्बित पुरुष को होनेवाला बोध अर्थात् पौरुषेय बोध ही प्रमा ज्ञान कहा जाता है।

इन्द्रिय विषय के साथ सम्बन्ध, संयोग सन्निकर्ष, संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष, संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष, तादात्म्य सन्निकर्ष, और तादात्म्य तादात्म्य-सन्निकर्ष होते हैं।

## संयोग सन्निकर्ष

सांख्य योग के अनुसार इन्द्रियों का जब विषय के साथ सन्निकर्ष होता है तो उस समय यदि रूपवाले पदार्थ घट पट आदि सामने होते हैं तो उनके साथ संयोग सन्निकर्ष होता है क्योंकि दो द्रव्यों का आपस में संयोग सम्बन्ध सन्निकर्ष ही होता है, जिसे कि सभी दार्शनिकों ने माना है।

## संयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष

घट, पट आदि विषयों में रहनेवाले रूपादि विषय के साथ संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध होता है। चक्षुसंयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष के द्वारा रूप का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त संयोगवाला घट होता है, जिसका अपने रूप के साथ तादात्म्य है। तादात्म्य कारण-कार्य की अभेदता की वजह से होता है। घट कारण और रूप कार्य होने से घट का रूप के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हुआ। सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष भी संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष से होता है। मन से संयुक्त बुद्धि हुई और बुद्धि का तादात्म्य सुख-दुःख आदि के साथ है। इसी प्रकार रस और गन्ध का प्रत्यक्ष भी संयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष से होता है।

## संयुक्ततादात्म्यतादात्म्यसन्निकर्ष

इसी प्रकार घटगत रूप के अन्दर रहनेवाले रूपत्व के प्रत्यक्ष होने में चक्षु संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त हुए घट के साथ रूप का तादात्म्य हुआ, और उस रूप का तादात्म्य रूपत्व के साथ है,

क्योंकि रूपत्व रूप का कार्य होने के नाते रूप से अभिन्न है। सांख्य ने रूपत्व को जाति स्वीकार करते हुए भी उसे अनित्य ही माना है, क्योंकि सांख्य योग में प्रकृति तथा पुरुष ये दो तत्व ही नित्य हैं। इनसे अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य हैं। इसलिये चक्षुसंयुक्त तादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष के द्वारा ही सांख्य-योग मत में रूपत्व का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार सुखत्व दुःखत्व आदि का प्रत्यक्ष संयुक्त तादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष से होता है। मन से संयुक्त हुई बुद्धि का तादात्म्य सुख-दुःख आदि के साथ है और सुख-दुःख का तादात्म्य सुखत्व-दुःखत्व के साथ है। रसत्व-गन्धत्व आदि का प्रत्यक्ष भी संयुक्ततादात्म्य तादात्म्य सन्निकर्ष से होता है।

## तादात्म्यसन्निकर्ष

कर्णेन्द्रिय से जिस समय शब्द का प्रत्यक्ष होता है, उस समय कान का विशुद्ध तादात्म्य सन्निकर्ष ही शब्द के साथ होता है क्योंकि कर्ण (आकाश) शब्द का कारण है और शब्द कान (आकाश) का कार्य है, इसलिये दोनों का तादात्म्य सन्निकर्ष हो जाता है।

## तादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष

शब्दत्व का प्रत्यक्ष कर्णेन्द्रिय से तादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष के द्वारा होता है। कान शब्द का उपादान कारण होने के नाते शब्द से अभिन्न है, अतः शब्द के साथ कर्ण का तादात्म्य है और शब्द शब्दत्व का कारण होने से शब्द का तादात्म्य शब्दत्व के साथ है, अतः तादात्म्य तादात्म्य सन्निकर्ष के द्वारा शब्द वृत्ति शब्दत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है।

उपर्युक्त सम्बन्धों के होने मात्र से तो ज्ञान नहीं हो सकता है। उसके लिये ज्ञान की प्रक्रिया को जानना अति आवश्यक है। ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम तो इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष होता है। उसके बाद चित्त, विषय से प्रेम होने से, विषयाकार हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से चित्त सम्बन्धित होकर विषयाकार हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि बुद्धि तत्त्व वा चित्त तो जड़ पदार्थ है, क्योंकि जड़ प्रकृति का ही परिणाम है, तो फिर वह विषयाकार हो जाने पर भी ज्ञान कैसे प्रदान कर सकता है। इस ज्ञान की प्रक्रिया को प्रतिबिम्बवाद से समझाया गया है, जो मतान्तर को लेते हुए दो प्रकार की होती है। एक तो वाचस्पति मिश्र के अनुसार तथा दूसरी विज्ञानभिक्षु के अनुसार।

**वाचस्पति मिश्र के अनुसार**:—जैसे स्वच्छ दर्पण में प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ने से सभी वस्तुयें प्रकाशमान हो जाती हैं, उसी प्रकार से जड़ात्मक चित्त में सत्व गुण का आधिक्य होने पर चेतन पुरुष का सात्विक चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है। चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने से ही चित्त तथा उसकी वृत्तियां चेतन की तरह प्रतीत होने लगती हैं। जैसे ईश्वरकृष्ण ने कहा है:—

"तस्मात्तत्संयोगात् अचेतनं चेतनेव लिंगम्" (सा. का. २०)

अर्थ :—तस्मात् = इसलिये; तत्संयोगात् = चेतन पुरुष के संयोग से; अचेतनम् = अचेतन जड़; लिंगम् = बुद्धि आदि; चेतन – इव = चेतन की तरह हो जाते हैं।

चेतन की तरह हुआ चित्त अपनी वृत्तियों द्वारा विषयों का प्रकाश करता है। उन विषयों का प्रकाश होना ही उन विषयों का ज्ञान कहलाता है। जैसे स्वच्छ दर्पण में पड़े हुये प्रकाश के प्रतिबिम्ब से सभी वस्तुयें प्रकाशित हो जाती हैं, वैसेही चेतन प्रतिबिम्बत चित्त भी ज्ञान प्रदान करती हैं। यहां विज्ञानभिक्षु का कथन है कि चित्त में चेतन के प्रतिबिम्बित होने से चित्त चेतनसम प्रतीत होने लगता है। उसी प्रकार से पुरुष में चित्त के प्रतिबिम्बित होने से चित्त के सुख, दुख आदि धर्मो का आभास पुरुष में होने लगता है, जिससे पुरुष अपने को सुखी दुःखी आदि समझने लगता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार इस परस्पर प्रतिबिम्बवाद के बिना पुरुष का सुखी और दुःखी होना नहीं समझाया जा सकता है। इस मत को वाचस्पतिमिश्र नहीं मानते। वे कहते हैं कि पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है तथा बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है, यह बात मान्य नहीं है। उनके (वाचस्पति मिश्र के) अनुसार जैसे बिम्बस्वरूप मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ने से दर्पण के मालिन्य आदि दोष प्रतिबिम्ब में भासने लगते हैं और बिम्ब उस दर्पण के दोषों का अभिमानी बन बैठता है, क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्ब का कारण है और प्रतिबिम्ब बिम्ब का कार्य है और सांख्य योग मत में कार्य और कारण का सर्वदा अभेद है। इसको ईश्वरकृष्ण ने सांख्य कारिका की नवम कारिका में "कारणभावाच्च सत्कार्यम्" से दिखलाया है। यही नहीं वेदान्ती भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब सर्वथा अभिन्न वस्तु है। इस कारण से चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब जब बुद्धि

में पड़ता है तो बुद्धि के सुख दुःख आदि धर्म प्रतिबिम्ब में भासने लगते हैं तथा उस प्रतिबिम्ब से अभिन्न बिम्ब स्वरूप पुरुष को बुद्धि के धर्म सुख दुःख आदि का 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इस रूप में अनुभव होने लगता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार दोनों का प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे में पड़ता है। जैसे बुद्धि को प्रकाशित करने के लिये पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष को होने वाले दुःख सुख आदि के अनुभव सम्पादन के लिए बुद्धि का भी प्रतिबिम्ब पुरुष में मानना सर्वथा आवश्यक है। इन दोनों सिद्धान्तों में हमें लाघव की दृष्टि से वाचस्पति मिश्र का ही सिद्धान्त उचित मालूम होता है। क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद सर्वत्र ही माना जाता है। यह तो कोई नवीन बात नहीं है, परन्तु विज्ञानभिक्षु जो बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में मानते हैं, यह एक नवीन कल्पना है, जो कि गौरवदोष से युक्त है। दूसरे चेतन का ही प्रतिबिम्ब सर्वत्र देखने में आता है जैसे दर्पण में। इससे यह स्पष्ट है कि विज्ञानभिक्षु का मत उतना उत्तम नहीं है।

ज्ञानेन्द्रिय तथा विषय दोनों ही एक ही कारण से उत्पन्न होने के नाते परस्पर आकर्षण शक्ति रखते हैं अर्थात् ग्रहणरूप इन्द्रियाँ ( नाक, जीभ, चक्षु, त्वचा, कर्ण ) तथा ग्राह्यरूप विषयों ( गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ) में क्रम से एक दूसरे को आकर्षित करने की शक्ति होती है। जब चक्षु इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष होता है तो चित्त का उस विषय से प्रेम होने से वह चक्षु इन्द्रिय नाली के द्वारा विषय तक पहुँच कर विषयाकार हो जाता है। चित्त के इस विषयाकार होने वाले परिणाम को प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते हैं। "मैं विषय को जाननेवाला हूँ', इस प्रकार का पुरुषनिष्ठ ज्ञान वा पौरुषेयबोध प्रत्यक्ष प्रमाण है। चित्त में प्रतिबिम्बित चेतनात्मा को प्रमाता कहते हैं।

पूर्वोक्त सन्निकर्षों के आधार पर होनेवाले प्रत्यक्ष दो प्रकार के माने गये हैं। (१) निर्विकल्पक और (२) सविकल्पक। सविकल्प प्रत्यक्ष का विशुद्ध विवेचन ऊपर किया जा चुका है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष संवेदनामात्र है। इसे न तो हम प्रमा ज्ञान ही कह सकते हैं और न मिथ्या ज्ञान ही। यह केवल एक मात्र ज्ञान ही है। जिस प्रकार गूँगा व्यक्ति अपने ज्ञान को प्रगट नहीं कर सकता, उसी प्रकार से निर्विकल्पक ज्ञान भी शब्दों के माध्यम से प्रकट नहीं किया जा सकता है। इसमें केवल विषय की प्रतीतिमात्र ही होती है। कल्पनाशून्य ज्ञान ही निर्विकल्पक ज्ञान है। सविकल्पक प्रत्यक्ष वह है, जिसमें कि इन्द्रियों के

द्वारा लगाये गये विषयों का मन विश्लेषण करता है। उसका रूप निर्धारित करता है। उसके विशेषण, उसकी विशेष क्रिया को बतलाता है और वह उद्देश्य, विधेययुक्त वाक्य द्वारा प्रकट किया जाता है, जैसे यह जटाशंकर पुस्तक लिये खड़ा है।

इन्द्रियां, तन्मात्रायें तथा अहंकार, सूक्ष्म पदार्थ होने से प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं। बाह्य इन्द्रियों से तो इनका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, अपितु अन्तःकरण के अन्दर वर्त्तमान बुद्धि की वृत्ति से ही उनका ग्रहण होता है, अथवा उनका उनके अपने अपने कार्यरूप हेतु के द्वारा अनुमान होता है, इसलिए अनुमान गम्य भी उन्हें कहा जा सकता है, अथवा यह कहिए कि उनका प्रत्यक्ष तो एक मात्र योगज अलौकिक सन्निकर्ष के आधार पर योगी लोगों को ही हो पाता है। हमारे लिये वे केवल अनुमेय हैं।

सांख्य-योग ने ज्ञानलक्षण और योगज दो प्रकार के ही अलौकिक सन्निकर्ष माने हैं। सामान्य लक्षण सन्निकर्ष को नहीं माना है। इसलिये भिन्नकालीन तथा देशान्तरीण पदार्थों का ग्रहण सांख्य मत में इन्हीं दो अलौकिक सन्निकर्षों के आधार पर होता है, जिनमें ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के आधार पर तो हम लोगों को भिन्न कालीन एवं देशान्तर स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, तथा योगज सन्निकर्ष से योगी एवं ऊर्ध्वस्रोता लोगों को ही अतीत, अनागतकालीन तथा भिन्न कालीन और देशान्तरीण पदार्थों तथा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान होता है, इतर लोगों को नहीं[1]।

## अनुमान प्रमाण

अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ पीछे होनेवाला ज्ञान अर्थात् एक बात जानने के उपरान्त दूसरी बात का ज्ञान ही अनुमान हुआ। जिसके बल पर आप अनुमान करते हैं, उसे "हेतु" वा "लिंग" वा "साधन" कहते हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे 'साध्य' वा 'लिंगी', कहते हैं। जिस स्थान में लिंग द्वारा लिंगी का ज्ञान होता है, वह 'पक्ष' कहा जाता है। लिंग लिंगी के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। लिंग व्याप्य होता है लिंगी व्यापक होता है। अनुमान व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पर आधारित है। अर्थात् लिंग लिंगी वा साधन साध्य

---

१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का पूर्ण निरूपण हमारे सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ में देखने का कष्ट करें।

के सम्बन्ध से प्राप्त प्रमा ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहते हैं। व्याप्ति सम्बन्ध के ऊपर अनुमान आधारित है। लिंग लिंगी के साथ-साथ रहने को ही व्याप्ति सम्बन्ध कहते हैं। बिना व्याप्ति सम्बन्ध के अनुमान नहीं किया जा सकता। व्याप्ति दो वस्तुओं के नियत साहचर्य को कहते हैं। दो वस्तुओं का एक साथ नियत रूप से रहना ही व्याप्ति है, किन्तु अगर साहचर्य होते हुए भी नियत रूप से न हो तो वह व्याप्ति नहीं कही जा सकती। नियत रूप से सम्बन्ध न होने को ही व्यभिचार कहते हैं। व्याप्ति को अव्यभिचारित सम्बन्ध कहते हैं। मछली का जल के साथ सम्बन्ध, व्यभिचारी सम्बन्ध हुआ, क्योंकि वह कभी कभी बिना जल के भी रह सकती है किन्तु धूम अग्नि से अलग कभी नहीं रहता। इसलिये धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध हुआ। अर्थात् ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ धूँआं बिना आग के हो। जहां जहां धूआं है, वहाँ वहां अग्नि है। जैसे रसोई में जहाँ जहां अग्नि नहीं है, वहां वहां धूआं भी नहीं है जैसे तालाब में। धूम अग्नि के बिना नहीं रह सकता, इसे ही अबिनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, इसे ही व्याप्ति कहते हैं। धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है। अतः लिंग लिंगी के साथ-साथ रहने का पूर्व ज्ञान होना चाहिये तथा यह उपाधिरहित सम्बन्ध होना चाहिये। जैसे जहां जहां धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी है। यहां पर धूम और अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध वा अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु यह कहना कि जहाँ-जहाँ आग है वहां-वहाँ धूआं है, उपाधि रहित साहचर्य सम्बन्ध नहीं हुआ क्योंकि आग बिना धुएँ के भी रह सकती है। जब तक गीला ईंधन नहीं होगा तब तक अग्नि के साथ धूम का सम्बम्ध नहीं होगा। अतः गीले ईंधन का संयोग उपाधि है। अतः जब तक उपाधिरहित साहचर्य सम्बन्ध नहीं होगा तब तक अनुमान प्रमाण नहीं कहा जा सकता तथा उसके आधार पर प्रमा ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है।

धूम अग्नि के व्याप्य व्यापक सम्बन्ध के आधार पर, जो हमें पूर्व काल में रसोई आदि में हो चुका है, हम पर्वत आदि पक्ष में धूम हेतु के द्वारा लिंगी ( साध्य ) अग्नि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यही लिंग-लिंगी के व्याप्ति-ज्ञान और लिंग की पक्ष-धर्मता पर आधारित अनुमान प्रमाण कहलाता है। पक्ष-धर्मता का अर्थ है लिंग वा हेतु का पक्ष में पाया जाना जैसे पर्वत पर धूम है। यहां पर्वत पक्ष में धूम लिंग मौजूद है, उसी के आधार पर पर्वत पक्ष में साध्य वा लिंगी अग्नि का अनुमान किया जाता है। इसीलिए पक्ष धर्मता का ज्ञान भी व्याप्ति ज्ञान के साथ २ होना चाहिये।

अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। जब तक पूर्व में प्रत्यक्ष न हुआ हो, तब तक अनुमान हो ही नहीं सकता। जैसे धूम और अग्नि को रसोई में पूर्व में देखा गया है और उस प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम जहाँ (अग्नि-युक्त) धूम देखते हैं, वहीं अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार से अगर प्रत्यक्ष दोष युक्त होगा तो उस पर आधारित अनुमान भी ग़लत होगा। प्रत्यक्ष के दोष या तो इन्द्रिय के होते हैं या विषय के या मन के, क्योंकि इन्द्रिय और विषय सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रम-रहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है अन्यथा नहीं। यहाँ विषय-दोष, इन्द्रिय-दोष तथा मनो-दोष के कारण भ्रान्ति हो सकती है।

सांख्य योग में अनुमान तीन प्रकार के माने गये हैं। (१) पूर्ववत्, (२) शेषवत्, (३) सामान्यतोदृष्ट।

(१) **पूर्ववत् अनुमान**—यह लिंग-लिंगी के साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित, पक्ष में लिंग के द्वारा लिंगी का ज्ञान प्रदान करता है। जैसे धूम और अग्नि के साहचर्य सम्बन्ध, वा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, वा व्याप्ति-सम्बन्ध के जिसको हम पूर्व में रसोई आदि में प्रत्यक्ष कर चुके हैं, आधार पर, जब हमें उस अग्निवाले धूम का कहीं पर्वतादि पर प्रत्यक्ष होता है तो हम उसी पक्ष में अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। (साध्य सदैव हेतु का व्यापक होता है और हेतु सदैव साध्य का व्याप्य)।

पूर्ववत् अनुमान को दूसरे प्रकार से भी समझाया जा सकता है। पूर्ववत् का अर्थ है पूर्व के समान कार्य से कारण पूर्व होता है। इसलिये कुछ विद्वानों के अनुसार कारण से कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है, जैसे आकाश में मेघों को देखकर वृष्टि का अनुमान कर लेना।

(२) **शेषवत्**—इस अनुमान के द्वारा जहां जिस वस्तु की सम्भावना हो सकती है, उन सब स्थलों पर निषेध हो जाने पर छाँटते-छाँटते बचे हुये स्थल पर ही उसका होना सिद्ध हो जाता है। जैसे हमें एक स्थान पर, जहां कुछ व्यक्तियों की गोष्ठी हो रही है, वहां जाकर एक अपरिचित व्यक्ति को जानना है तो उस व्यक्ति के लक्षणों के आधार पर हम सब व्यक्तियों को छांटते-छांटते अन्त में एक व्यक्तिविशेष, जो बचता है, उसी पर आ जाते हैं और अनुमान करते हैं कि यही वह व्यक्ति है।

शेषवत् अनुमान उसको भी कह सकते हैं जिसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाय। जैसे नदी में अत्यधिक मटीले जल को देखकर ऊपर हुई वर्षा का

अनुमान। प्रातःकाल उठने पर आंगन के भीगे हुए होने पर रात्रि की वर्षा का अनुमान।

(३) सामान्यतो दृष्टः—जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण तथा पूर्ववत् अनुमान के द्वारा नहीं होता, उन अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा होता है। यह अनुमान वहां होता है, जहां पर इसका विषय ऐसा सामान्य पदार्थ होता है, जिसका विशिष्टरूप पहले न देखा गया हो। इसमें लिंग-लिंगी के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन पदार्थों के साथ हेतु की समानता होती है, जिनका साध्य ( लिंगी ) के साथ निश्चित तथा नियत सम्बन्ध है। जैसे इन्द्रियों का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष या पूर्ववत् अनुमान के आधार पर नहीं हो सकता है। नेत्र विषयों का प्रत्यक्ष भले ही करें किन्तु नेत्र स्वयं नेत्र को नहीं देख सकता। उदाहरणार्थ लेखन एक क्रिया है जो लेखनी द्वारा सम्पन्न होती है। क्रिया के लिए करण का होना अति आवश्यक है। विना करण के क्रिया हो ही नहीं सकती। यह एक सामान्यरूप से प्रत्यक्ष की हुई बात है। इस सामान्यरूप से प्रत्यक्ष की हुई बात के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि देखना एक क्रिया है, जिसका करण अवश्य होगा, वह करण चक्षु इन्द्रिय है। इसी प्रकार से अन्य समान स्थलों पर भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से तीन प्रकार की अनुमान प्रमाण चित्त-वृत्ति का वर्णन हुआ।

## शब्द प्रमाण

जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता उनके यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिये हमें शब्द प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है।

"आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परम स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः"।

( यो० भा०—१।७ )

उपर्युक्त योग के सातवें सूत्र के भाष्य में शब्द-प्रमाण रूप चित्तवृत्ति का लक्षण बताया है। प्रत्यक्ष वा अनुमान से जाने गये विषय को जब आप्तपुरुष ( विश्वास योग्य पुरुष ) अन्य व्यक्ति को भी उसका ज्ञान प्रदान करने के लिये शब्द के द्वारा उस विषय का उपदेश देता है, तो उस समय श्रोता की उस उपदेश

से अर्थात् शब्द से अर्थ का विषय करने वाली चित्त की वृत्ति आगम प्रमाण कही जाती है। इसे ही नैयायिक व्यवसायरूप शाब्दी-प्रमा कहते हैं। चित्त का विषयाकार हो जाना ही प्रमाण है, चाहे वह प्रत्यक्ष से हो वा अनुमान से अथवा शब्द से। ये चित्तवृत्तियाँ ही प्रमाण हैं, और इससे होनेवाला पौरुषेय बोध प्रमा है। शब्द से चित्त का, शब्द-अर्थ विषयाकार होना ही आगम प्रमाण है। किन्तु अविश्वस्त व्यक्ति के शब्दों को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका कथन प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा निश्चित नहीं है। केवल वे ही वाक्य योग द्वारा प्रामाणिक माने गये हैं जो ईश्वर वाक्य हैं अर्थात् उनका मूल वक्ता ईश्वर है और जिसके अर्थ का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों से हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य सब वाक्य अप्रामाणिक हैं। योग सम्पूर्ण मानव दोषों से रहित ईश्वर के वाक्य अप्रमाणिक हैं। योग, सम्पूर्ण मानवी दोषों से रहित ईश्वर के शब्द वेदों को ही शब्द प्रमाण मानता है। वेद से अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों के वचन अनाप्त होने से शब्द प्रमाण कोटि से बाहर हैं अर्थात् वे ईश्वर वचन न होने से अप्रमाणिक हैं, किन्तु उपनिषद, गीता, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र वेदमूलक होने से प्रमाण कोटि में ही आ जाते हैं।

योग ने, वेद तथा उनपर आश्रित शास्त्रों, ऋषि मुनियों के वचनों को ही आगम प्रमाण माना है। तत्ववेत्ता पुरुषों को ही आप्त पुरुष कहा जाता है, जिनके वचन सम्पूर्ण दोषों से रहित होते हैं। उन्हीं को लौकिक दृष्टि से प्रमाण माना गया है। उनसे धोखा होने की सम्भावना नहीं है। बौद्ध, जैन, चार्वाक, आदि दार्शनिकों के वचन वेदमूलक न होने से, परस्पर बिरोधी होने से, और प्रमाणविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं माने जा सकते हैं।

अन्य दार्शनिकों तथा शास्त्रवेत्ताओं ने इन तीन प्रमाणों से अतिरिक्त अन्य उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों को भी यथार्थ ज्ञान के स्वतंत्र साधन माना है।

## उपमान

नैयायिकों ने सांख्य द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण उपमान को भी स्वीकार किया है। सांख्ययोग के अनुसार इसका अन्तर्भाव, सांख्याभिमत तीनों प्रमाणों के अन्तर्गत ही होता है। नैयायिकों का आशय यह है कि जो नागरिक पुरुष गवय ( नील गाय ) को बिल्कुल नहीं जानता, लेकिन जानना चाहता है और जानने की इच्छा से जंगल में जाकर किसी

जंगल में रहनेवाले पुरुष से उसके विषय में पूछता है, जिसका "गोसदृशो: गवयो भवति" अर्थात् "गौ के समान गवय होता है" उत्तर प्राप्त होता है। इसके बाद वह बन में पहुँचने पर गवय को देखने पर समानता के कारण मन में सोचता है कि यह गवय है। तो इस प्रकार से यहां पूर्व कथित वाक्य के स्मरण के आधार पर उपमिति रूप ज्ञान होता है। इसी को उपमान प्रमाण के नाम से नैयायिक लोग कहते हैं। पहले तो गवय को देखने से जो चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान होता है, वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान हुआ। दूसरे सांख्य योग के अनुसार उपमान, अनुमान के ही अन्तर्भूत है, क्योंकि गवय स्थल में भी यह अनुमान किया जा सकता है, कि 'अयं गवय:' पदो: वाच्य: गौसादृश्यत्वात्-यह गवय पद से वाच्य है, गौसदृश होने से 'जो गौ सदृश होता है, वही गवय पद से कहा जाता है।" यहां पर गवय में जो गौ सादृश ज्ञान है, वह अनुमान रूप है, अनुमान नाम व्याप्ति ज्ञान का होता है। वहां पर यह व्याप्ति बन जाती है, कि जो गौ के सदृश नहीं होता है, वह गवय पद से नहीं कहा जाता है जैसे घटादि। अत: इस केवलव्यतिरेकी अनुमान में ही उपमान अन्तर्भूत है। इसके अतिरिक्त भी ज्ञान हमको अरण्यक से 'गो सदृशः गवयो भवति' प्राप्त होता है, वह तो शब्द प्रमाण ही हुआ। इसलिये उपमान का स्वतंत्र प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता।

## अर्थापत्ति

मीमांसकों ( प्रभाकर संप्रदाय ) और वेदान्ती दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष अनुमान शब्द और उपमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी एक स्वतंत्र प्रमाण माना है, अर्थापत्ति शब्द का अर्थ है अर्थ की आपत्ति ( कल्पना )। उदाहरणार्थ फूलचन्द दिन में नहीं खाता है, फिर भी मोटा ताजा है। यहां पर रात्रि भोजनरूप अर्थ की आपत्ति ( कल्पना ) करते हैं—फूलचन्द निश्चय ही रात्रि में भोजन करता है। कारण कि भोजन के बिना पीनना ( मोटा ताजा होना ) सर्वथा असम्भव है। सांख्य योग का कहना है कि यह अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि यह अनुमान के ही अन्तर्गत आ जाता है अर्थात् यह अनुमान ही है। फूल चन्द अवश्य रात्रि में भोजन करता है क्योंकि दिन में न खाते हुए भी मोटा ताजा है, रात्रि में भोजन करनेवाले सच्चिदानंद शुक्ल की भांति। इस अन्वय व्यतिरेकी अनुमान से। अथवा यों कह सकते हैं कि जो व्यक्ति रात्रि में नहीं खाता वह दिन में भी न खाने पर कैसे मोटा ताजा रह सकता है?. क्योंकि रात और दिन

में न खाने वाला कृष्ण जन्माष्ठमी का व्रतोपवासी पुरुष तो दुर्बल हो जाता है। यह फूलचन्द उस प्रकार के कृष्ण जन्माष्ठमी व्रतोपवासी पुरुष की तरह दुर्बल नहीं है। इसलिये यह दोनों समय भोजन न करनेवाला भी नहीं है; अर्थात् रात्रि को अवश्य भोजन करता है। इस केवल व्यतिरेकी अनुमान से रात्रि भोजनरूप अर्थ, जो कि अर्थापत्ति रूप प्रमाण का विषय माना गया था, गतार्थ हो रहा है। इसलिये अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

## अनुपलब्धि

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान अर्थापत्ति प्रमाणों के अतिरिक्त वेदान्तियों और भाट्ट मीमांसकों ने अनुपलब्धि को भी स्वतंत्र प्रमाण माना है। अनुपलब्धि का अर्थ है—प्रत्यक्ष न होना। वेदान्तियों का कथन है कि किसी भी वस्तु के अभाव के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानना आवश्यक है। सांख्य तथा योग दार्शनिकों का कथन है कि यह अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न नहीं है। अर्थात् एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि यदि इस स्थल पर घट होता तो वह भी भूतल के समान स्वतंत्र रूप से देखने में आता, परन्तु भूतल के समान 'घट' यहां देखने में नहीं आ रहा है। इस प्रकार के तर्क से सहकृत अनुपलब्धि युक्त इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही अभाव का ग्रहण होता है। अतः अभाव का ज्ञान जब कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो रहा है तो इसके लिये अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहां पर प्रश्न होता है कि इन्द्रियां तो सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक होती हैं, और अभाव सर्वथा असम्बद्ध अर्थ है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रियों का यदि कोई भी सम्बन्ध हो सके तब अभाव इन्द्रिय से सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु अभाव का इन्द्रिय के साथ जब कि कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, तब इन्द्रियां अभाव की ग्राहक भी नहीं हो सकती जैसे आलोक—प्रकाश किसी भी घट-पट आदि वस्तु का ज्ञान उस घट-पट आदि वस्तु के साथ सम्बन्वित होने पर ही करा पाता है अन्यथा नहीं। जैसे त्वचारूप इन्द्रिय अपने प्रत्यक्ष योग्य विषय को प्राप्त करके ही उसका ज्ञानात्मक प्रकाश कर पाती है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियरूप प्रमाण भी अभाव रूप अर्थ से सम्बन्धित होने पर ही अभाव-रूप विषयात्मक अर्थ का ग्राहक अर्थात् प्रकाशकारी हो सकता है अन्यथा नहीं।

इसका उत्तर यह है कि भाव पदार्थ के लिए ही यह सम्बद्धार्थ ग्राहकत्व का नियम है अर्थात् इन्द्रिय भाव स्वरूप पदार्थ से सम्बद्ध होकर ही उसका प्रकाश

ज्ञान कर सकती है परन्तु अभाव के लिए यह नियम नहीं है कि अभाव से भी सम्बद्ध होकर ही वह उसका प्रकाश करे। अभाव के विषय में तो ऐसा नियम है कि इंद्रिय, विशेषण विशेष्य-भाव सन्निकर्ष सम्बन्ध के द्वारा ही अभाव का ज्ञान करती है।

## सम्भव

**सम्भव**—पौराणिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। सम्भव को नवीन ज्ञान का साधन इस रूप से माना जाता है कि वह किसी पदार्थ का ज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत होने के नाते ज्ञान प्राप्त कराता है। जैसे अगर आप चाकू को जानते हैं तो चाकू के फलके को भी चाकू का हिस्सा होने के नाते जान लेंगे। गज का ज्ञान होने पर गिरह का ज्ञान स्वाभाविक रूप से हो जाता है। सांख्य और योग सम्भव को भी अनुमान से अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। उपर्युक्त उदाहरण में इस प्रकार की व्याप्ति हो जाती है कि जो चाकू को जानता है वह चाकू के 'फलके' को अवश्य ही जानता है, और जो गज के नाप को जानता है वह गिरह को अवश्य ही जानता है। इस प्रकार से इसमें व्याप्ति सम्बन्ध होने के कारण 'सम्भव' अनुमान के ही अन्तर्गत आ जाता है। अर्थात् 'सम्भव' अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

## ऐतिह्य

ऐतिह्य – ऐतिह्य प्रमाण में, ज्ञान किसी अज्ञात व्यक्ति के वचनों के ऊपर परम्परागत चला आता है। सर्वप्रथम हमारे जितने भी ऐसे विश्वास हैं जो परम्परा के ऊपर आधारित हैं, उन्हें पौराणिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में माना है, किन्तु सांख्य योग का कहना है कि प्रथम तो इस ज्ञान को प्रामाणिक मानना ही उचित नहीं, क्योंकि यह परम्परागत ज्ञान जहां से चला आ रहा है, उस व्यक्तिविशेष के आप्तपुरुष होने का ही ज्ञान हमें नहीं है। आप्तपुरुष के अतिरिक्त जितने भी शब्द हैं वे 'प्रमा-ज्ञान' का साधन नहीं माने जा सकते अर्थात् वे प्रमाण की कोटि ही में नहीं आते। अगर वे आप्तपुरुष के ही वचन मान भी लिये जायें, तो भी 'ऐतिह्य' स्वतन्त्र प्रमाण नहीं रह जाता, वह शब्द प्रमाण के ही अन्तर्गत आ जाता है।

## चेष्टा

**चेष्टा**—तान्त्रिकों ने उपर्युक्त आठों प्रमाणों के अतिरिक्त चेष्टा को भी एक स्वतंत्र प्रमाण माना है। चेष्टा नाम एक क्रियाविशेष का है। वह क्रिया चेष्टा करनेवाले व्यक्ति की तथा जिसके प्रति चेष्टा की जाती है, उन दोनों व्यक्तियों की हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार का कारण मानी गई है। वह क्रिया एक विलक्षण व्यंग्य अर्थ के बोध को उत्पन्न करनेवाली है। नेत्रों के भंगाभंग तथा हाथों के संकोच-विकास-शाली व्यापार स्वरूप वह चेष्टा फलात्मक प्रमा-बोध की जननी मानी गयी है। इसीलिए विलक्षण प्रमा बोध की जनिका होने के कारण इसे स्वतंत्र प्रमाण माना है।

परन्तु यह भी मत ठीक नहीं है, कारण कि किसी कामिनी के नेत्रों के निमेषोन्मेषन-सम्बन्धी व्यापार स्वरूप चेष्टा को देखनेवाला दर्शक पुरुष यह अनुमान करता है कि यह कामिनी उस पुरुष को बुलाना चाहती है क्योंकि बुलानेवाली चेष्टावाली होने से अर्थात् "इयं कामिनी पुरुषमाह्वयन्ती एतद् आह्वानानुकूल-चेष्टावत्वात्", अतः चेष्टा अनुमान स्वरूप ही है। अनुमान से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है।

## परिशेष

**परिशेष**—कुछ विचारकों ने उपर्युक्त नौ प्रमाणों ( प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा ) के अतिरिक्त 'परिशेष' को भी स्वतंत्र-प्रमाण माना है। गणित-शास्त्र में इस प्रमाण को प्रयोग में लाया जाता है। गणित-शास्त्रवेत्ता इस परिशेष प्रमाण के आधार पर बहुत से प्रश्नों को हल करते हैं। इसमें ज्ञान प्राप्त करने का यह तरीका है कि जब अनेक पदार्थ सम्मुख हों तो उनमें से छँटाई करते-करते वास्तविक पदार्थ जिसे जानना है, उस पर पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार से गणित में बहुत से प्रश्नों के उत्तर भी इस छँटाई की विधि से प्राप्त होते हैं। इसलिए ही कुछ लोगों ने परिशेष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से अतिरिक्त स्वतंत्र प्रमाण माना है। सांख्य और योग इस प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। वे इसे अनुमान का ही एक रूप मानते हैं। वे इसे परिशेषानुमान कहते हैं। इस प्रकार से सांख्य और योग ने प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द केवल तीन ही प्रमाणों को माना है, और इनके अतिरिक्त जितने प्रमाण हैं, उन सबका इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव कर दिया है।

# अध्याय ९

# विपर्यय

"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्" ॥ ८ ॥ पा. यो. सू.—१।८

विपर्यय वह मिथ्या ज्ञान है जो उस पदार्थ के रूप में अप्रतिष्ठित है

जिसके द्वारा विषय के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन न हो उस मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। विपर्यय में चित्त विषय के समान आकारवाला न होकर विलक्षण आकारवाला होता है। प्रमा विषय के समान आकारवाली चित्तवृत्ति है, किन्तु विपर्यय विषय से विलक्षण आकारवाली चित्तवृत्ति होती है। इसका सीधा-सादा अर्थ है, जो नहीं है उसका प्रत्यक्ष होना। वस्तुविशेष का वास्तविक रूप में न दीखकर किसी अन्य रूप में दीखना विपर्यय है। जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित रहता है, उसे सत्य ज्ञान अर्थात् प्रमा कहते हैं; और जो ज्ञान उस वस्तु के अयथार्थ रूप में प्रतिष्ठित रहता है, उसे मिथ्या ज्ञान, अर्थात् विपर्यय कहते हैं। विपर्यय में वस्तु कुछ और होती है तथा चित्तवृत्ति कुछ और ही होती है। इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष के द्वारा जब चित्त विषयाकार होता है, तो वह चित्त का विषयाकार परिणाम ही प्रमा वृत्ति कही जाती है। चित्त अगर विषयाकार न होकर अन्य आकार का हो जावे तो वह वस्तु के समान आकार न होने के कारण प्रमावृत्ति नहीं कही जावेगी। उसे ही मिथ्या ज्ञानवृत्ति वा विपर्यय वृत्ति कहा जायेगा। मिथ्याज्ञान में अविद्यमान पदार्थ का प्रकाशन होता है, इसलिये वह प्रमा नहीं कहा जा सकता। विपर्यय का यथार्थ ज्ञान से बाध हो जाता है। वह जैसा कालविशेष में प्रतीत हो रहा है, वैसा ही अन्य काल में नहीं होवेगा। यथार्थ ज्ञान से बाधित होने की वजह से वह समाप्त हो जावेगा। इसलिये इसे हम प्रमा नहीं कह सकते क्योंकि प्रमा को तो हर काल में एकसा ही प्रतीत होना चाहिये, अर्थात् जैसा वह वर्त्तमानकाल में भासता है, वैसा ही भविष्य में भी भासेगा। जब हमें सीप में सीप का ज्ञान न होकर चांदी का ज्ञान होता है, रज्जु में रज्जु का ज्ञान न होकर सर्प का ज्ञान होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होनेवाला ज्ञान नहीं है, अपने स्वरूप में अप्रतिष्ठित होने के कारण मिथ्या ज्ञान

हुआ अर्थात् सीप में चांदी का दीखना, रज्जु में सर्प का दीखना विपर्यय हुआ। सीप का सीपरूप में ज्ञान तथा रज्जु का रज्जुरूप में ज्ञान यथार्थ होने के कारण प्रमा कोटि में आता है, क्योंकि इसका बाद में बाध नहीं होता। किन्तु सीप का चांदी दीखना, रज्जु का सर्प दीखना कुछ काल बाद यथार्थ ज्ञान से जो पूर्णप्रकाश के कारण प्राप्त होता है बाधित हो जाता है। पूर्ण प्रकाश में निर्दोषनेत्रों तथा स्वस्थ मन से देखने से प्रतीत होगा कि सचमुच जिसे हम अबतक चाँदी समझते रहे, वह चांदी नहीं बल्कि सीप है, और जिसे सर्प समझकर डरते थे वह वास्तव में सर्प नहीं, किन्तु रज्जु है। इस प्रकार से यथार्थ ज्ञान से जो उत्तरकाल में बाधित हो जावे वह स्वरूप अप्रतिष्ठित होने से विपर्ययज्ञान होता है। जब प्रमारूप ज्ञान से वह बाधित हो जाता है तो उसे हम प्रमा नहीं कह सकते हैं। प्रमा वह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि वह विद्यमान विषय को न बताकर जो विषय विद्यमान नहीं है उसे बता रहा है। विद्यमान विषय है सीप, जो सीप को न बताकर अविद्यमान विषय चांदी को बता रहा है, वह विपर्यय के सिवाय और हो ही क्या सकता है। प्रमा तो सीप को सीप बतानेवाला ज्ञान ही होगा। चित्त जब इन्द्रिय दोष से वा अन्य दोषों के कारण वस्तु के वास्तविक आकारवाला न होकर अन्य आकार का हो जावे अर्थात् वृत्ति का वस्तु से भिन्न आकार हो, जैसे रज्जु विषय से चक्षु-इन्द्रिय सन्निकर्ष होनेपर चित्त का रज्जु आकार न होकर प्रकाश के अभाव में सर्पाकार वृत्तिवाला हो जाना, वृत्ति का आकार, वास्तविक वस्तु का आकार न होकर अन्य विषय सर्प का आकार हो जाता है। अतः यह विपर्यय हुआ, क्योंकि जो वास्तविक विषय नहीं है उसका प्रकाशन हमें इसमें हो रहा है। जिस प्रकार कुँए में से निकला हुआ जल नाली के द्वारा खेत की क्यारियों में जाकर उन्हीं क्यारियों के आकार वाला हो जाता है अर्थात् चतुष्कोणाकार क्यारियों में चतुष्कोणाकार, त्रिकोणाकार में त्रिकोणाकार हो जाता है। ठीक ऐसे ही चित्त इन्द्रियों के द्वारा विषय देश में पहुंच कर विषयाकार हो जाता है। इसी विषयाकार चित्तवृत्ति को प्रमाण कहा जाता है। किन्तु अगर जल, दोषों से क्यारी के आकार का न हो तो उसे ग़लत कहते हैं। ऐसे ही अगर किसी दोष वा भेद के कारण चित्त वास्तविक विषय के आकार का न होकर अन्य आकारवाला होता है तो उसे विपर्यय कहते हैं। जैसे अग्नि संयोग से पिघलने पर चांदी, लोहा, तांबा आदि धातु अगर किसी सांचे

विशेष में ढाले जाते हैं तो जब वे उस सांचे के अनुकूल ठीक ठीक नहीं उतरते हैं, तब यह कहा जाता है कि आकार ठीक नहीं है अर्थात् गलत हो गया है, क्योंकि वह जैसा सांचा था उससे भिन्न है। ठीक ऐसे ही बाह्य विषयरूपी सांचे से चित्त इन्द्रियों आदि द्वारा सम्बन्ध होने पर भी विषयाकार न होकर अन्य विषयाकार हो जावे तो उसे ही विपर्यय ज्ञान कहते हैं। ऐसी अवस्थावाली चित्तवृत्ति प्रमा नहीं कही जा सकती। अगर चित्त क्यारियों में गये हुए कूंए के जल के उन क्यारियों के आकार वाला होने के समान ही इन्द्रियों द्वारा विषय देश में जाकर विषयाकार हो जाता है, तो उस विषयाकार चित्तवृत्ति को प्रमा कहते हैं। अगर चित्त सांचे में ठीक सांचे के समान ढले हुए धातु के समान ही इन्द्रियों द्वारा विषय देश में जाकर विषयाकार हो जाता है, तो उस चित्त परिणाम को, जो चित्तवृत्ति कहलाती है, प्रमा कहते हैं। चित्त के विषय विरुद्ध परिणाम को या विषय विरुद्ध चित्तवृत्ति को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। जैसा कि रज्जु में सर्प का ज्ञान, सीपी में चांदी का ज्ञान आदि विपर्यय ज्ञान हुए।

संशय भी विपर्यय ज्ञान के ही अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि वह भी यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाता है। वर्त्तमान काल का संशयात्मक ज्ञान उत्तर कालिक यथार्थ ज्ञान से बाधित हो जाता है, इसलिए उसे (संशयात्मक ज्ञान को) भी विपर्यय ही कहते हैं। वह भी विपर्यय ज्ञान की तरह ही निजस्वरूप में अप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि बाधित हो जाता है, इसलिए विपर्यय ही हुआ।

## विपर्यय के भेद

विपर्यय के निम्नलिखित ५ भेद हैं :—

(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश।

ये पांचों, क्लेश का कारण होने से पंचक्लेश कहे गये हैं। इन्हें सांख्य में तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र नाम से कहा गया है। अविद्या तमरूप है। अस्मिता मोहरूप, राग महामोह, द्वेष तामिस्ररूप तथा अभिनिवेश अन्धतामिस्ररूप हैं। इन पांचों को, अविद्यारूप होने से अविद्या भी कहा जाता है। इस प्रकार से विपर्यय के अन्तर्गत ही भ्रम (Illusion), भ्रान्ति

(Delusion) आदि सब ही आ जाते हैं। सांख्यकारिका की ४८ वीं कारिका में कहा गया :—

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रेऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥सां० का० ४८॥

इस पांच प्रकार के विपर्यय के ६२ भेद हो जाते हैं। तमस ( अविद्या ) (Obscurity) तथा मोह (Delusion) ( अस्मिता ) आठ-आठ प्रकार के होते हैं। महामोह (Extreme Delusion) (राग) दस प्रकार के होते हैं। तामिस्र (Gloom) (द्वेष) तथा अन्धतामिस्र (Utter Darkness) (अभिनिवेश) अठारह-अठारह प्रकार के होते हैं।

(१) तमस ( Obscurity, अविद्या ) अनात्म प्रकृति ( अव्यक्त वा प्रधान); महत्तत्व ; अहंकार और पांच तन्मात्राओं ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ) में आत्मबुद्धि रखना ही तमस है। ये अनात्म विषय जिनमें व्यक्ति आत्मबुद्धि रखता है आठ होने से अविद्या वा तमस भी आठ प्रकार का हुआ।

(२) मोह ( Delusion, अस्मिता ) :—आठों सिद्धियों ( अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ) के प्राप्त होने पर पुरुषार्थ की पराकाष्ठा समझना और जो कुछ प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया अब कुछ बाकी नहीं है, इस प्रकार का सोचना ही मोह ( Delusion ) है। इनसे अमरत्व प्राप्ति समझने तथा इन्हें नित्य समझने की भ्रान्ति इन आठों ऐश्वर्यों के प्राप्त होने के कारण देवताओं को रहती है। देवता इसे ही अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति समझने के कारण भ्रान्ति में रहते हैं। ये ऐश्वर्य आठ प्रकार के होने से यह मोह ( Delusion अस्मिता ) भी आठ प्रकार का ही होता है।

(३) महामोह ( Extreme Delusion राग ) :—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषय दिव्य तथा लौकिक भेद से दस प्रकार के होते हैं। इन दसो विषयों में होनेवाली चित्त की आसक्ति को महामोह ( Extreme elusion ) राग कहते हैं। महामोह भी विषयों के दस प्रकार के होने से दस प्रकार का होता है।

(४) तामिस्र ( Gloom, द्वेष ) :—उपर्युक्त आठों सिद्धियों के द्वारा प्राप्त दसों विषयों के भोग रूप से प्राप्त होने पर, उनके एक दूसरे के परस्पर में विरोधी होने अर्थात् एक दूसरे से नष्ट होने के कारण वा भोग में किसी प्रकार का

प्रतिबन्धक होने से द्वेष उत्पन्न होता है। तामिस्र रागोत्पादक दस विषयों से तथा उनके उपाय आठ सिद्धियों से होने के कारण स्वयं भी १८ प्रकार का होता है।

(५) अन्ध तामिस्र ( Utter Darkness, अभिनिवेश ) :—आठों प्रकार की सिद्धियों से दसों प्रकार के भोग प्राप्त होने पर उनके नष्ट होने से डरते रहना अन्धतामिस्र कहलाता है। देवता इन ८ प्रकार की सिद्धियों के द्वारा प्राप्त विषयों को भोगते हुये असुरों आदि से नष्ट किये जाने के डर से भयभीत रहते हैं। साधारण प्राणी भी विषयों को भोगते हुये मरने से डरता है क्योंकि मरने पर उसके विषयों का भोग छिन जावेगा। यही भय अन्धतामिस्र ( अभिनिवेश ) है। आठ सिद्धियों तथा उनके द्वारा प्राप्त दस विषयों के कारण अन्धतामिस्र भी १८ प्रकार का होता है।

## विपर्यय सम्बन्धी सिद्धान्त ( Theories of Illusion )

विपर्यय एक ऐसा तथ्य है जिसे हर किसी को मानना पड़ता है। इसके न मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु इसके विषय में दार्शनिकों में बहुत मतभेद है। भ्रम में क्या होता है, यह एक विवाद का विषय है। भ्रम में विषय के वास्तविक धर्मों के स्थान पर हम भिन्न धर्मों को कहाँ से, कैसे, और क्यों देखते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर में (१) असत्ख्यातिवाद, (२) आत्मख्यातिवाद, (३) सत्ख्यातिवाद (४) अन्यथाख्यातिवाद वा विपरीत ख्यातिवाद (५) अख्यातिवाद, तथा (६) अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के सिद्धान्त जानने योग्य हैं।

### असत्ख्यातिवाद

असत् ख्यातिवाद—यह बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदायवालों का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार असत् ही भासता है अर्थात् भ्रम में विषयगत सामग्री पूर्णतया असत् होती है। जैसे रज्जु में साँप नहीं होता, किन्तु भ्रम में हम रज्जु के स्थान पर साँप देखते हैं, साँप असत् है, किन्तु हमें उसकी सत्ता का अनुभव होता है। यहाँ तक तो यह सिद्धान्त ठीक ही है, किन्तु वे यह नहीं बतलाते कि हम अविद्यमान वस्तु को विद्यमान कैसे देखते हैं। जो नहीं है, उसका अनुभव हमें क्यों होता है, वे कहते हैं कि हमारे ज्ञान का यही सामान्य लक्षण है कि अविद्यमान को विद्यमान देखना।

## आत्मख्यातिवाद

बौद्ध योगाचार सम्प्रदायवाले इसके लिए आत्मख्यातिवाद के सिद्धान्त को बताते हैं। इसके अनुसार भ्रम में उपस्थित सामग्री वस्तु-जगत् में विद्यमान नहीं होती। वह तो केवल मन की कल्पना है। मन से बाहर के जगत् में सर्प की सत्ता नहीं है। यह तो हमारे मन की कल्पनामात्र है। भ्रान्ति में हमारे मन के प्रत्यय ही बाह्य वस्तुजगत् में प्रतीत होते हैं, अर्थात् विपर्यय मानसिक अवस्था के कारण होते हैं। क्योंकि भ्रम में बाहर दीखनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सब विज्ञानमात्र ही हैं। यहाँ तक तो विज्ञानवादियों का सिद्धान्त संतोषजनक है और उसमें भी कुछ सत्य है, किन्तु विज्ञानवादी यह नहीं बतलाते, कि हमको हमारे मन के विज्ञान बाह्य क्यों प्रतीत होते हैं? और वे विज्ञानमात्र क्यों नहीं समझे जाते। भ्रम में अनुभूत विषय के अयथार्थ धर्म, क्यों यथार्थ माने जाते हैं? विज्ञानवादियों के अनुसार तो हमारे यथार्थ प्रत्यक्ष भी मानसिक ही हैं। उनकी सत्ता भी मन से बाहर नहीं है। इस रूप से तो विषय के यथार्थ और अयथार्थ धर्मों के भेद की समस्या ही हल नहीं होती; क्योंकि जब दोनों ही मानसिक हैं, तो हम यथार्थता को किस प्रकार से जानेंगे? उनके अनुसार तो रज्जु में होनेवाले सर्प के भ्रम में सर्प के समान ही रज्जु भी काल्पनिक है। ऐसी स्थिति में हम एक को सत्य दूसरे को असत्य कैसे कहें? किसी के द्वारा सफलतापूर्वक कार्य हो जाने से ही उसकी यथार्थता नापना सन्तोषप्रद नहीं है। क्योंकि स्वप्न और विभ्रम भी अपने-अपने क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन करते हैं।

## सत्ख्यातिवाद

इन दोनों उपर्युक्त सिद्धान्तों के विरुद्ध श्री रामानुजाचार्य जी का सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार भ्रम में कुछ भी काल्पनिक नहीं है। जो कुछ भी अनुभव किया जाता है, चाहे वह यथार्थ प्रत्यक्ष में हो, वा भ्रम में, उसकी वास्तविक सत्ता है। वह मन की कोरी कल्पना न होते हुए हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रदान किया हुआ विषय है। ज्ञान किसी चीज को उत्पन्न नहीं करता, उसका कार्य तो केवल प्रकाशन करने का है। अगर हम चाँदी देखते हैं, जब कि अन्य व्यक्ति उसे सीप ही देखते हैं, तो इसका कारण उसमें चाँदी के तत्वों का विद्यमान होना है, भले ही उसमें वे तत्त्व बहुत कम अंश में हों, जिसमें कि सीप के तत्त्व अत्यधिक अंशों में हैं। हमारी अनुभव करने की प्रक्रिया,

अथवा अवस्था, अथवा हमारे कर्मों के कारण हमें सीप के तत्वों का दर्शन न होकर, केवल चाँदी के तत्वों का ही दर्शन हो जाता है। समानता आंशिक तादात्म्य है और इस तादात्म्य के कारण ही भ्रम होता है। रस्सी में अगर साँप के गुण न होते तो रस्सी में सर्प का भ्रम कभी नहीं हो सकता था। हमें मेज को देखकर तो कभी साँप का भ्रम नहीं होता, न लोहे को देखकर हमें चाँदी का भ्रम होता है। अतः जब तक वस्तुविशेष में किसी अन्य वस्तु के धर्म विद्यमान नहीं होंगे, तब तक उस वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम नहीं हो सकता है। श्री रामानुजाचार्य जी के मत से तो स्वप्न के विषय भी असत्य नहीं हैं। उनके अनुसार तो वे सब स्वप्नद्रष्टा को सुख और दुःख प्रदान करने के लिए अस्थायीरूप से उत्पन्न किए गए हैं।

इनके इस सिद्धान्त में भी कुछ सत्य है, किन्तु अधिक सत्य नहीं। यह निश्चित है कि हर भ्रान्ति का कोई न कोई वास्तविक आधार होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब समानताओं में आंशिक तादात्म्य होता है। किन्तु कोई भी साधारण से साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी भ्रम के विषय की, अनुभव के स्थलविशेष पर, वस्तु-जगत् में सत्ता नहीं मानेगा। भ्रम में जिस वस्तु का जिस काल और जिस स्थान पर प्रत्यक्ष हो रहा है, उस काल तथा उस स्थान में, उस वस्तु का विद्यमान होना, निश्चित रूप से सर्वसाधारण के लिये अमान्य है। रज्जु में सर्पत्व और सीप में रजतत्व इतने कम अंश में होते हैं, कि उसके लिए यह मानना कि सर्प और रज्जु जो कि भ्रम में प्रतीत होते हैं, वास्तविक जगत् में उस काल और उस स्थल पर विद्यमान रहते हैं, अनुपयुक्त है। अतः यह सिद्धान्त आंशिक सत्य होते हुए भी पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं करता है।

## अन्यथाख्यातिवाद

वस्तुवादी नैयायिकों का सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद अथवा विपरीतख्यातिवाद कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम में हम विषय में उन गुणों का प्रत्यक्ष करते हैं, जो कालविशेष और स्थलविशेष पर विद्यमान नहीं हैं, किन्तु वे अन्यत्र विद्यमान हैं। वस्तुवादी न्यायसिद्धान्त यह कहने के लिये बाध्य करता है कि हमारे सब अनुभव के विषयों की वस्तु-जगत् में वास्तविक सत्ता होनी चाहिये, किन्तु वे रामानुज की भाँति, उसी स्थल और उसी काल में उनकी सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार भ्रम में

अनुभव किये हुए गुण वर्त्तमान काल और स्थान में विद्यमान न होते हुए भी वास्तविक होते हैं, जो कि किसी अन्य काल और अन्य स्थल पर आवश्यक रूप से विद्यमान होते हैं। यहाँ तक तो इनका मत मान्य है किन्तु भ्रम के इस सिद्धान्त में यह कठिनाई उपस्थिय होती है कि अन्य स्थान और अन्य काल में उपस्थित धर्मों को हम भिन्न स्थल और भिन्न काल में इन्द्रियों के द्वारा किस प्रकार से देखते हैं ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर न्यायमत के द्वारा हमें प्राप्त नहीं होता है। नैयायिकों का कहना है कि ऐसे समय पर इन्द्रियों की क्रिया, सामान्य क्रिया से परे की क्रिया होती है। वे अलौकिक रूप से क्रियाशील होती हैं, जिसके कारण उनका सन्निकर्ष अन्य स्थल और काल में विद्यमान धर्मों के साथ होता है। भले ही काल और स्थल का अन्तर देखे गये विषय तथा देखने के लिये प्रयत्न किये गये विषय में कितना ही अधिक क्यों न हो। नैयायिकों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता। इससे कहीं अधिक सरल तथा काफ़ी हद तक मान्य सिद्धान्त यह हो सकता है कि भ्रम में जो हम देखते हैं, वह हमें पूर्व में अनुभव किये हुये विषयों के मत में स्थित संस्कारों के कारण मन द्वारा प्रदान किया जाता है। अर्थात् भ्रम पूर्व अनुभव की स्मृति पर आधारित है, जिसे मन वास्तविक रूप दे देता है।

## अख्यातिवाद

इन सब सिद्धान्तों से अख्यातिवाद का सिद्धान्त जो कि सांख्य तथा मीमांसा सम्प्रदायों के द्वारा मान्य है, अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक भ्रम दो प्रकार के ज्ञानों में भेद न कर सकने के कारण होता है। दो भिन्न-भिन्न ज्ञानों को अलग-अलग न समझ सकने के कारण भ्रम उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी तो आंशिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष के द्वारा उत्तेजित की गई स्मृति प्रतिमा में तथा कभी-कभी दो इन्द्रिय अनुभवों में, गड़बड़ होने के कारण भ्रम होता है। जैसे उदाहरण के रूप से रज्जु में सर्प का भ्रम जब होता है तो इसमें दो प्रकार के ज्ञान सम्मिलित हो जाते हैं—एक तो प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमें कि किसी टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु का अनुभव किया जाता है अर्थात् "अयं सर्पः" ( यह सर्प है )। यह ज्ञान 'अयम्' ( यह ) इस अंश में प्रत्यक्षात्मक अनुभव रूप है, और "सर्पः" इस सर्प अंश में स्मृतिरूप है। और "सर्प", यह स्मृतिरूप ज्ञान पूर्व के सर्प प्रत्यक्ष पर आधारित है। इस प्रकार से "कुछ है" यह ज्ञान तो हमें प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है, तथा सर्प

ज्ञान स्मृति के द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ पर प्रत्यक्ष और स्मृति ज्ञान, इन दोनों ज्ञानों का सम्मिश्रण है, और इन दोनों ज्ञानों को अलग-अलग ज्ञान न समझने के कारण अर्थात् भेदज्ञान के अभाव के कारण भ्रम होता है और हम दोनों ज्ञानों को एक साथ मिलाकर एक ही ज्ञान समझ बैठते हैं। अर्थात् "यह सर्प है" यह मिथ्या ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रियाँ अपने स्वयं के दोष से वा परिस्थिति के दोष से विषय की सत्ता मात्र तथा रज्जु और सर्प के समान गुणों से ही सन्निकर्ष प्राप्त कर पाती हैं। उसके फलस्वरूप हमें यह सर्प है इस प्रकार का भ्रम हो जाता है, क्योंकि मनुष्य स्वभावतः अनिश्चित तथा सन्दिग्ध अवस्था से सन्तुष्ट नहीं रहता और वह उस ज्ञान को निश्चय रूप प्रदान कर देता है और "यह सर्प है" इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। वर्त्तमान के प्रत्यक्ष के साथ पूर्व की स्मृति मिला कर, स्मृति दोष से यह भूल जाते हैं कि सर्प प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, बल्कि स्मृति का विषय है। इसी कारण रज्जु के साथ हमारे सब व्यवहार सर्प के समान ही होते हैं। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान, स्मृति ज्ञान से मिश्रित होकर, स्मरण शक्ति के दोष से, भेदज्ञान न होने के कारण, भ्रम होता है। स्फटिक मणि और जवाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक मणि में लालिमा का प्रत्यक्ष होने लगता है और हम दोनों के अलग अलग ज्ञान को भूलकर, दोनों में ऐक्य भ्रान्ति कर बैठते हैं। इस ऐक्य भ्रान्ति से जवाकुसुम की लालिमा स्फटिक में भासने लगती है। यहाँ दो अलग-अलग प्रत्यक्ष ज्ञानों में गड़बड़ होने से ऐसा होता है। सांख्य और योग इस मत का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार अविवेक के कारण ही सारा भ्रम है। बुद्धि और पुरुष दोनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी सन्निधान होने से, दोनों में एक्य भ्रान्ति हो जाती है। पुरुष में बुद्धि की वृत्तियां भासने लगती हैं, उस समय पुरुष अपने को शान्त, घोर और मूढ़ वृत्तियों वाला समझ कर सुखी, दुःखी और अज्ञानी के जैसा व्यवहार करने लगता है। यह वृत्तियां चित्त की हैं, जिनका आरोप पुरुष में हो जाता है। अपरिणामी पुरुष अपने को परिणामी समझने लगता है। इसी को भ्रान्ति कहा जाता है। इस प्रकार सांख्य, योग और मीमांसक इस अख्यातिवाद के सिद्धान्त को मानने वाले हैं, जो कि आधुनिक मनोविज्ञान के भ्रान्ति के सिद्धान्त से अन्य उपर्युक्त कहे गये सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक साम्य रखता है।

## अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

शंकर का अद्वैत वेदान्ती सम्प्रदाय इस अख्यातिवाद के मत को नहीं मानता। इसके विरुद्ध उसने मुख्य दो आक्षेप किये हैं—(१) एक समय में दो ज्ञानों की प्रक्रिया मन में नहीं हो सकती। एक समय में एक ही अविभाजित ज्ञान हो सकता है—(२) भ्रम के धर्म मन में प्रतिमाओं के रूप में नहीं हैं, किन्तु वे वस्तुजगत् में अनुभव किये जाते हैं। अगर वह केवल मन की प्रतिमामात्र होते जैसा कि अख्यातिवाद में माना जाता है, तो उनका मन के बाहर प्रत्यक्ष न होता, जैसा कि भ्रान्ति में होता है। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार भ्रम के विषय सर्प की देश में अनुभव की हुई वास्तविक सत्ता है। भ्रम का प्रत्यक्ष होता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रम हो सकता है अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं। जहाँ तक अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं कि ज्ञान का कार्य विषयों को उत्पन्न करना नहीं है, बल्कि उन्हें प्रकाशित करना मात्र है, वहाँ तक वे वस्तुवादी हैं। इन्द्रियज्ञान का मतलब ही वस्तु जगत् की सत्ता है। जब तक जिस सर्प को हम भ्रम में देख रहे हैं, तब तक हमारा अनुभव उसी प्रकार से होता है। हम उसी प्रकार से उससे डरते हैं। जैसी हालत सांप के सम्मुख हमारी होती है, ठीक वैसी ही हालत इस सांप के भ्रम में भी होती है। दोनों में कोई भेद नहीं होता। जहाँ तक कि हमारे ज्ञान के द्वारा वस्तु के धर्मों का प्रकाशन होता है, वहां तक हम वास्तविक सर्प तथा भ्रमात्मक सर्प के स्वरूप में तनिक भी अन्तर नहीं पाते हैं। यह वास्तविकता अख्यातिवाद के सिद्धान्त के द्वारा नहीं बताई जा सकती। वेदान्तियों के अनुसार भ्रान्ति में अनुभव किया हुआ सर्प केवल मानसिक प्रतिमा-मात्र नहीं है, वह एक दिक्काल में स्थित बाह्य विषय है। इस ज्ञान को हम स्मृति ज्ञान नहीं कह सकते। भ्रम प्रत्यक्ष और स्मृतिज्ञान का मिश्रण तथा दोनों को भिन्न-भिन्न समझने का अभाव मात्र नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि यह सर्प है, तो यहाँ पर दो ज्ञान न हो करके एक ही ज्ञान है, क्योंकि अगर वह एक ज्ञान न होता तो, हम कभी भी यह साँप है, ऐसा नहीं कह सकते थे। अतएव यहां पर प्रत्यक्ष वस्तु को सर्प से अभिन्न मानकर यह सांप है, ऐसा कहा जाता है। यहाँ भेद ज्ञान का अभाव मात्र ही नहीं है, बल्कि दोनों के तादात्म्य की कल्पना भी साथ-साथ है। अगर ऐसा न होता तो हम डरकर भागते ही क्यों ?

अतः भ्रम प्रत्यक्ष का विषय है। हम प्रत्यक्ष भ्रम को अस्वीकार नहीं कर सकते, यह एक विशिष्ट प्रकार का विषय होता है, जिसे न तो सत् ही कहा जा

सकता है, न असत् ही। सत् इसे इसलिये नहीं कह सकते कि बाद में होनेवाले अन्य प्रबल अनुभव से इसका बाध हो जाता है। असत् इसलिये नहीं कह सकते कि कालविशेष तथा देश-विशेष में इसका प्रत्यक्ष हो रहा है अर्थात् कुछ समय के लिये वह सत् ही है। वह आकाश-कुसुम, बन्ध्या-पुत्रादि के समान असत् नहीं है, जो कि एक क्षण के लिये भी प्रकट नहीं होते। आकाश-कुसुम तथा बन्ध्या-पुत्र का त्रिकाल में भी क्षणमात्र के लिये दर्शन नहीं हो सकता है। अतः इनकी तरह से असत् नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है, कि न तो हम इसको सत् ही कह सकते हैं और न असत् ही। इसलिये भ्रम अनिर्वचनीय है। अद्वैतवेदान्त के इस सिद्धान्त को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं। यह न्याय के वस्तुवाद को मानता है, किन्तु उनकी इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होता, कि हमारी इन्द्रियों का किसी अन्यत्र विद्यमान बाह्य वस्तु से सन्निकर्ष होता है। वेदान्तियों का तो यह कहना है, कि भ्रम का विषय एक अस्थाई दृष्य है, जो कि उसी समय, उसी स्थल पर, परिस्थितिविशेष के कारण, उत्पन्न होता है; जैसे कि स्वप्न में क्षणिक विषयों का उत्पन्न होना व्यक्ति की वासनापूर्ति के लिये होता है। नैयायिकों ने इस विषय का खण्डन किया है। उनके अनुसार विश्व में कोई भी विषय अनिर्वचनीय नहीं है, सब विषयों का वर्णन किया जा सकता है। उनके अनुसार भ्रम में कोई भी सर्प के समान अस्थाई वस्तु वास्तविक जगत् में उत्पन्न नहीं होती है। सत्य तो यह है कि हम कुछ की जगह कुछ और ही अनुभव करते हैं। यही अन्यथाख्यातिवाद का मत है, किन्तु इस अन्यथाख्यातिवाद के द्वारा हम यह नहीं समझ सकते कि और कैसे एक वस्तु के स्थान पर हम दूसरी वस्तु का अनुभव करते हैं?

## आधुनिक सिद्धान्त

भ्रम को समस्या तभी सुलझाई जा सकती है, जब हम इन्द्रियों के द्वारा प्रदान किये गये ज्ञान के अतिरिक्त संवेदनाओं की पूर्व अनुभवों के मानसिक संस्कारों और प्रतिमाओं के रूप में की गई मन की व्याख्या को भी ग्रहण करें। प्रत्यक्ष में संवेदना और कल्पना दोनों ही कार्य करती हैं। भ्रम तभी होता है, जब हम संवेदनाओं की ग़लत व्याख्याएँ करते हैं। यही आधुनिक मनोविज्ञान का मत है। यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम गलत व्याख्या क्यों करते हैं? इसके लिये आधुनिक मनोविज्ञान में निम्नलिखित कई सिद्धान्त बताये गये हैं।

(१) नेत्र गति सिद्धान्त (The eye movement theory)

(२) दृश्य भूमि सिद्धान्त (The perspective theory)

(३) परन्तानुभूति-सिद्धान्त (The empathy theory of Theodor Lipps )

(४) संभ्रान्ति सिद्धान्त ( The confusion theory )

(५) सुन्दर आकृति सिद्धान्त (The pregnance or good figure theory)

इन सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ सत्यता है किन्तु पूर्ण सत्य कोई भी सिद्धान्त नहीं है। सब विपर्ययों को कोई सिद्धान्त नहीं समझा पाता। यहाँ सूक्ष्म रूप से इन सभी सिद्धान्तों को समझाना उचित प्रतीत होता है।

### १. नेत्र-गति-सिद्धान्त (The eye movement theory)

इस सिद्धान्त में नेत्र-गति के आधार पर विपर्यय की व्याख्या की जाती है। इसके अनुसार खड़ी रेखा पड़ी रेखा से बड़ी इसलिये मालूम पड़ती है, कि पड़ी रेखा को अपेक्षा खड़ो रेखा को देखने में नेत्रगति में अधिक जोर पड़ता है। म्यूलर-लायर विपर्यय में बाण रेखा पंख रेखा की अपेक्षा बड़ी दीखती है बाण की अपेक्षा पंख रेखा को देखते समय नेत्रों को अधिक चलाना पड़ता है।

### २. दृश्य-भूमि सिद्धान्त (Perspective theory)

हर वस्तु त्रिविस्तार की बोधक है। हमें विपर्यय इसलिये होता है, कि दृश्यभूमि के प्रसंग में ही हम हर आकृति का निर्णय करते हैं।

### ३. परन्तानुभूति-सिद्धान्त (The empathy theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग तथा भाव की वजह से ठीक निर्णय न होने से विपर्यय होता है।

### ४. संभ्रान्ति-सिद्धान्त (Confusion theory)

सिद्धान्त के अनुसार आकृति को देखते समय पूरी आकृति का निरीक्षण करने की वजह से आवश्यक हिस्सों का विश्लेषण न कर सकने के कारण विपर्यय होता है।

(५) सुन्दर आकृति सिद्धान्त (The pregnance or good figure theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आकृति को अलग-अलग हिस्सों के रूप में न देखकर एक इकाई के रूप में देखने तथा उसमें सुन्दरता देखने की प्रवृत्ति होने से अविद्यमान गुणों को देखने के कारण विपर्यय होता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि चित्त की पांच वृत्तियाँ हैं जो क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट रूप से दो-दो प्रकार की होती हैं, किन्तु यहाँ सन्देह उत्पन्न होता है कि विपर्यय-वृत्तियाँ तो सभी अज्ञानमूलक होने के कारण क्लिष्ट रूप ही हैं क्योंकि वे तो विवेक ख्याति की तरफ ले नहीं जाती हैं, बल्कि उल्टे विवेक ज्ञान के विपरीत ले जाती हैं। फिर भला उन्हें अक्लिष्ट वृत्तियाँ कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि कुछ विपर्यय ऐसे भी हो सकते हैं, जो विवेक ज्ञान की तरफ़ ले चलनेवाले हों। जैसे लोगों का, सम्पूर्ण जगत् अविद्या, माया, स्वप्न, शून्य आदि हैं, कहना अयथार्थ और विपर्यय रूप है, क्योंकि सम्पूर्ण जड़ जगत् को मिथ्या, माया, आदि कहने से तो सब कुछ विपर्यय रूप हो जायेगा। त्रिगुणात्मक प्रकृति की सम्पूर्ण वास्तविक सृष्टि ही माया वा शून्य हुई। जिसके अन्दर सभी आ जाता है। इस रूप से सब व्यवहार ही समाप्त हो जायेंगे, चाहे वे पारमार्थिक हों वा सांसारिक। ऐसा भाव विपर्यय वृत्ति है, किन्तु यह विपर्ययवृत्ति भी अन्तर्मुख होने के कारण आत्मतत्व से आत्माध्यास हटाने में सहायक होती है। जो भी वृत्ति हमें विवेक ख्याति की तरफ ले चलती है, वही अक्लिष्टवृत्ति हुई। इस तरह से विपर्यय वृत्ति भी अक्लिष्ट हुई।

# अध्याय १०

## "विकल्प"

"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" ॥ पा. यो. सू.—१।६ ॥

अविद्यमान अर्थात् असत्तात्मक विषय के केवल शब्द ही के आधार पर कल्पना करनेवाली चित्त की वृत्ति को विकल्प कहते हैं। यह वृत्ति न तो प्रमाण ही कही जा सकती है और न विपर्यय ही कही जा सकती है। प्रमाण ज्ञान तो यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, जैसे रज्जु में रज्जु ज्ञान। भ्रम वा विपर्यय ज्ञान पदार्थ के मिथ्या ज्ञान को कहते हैं, जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान। यथार्थ ज्ञान में वस्तु अपने यथार्थ अर्थात् वास्तविक रूप में स्थित रहती है। रज्जु में रज्जु ही का दीखना यथार्थ ज्ञान है। किन्तु अगर वही रज्जु सर्प रूप में दृष्ट हो तो उसके अपने रज्जु रूप में दृष्ट न होने के कारण यह ज्ञान विपर्यय हुआ। यथार्थ ज्ञान से इस अयथार्थ ज्ञान का बाध हो जाता है। विकल्प, ज्ञान का विषय न होने से अर्थात् निर्विषयक होने से, प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। शब्द सुनते ही यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। विपर्यय के समान इसका बाध न होने से यह विपर्यय भी नहीं कहा जा सकता है। विकल्प केवल शब्द ज्ञान पर ही आधारित विषयरहित चित्तवृत्ति है। उदाहरणार्थ बन्ध्या-पुत्र, खरगोश के सींग, आकाशकुसुम आदि विकल्प हैं। केवल शब्दों के द्वारा चित्त का आकार प्राप्त करना ही विकल्प है। इन शब्दों के अनुरूप कोई पदार्थ नहीं होता। इसमें विषयरहित प्रत्यय ही होते हैं। विकल्प में कहीं तो भेद में अभेद का ज्ञान तथा कहीं अभेद में भेद का ज्ञान होता है। विकल्प के द्वारा अभेद वस्तु में भेद आरोपित हो जाता है, जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और सिर, काठ और पुतली। ये अलग-अलग वस्तुएं न होते हुये भी इनमें भेद का आरोप है। यहाँ अभिन्न वस्तुओं में भिन्नता का ज्ञान होने के कारण ये विकल्प हुये। जब हम पुरुष को चैतन्य कहते हैं, तो भला कहीं पुरुष और चैतन्य भिन्न हैं? वे तो एक ही हैं। इसी प्रकार से राहु केवल सिर ही है तथा काष्ठ पुतली ही है, किन्तु ऐसा होते हुए भी चित्त भिन्न रूप से विषयाकार हो रहा है "चैतन्य पुरुष का स्वरूप है" ऐसा कहने पर चित्त भी इसी आकार वाला हो जाता है और ऐसी ही चित्तवृत्ति पैदा कर देता

है। राहु के सिर की चित्तवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें स्पष्ट भेद प्राप्त होता है। इनमें विशेषण-विशेष्य भाव प्रतीत होता है, जो कि विचार करने पर नहीं रह जाता, क्योंकि वे एक ही हैं। अर्थात् पुरुष ही चैतन्य है, राहु ही सिर है तथा काठ ही पुतली है। जिस प्रकार से मोहन की पगड़ी में मोहन और पगड़ी दोनों में पारस्परिक वास्तविक भेद होने के कारण इनमें विशेषण विशेष्य भाव भी वास्तविक है, किन्तु वैसा वास्तविक भेद यहाँ न होने के कारण विशेषण-विशेष्य भाव भी वास्तविक नहीं होता है। उसकी तो केवल प्रतीति मात्र ही होती है, जो कि विचार करने पर नहीं रह जाती। अतः यह प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता है। यह ज्ञान तो वस्तु-शून्य भेद को प्रगट करने वाला है, इसलिये विकल्प ज्ञान हुआ। भाष्यकार व्यास जी के द्वारा दिये गये एक अन्य उदाहरण द्वारा निम्नलिखित रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है :—

"प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः ॥" पुरुष सब पदार्थों में रहने वाले सब धर्मों से रहित निष्क्रिय है। यहाँ पुरुष में धर्मों का अभाव अर्थात् अभाव रूप धर्म, पुरुष से भिन्न न होते हुए भी प्रतीत होता है, इसलिये विकल्प है। "भूतले घटो नाऽस्ति" कथन भी विकल्प ही है, क्योंकि इस कथन से भूतल और घटाभाव का आधाराधेय सम्बन्ध भासता है किन्तु घटाभाव भूतल से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने अभाव को अलग पदार्थ माना है, किन्तु सांख्य योग में अभाव को स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना है। अलग अभाव की कल्पना करना अभेद में भेद की कल्पना करना ही है। जैसे कि "वन में वृक्ष हैं" यहाँ वन में वृक्षों का अभेद होते हुए भी भेद की कल्पना की जाती है। जैसे वृक्ष ही वन है, वैसे ही भूतल ही घटाभाव है। अभिन्न होते हुए भी आधाराधेय सम्बन्ध का आरोप होने से ये सब विकल्प हैं। इसी प्रकार से पुरुष में धर्मों के अभाव का आरोप किया गया है, किन्तु वह अभाव रूप होने से उनसे भिन्न नहीं है। यहां भी आधाराधेय सम्बन्ध का आरोप किया गया है। अभेद में भेद का आरोप होने से यह भी विकल्प है। एक उदाहरण "अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः" "पुरुष में उत्पत्ति रूप धर्म का अभाव है।" यह उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति वस्तु शून्य होने से विकल्प ही है।

भेद में अभेद का आरोप होना भी विकल्प है। जैसे "लोहे का गोला जलाता है" यहां लोहे का गोला तथा आग दोनों भिन्न हैं, किन्तु अभिन्नता का आरोप किया गया है। जलाने की शक्ति आग में है, लोहे के गोले में नहीं, फिर भी "लोहे का गोला जलाता है", ऐसा कथन किया गया है। इसलिये

यह भी वस्तु शून्य चित्तवृत्ति होने से विकल्प रूप है। "मैं हूँ" यह भी अहंकार तथा आत्मा दो भिन्न पदार्थों में अभेद का आरोप होने से, यह वस्तु शून्य चित्तवृत्ति भी विकल्पात्मक ही है। इसी प्रकार से शश-शृङ्ग, आकाशकुसुम, बन्ध्या-पुत्र आदि सब भेद में अभेद का आरोप प्रदान करने के कारण वस्तु-शून्य चित्तवृत्तियाँ हैं। इसीलिये ये सब भी विकल्पात्मक चित्तवृत्तियाँ हैं।

विकल्प निर्विषयक होने से प्रमा-ज्ञान नहीं है। इसके द्वारा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, इसलिये इसे प्रमा-ज्ञान तो कह ही नहीं सकते, साथ यह विपर्यय भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जानने के बाद भी इसका वैसा ही व्यवहार चलता रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता है। विपर्यय में ऐसा नहीं होता। विपर्यय का बाध होने पर उसका व्यवहार बन्द हो जाता है।

विकल्प भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार का होता है। जो विकल्प विवेक ज्ञान प्राप्त करवाने में सहायक होते हैं, वे तो अक्लिष्ट हैं और जो विवेकज्ञान प्राप्ति में बाधक होते हैं, वे क्लिष्ट हैं। भोगों की तरफ़ ले जाने वाली विकल्प वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं, क्योंकि विवेकज्ञान प्रदान करने वाले योग साधनों से ये वृत्तियाँ विमुख करती हैं। भगवान् की विकल्पात्मक चित्तवृत्ति अक्लिष्ट होती है, क्योंकि वह ईश्वर चिन्तन में लगा कर हमें विवेकख्याति के मार्ग पर चलाती है। जिस भगवान् को देखा नहीं, केवल सुनने के आधार पर उसकी एक मनमानी कल्पना कर ली तथा जो सचमुच में वैसा नहीं है, उसकी वह चित्तवृत्ति वस्तु शून्य होने से विकल्पात्मक चित्तवृत्ति हुई। यह विकल्प निश्चित रूप से ही अक्लिष्ट विकल्प है। इस तरह से विकल्प क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही प्रकार के होते हैं। योग सहायक विकल्प अक्लिष्ट तथा योग विरोधी विकल्प क्लिष्ट कहे जाते हैं। हमारी वे सब वस्तुशून्य कल्पनाएँ जो विवेकज्ञान की तरफ़ ले जाती हैं, अक्लिष्ट विकल्प हैं, तथा हमारी वे सब वस्तुशून्य कल्पनायें जो विवेक-ज्ञान की तरफ़ ले जाने वाले मार्ग से दूर ले जाती हैं क्लिष्ट विकल्प हैं।

## अध्याय ११

# निद्रा

"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा" ॥ १० ॥

( समाधिपाद )

निद्रा वह वृत्ति है जिसमें केवल अभाव की प्रतीतिमात्र रहती है। यहाँ अभाव का अर्थ जाग्रत् और स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव से है। निद्रा को कुछ लोग वृत्ति नहीं मानते, किन्तु योग में आत्मस्थिति को छोड़कर चित्त की अन्य सब स्थितियों को वृत्ति ही कहा गया है।

चित्त त्रिगुणात्मक है जिसके कार्य एक गुण के द्वारा अन्य दो गुणों को दबाकर चलते हैं। जब तमोगुण प्रमुख होता है और सत्व तथा रजस् को अभिभूत करके सब पर तम रूप अज्ञान के आवरण को डाल देता है, तब सत्व और रजस् जो कि जाग्रत्-स्वप्न पदार्थ विषयक वृत्तियों के कारण हैं, जिस तमोगुणरूप अज्ञान से आवरित रहते हैं, उस अज्ञान विषयक वृत्ति को ही निद्रा कहते हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रियादि सभी ज्ञान के साधनों पर अज्ञान का आवरण होने के कारण उस समय चित्त विषयाकार नहीं हो पाता, किन्तु अज्ञानरूपी तमोगुण को विषय करनेवाली तम प्रधान वृत्ति रहती है, जिसे निद्रा कहा जाता है। निद्रावस्था में वृत्ति का अभाव नहीं होता है। जैसे अन्धकार के द्वारा पदार्थों का प्रकाशन नहीं होने के कारण समस्त पदार्थ छिप जाते हैं, किन्तु उन्हें छिपानेवाला अन्धकार नहीं छिप सकता. अर्थात् केवल वह अन्धकार ही दीखता रहता है, जो उन पदार्थों के अभाव की प्रतीति का कारण है, ठीक वैसे ही निद्रा में तमोगुण समस्त वृत्तियों को अप्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित रहता है। रजोगुण के न्यून मात्रा में रहने से अभाव की प्रतीति बनी रहती है। वृत्ति का पूर्णरूप से अभाव तो केवल निरुद्ध और कैवल्य अवस्था में ही होता है।

न्याय में ज्ञान के अभाव को निद्रा कहा गया है, क्योंकि उसमें मन तथा इन्द्रियों का, जो कि हमें ज्ञान प्रदान करने के साधन हैं, व्यापार नहीं होता है। योग में यह एक अलग चित्त की वृत्ति है। योग इसे ज्ञान का अभाव नहीं मानता। अद्वैत वेदान्त में निद्रा अज्ञान को विषय करनेवाली वृत्ति कही गयी है।

योगमें, जैसा कि ऊपर कहा गया है, निद्रा बुद्धि (सत्व) के आवरण करने वाले तमस् को विषय करनेवाली चित्त की वृत्ति है। इसमें तमस्, सत्व और रजस् को दबा देता है।

निद्रा के बाद की स्मृति से यह निश्चित हो जाता है कि निद्रा एक वृत्ति है न कि वृत्ति का अभाव। यह तो ठीक है कि इस अवस्था में चित्त प्रधान रूप से तमोगुण के परिणाम से परिणामी होता रहता है, अर्थात् सब वृत्तियों को दबाकर तमस् स्वयं मौजूद रहकर प्रतीत होता रहता है। इसे अभाव नहीं कहा जा सकता है। सत्व तथा रजस् के लेशमात्र रहने से निद्रावस्था का ज्ञान रहता है।

निद्रा में तमोगुणवाली चित्तवृत्ति रहती है। निद्रा में "मैं सोता हूँ" यह वृत्ति चित्त में होती है। अगर यह वृत्ति न होती तो जागने पर "मैं सोया" इसकी स्मृति कैसे होती? वास्तव में यह तमोगुणी वृत्ति निद्रा में रहती है, जिसके फलस्वरूप इस वृत्ति के संस्कार प्राप्त होते हैं, जिसके द्वारा स्मृति होती है कि "मैं सोया"। यह स्मृति भी मुख्यरूप से तीन प्रकार की कही जा सकती है।

१—जब निद्रा में सत्व का प्रभाव होता है अर्थात् सात्त्विक निद्रा में सुख से सोने की स्मृति होती है। "मैं सुख पूर्वक सोया, क्योंकि प्रसन्न मन हूँ, जिसके द्वारा उत्पन्न यथार्थ वृत्ति स्वच्छ हो रही है" अर्थात् मन के साफ़ तथा स्वच्छ होने के कारण मुझे स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो रहा है, जो कि अन्य स्थिति में न प्राप्त होता।

२—जब निद्रा में रजस् का प्रभाव होता है, अर्थात् राजसी निद्रा में दुःख से सोने की स्मृति होती है। "दुःखपूर्वक सोने के कारण इस समय मेरा मन चंचल और भ्रमित हो रहा है"।

३—जब निद्रा में तमस् का ही प्रभाव होता है, अर्थात् तमोगुण सहित तमोगुण का ही आविर्भाव होता है, तब गाढ़ निद्रा में मूढ़तापूर्वक सोने की स्मृति होती है। "मैं बेसुध मूढ़ होकर सोया, शरीर के सब अंग भारी हैं, मन थका है और व्याकुल हो रहा है।"

यहां यह याद रखना चाहिये कि निद्रा तमोगुण प्रधान चित्तवृत्ति है, किन्तु वह सत्त्व और रजस् के बिना नहीं रहती। जब सत्त्वगुण रजोगुण में, सत्वगुण प्रमुख रूप से प्रधान तमोगुण के साथ रहता है तो सात्विक निद्रा, जब रजोगुण प्रमुख रूप से प्रधान तमोगुण के साथ रहता होता है तो राजसी निद्रा तथा जब

तमोगुण सहित प्रधान तमोगुण होता है तो तामसी निद्रा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों गुण साथ-साथ रहने से उनमें तमोगुण की प्रधानता होकर समस्त ज्ञान को आवरण करने से तमोगुण प्रधान चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसे निद्रा कहते हैं। यह निद्रा भी सत्व, रजस्, तथा तमस् की न्यूनाधिक से अनेकों प्रकार की होती है, किन्तु उन सबको तीन प्रकार को निद्रा (१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक के अन्तर्गत् ही कर सकते हैं। कारण यह है कि तामस की प्रधानता के साथ-साथ जब सतोगुण को प्रमुखता तब सात्विक निद्रा, जब रजोगुण को प्रमुखता तब राजसी निद्रा और जब तमोगुण को ही प्रमुखता होती है तो तामसी निद्रा होती है, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। निद्रा में तमोगुण सत्व और रजस् को बिल्कुल दबा देता है और निद्रा में जब यह तमस् सत्व के द्वारा प्रभावित होता है, तब सात्विक निद्रा होती है। जब रजोगुग के द्वारा प्रभावित होता है तो राजसिक निद्रा होती है किन्तु जब सत्व, रजस् विल्कुल प्रभावहीन से होते हैं, तब तामसिक निद्रा होती है। इसमें भी कमी बेशी होने के कारण निद्रा के भी अनेक भेद हो सकते हैं। अधिक सुखद, कुछ कम सुखद, तथा अति दुःखद, कम दुःखद आदि आदि। नशे, क्लोरोफार्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न मूर्छा भी निद्रावृत्ति हो कही जावेगी।

इन्द्रियजन्य न होने से निद्रा-ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है, इसलिये निद्रा ज्ञान स्मृतिरूप ही है। बिना संस्कारों के स्मृति असम्भव है। संस्कार बिना वृत्ति के हो नहीं सकते। वृत्ति के द्वारा ही संस्कार उत्पन्न होते हैं। इसलिये निद्रा को हम वृत्तिमात्र का अभाव नहीं कह सकते। उसे तो वृत्ति ही मानना पड़ेगा। अतः यह निश्चित हुआ कि निद्रा एक वृत्ति है।

नैयायिकों ने ज्ञानाभाव को ही निद्रा माना है, क्योंकि इस अवस्था में मन तथा बाह्य इन्द्रियां जो ज्ञान के साधन हैं, उनकी क्रिया का अभाव होता है। नैयायिकों का ऐसा कहना केवल भ्रान्तिमात्र है कि स्मृतियों के आधार पर उसका वृत्ति होना सिद्ध है। निद्रा ज्ञान के अभाव को कदापि नहीं कह सकते।

निद्रा के वृत्ति होने में कोई संशय नहीं है। निद्रा वृत्ति एकाग्र वृत्ति के समान प्रतीत होते हुये भी इसे योग नहीं माना गया है। सुषुप्ति में जब वृत्तियों का निरोध होता है, तो इस सुषुप्ति अवस्था को भी योग मानना चाहिये। अगर सुषुप्ति को सब वृत्तियों का निरोध न होने के कारण योग नहीं मानते तो सम्प्रज्ञात समाधि में भी सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता है, फिर उसे योग क्यों माना

जाता है ? क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पांच अवस्थायें होती हैं, जिसमें क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त को योग के अनुपयुक्त माना गया है, क्योंकि इनमें एकाग्रता नहीं आ सकती। ये सब अवस्थायें रजस्, तमस् प्रधान हैं। सुषुप्ति में क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्था का अभाव होता है और केवल मूढ़ावस्था ही रहती है जिससे चित्त वृत्ति निरोध होने का भान होता है, क्योंकि कुछ वृत्तियों का तो निरोध होता ही है। निद्रा से उठने पर फिर वे ही क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्थायें आ जाती हैं। मूढ़ वृत्ति नहीं रहती, किन्तु जब ये तीनों ही अवस्थायें योग विरुद्ध हैं तो निद्रा को हम योग कैसे मान सकते हैं ? निद्रा तामस वृत्ति है, इसलिये सात्विक की विरोधिनी होती है। एकाग्रता में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध भले ही न हो, किन्तु चित्त विशुद्ध सत्व प्रधान होता है। अतः निद्रा तामसी होने के कारण एकाग्र सी होती हुई भी सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों के विरुद्ध है। व्यष्टि चित्तों की अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं और समष्टिचित्त (महत्तत्व) की सुषुप्ति अवस्था को प्रलय कहा है। निद्रा तथा प्रलय दोनों में, तमस् में चित्त लीन होता है जिससे निद्रा और प्रलय से जागने पर फिर वैसी ही पूर्ववत् अवस्था आ जाती है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में ऐसा नहीं होता है। सुषुप्ति तथा प्रलय का निरोध आत्यन्तिक नहीं है। अतः निद्रा तथा प्रलय को योग नहीं कहा जा सकता है।

(योग-दर्शन में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, पाँचों वृत्तियां मानी गई हैं। इन वृत्तियों का निरोध ही योग है।) निद्रा भी वृत्ति है, अतः इसका भी निरोध होना चाहिये। सब वृत्तियां क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों ही प्रकार की होती हैं। निद्रा भी क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती है। विवेक-ज्ञान में सहायक वृत्तियां अक्लिष्ट होती हैं और बाधक वृत्तियां क्लिष्ट होती हैं। जिस निद्रा से उठने पर मन प्रसन्न, स्वस्थ, तथा सात्विक, भावयुक्त होता है, व्यक्ति (साधक) आलस्यरहित तथा योग साधन करने लायक होता है, वह अक्लिष्ट निद्रा है। यह निद्रा विवेक ज्ञान प्राप्त करने के लिये किये गये साधनों में सहायक, उपयोगी, तथा आवश्यक होने से अक्लिष्ट कही जाती है। इसके विपरीत जिस निद्रा से उठने पर आलस्य बढ़े, साधन में चित्त न लगे, मन में बुरे भाव उदय हों, कुवृत्तियां उत्पन्न हों, परिश्रम करने योग्य न रहे तथा जो व्यक्ति को विवेक ज्ञान की तरफ न ले जाकर, उसके विरोधी मार्ग की तरफ ले जावे, वह निद्रा क्लिष्ट होती है।

# अध्याय १२

# स्मृति

"अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः" ॥११॥ ( समाधिपाद )

चित्त में अनुभव किये हुये विषयों का फिर से उतना ही या उससे कम रूप में ( अधिक नहीं ) ज्ञान होना स्मृति है। ज्ञान दो प्रकार का होता है:— १—स्मृति, २—अनुभव। अनुभव से भिन्न ज्ञान स्मृति हुआ। जब अनुभव के आधार पर किसी विषय का ज्ञान होता है, तो उसे हम अनुभूत विषय कहते हैं। हमें ज्ञान अनेक प्रकार से प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्ष के द्वारा दृष्ट विषय का ज्ञान हो सकता है। वह श्रवण हुये विषय का ज्ञान हो सकता है वा अन्य प्रकार से भी हो सकता है। इस प्रकार से प्राप्त विषय अर्थात् अनुभूत विषय के समान ही चित्त में संस्कार पड़ जाता है। जब भी उन संस्कारों को जाग्रत करनेवाली सामग्री उपस्थित होगी तभी वे अनुभूत विषय के संस्कार जाग्रत हो जावेंगे तथा उसके आकारवाला चित्त हो जावेगा, जिसे स्मृति कहते हैं। स्मरण न तो केवल विषय के ज्ञान का ही होता है और न केवल विषय का ही, किन्तु दोनों का होता है, क्योंकि हमें अनुभव के संस्कार होते हैं। पूर्व अनुभव ग्राह्य-ग्रहण ( विषय-ज्ञान ) उभय रूप होता है, अतः उसका संस्कार भी दोनों ही आकारोंवाला होगा तथा उस उभयाकार संस्कार से उत्पन्न स्मृति भी संस्कारों के अनुरूप होने से दोनों की ही होगी, जैसे घटादि ज्ञान की स्मृति में घटादि विषयों तथा घटादि विषय ज्ञान दोनों की ही स्मृति सम्मिलित है। "मैं घटरूपी विषय के ज्ञानवाला हूँ" इस प्रकार की स्मृति होती है। यहाँ पर घटरूपी विषय तथा ज्ञान दोनों की जानकारी होती है। इन दोनों के ही संस्कार भी होंगे। जिन संस्कारों के जाग्रत होने पर उन्हीं दोनों की स्मृति भी होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय तथा विषय ज्ञान ये दोनों ही अनुभव के विषय हैं और अनुभव के ही संस्कार होने से संस्कार भी इन्हीं दो विषयों का होगा, क्योंकि स्मृति संस्कारों के द्वारा ही होती है, अतः वह भी इन दोनों विषय की होगी। अतः स्मृति में विषय तथा ज्ञान दोनों की स्मृति होती है। प्रथम तो घटादि विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान तो केवल एक क्षण ही विद्यमान रहता है, अगर ऐसा न हो अर्थात् ज्ञान सदा ही बना रहे तो ज्ञान अन्य व्यवहार

ही नहीं हो सकता। अतः ज्ञान एक क्षण उत्पन्न होता, दूसरे क्षण में रहता तथा तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। वह ज्ञान चित्त में संस्कार छोड़ जाता है। संस्कार भी हमेशा जागृत नहीं रहते, वे सुप्त अवस्था में रहते हैं। जब भी उनको जागृत करानेवाले साधन उपस्थित होते हैं, तभी स्मृति उत्पन्न हो जाती है। अगर संस्कार सदा ही जागृत बने रहें, तो दूसरे सभी व्यवहार नष्ट हो जावेंगे। ये संस्कार केवल इसी जन्म के अनुभवों के नहीं हैं, किन्तु असंख्य जन्मों के संस्कार चित्त में रहते हैं। इन जन्म जन्मान्तरों के असंख्य संस्कारों में जब जिन संस्कारों को जागृत करनेवाले साधन उपस्थित होते हैं, तब वे ही संस्कार उदय हो जाते हैं। चित्त की एकाग्रता अभ्यास, सहचारदर्शन आदि-आदि अनेक साधन हैं जिनमें से किसी एक की उपस्थिति में संस्कार विशेष जाग्रत होकर स्मृति विशेष प्रदान करता है।

सहचार-दर्शन हमारे संस्कार जागृत करने का एक साधन है। दो मित्रों को जिन्हें साथ देखा गया है, उनमें से एक के दर्शन दूसरे के संस्कार जागृत कर उसकी स्मृति उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार से अन्य साधनों को भी समझाया जा सकता है। राग प्रेमियों, द्वेष शत्रुओं और अभ्यास विद्या के स्मरण में सहचार दर्शन होने के कारण साधन हैं। इसी प्रकार से स्मृति के लिये और अनेक साधन होते हैं। विशेष प्रकार के साधनों द्वारा विशेष प्रकार की स्मृति होती है। जब भी संस्कारों को जागृत करनेवाले साधन उपस्थित होंगे, तब ही उन संस्कारों के अनुरूप स्मृति उदय होगी।

जाग्रत् अवस्था में प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्प द्वारा जो अनुभव ज्ञान प्राप्त होता है, उसके संस्कार चित्त में अंकित हो जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष द्वारा चित्त विषयाकार हो जाता है। चित्त के विषयाकार होने पर पौरुषेय बोध ( प्रमा ) उत्पन्न होता है। यह प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में स्थिर रहता है तथा तीसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। विनष्ट होने के पूर्व चित्त में वह विषय तथा ज्ञान दोनों के संस्कार छोड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार से अनुमान प्रमाण के द्वारा प्राप्त अनुमिति ज्ञान भी चित्त पर संस्कार छोड़ जाता है, तथा शब्द प्रमाण द्वारा शाब्द बोध भी चित्त पर संस्कार छोड़ जाता है। जिस प्रकार प्रमा ज्ञान के संस्कार चित्त पर रहते हैं, ठीक वैसे ही विपर्यय, विकल्प द्वारा प्राप्त ज्ञान के भी संस्कार चित्त में विद्यमान रहते हैं। जाग्रत अवस्था में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प के द्वारा प्राप्त विषयानुभव के पड़े

संस्कार चित्त में उपयुक्त साधन उपस्थित होने पर उनकी स्मृति को प्रदान करते हैं। अनुभव के समान ही संस्कार होते हैं और उन संस्कारों के समान ही स्मृति होती है। निद्रा भी वृत्ति है। हर वृत्ति के संस्कार होते हैं। सब संस्कारों की स्मृति होती है। निद्रा में अभाव का अनुभव होने के कारण उसी के संस्कार पड़ेंगे और उन्हीं संस्कारों के समान स्मृति होगी। यही नहीं, स्मृति भी चित्त की वृत्ति होने के कारण उसके भी संस्कार पड़ेंगे तथा तत्सम्बन्धित स्मृति होगी। स्मृति में भी तो चित्त उस विशिष्ट स्मृति के आकारवाला होकर हमें स्मृतिज्ञान प्रदान करता है। यह स्मृतिज्ञान भी संस्कार को छोड़ जाता है। इन स्मृति के संस्कारों के जाग्रत होने पर भी उनके सदृश स्मृति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार निरन्तर संस्कार तथा तदनुकूल स्मृति होती रहती है।

स्मृतिज्ञान तथा अनुभव में केवल एक ही भेद है। स्मृति ज्ञात विषय की होती है किन्तु अनुभव अज्ञात विषय का होता है। अनुभव के विषयों की ही स्मृति होती है। अनुभव के विषयों से अधिक का ज्ञान स्मृति में नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर जितने अंश में वह अधिक विषय का ज्ञान होगा, उतने अंश का ज्ञान अनुभव ही कहा जावेगा। अधिक अर्थ का विषय किया हुआ ज्ञान स्मृति-ज्ञान के अन्तर्गत् नहीं आ सकता है। वह अनुभव हो जाता है। यही अनुभव और स्मृति का भेद है। अनुभव के विषय से कम विषय को स्मृति प्रकाशित कर सकती है, अधिक विषय को नहीं।

स्मृति दो प्रकार की होती है। एक यथार्थ, दूसरी अयथार्थ। जिसमें कल्पित मिथ्या पदार्थ का स्मरण होता है, उसे अयथार्थ स्मृति वा भावित-स्मर्तव्य स्मृति कहते हैं। जिसमें यथार्थ पदार्थ का स्मरण होता है वह यथार्थ स्मृति वा अभावित स्मर्तव्य स्मृति कही जाती है। स्वप्न के विषय ज्ञान को भावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। जाग्रत् अवस्था में अनुभव किये गये विषयों की ही स्मृति होती है, किन्तु स्वप्न के विषय अनेक तोड़ मोड़ के साथ होते हैं अर्थात् स्वप्न विषय कल्पित होते हैं। इनकी स्मृति कल्पित विषयों की स्मृति हुई। वह स्मृति की स्मृति होती है। हमें स्मरण करने का ज्ञान इसमें नहीं होता है। अत: यह अयथार्थ पदार्थ का स्मरण करनेवाली स्मृति होने के कारण भावित-स्मर्तव्य-स्मृति कही जाती है। जाग्रत-अवस्था में वास्तविक वस्तु के स्मरण को, जिसमें वस्तु न रहते हुये हमें उसके स्मरण होने का ज्ञान रहता है, अभावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं।

**स्वप्न** :—स्वप्न अयथार्थ पदार्थ को विषय करनेवाली स्मृति होती है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वप्न भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक इन तीन प्रकार का होता है। सात्विक स्वप्नों का फल सच्चा होता है, और वे स्वप्न यथार्थ निकलते हैं। इस अवस्था को स्वप्नों की श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। इसमें सत्व गुण की प्रधानता होती है। यह स्वप्नावस्था साधारण जनों को तो कभी-कभी ही अचानक रूप से प्राप्त हो जाती है, किन्तु सही रूप में तो योगियों को ही यह स्वप्न अवस्था प्राप्त होती है। यह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की तरह से ही होती है, क्योंकि कभी कभी स्वप्नावस्था में तम के दबने से अचानक सत्व की प्रधानता का उदय होता है। इसमें भी वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के जैसा अनुभव होने लगता है, अतः वह भावित-स्मर्तव्य-स्मृति की कोटि में नहीं है।

राजस-स्वप्नावस्था मध्यम मानी जाती है। इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, और स्वप्न में देखे विषय कुछ जाग्रत अवस्था के विषयों से भिन्नता के साथ अर्थात् बदले हुये होते हैं, जिनकी स्मृति जाग्रत अवस्था में भी रहती है।

तमोगुण के प्राधान्य से स्वप्न में स्वप्न के सब विषय अस्थिर, क्षणिक प्रतीत होते हैं, तथा जागने पर उनकी विस्मृति हो जाती है। यह निकृष्ट अवस्था ही तामसिक है। ये तीनों अवस्थायें उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कही गई हैं।

स्मृति को सबके बाद में वर्णन करने का कारण यह है कि स्मृतिरूप वृत्ति पांचों वृत्तियों के अनुभवजन्य संस्कारों के द्वारा उत्पन्न होती है। अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति, इनके द्वारा चित्त इन वृत्तियों के आकारवाला हो जाता है, तथा इन वृत्तियों के संस्कार पड़ जाते हैं, जिन संस्कारों के फलस्वरूप स्मृति होती है।

ये पांचों वृत्तियां त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुणात्मक होने से सुख दुःख और मोहात्मक हैं, जो कि क्लेशस्वरूप है। मोह अविद्यारूप है, अतः सारे दुःखों का मूल कारण है। दुःख की वृत्ति तो दुःख ही हुई। सुख की वृत्ति राग उत्पन्न करती है। सुख की वृत्ति के संस्कार को राग कहते हैं। सुख के विषयों तथा तत्सम्बन्धित साधनों में विघ्न, द्वेष को पैदा करता है। इन वृत्तियों के द्वारा क्लेश रूपी संस्कार पड़ते हैं, जो स्वयं क्लेश प्रदान करते हैं। विपर्यय वृत्ति के तो संस्कार ही पंच क्लेश हैं। ये सब वृत्तियां क्लेश प्रदान करनेवाली

होने से त्यागने योग्य हैं। ये सब सुख, दु.ख मोह रूप होने से क्लेश प्रदान करते हैं, अतः इनका निरोध होना चाहिये। बिना इनके निरोध के योग सिद्ध नहीं होता है। इनके ( वृत्तियों के ) निरोध से सम्प्रज्ञात समाधि वा योग सिद्ध होता है और उसके बाद परवैराग्य से असम्प्रज्ञात योग की अवस्था प्राप्त होती है।

स्मृति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप से दो प्रकार की होती है। जो स्मृति योग तथा वैराग्य की तरफ ले जाने वाली होती है वह तो अक्लिष्ट है। जिस स्मरण से योग साधनों में श्रद्धा बढ़े, जो स्मरण विवेक ज्ञान की तरफ ले जावे, संसार चक्र से छुटाने में जो स्मरण सहायक होते हैं वे अक्लिष्ट हैं। इसके विपरीत जो स्मरण संसार तथा भोगों की तरफ ले जावें, अर्थात् विवेक ज्ञान के विपरीत ले जाते हैं, वे क्लिष्ट होते हैं।

## अध्याय १३

# पंच-क्लेश

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों में अविद्या ही अन्य चार का मूल कारण है। जैसे बिना भूमि के अन्नादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ठीक वैसे ही बिना अविद्या के ये चारों भी नहीं हो सकते। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्था वाले अस्मिता आदि चारों क्लेशों का क्षेत्र अविद्या होने से वह ही उनका मूल कारण है जैसा कि निम्नलिखित सूत्र में कहा है :—

"अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्" ( साधनपाद ॥ ४ ॥ )

अर्थ—अविद्या के बाद के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार चारों अवस्था वाले अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश चारों क्लेशों की उत्पत्ति की भूमि अविद्या ही है, अर्थात् इन चारों अवस्थाओं वाले चारों क्लेशों का मूल कारण अविद्या ही है।

सर्व प्रथम क्लेशों की चारों अवस्थाओं का वर्णन नीचे किया जाता है।

१. **प्रसुप्त अवस्था** :—क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था वह है जिसमें कि वे चित्तभूमि में रहते हुये भी अपने कार्यों को आरम्भ करने में समर्थ नहीं हो सकते। अर्थात् क्लेश विद्यमान होते हुये भी जाग्रत नहीं हैं। यह प्रसुप्त अवस्था है तथा इसके विपरीत जाग्रत अवस्था है। जब विषयों का ग्रहण नहीं होता तो प्रसुप्त अवस्था रहती है और जब विषयों का ग्रहण होता है तब वह जाग्रत् अवस्था होती है। प्रसुप्त अवस्था में वे विषय विद्यमान तो रहते हैं, किन्तु क्लेश प्रदान नहीं करते। जब अवधि समाप्त हो जाती है, तब उस स्थिति में उत्तेजक विषयों की प्राप्ति होने पर क्लेश प्रदान करते हैं। व्युत्थान चित्त ( निरोध अवस्था के विपरीत चित्त ) वाले व्यक्तियों में भी प्रसुप्त अवस्था में वर्त्तमान अस्मिता आदि, क्लेश प्रदान नहीं करते हैं। वे तो केवल जाग्रत् अवस्था ही में क्लेश प्रदान करते हैं। ये जब उत्तेजना सामग्री के द्वारा जगते हैं, तब ही क्लेश प्रदान करते हैं अन्यथा नहीं। इस स्थिति में क्लेश विशेष ही

जगकर क्लेश प्रदान करता है, अन्य क्लेश जो कि सुप्तावस्था में रहते हैं, हमें क्लेश प्रदान नहीं करते। इस रूप से अधिकतर एक क्लेश ही एक समय में क्लेश प्रदान करता है, अन्य नहीं। जब तक विषयों का ग्रहण नहीं होता, अर्थात् जब तक अस्मितादि क्लेश अपने-अपने विषयों के द्वारा प्रकट नहीं होते, तब तक वे सोये हुए कहे जाते हैं और जब वे विषयों के द्वारा प्रकट होने लगते हैं, तब उन्हें जागे हुये कहा जाता है।

२. तनु अवस्था—"प्रतिपक्षभावनोपहता: क्लेशास्तनवो भवन्ति"॥
( पा. यो. सू. भा.—२/४ )

क्लेश की तनु अवस्था तब होती है, जब उनके ( क्लेशों के ) विरोधी तप, स्वाध्याय आदि क्रियायोग का अभ्यास उन्हें क्षीण कर देता है। इन क्लेशों के प्रतिपक्ष के अभ्यास अर्थात् अविद्या के प्रतिपक्ष यथार्थ ज्ञान, अस्मिता के प्रतिपक्ष विवेक-ख्याति, राग-द्वेष के प्रतिपक्ष तटस्थता और अभिनिवेश के प्रतिपक्ष ममता के त्याग से क्लेशों को क्षीण वा तनु किया जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि से अविद्या, अस्मिता आदि समस्त क्लेश ही तनु हो जाते हैं। ये विषय की उपस्थिति में भी शान्त रहते हैं। अर्थात् अपना क्लेश प्रदान करने का कार्य सम्पादन करने में असमर्थ रहते हैं, किन्तु चित्त से उसकी वासनाओं का लोप नहीं होता। वह सूक्ष्म रूप से चित्त में बनी रहती है।

३. विच्छिन्न अवस्था—एक क्लेश से जब दूसरा क्लेश दबा रहता है तो दबे हुये शक्तिरूप से वर्त्तमान क्लेश को विच्छिन्न कहा जाता है, जो उसकी प्रबलता क्षीण होने अर्थात् उसके न रहने पर फिर वर्त्तमान हो जाता है। उदाहरणार्थ अनेक स्त्रियों में राग रखनेवाले का भी एक स्त्रीविशेष से जिस काल में राग है, उस काल में अन्य स्त्री का राग अर्धचेतन में रहता है, जो अन्य अवसर पर जाग्रत होता है। जैसे प्रेम के उदय काल में क्रोध अदृश्य रहता है और क्रोध के उदय काल में प्रेम अदृश्य रहता है। जिस काल में जो अदृश्य रहता है, वह उस काल में विच्छिन्न कहा जाता है। एक क्लेश के उदयकाल में अन्य क्लेश, प्रसुप्त, तनु वा विच्छिन्न अवस्था में रहते हैं।

जब अविद्या, अस्मिता आदि की प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न अवस्था पुरुषों को क्लेश प्रदान करनेवाली अवस्था नहीं हैं, केवल इनकी उदार अवस्था ही क्लेश प्रदान करती है, तो उन्हें क्लेश क्यों कहा जाता है? इन्हें क्लेश इसलिये कहा

जाता है कि ये तीनों अवस्थायें क्लेश देनेवाली उदारावस्था को प्राप्त होकर क्लेश प्रदान करती हैं, अर्थात् ये सभी क्लेश देती हैं। अतः ये सभी अवस्थायें हेय हैं।

४. **उदार अवस्था**—इस अवस्था में क्लेश अपने विषयों को प्राप्त कर अपना क्लेशप्रदान रूपी कार्य करते रहते हैं। साधारण पुरुषों ( व्यक्तियों ) की व्युत्थान अवस्था में निरन्तर यह देखने में आता है। जिस तरह से तप, स्वाध्याय आदि क्रिया योग के द्वारा अस्मिता आदि क्लेशों से छुटकारा मिल जाता है, ठीक वैसे ही अस्मिता आदि क्लेश भी अपने उत्तेजकों द्वारा उदार अवस्था फिर से प्राप्त कर क्लेश प्रदान करने लगते हैं। उदारअवस्था ही क्लेशों की जाग्रत अवस्था है, जिसमें वे अपना कार्य सम्पादन करते रहते हैं। इसी कारण साधकों के लिये तो सर्वोत्तम यह है कि क्लेशों को जगानेवाले विषयों का चिन्तन आदि न करें तथा निरन्तर क्रिया योग के अनुष्ठान में रत रहें। इन सबके मूल कारण अविद्या के नष्ट हो जाने पर ये सब क्लेश स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

५. **दग्धबीज अवस्था**—यह विवेक-ज्ञान के द्वारा दग्ध किये गये सब क्लेशों की अवस्था है। जिन योगियों को विवेक ज्ञान प्राप्त हो गया है, उन विवेक ख्याति प्राप्त योगियों के चित्त भी अस्मितादि से मुक्त होते हैं और वे अपने कार्यरूपी क्लेशों को प्रदान नहीं करते किन्तु फिर भी उन्हें प्रसुप्तावस्था वाले क्लेश नहीं कहा जा सकता; वह क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था नहीं है। विदेह-प्रकृतिलयों की अवधि समाप्त होने पर उन्हें ये (क्लेश) उत्तेजक वस्तुओं की उपस्थिति में क्लेश प्रदान करते हैं। साधारण व्युत्थानचित्त मनुष्य को, ये अपनी जाग्रत् अवस्था में क्लेश प्रदान करते हैं। विवेकज्ञानी को ये कभी भी क्लेश नहीं प्रदान करते क्योंकि योग द्वारा क्षीण किये हुये ये अस्मितादि क्लेश विवेकख्याति रूप अग्नि से जल जाते हैं। जिस प्रकार दग्धबीज कैसी ही उपजाऊ जमीन में हजारों प्रयत्न करने पर भी अंकुरित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार से विवेक ज्ञान प्राप्त योगी को ये अस्मितादि विवेक ज्ञान से जले हुये होने से कभी क्लेश प्रदान नहीं करते। यह अस्मितादि की वह अवस्था है जो अविद्यामूलक नहीं है और अविद्यामूलक न होने के कारण उस अवस्था का वर्णन सूत्र में नहीं है। यह पांचवी अवस्था है।

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार इन चार अवस्थावाले अस्मिता आदि ही अविद्या-मूलक हैं। पंचम अवस्था के अस्मिता, आदि अविद्यामूलक नहीं हैं। इसलिये पूर्व की चारों अवस्थावाले अस्मिता आदि अविद्यामूलक होने के कारण हेय हैं और पंचम अवस्थावाले हेय नहीं हैं।

## अविद्या

१. "अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या" ॥
पा० यो० सू०—२।५

अनित्य, अपवित्र, दुःख, तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख, तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या है।

जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उस धर्म का ज्ञान होना अविद्या है। यह अनन्त प्रकार की होते हुये भी क्लेश प्रदान करनेवाली अविद्या उपर्युक्त चार प्रकार की ही है, जिसे नीचे समझाया जाता है।

१. अनित्य में नित्य बुद्धि — संसार तथा सांसारिक वैभव सब अनित्य होते हुये भी उन्हें नित्य समझना अविद्या है। कुछ लोग पंचभूतों की, कुछ सूर्य चन्द्र आदि की, कुछ स्वर्ग के देवों की उपासना उनमें नित्य बुद्धि रखकर करते हैं, जब कि वे सब ही अनित्य और विनाशी हैं। स्वर्ग सुख को प्राप्त करने के लिये बहुत लोग यज्ञादि करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि स्वर्ग-सुख नित्य है अतः स्वर्ग प्राप्त होना ही अमर होना है। इस अनित्य में नित्य बुद्धि को अविद्या कहते है।

(२) अशुचि में पवित्र बुद्धि :—महाअपवित्र, कफ, मांस, मज्जा, रुधिर, मलमूत्र पूर्ण शरीर को पवित्र समझना अविद्या है। यह शरीर जिसमें रुधिर, मांस, मज्जा, मेद, हड्डी, वीर्य, तथा अपवित्र रस रूपी सात धातुयें हों, जिसमें से मल, मूत्र तथा पसीने जैसी अपवित्र वस्तुयें बहती रहती हैं तथा मरने पर जिसके स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाने के कारण स्नान करना पड़ता हो, ऐसे शरीर को भी पवित्र समझना अविद्या है। सुन्दर कन्या के अपवित्र शरीर में पवित्रता का जो ज्ञान होता है, वह अविद्या है।

(३) दुःख में सुख बुद्धि :—संसार के विषय भोगादि जो केवल दुःख प्रदान करने वाले हैं, उनको सुख प्रदान करनेवाले अर्थात् सुखरूप समझना भी अविद्या ही है।

(४) अनात्म में आत्मबुद्धि :—स्त्री, पुत्रादि चेतन पदार्थों में, मकान, धनादि, जड़ पदार्थों में, भोगाधिष्ठान शरीर में, अथवा आत्मा से भिन्न चित्त, तथा इन्द्रियों में आत्मबुद्धि चौथे प्रकार की अविद्या है।

ये चार प्रकार की अविद्या ही बन्धन का मूल कारण है।

अविद्या की उत्पत्ति के विषय में अगर योग दर्शन के अनुसार विचार किया जावे तो हमें विकास के प्रारम्भ को लेना पड़ेगा। विकास त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही होता है। ईश्वर के सान्निध्यमात्र से प्रकृति को (सत्व, रजस्, तमस् की) साम्य अवस्था भंग हो जाती है, जिससे तीनों गुणों के विषम परिणाम शुरू हो जाते हैं। प्रथम अभिव्यक्ति महत्तत्व है जिसमें सत्व प्रधान रूप से तथा रजस् केवल क्रियामात्र तथा तमस् अवरोधकमात्र होते हैं। यह समष्टि रूप में विशुद्ध सत्वमय चित्त कहलाता है जो कि ईश्वर का चित्त है। इस चित्त में समष्टि अहंकार बीजरूप से वर्त्तमान रहता है। वे चित्त जिनमें बीजरूप से व्यष्टि अहंकार वर्त्तमान रहता है व्यष्टिचित्त कहलाते हैं। ये चित्त जीवों के चित्त हैं जो कि संख्या में अनन्त हैं। इन व्यष्टि चित्तों के लेशमात्र तम में ही जो केवल अवरोधकमात्र है, अविद्या विद्यमान है। उस तम में विद्यमान अविद्या ही अस्मिता क्लेश को उत्पन्न करती है। व्यष्टि सत्व चित्त में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे वह व्यष्टि सत्व चित्त प्रकाशित हो उठता है। यह प्रकाशित प्रतिबिम्बित चित्त ही व्यष्टि अस्मिता है। चेतन तथा चित्त एक दूसरे से भिन्न होते हुये भी अविद्या के कारण उनमें अभिन्नता की प्रतीति ही अस्मिता है जो रागद्वेष आदि क्लेशों को उत्पन्न करती है। योग के अभ्यास से साधक जब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि पर पहुँच जाते हैं तो अस्मिता का प्रत्यक्ष होता है, उसके बाद विवेकख्याति द्वारा चेतन और चित्त का भेदज्ञान प्राप्त होता है, जिससे अस्मिता का नाश हो जाता है। इस विवेकख्याति द्वारा अविद्या अपने द्वारा उत्पन्न अन्य क्लेशों सहित दग्ध बीज तुल्य हो जाती है, जिससे आगे क्लेशों को उत्पन्न करने में असमर्थ होती है। विवेकख्यातिरूप सात्विक वृत्ति उसी लेशमात्र तमस् में जिसमें अविद्या विद्यमान थी, स्थित रहती है।

(२) अस्मिता :—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" ॥ (पा.यो.सू. २।६)

पुरुष, तथा चित्त दोनों भिन्न २ होते हुये भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होती है उसको अस्मिता कहते हैं। दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति चित्त दोनों एक न होते हुये भी एक ही प्रतीत होना अस्मिता है। दृष्टा होने से दृक् शक्ति पुरुष कहा जाता है जिसमें भोक्तृयोग्यता है। और विषयाकार होकर दृश्य दिखाने वाली होने से दर्शन शक्ति बुद्धि कही जाती है, जिसमें भोग्ययोग्यता है। इन दोनों में भोग्य-भोक्तृभाव सम्बन्ध है। चित्त वा बुद्धि तो त्रिगुणात्मक प्रकृति

की पहली अभिव्यक्ति है, इसलिये त्रिगुणात्मक प्रकृति, मलीन, जड़, परिणामी, क्रियाशील, दृश्य दिखाने वाली इत्यादि है और पुरुष शुद्ध चैतन्य, निष्क्रिय, द्रष्टा, अपरिणामी आदि है किन्तु भिन्न होते हुये भी अविद्या के कारण अभिन्न प्रतीत होती है। वह ( पुरुष ) अविद्या के कारण चित्त में आत्मबुद्धि कर लेता है। यह दोनों का एक प्रतीत होना ही अस्मिता है। इसे हृदय ग्रन्थि नाम से पुकारते हैं जो कि विवेकज्ञान द्वारा नष्ट होती है। पुरुष प्रतिबिम्बत चित्त को ही अस्मिता कहते हैं तथा अभिन्नता की प्रतीति अस्मिता क्लेश है। सांख्य में इसे मोह कहा गया है। यह मोह ही है जो निरन्तर अभ्यास से दूर होता है नहीं तो व्यक्ति मोह को ही नहीं समझ पाता और आठों ऐश्वर्यों में ही भूला रहता है, किन्तु विवेकज्ञान के द्वारा यह मोहरूपी रोग दूर होता है। अस्मिता ही भोगरूप क्लेश प्रदान करती है, किन्तु विवेकज्ञान वा पुरुष प्रकृति भेदज्ञान के द्वारा अस्मिता के नष्ट हो जाने पर भोग रूप क्लेश स्वतः ही नहीं रह जाते क्योंकि वे तो अस्मिता के साथ ही रह सकते हैं, उसके बिना नहीं। अविवेक रूप अस्मिता ही क्लेश के देने वाली है। अहंकार को ही अस्मिता कहते हैं। "मैं सुखी हूँ", "मैं बलवान् हूँ", "मैं बीमार हूँ", "मैं दुःखी हूँ" "मैं ब्राह्मण हूँ", 'मैं हूँ' इत्यादि उसके आकार हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि अविद्या व्यष्टि चित्तों के लेशमात्र तम में है और वही अस्मिता का कारण है। इस प्रकार से अविद्या का कार्य होने से यह भी अविद्या रूप ही है। वह भी भ्रान्ति वा मिथ्या ज्ञान ही है। सांख्य योग के सत्कार्यवाद ( परिणामवाद ) के सिद्धान्त से कार्य कारण में अभिन्नता होती है। कार्य कारण की केवल अभिव्यक्ति मात्र है। यह जड़ चेतन की ग्रन्थिरूप अस्मिता विवेक ज्ञान द्वारा समाप्त होती है जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में बतलाया है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"(२।२।८)

पुरुष और चित्त के भेद ज्ञान होने पर जड़-चेतन की ग्रन्थिरूप अस्मिता समाप्त हो जाती है, सभी संशयों का निवारण हो जाता है तथा कर्म क्षीण हो जाते हैं।

## राग

मन, इन्द्रिय, शरीर में आत्मबुद्धि पैदा होने पर ममत्व की उत्पत्ति स्वाभाविक है। जिन विषयों के द्वारा शरीर, मन, इन्द्रियों को तृप्ति होती है अर्थात् उन्हें

सुख मिलता है, उन विषयों के प्रति प्रेम हो जाता है, जिसे राग कहते हैं। इस राग का कारण अस्मिता ही है। इसमें पुनः उन विषयों को भोगने की इच्छा होती है, जिनके द्वारा सुख प्राप्त हुआ है। विषयों, वस्तुओं, उनके प्राप्ति के साधनों ( स्त्री आदि ) के प्रति लोभ और तृष्णा पैदा हो जाती है। इस लोभ और तृष्णा के चित्त में पड़े संस्कारों को ही राग कहते हैं। इसे ही सांख्य में महामोह (Extreme Delusion) कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों में ( जो कि दिव्य और अदिव्य भेद से दस प्रकार के हुये ) आसक्ति होना तो सचमुच में महामोह ही है, क्योंकि चित्त तथा पुरुष की एकता की प्रतीति ही मोह है। जब विषयों में भी आत्माध्यास पहुँच गया तो वह महामोह ही हुआ। अस्मिता का कार्य राग हुआ जो अविद्या के कारण होता है। भोग सब रोग हैं जो दीखने में सुख प्रतीत होते हैं, वे दुःख के ही देनेवाले होते हैं। इनमें सार नहीं है। ये सब राग दुःख के देनेवाले हैं। अगर सच पूछा जाय तो बन्धन का कारण यह लगाव ही है, इसी से सब दुःखों की उत्पत्ति होती है। संसार का राग ही दुःख का कारण है, जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा है :—

"विषयो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति असिरिव छिनत्ति, कुन्त इव वेधयति, रज्जुरिवावेष्टयति, पावक इव दहति, रात्रिरिवान्धयति, अंशकितपरिपतित पुरुषान्पाषाण इव विवशीकरोति, हरति प्रज्ञां, नाशयति स्थितिं, पातयति मोहान्ध-कूपे, तृष्णा जर्जरी करोति, न तदस्ति किञ्चिद दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति ॥ ( २।१२।१४ )।

अर्थात् संसार प्रेम (लगाव) बहुत दुःख का देनेवाला है। सांप की तरह डसता, तलवार के समान काटता है, भाले की तरह बेधता है, रस्सी को तरह लपेट लेता है, अग्नि के समान जलाता है, रात्रि के समान अन्धकार प्रदान करता है। इसमें निःशंक गिरनेवालों को पत्थर के समान दबा देता है तथा विवश कर देता है, बुद्धि का हरण कर लेता है, स्थिरता खो देता है, मोहरूपी अन्धकूप में डाल देता है, तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर देती है। कोई ऐसा दुःख नहीं है जो संसार में राग रखनेवाले को प्राप्त न होता हो।

इससे स्पष्ट है कि जिन विषयों में सुख समझा जाता है, वे केवल दुःख के ही देनेवाले होते हैं। हम उन दुःख प्रदान करनेवाले विषयों को भूल से सुखद समझ लेते हैं। यही विपर्यय है। हमें जिन वस्तुओं वा विषयों से राग होता

है, उन विषयों के प्राप्ति में विघ्नवाली वस्तुओं से द्वेष पैदा होता है। शरीर, मन, इन्द्रियों में ममत्व होने से उनमें राग हो जाता है, अगर उन्हें वस्तुविशेष से दुःख प्राप्त हो तो उन वस्तुओं से द्वेष हो जाता है। स्त्री को दुःख पहुँचाने वाले से द्वेष हो जाता है क्योंकि स्त्री को सुख का विषय समझने से उसमें राग हो गया है। जिनके द्वारा सुख साधनों में विघ्न पड़ता है, उनसे भी द्वेष हो जाता है। इसलिये हर प्रकार से यह राग ही द्वेष को जन्म देनेवाला है।

## ४. द्वेष

"दुःखानुशयी द्वेषः" ॥ ( पा० यो० सू०—२।८ )

दुःख भोग के पश्चात् रहनेवाली घृणा की वासना को द्वेष कहते हैं। जिन वस्तुओं वा साधनों से पूर्व में दुःख प्राप्त हुआ है, उस दुःख के अवसर पर उन वस्तुओ वा साधनों के प्रति घृणा तथा क्रोध उत्पन्न होता है और उसके संस्कार चित्त मे पड़ जाते हैं, उन संस्कारों को द्वेष कहते हैं। जिस विषय के द्वारा पूर्व में दुःख प्राप्त हुआ है और अब उसकी स्मृति जागृत है, उस विषय के प्रति क्रोध को द्वेष कहते हैं। यह दुःख की स्मृति से होता है। इस प्रकार के दुःख को फिर उस विषय विशेष से सम्भावना होती है। यह प्रेम में विघ्न पड़ने से होता है। राग के कारण ही द्वेष होता है। यही नहीं राग और द्वेष दोनों ही का कारण अस्मिता है, जो कि अविद्या के कारण होती है, इसलिये द्वेष का भी मूल कारण अविद्या ही है। विवेक ज्ञान के द्वारा ही द्वेष से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। प्रथम तो दुःख का अनुभव होता है। उस अनुभव के समाप्त होने पर उसके संस्कार चित्त में रहते हैं. जिन्हें कि वह अनुभव छोड़ जाता है। जब तत्सम्बन्धित विषय की उपस्थिति होती है तब संस्कार जाग्रत होकर उस पूर्व अनुभव की स्मृति को पैदा करते हैं, जिसके फलस्वरूप क्रोध उत्पन्न होता है, जिसे द्वेष कहा जाता है। अनुभव संस्कार को, संस्कार स्मृति को और स्मृति द्वेष को उत्पन्न करती है।

## ५. अभिनिवेश

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ( पा० यो. सू ०-२।९ )

विद्वान् तथा मूर्ख सभी प्राणियों में पूर्व के अनेक जन्मों के मरण विषयक अनुभव जन्य वासना के आधार पर स्वाभाविक मृत्युभय अभिनिवेश कहलाता है।

मृत्यु भय मूलप्रवृत्त्यात्मक है। यह इस जन्म के ज्ञान पर आधारित नहीं है। यह पूर्व के अनेक जन्मों में प्राप्त मृत्युदुःख के अनुभवों के संस्कारों पर आधारित है। जीवन से स्वाभाविक आसक्ति होती है; जीवित तो हर प्राणी रहना चाहता है, चाहे वह विद्वान हो चाहे मूर्ख। हर प्राणी को मरने का भय सताता है। जीने की इच्छा सबसे बलवान् इच्छा है, किन्तु जिसने कभी भी मरण का अनुभव नहीं किया उसे मरने से भय कभी भी नहीं हो सकता है। मरणभय से यह पता लगता है कि पूर्व जन्म में मरणदुःख का अनुभव हुआ है, जिसके बिना मरणभय की स्मृति हो ही नहीं सकती। अतः यह पूर्व जन्म का द्योतक है। अगर पूर्व जन्म न माना जाय तो इसी वर्त्तमान जन्म के अनुभव को इस मृत्यु-भय का कारण कहना पड़ेगा, किन्तु इस जन्म में तो मरण हुआ ही नहीं तो फिर मरणदुःख का अनुभव कैसे हो गया ? यदि कहें कि अनुमान से मरणभय के दुःख का अनुभव होता है तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि तुरन्त जन्मे हुये बालक तथा कृमि को मरने का भय होता है, जो कि अनुमान कर ही नहीं सकते। इनके भय का अनुमान इनके मरणभय के कम्प से किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी को पूर्व जन्म में मरणदुःख प्राप्त हो चुका है। उसके स्मरण से मरणभय से कांप उठता है। इससे पूर्व के अनन्त जन्म तथा अनन्त मरणदुःख सिद्ध हैं। यह केवल अज्ञान से ही है। यहां विद्वान् का अर्थ ज्ञानी नहीं है। विद्वान् का अर्थ पढ़े लिखे व्यक्तियों से है, ज्ञानी से नहीं। ज्ञानी को यह भय नहीं होता। यह तो अविद्या के कारण जो अपने को शरीर, मन, इन्द्रिय आदि समझते हैं, उन्हीं को होता है। अभिनिवेश का अर्थ है कि ऐसा न हो कि मैं न होऊं। यहां मैं से वह शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को समझता है क्योंकि आत्मा तो अमर है, जैसा कि सब शास्त्रों के द्वारा सिद्ध है। गीता के दूसरे अध्याय के १९ से २५ वें श्लोक तक आत्मा के विषय में वर्णन है। आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अनादि तथा कभी किसी के द्वारा भी नाश को न प्राप्त होने वाला है। वह इन्द्रिय मन आदि का विषय नहीं है। ऐसा होते हुये भी राग द्वेष आत्माध्यास उत्पन्न कर देता है तथा जन्मान्तरों के इस आत्माध्यास के फलस्वरूप सभी, क्या मूर्ख क्या विद्वान्, शरीर के नष्ट होने के भय से भयभीत रहते हैं, यही अभिनिवेश क्लेश है। इसमें मरने पर आठों ऐश्वर्यों के समाप्त होने तथा उनसे प्राप्त ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ) दिव्य और अदिव्य रूप से दसों विषयों के भोग न मिलने के कारण मनुष्य व देवता सभी मृत्युभय रूपी

अभिनिवेश क्लेश में रहते हैं। देवता असुरों से आठों सिद्धियों के छिन जाने पर सारे विषयों के भोगों के छुटने का भय अर्थात् मृत्युभय रखते हैं, जिसे अभिनिवेश कहते हैं। साधारण प्राणी मृत्यु पश्चात् विषयों के समाप्त हो जाने से डरता रहता है। यह अभिनिवेश १८ प्रकार का इसीलिये होता है क्योंकि आठ सिद्धियां ( ऐश्वर्य ) और दिव्य अदिव्य रूप से १० विषय होते हैं।

ये ही पंच क्लेश हैं। इन्हें क्लेश इसी कारण कहा जाता है कि ये प्राणियों को जन्म मरण के दुःख के चक्र में फांसे रहते हैं। ये सब अविद्या की ही देन है। जिससे इन्हें अविद्या का ही रूप कहा जाता है। ये सब विपर्यय ही हैं। इसी के कारण यह सारा संसार है। इसी की देन बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय, शरीर तथा जाति, और आयु भोग हैं। यह सब कुछ अविद्या का ही पसारा है जो कि यथार्थ ज्ञान से समाप्त हो सकता है। विवेकज्ञान ही इस अज्ञान की औषधि है जो योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है।

# अध्याय १४

## ताप-त्रय

साधारण मनुष्य के लिये सांसारिक विषय सुख भोग दुःख नहीं है, किन्तु योगी के लिये वे सब सांसारिक सुख दुःखरूप ही हैं। सुख केवल सुखाभास मात्र ही है। विवेकयुक्त ज्ञानी के लिये प्रकृति और प्रकृति के विषय-सुख आदि सब कार्य दुःखरूप ही हैं। साधनपाद के १५ वें सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है कि विषयसुख, परिणामदुःख, ताप-दुःख तथा संस्कारदुःख मिश्रित हैं। सत्व, रजस्, तमस्, विरोधी गुणों के एक साथ रहने के कारण केवल सात्विक सुखाकार-वृत्ति ही अकेली नहीं रह सकती है। अतः सब सांसारिक विषय सुख-दुःख रूप ही हैं। विवेक ज्ञानियों को ही विषय सुखों का ठीक रूप दीखता है। वे तो उन्हें दुःखरूप ही समझते हैं।

पातञ्जल योग दर्शन में तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन है जिनका बिवेचन नीचे किया जाता है।

१. **परिणाम दुःख**— सम्पूर्ण सांसारिक विषय सुख अन्ततोगत्वा दुःख ही हैं। इन सब सुखों का परिणाम दुःख है। विषय सुख के अनुभव से उस विषय के प्रति राग पैदा होता है। जिस विषय से व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है, उस विषय के प्रति व्यक्ति को राग उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। राग पंच क्लेशों में से एक क्लेश है। सुख का अनुभव रागयुक्त होता है और रागयुक्त सुखानुभव राजस होने से पाप पुण्य कर्माशय का कारण है। जब रागयुक्त विषय-सुख से पाप उत्पन्न होता है तथा पाप से दुःख की उत्पत्ति होती है, तो जितने भी विषय सुख हैं, वे अन्ततोगत्वा दुःख को ही उत्पन्न करनेवाले हुये। अतः सुखों का परिणाम भी दुःख ही होता है। सुख में दुःख प्रदान करनेवाले साधनों के प्रति द्वेष होता है। सुख में विघ्न उत्पन्न करनेवाले साधन ही दुःख साधन हैं, जिनके प्रति पुरुष को द्वेष होना स्वाभाविक है। इस स्थिति में वह क्रोध द्वारा हिंसा पाप करता है। किन्तु जब उनका ( दुःख साधनों का ) कुछ कर नहीं पाता, तब उसे मोह प्राप्त होता है। मोह में भी बिना सोचे वा विचारे किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर पाप ही करता है। विवेक रहित व्यक्ति से पाप ही

होता है। इससे यह स्पष्ट है कि सुख में द्वेष तथा मोहजन्य पाप होते हैं, क्योंकि राग के साथ-साथ द्वेष और मोह रहते हैं जैसा कि पूर्व में पंचक्लेशों के वर्णन में बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त प्राणियों की हिंसा के बिना कोई उपभोग प्राप्त नहीं होता है। इसलिये सुख आदि में हिंसा होती है जो कि पाप है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुखकाल में राग, द्वेष, मोह तथा हिंसा आदि निश्चितरूप से रहते हैं, जो सभी पापजन्य दुःख को प्रदान करते हैं। अतः सुख का परिणाम दुःख ही होता है। इसे ही परिणाम-दुःख कहते हैं।

योगी लोग सब विषय सुखों को दुःखरूप ही समझते हैं। वे जानते हैं कि ये सब सुख केवल सुखाभास ही हैं। ऐसा समझ कर वे इन सभी सुखों का त्याग करते हैं। वे इस तात्कालिक सुख को उसके परिणाम दुःख के रूप में समझते हैं। जैसे विवेकी अर्थात् समझदार व्यक्ति स्वादिष्ट तात्कालिक सुख को प्रदान करने वाले विषमिश्रित भोजन को उसके परिणाम मृत्युरूप दुःख को जानने के कारण ग्रहण नहीं करते, ठीक वैसे ही योगी लोग भी निश्चित रूप से प्राप्त तात्कालिक सुख को उसके परिणाम, जन्म-मरण-रूप दुःख को समझने के कारण ग्रहण नहीं करते। जिस सुख का परिणाम दुःख है, उसे ठीक रूप से सुख कैसे कहा जा सकता है? वह तो केवल सुखाभास मात्र है। उन दुःख प्रदान करने वाले विषय सुखों को सुख समझना ही विपर्यय है।

भोग से कभी तृप्ति नहीं होती। भोग तो तृष्णा को बढ़ानेवाले हैं तथा तृष्णा से दुःख उत्पन्न होता है। अगर कामी पुरुष सोचे कि कामवासना को भोग से सन्तुष्टि हो जावेगी तो ऐसा नहीं होता, बल्कि वह तो घी की आहुति से अग्नि प्रज्वलित होने के समान ही भोगों से अधिकाधिक प्रज्वलित होती जाती है। संसार की सब ही सुख-सामग्रियों तथा विश्व के समस्त ऐश्वर्यों से भी मनुष्य की भोग तृष्णा शान्त नहीं हो सकती हैं। वह तो भोगों की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। भोग-तृष्णा से ही दुःख होता है और भोग-तृष्णा शान्त होने से सुख, किन्तु सामान्यरूप से जैसा समझा जाता है कि इन्द्रियों को विषय भोगों के द्वारा तृप्त किया जा सकता है, वह बिल्कुल ही ग़लत है। इन्द्रियां कभी भी तृष्णा-रहित नहीं हो सकती। तृष्णा तो कभी भी जीर्ण नहीं होती। सब कुछ जीर्ण हो जाता है, फिर भी तृष्णा जीर्ण नहीं होती है। जैसा कि योगवासिष्ठ के नीचे दिये हुये श्लोक से व्यक्त होता है:—

"जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैका हि न जीर्यते ॥ ( ६।९३।२६ )

"प्राणी के वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर केश तथा दांत आदि सभी जीर्ण हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा कभी भी जीर्ण नहीं होती ।"

ययाति ने भी बड़े सुन्दर ढंग से यही बात विष्णुपुराण में कही है ।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ( चतुर्थ अंश अ० १०।२३ )

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥" (च० अं० अ० १०।२४)

"भोगों के भोगने से भोगों की तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती है, किन्तु घी की आहुति के सदृश वृद्धि को प्राप्त होती है ।"

"एक मनुष्य को सन्तुष्ट करने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी के यव आदि अन्न, सुवर्ण, पशु तथा स्त्रियां भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णा को त्याग देना चाहिये ( ४।१०।२४ )

तृष्णा ही दुःख देने वाली होती है और विषय भोगों से तृष्णा के बढ़ने के कारण विषयभोग दुःख का कारण हो जाते हैं। अतः विषयभोग दुःख को प्रदान करने वाले होते हैं। विषयभोग से सुख चाहने वाले व्यक्ति की तो वैसी ही अवस्था होती है, जैसी कि बिच्छू के विष से भयभीत होने वाले व्यक्ति को साँप के द्वारा काटे जाने पर होती है। वह तो सचमुच में महान् दुःख के चक्र में फंस जाता है। विषयभोग काल में तो साधारण मनुष्य को वे विषयभोग दुःखद नहीं लगते हैं। उस सुखावस्था में भी योगियों को ये सब विषयभोग दुःखद ही लगते हैं। साधारण व्यक्तियों को तो वे भोग काल में सुखद तथा परिणाम में दुःखद होते हैं, किन्तु योगियों को उनके दुःखद परिणाम का भोग काल में ही ज्ञान रहता है। अतः ज्ञानी के लिये समस्त विषयसुख दुःख ही हैं।

२. तापदुःख—विषयसुख के समय साधनों की कमी से चित्त में जो दुःख होता है, वह तापदुःख है। यह साधारणरूप से परिणामदुःख के ही समान है। परिणामदुःख में रागजन्य कर्माशय होते हैं और तापदुःख में

द्वेषजन्य कर्माशय होते हैं। मनुष्य सुख साधनों के लिये मन, वचन तथा कर्म से प्रयत्न करता है जिसके कारण लोभ तथा मोह से वशीभूत होकर न जाने कितने धर्म अधर्म करता है, जिनका फल भी मिलता है। ताप-दुःख वह है, जो कि सुखभोग समय में द्वेष से चित्त में दुःख तथा द्वेष, लोभ, मोह के कारण किये गये धर्म अधर्म रूपी कर्मो से भविष्य में होनेवाले दुःखों से प्राप्त दुःख है। यह दुःख भविष्य के दुःख की सम्भावना से भी होता है। जिसका कारण लोभ मोह के कारण किये गये धर्म अधर्मरूपी कार्य हैं। इन कर्मों के फलरूपी दुःखों की सम्भावना ही उक्त दुःख का कारण होती है। ताप-दुःख तथा परिणामदुःख दोनों एक से प्रतीत होते हैं, किन्तु भोगी को परिणाम-दुःख का ज्ञान नहीं होता है, उसे तो भोगकाल में तापदुःख ही ज्ञात हो सकता है। परिणामदुःख का ज्ञान तो केवल योगियों को ही होता है।

३. **संस्कार दुःख**– अनुभव से संस्कार तथा संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। जैसे अनुभव होंगे उनके वैसे ही संस्कार पड़ेंगे। सुख-दुःख अनुभव के द्वारा सुख-दुःख संस्कार; सुख-दुःख संस्कार के द्वारा सुख-दुःख की स्मृति; इस स्मृति से उनमें राग; राग के कारण मनसा, वाचा तथा कर्मणा चेष्टा; चेष्टा से अच्छे, बुरे ( शुभाशुभ ) कर्म करना; उन कर्मो से पुण्य-पाप की उत्पत्ति, जिनके भोगने के लिये जन्म निश्चित है। जन्म होने पर पुनः सुख-दुःख का अनुभव; अनुभव से सुख-दुःख जन्य संस्कार; संस्कारों से स्मृति; स्मृति से राग; राग से शुभाशुभ कर्म; कर्मों से पुण्यपाप; पुण्यपाप से जन्म होता है। इस प्रकार से यह एक चक्र चलता रहता है। सुख-दुःख के अनुभव से उत्पन्न संस्कार, दुःख को ही उत्पन्न करनेवाले होने से इन्हे संस्कार-दुःख कहा जाता है।

ये तीनों प्रकार के दुःख विषय भोग काल में केवल योगियों को ही दुःख देते हैं। भोगियों को भोगकाल में ये दुःख नहीं देते हैं। जैसे सूक्ष्म ऊन का तन्तु आंखों में पड़ने पर आंखों को दुःख देता है, किन्तु शरीर के अन्य अंगों पर पड़ने से कोई कष्ट नहीं देता वैसे ही ये तीनों दुःख भी केवल योगियों को ही विपयभोग के समय दुःख प्रदान करते हैं, भोगियों को नहीं। भोगियों को तो केवल आध्यात्मिक आदि दुःख ही, जो कि स्थूलरूप से प्राप्त होते हैं, दुःख प्रतीत होते हैं, किन्तु विषयसुख भोग के समय सूक्ष्म रूप से रहनेवाले दुःख, उन्हें दुःख नहीं मालूम होते हैं। भोगी प्राणी अपने कर्मो से उपार्जित दुःखों को भोगकर उनके साथ वासना-जन्य कर्मो के द्वारा दुःखों का उपार्जन करते रहते हैं,

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय तथा स्त्री पुत्रादि में राग रखकर आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों को निरन्तर भोगते रहते हैं। दुःखों के उपार्जन तथा उनको भोगने का चक्र निरन्तर चलता रहता है। भोगी के ज्ञात त्रिविध दुःखों में आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाह्य दुःख, आध्यात्मिक आभ्यन्तर दुःख कहे जाते हैं। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक तथा मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख शरीर के द्वारा प्राप्त होते हैं। मानसिक मन के द्वारा प्राप्त होते हैं। शारीरिक दुःख नैसर्गिक तथा त्रिदोषजन्य होने से दो प्रकार के होते हैं। नैसर्गिक दुःख वे हैं, जो प्राथमिक आवश्यकता पर आधारित हैं, जैसे भूख, प्यास, काम इत्यादि। काम मानसिक उद्वेग होने के कारण मानसिक तो है ही किन्तु वह शरीर से ही उत्पन्न होता है, इसलिये शारीरिक भी कहा जा सकता है। वात, पित्त और कफ के वैषम्य से होनेवाले ज्वरादि रोग त्रिदोषजन्य दुःख हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, भय, ईर्षा, प्रिय वस्तुओं ( पुत्र, स्त्री वा अन्य कोई भी प्रिय वस्तु ) के नष्ट होने से और चाहे हुये सुन्दर विषयों ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ) की अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख को मानसिक दुःख कहते हैं। आधिभौतिक दुःख बाह्य भूतादि के द्वारा प्रदान किये गये दुःखों को कहते हैं जैसे दूसरे मनुष्यों, व्याघ्र, सांप, पशु, पक्षी, बिच्छू और जड़ पदार्थों आदि कारणों द्वारा उत्पन्न हुआ दुःख। आधिदैविक दुःख बाह्य अपूर्व उच्च अभौतिक शक्तियों द्वारा दिये गये दुःख को कहते हैं जैसे यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, एवं ग्रह ( शनि, राहु, आदि ) तथा आंधी, दुर्भिक्ष भूचाल आदि कारणों से उत्पन्न होनेवाले दुःख।

भोगी पुरुष अर्थात् सांसारिक लोग आवागमन चक्र में पड़े दुःख भोगते रहते हैं। सम्पूर्ण प्राणी जन्म-मरण रूपी संसार प्रवाह में बह रहे हैं। इसका पूर्ण ज्ञान रहने के कारण योगी लोग विषय भोग की तरफ न चलकर ज्ञान को प्राप्त करते हुए कल्याण मार्ग की तरफ चलते हैं।

चित्त त्रिगुणात्मक (सुख, दुःख तथा मोहात्मक) वृत्तियों वाला है। सत्वगुण प्रकाश, रजोगुण प्रवृत्ति; तथा तमोगुण स्थिति स्वभाववाला है। चंचल होने से इन तीनों गुणों में निरन्तर परिणाम होते रहते हैं। एक गुण अन्य दो को दबाकर कार्य करता रहता है। साथ ही साथ यह भी है कि कोई भी गुण अकेले क्रियाशील नहीं हो सकता। उसे तो दूसरे गुणों का सहयोग अति आवश्यक होता है। सत्व वृत्ति अर्थात् सुख वृत्ति का उदय सत्व गुण के द्वारा रजस् तथा तमस् को दबाकर क्रियाशील होने पर होता है। राजस वृत्ति अर्थात् दुःखवृत्ति

का उदय, रजस् के द्वारा अन्य दोनों गुणों को दबाकर क्रियाशील होने पर होता है तथा ठीक इसी प्रकार से तामसवृत्ति अर्थात् मोहवृत्ति का उदय भी तमस् के द्वारा अन्य दोनों गुणों को दबाकर क्रियाशील होने पर ही होता है। जिसप्रकार से गुण परिणामी होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार से चंचल वृत्तियां भी परिणामी होती रहती है। ये वृत्तियाँ एक क्षण भी स्थाई नहीं रहती हैं। एक वृत्ति के बाद अन्य वृत्तियों का होना स्वाभाविक है अर्थात् सुख के बाद दुःख तथा मोह होता ही है। अतः विषयसुख को सुख कहा ही नहीं जा सकता। वह तो दुःख रूप ही है। यही नहीं बल्कि सुखरूप वृत्ति में भी अप्रकट रूप से दुःख तथा मोह विद्यमान रहता है, जिसे साधारण भोगीजन नहीं समझ पाते हैं। योगियों को त्रैगुण्य वैषम्य से प्राप्त वृत्तियों का ज्ञान होता है, अतः वह सुख में विद्यमान सूक्ष्म दुःख तथा मोह को जानते हुये ही विषय-सुखों को त्याग देते हैं तथा उन्हें दुःखरूप ही समझते हैं। विवेकी योगियों के चित्त अति शुद्ध होने के कारण उन्हें सामान्य मनुष्यों को सुख में न दीखने वाला सूक्ष्म दुःख भी स्पष्ट दीखता तथा खटकता है। इसी कारण वे सुखों को भी दुःख ही समझते हैं। वे जानते हैं कि सुख बिना दुःख तथा मोह के नहीं रह सकता, दुःख बिना सुख तथा मोह के नहीं रह सकता तथा मोह भी बिना सुख और दुःख के नहीं रह सकता है। इसलिए समस्त सुख, दुःख और मोहरूप ही हैं। सुख भोग के समय सुख की प्रधानता रहती है, दुःख तथा मोह गौणरूप से ही वर्त्तमान रहते हैं। दुःख भोग काल में, दुःख प्रधान तथा अन्य दोनों (सुख तथा मोह) गौणरूप से रहते हैं। मोह काल में मोह प्रधान तथा अन्य दोनों (सुख तथा दुःख) गौणरूप से रहते हैं, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता जब तीनों एक साथ न रहते हों। अतः विशुद्ध सुख असम्भव है। केवल विचार-हीनता के कारण ही मनुष्य को विषयभोगों में सुख दीखता है और वह उनके पीछे दौड़ता है, किन्तु ज्ञानी के लिए सब दुःखरूप ही है। इन सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है। सम्यक् दर्शन से ही इसका विनाश सम्भव है। योगी इसी का आश्रय लेकर दुःखों से छुटकारा पाते हैं। योगवाशिष्ठ में ठीक ही कहा है कि—

प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाश्रयः।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव॥ (२।११।४१)

"ज्ञानी को दुःख उसी प्रकार से प्रभावित नहीं कर सकते हैं, जिस प्रकार से वर्षा से भीगे हुये वन को अग्नि नहीं जला सकती है"।

## अध्याय १५

# चित्त की भूमियां

चित्त त्रिगुणात्मक है। त्रिगुण गुण नहीं हैं ये ही प्रकृति स्वयं हैं। इन्हीं तत्वों को प्रकृति कहा जाता है। इन तीनों गुणों ( सत्व, रजस्, तमस् ) की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं[1]। प्रकृति का प्रथम परिणाम चित्त है। इसमें सत्व गुण की प्रधानता होती है। किन्तु कोई भी गुण अकेला नहीं रह सकता है। चित्त एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक होने के कारण, गुणों की विषमता से तथा एक दूसरे को दबाकर क्रियाशील होने के कारण अनेक परिणामों को प्राप्त होता है। अतः चित्त की अलग-अलग अवस्थायें होती हैं जिन्हें योग में चित्त की भूमियां कहा गया है। ये चित्त की भूमियां पांच हैं—(१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध। चित्त इन पांच अवस्थाओं वाला होने के कारण, एक होते हुये भी पांच प्रकार का कहा गया है। ध्यान चित्त का कार्य है जिसकी ये पांच अवस्थायें हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी चित्त को एकाग्र करके किसी विषयविशेष पर लगाने को 'ध्यान' कहते हैं। वहां केवल सामान्य मनुष्य के ध्यान के विषय में ही विवेचन किया गया है। उसके अनुसार ध्यान चंचल है। वह प्रतिक्षण एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है। किन्तु योग में ध्यान की उस स्थिति का भी विवेचन है जो अभ्यास से प्राप्त होती है और स्थाई है। पाश्चात्य मनोविज्ञान क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्त चित्त तक ही सीमित है। उसमें ध्यान की एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओं का ववेचन निहीं है।

१—क्षिप्तावस्था :—यह चित्त की रजोगुण प्रधान अवस्था है, जिसमें सत्व और तमस दबे रहते हैं, अर्थात् वे गौणरूप से होते हैं। इस अवस्था वाला चित्त अति चंचल होता है, जो निरन्तर विषयों के पीछे ही भटकता रहता है। यह चित्त अत्यन्त अस्थिर होने के कारण योग के लायक नहीं होता है। यह बहिर्मुख होता है। इसलिये निरन्तर बाह्य विषयों में प्रवृत होता रहता है।

---

१. इसके विशद विवेचन के लिये हमारी सांख्यकारिका नामक पुस्तक की १२ वीं कारिका को देखने का कष्ट करें।

इस अवस्था में चित्त विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सब तरफ़ दौड़ता रहता है। ऐसा चित्त निरन्तर अशान्त और अस्थिर बना रहता है। चित्त कभी पढ़ने पर, कभी खेलने पर, कभी और कहीं, भटकता ही रहता है। सही रूप से संसार में रत रहता है। मन की यह बिखरी हुई शक्ति कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकती। मानसिक क्रियाओं पर इस अवस्था में कोई नियंत्रण नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि इस अवस्था में इन्द्रियों की क्रियाओं, मस्तिष्क, तथा मन की अवस्था आदि किसी के ऊपर भी हमारा नियंत्रण नहीं रहता। वह संसार के कार्यों में रुचि के साथ निरन्तर लगा रहता है। निरन्तर दुःखी, सुखी, चिन्तित और शोकपूर्ण रहता है। रागद्वेष-पूर्ण होता है। चित्त की इस अवस्था में सत्वगुण तथा तमोगुण का निरोध होता है। इसमें राजसी वृत्तियों का उदय होता है। इसमें धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ज्ञान-अज्ञान तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य की तरफ प्रवृत्ति होती है। इस अवस्था में चित्त रजोगुण प्रधान तो होता है, किन्तु गौणरूप से सत्व और तमस भी उसके साथ में रहते ही हैं। उनमें जब तमस् सत्व को दबा लेता है तो अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य अनैश्वर्य में ही प्रवृत्ति होती है और जब तमस् को सत्वगुण दबा लेता है तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। चित्त की यह अवस्था सामान्य सांसारिक मनुष्यों को होती है। इसी अवस्था का अध्ययन पाश्चात्य सामान्य मनोविज्ञान में ध्यान के अन्तर्गत होता है।

## ध्यान के प्रकार

पाश्चात्य सामान्य मनोविज्ञान में ध्यान चार प्रकार का माना गया है जो निम्नलिखित है :—

(१) अनैच्छिक ध्यान (Non-Voluntary Attention)

(२) ऐच्छिकध्यान (Voluntary Attention)

(३) इच्छा विरुद्ध ध्यान (Non-Voluntary Forced Attention)

(४) स्वाभाविक ध्यान (Habitual Attention)

ये सब क्षिप्त चित्त से ही सम्बन्धित हैं क्योंकि उसमें एकाग्रता नहीं है। वह चंचल है। निरन्तर एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है। जिन विषयों के प्रति हमारी जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त रुचि है, उन्हीं की तरफ ध्यान जायेगा। ध्यान का हटना ही इच्छा विरुद्ध ध्यान है, जो कि किसी बाह्य

प्रवल उत्तेजना द्वारा होता है। हम किसी तरफ अपनी इच्छा से जो ध्यान लगाते हैं, वह भी हमारी इच्छाओं, अभिप्राय तथा प्रयत्न पर आधारित होने के कारण पूर्व के विषय-सम्बन्धों तथा रुचियों पर ही आधारित होता है। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था नहीं है। चित्त की इन सब विषयों की तरफ जानेवाली प्रवृत्ति में, चित्त की स्वाभाविक अवस्थावाला धर्म "एकाग्रता" जो कि यथार्थ तत्त्व का प्रकाशक दबा रहता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में ध्यान को चंचल बताया है जो निरन्तर एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है। स्वभावत. ध्यान चंचल नहीं है। हमारे सारे व्यवहारों का स्थूल जगत् से सम्बन्ध होने के कारण जिसमें तमस् और रजस् की प्रधानता और सत्वगुण की गौणता होने से व्यवहार में आसक्ति हो जाने के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पंच क्लेशों के द्वारा सत्वप्रधान चित्त पर क्रमशः अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों के संस्कारों के आवरणों से मलिन और विक्षिप्त हो जाने के परिणामस्वरूप यह चंचल प्रतीत होता है। इनसे निवृत्ति प्राप्त हो जाने पर इसकी चंचलता और अस्थिरता समाप्त हो जाती है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में केवल सामान्य मनुष्यों के ध्यान के विषय में अध्ययन किया गया है। उसका वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है उसके विषय में अध्ययन नहीं हुआ है। योग में ध्यान की पराकाष्ठा चित्त की निरुद्ध अवस्था में है। एकाग्रता चित्त का स्वाभाविक धर्म है। क्षिप्त अवस्था में मनुष्य राग-द्वेषपूर्ण होता है।

मूढ़ावस्था—यह चित्त की तमःप्रधान अवस्था है। इस अवस्था में रजस् और सत्त्व दबे रहते हैं। तमोगुण के उद्रेक से चित्त इस मूढ़ावस्था को प्राप्त होता है।

चित्त की इस अवस्था में मनुष्य को निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, दीनता, भ्रम; और विषयों के ज्ञान की अस्पष्ट प्राप्ति का अनुभव होता है। इस अवस्था में व्यक्ति सोच-विचार नहीं सकता है। किसी वस्तु को ठीक नहीं देख सकता है। बौद्धिक शक्तियों पर आवरण पड़ा रहता है। इस अवस्था में मनुष्य की प्रवृत्ति, अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य अनैश्वर्य में होती है और व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह-वाला होता है। यह चित्त का वह स्वरूप है जिसमें चित्त सब विषयों की तरफ प्रवृत्त होता रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति विवेकशून्य होने के कारण उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाता है। वह नहीं समझ पाता कि क्या करना

चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। काम, क्रोध, मोह, लोभ के वशीभूत होकर सब ही विपरीत और अनुचित कार्यों में वह प्रवृत्त रहता है। यह अवस्था, राक्षसों, पिशाचों तथा मादक द्रव्य सेवन किये हुये उन्मत्त और नीच मनुष्यों की होती है। यह अवस्था भी पाश्चात्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत आ जाती है क्योंकि इसमें भी ध्यान एकाग्रता को प्राप्त नहीं करता है। तमोगुण से आवृत्त होने के कारण इसमें व्यक्ति मूढ़ता को प्राप्त होता है। इसलिये वह ध्यान को एकाग्र कर ही नहीं सकता है।

**विक्षिप्तावस्था :**—इसमें सत्व की प्रधानता होती है। अन्य दोनों गुण रजस् और तमस् दबे हुये गौणरूप से रहते हैं। इसमें व्यक्ति ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य की तरफ प्रवृत्त होता है। यह स्थिति काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को छोड़ने से पैदा होती है। इस अवस्था में मनुष्य को विषयों से अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह निष्काम कर्म करने में प्रवृत्त रहता है। इनमें व्यक्ति दु:ख के साधनों को छोड़ कर सुख के साधनों की तरफ प्रवृत्त होता है। यह चित्त सत्व के आधिक्य के कारण रजस् प्रधान क्षिप्त चित्त से भिन्न होता है। क्षिप्त चित्त तो सर्वदा ही चंचल बना रहता है, किन्तु इस क्षिप्त चित्त की अपेक्षा विक्षिप्त चित्त सत्व की अधिकता के कारण कभी २ स्थिरता को धारण कर लेता है। इस चित्त में सत्व की अधिकता रहने के बावजूद भी रजस् के कारण अस्थिरता अथवा चंचलता आ जाया करती है। इसमें चित्त विषय पर थोड़ी देर ही स्थित रहता है और फिर किसी दूसरे विषय की तरफ प्रवृत्त हो जाता है। रजोगुण चित्त को विचलित करता रहता है। इसमें चित्त आंशिक स्थिरता को प्राप्त होता है। यह भी सब विषयों की ओर प्रवृत्त रहता है। इस चित्त की अवस्था वाला मनुष्य सुखी, प्रसन्न, उत्साही, धैर्यवान्, दानी, श्रद्धालु, दयावान्, वीर्यवान्, चैतन्य, क्षमाशील और उच्च विचार आदि गुणवाला होता है। यह अवस्था महान् पुरुषों, जिज्ञासुओं की होती है। देवता भी इसी कोटि में आ जाते हैं। इस अवस्था में भी चित्त बाह्य विषयों से प्रभावित होता रहता है और स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, जिससे चित्त की यह अवस्था भी स्वाभाविक नहीं कही जा सकती और न यह योग के उपयुक्त ही है। इसमें चित्त का पूर्ण रुपेण निरोध नहीं हो पाता, किन्तु इस अवस्था में एकाग्रता प्रारम्भ हो जाती है और यहीं से समाधि का आरम्भ होता है। ये उपर्युक्त तीनों ही चित्त की अपनी स्वाभाविक अवस्थायें नहीं हैं।

एकाग्रावस्था :—चित्त की इस अवस्था में चित्त विशुद्ध सत्वरूप होता है। रजस् तथा तमस तो वृत्तिमात्र ही होते हैं। इस अवस्था में चित्त एक ही विषय में लीन रहता है। चित्त समस्त विषयों से अपने आपको हटाकर केवल विषय-विशेष में ही निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। चित्त विषय विशेष पर ही केन्द्रित रहता है अर्थात् चित्त ध्येयविषय विशेष के आकार वाला ही बार-बार होता रहता है, अन्य विषयों के आकार वाला नहीं होता है। ध्येय विषय भौतिक पदार्थ वा मानसिक विचार दोनों में से कोई भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विषयविशेष ( भौतिक वा मानसिक ) की एक वृत्ति समाप्त होने पर पुनः ठीक उसी के समान वृत्ति उत्पन्न होती है, तथा इसी प्रकार से समान वृत्तियों का ही प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। चित्त की यह अवस्था एकाग्रावस्था कहलाती है। इस अवस्था में वृत्तिविशेष के सिवाय अन्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इसमें रजस् तथा तमस् के केवल वृत्ति मात्र रूप से रहने तथा विशुद्ध सत्वरूप होने से चित्त की यह निर्मल तथा स्वच्छ अवस्था है। इस अवस्था में समस्त स्थूल विषयों से लेकर महत्तत्व तक सब विषयों का यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इस योग की अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि (योग) कहते हैं। इसकी वृत्ति एकाग्रता है। अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त को अनेक विषयों की तरफ़ से हटाकर एक विषय की तरफ लगाने से जब रजस् तथा तमस् दबकर सत्व के प्रकाश में विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, तब यह एकाग्रता की अवस्था आती है। एकाग्रता की परम अवस्था विवेकख्याति है। यह अवस्था योगियों की होती है। समस्त विषयों से हटकर एक ही विषय पर ध्यान लग जाने के कारण, यह समाधि के उपयुक्त अवस्था है। अभ्यास से एकाग्रता की अवस्था चित्त का स्वभाव सा हो जाती है तथा स्वप्नावस्था में भी यह अवस्था बनी रहती है, अर्थात् ऐसी स्थिति पहुँच जाती है, जब अन्य कोई अवस्था ही न बदले तो स्वप्न भी उसी अवस्था के होना स्वाभाविक ही है। इस समाधि से विषयों का यथार्थ ज्ञान, क्लेशों की समाप्ति, कर्मबन्धन का ढीला पड़ना तथा निरोधावस्था पर पहुँचना, ये चार कार्य सम्पादित होते हैं। इस समाधि अवस्था में क्लेश वा कर्म का त्याग स्थाई त्याग होता है। इसी कारण इस अवस्था में क्लेशों को क्षीण किया जा सकता है। इसके बाद ज्ञानवृत्ति का भी पर-वैराग्य के द्वारा निरोध करने पर निरुद्धावस्था आती है। इस समाधि के द्वारा भूतों ( समस्त स्थूल विषयों ) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे उनके द्वारा सुख-दुःख मोह नहीं होता है। उसके बाद अभ्यास से समाधि के स्थूल विषयों से पंच

तन्मात्राओं पर पहुँचने से तन्मात्राओं के द्वारा योगी सुखी दुःखी वा मोहित नहीं होता। इसी प्रकार से समाधि में बढ़ते रहने पर आगे के सूक्ष्म विषयों से भी सुख, दुःख, मोह प्राप्त नहीं होते हैं। जब विक्षिप्त अवस्था में समाधि प्राप्त होती है, तब भी ऐसा ही ज्ञान होता है, किन्तु विक्षिप्तावस्था में दबे हुये रजस के उदय होने पर अर्थात् विक्षेप के उभर जाने पर चित्त पुनः सुख, दुःख तथा मोह को प्राप्त होता है। किन्तु एकाग्रावस्था वाले चित्त के समाधिस्थ होने पर ऐसा नहीं होता है। विक्षिप्त चित्त के समाधिस्थ होने पर स्थाई रूप से क्लेशों का क्षय नहीं होता, किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त की समाधि अवस्था में स्थाई रूप से क्लेश क्षीण होते हैं। क्लेशों के समाप्त होने से उनके उदय होने वाले कर्मों से भी धीरे-धीरे निवृत्ति प्राप्त होकर निरुद्धावस्था प्राप्त हो जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि के भी ध्यान को एकाग्रता के आलम्ब ध्येय विषयों के हिसाब से, मुख्य चार भेद हैं, जिनको वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत नाम से व्यवहृत किया जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि शुद्ध समाधि नहीं कही जा सकती है क्योंकि इसमें समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं होता है। समाधि का विवेचन स्थलविशेष पर किया जायगा।

निरुद्धावस्था—सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें केवल अस्मिता में ही आत्म-अध्यास बना रहता है। योगी का अभ्यास इस अवस्था के बाद भी निरन्तर चलते रहने पर ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि अस्मिता से उसका आत्म-अध्यास हट जाता है और उसे चित्त तथा पुरुष का भेदज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन दोनों की भिन्नता के ज्ञान को ही विवेकख्याति कहते हैं। इस पुरुष-चित्त के भेद का साक्षात्कार हो जाने पर पर-वैराग्य उत्पन्न होता है। विवेकख्याति भी चित्त की वृत्ति होने से इसका भी निरोध परमावश्यक है। जबतक सब वृत्तियों का निरोध नहीं होता, तब तक पूर्ण निरुद्धावस्था नहीं प्राप्त होती। चित्त की निरुद्धावस्था तो चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर ही होसकती है। आत्मसाक्षात्कार कराने वाली यह विवेकख्याति भी चित्त की एक वृत्ति है, भले ही वह उच्चतम सात्विक वृत्ति हो। अतः इस उच्चतम सात्विक वृत्ति का निरोध भी परवैराग्य के द्वारा करके निरुद्धावस्था प्राप्त की जाती है। विवेकख्याति में भी आसक्ति नहीं रहनी चाहिये। इस अवस्था में केवल पर-वैराग्य के संस्कारमात्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी संस्कार शेष नहीं रह जाता है। निरुद्धावस्था वृत्तिरहित अवस्था होने के कारण विषय ज्ञान रहित

दूसरी बात यह है कि अभ्यास निरन्तर व्यवधान रहित होना चाहिये, क्योंकि कभी किया और कभी न किया हुआ अभ्यास कभी भी दृढ़ नहीं हो पाता। तीसरी बात यह है कि बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया हुआ अभ्यास भी बिना श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप, वीर्य और उत्साह के दृढ़ होकर भी चित्त को स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता है। अतः अभ्यास श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप वीर्य तथा उत्साह के साथ बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया जाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास पूर्ण फल के देनेवाला होता है। जिस प्रकार तप, सात्विक, राजसिक तथा तामसिक होने से तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति आदि भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती हैं। अभ्यास में सात्विक श्रद्धा तथा भक्ति आदि होनी चाहिये। सत्य तो यह है कि बिना श्रद्धा के मनन नहीं हो सकता और बिना निष्ठा के श्रद्धा नहीं हो सकती।

अभ्यास के विवेचन के बाद वैराग्य के विषय में विवेचन करना आवश्यक है। क्योंकि बिना वैराग्य के अभ्यास भी कठिन है।

अपर और पर दो प्रकार का वैराग्य होता है। अपर वैराग्य के बिना पर वैराग्य सम्भव नहीं है। अपर वैराग्य समस्त विषयों से तृष्णा रहित होना है। विषय दो प्रकार के होते है। एक तो सांसारिक विषय, जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध अर्थात् धन, स्त्री, ऐश्वर्य तथा अन्य विषयभोग की सामग्रियाँ आदि, दूसरे विषय वेदों तथा शास्त्रों के द्वारा वर्णित स्वर्गादि सुख। कहने का अर्थ यह है कि समस्त जड़ चेतन लौकिक विषयों तथा समस्त सिद्धियों सहित दिव्य विषयों से राग रहित होना ही अपर वैराग्य है। समस्त विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें आसक्त न होना वैराग्य है। अप्राप्त विषयों का त्याग वैराग्य नहीं कहा जा सकता है। अनेक कारणों से विषय अरुचिकर तथा त्याज्य हो सकते है। अरुचिकर न होते हुये भी बहुत से विषयों को बाध्य होकर त्यागना पड़ता है। रोगों के कारण बाध्य होकर परहेज करना पड़ता है। न मिलने पर तो इच्छा होते हुये भी व्यक्ति विषयों का भोग नहीं कर सकता। अपने से बड़ों की आज्ञा के कारण भी त्याग करना पड़ता है। ढोंगी भी दिखाने के लिये त्याग करते है। अधिकतर तो भय के कारण व्यक्ति विषयों का त्याग करता है। कितने ही विषय लोभ, मोह तथा लज्जा के कारण त्यागने पड़ते है। प्रतिष्ठा के कारण मनुष्य को अनेक विषयों से अपने आपको मोड़ना पड़ता है।

किन्तु ये सब त्याग वैराग्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इन त्यागों में विषयों की तृष्णा का त्याग नहीं हो पाता। चित्त में सूक्ष्म रूप से तृष्णा का बना रहना वैराग्य कैसे कहा जा सकता है ? वैराग्य तो समस्त विषयों से पूर्ण रूप से तृष्णा रहित होना है। चित्त को विषयों मे प्रवृत्त कराने वाले रागादि कषाय हैं जिन्हें चित्तमल कहा जाता है। इन चित्तमलों के द्वारा राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य ये ६ कालुष्य पैदा होते है।

सुख प्रदान करने वाले विषयों को सर्वदा चाहने वाली राजस वृत्ति को राग कहते हैं, जिसके कारण विषयों के न प्राप्त होने से चित्त मलिन हो जाता है। मैत्री भावना से राग-कालुष्य तथा ईर्ष्या-कालुष्यता का नाश होता है। मित्रसुख को अपना सुख मानने से उन समस्त सुख प्रदान करने वाले विषयों को भोगनेवाले मे मित्र भावना करके राग कालुष्य को नष्ट किया जाता है। ऐश्वर्य से होने वाली चित्त की जलन भी जिसे ईर्ष्या कालुष्य कहते हैं, मैत्री भावना से नष्ट हो जाती है क्योंकि मित्र का ऐश्वर्य अपना समझा जाता है। चित्त को कलुषित करने वाली अपकार करने की भावना ( परापकार चिकीर्षा-कालुष्य ) करुणा भावना से नष्ट की जाती है। गुणों में दोष देखने की प्रवृत्ति अर्थात् असूया-कालुष्य, पुण्यवान् या गुणवान् पुरुषों के प्रति हर्ष भावना के होने से नष्ट होती है। पापी तथा दुष्टात्मा व्यक्ति के प्रति उदासीनता की भावना रखने से द्वेष तथा बदला लेने वाली भावना ( अमर्ष कालुष्य ) नष्ट हो जाती है। इन समस्त मलों के नष्ट होने पर ही व्यक्ति विषय में प्रवृत्त नहीं होता। प्रयत्न से धीरे धीरे मलों के नष्ट होने के कारण अपर वैराग्य की चार श्रेणियां हो जाती हैं। १—यतमान, २—व्यतिरेक ३—एकेन्द्रिय और ४—वशीकार।

१—यतमान :—मैत्री आदि भावना के अनुष्ठानों से राग-द्वेष आदि समस्त मलों के नाश करने के प्रयत्नों के प्रारम्भ को यतमान वैराग्य कहते हैं। इसमे व्यक्ति दोषों का निरन्तर चिन्तन तथा मैत्री आदि का अनुष्ठान करता है जिससे इन्द्रियां विषयाभिमुख नहीं होती।

२—व्यतिरेक :—निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर व्यक्ति के कुछ मल जल जाते हैं कुछ बाकी रह जाते है। इन नष्ट होने वाले तथा बाकी रहने वाले मलों का अलग अलग ज्ञान ही व्यतिरेक वैराग्य है।

३—एकेन्द्रिय :—इन्द्रियों को जब चित्त-मल विषयों में प्रवृत्त नहीं कर पाते किन्तु विषयों के सम्बन्ध होने पर चित्त में क्षोभ की सम्भावना बनी रहती है,

परिस्थितियों में जाग्रत होकर स्मृति के घटक बन जाती हैं; जिसके विषय में स्मृति नामक अध्याय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है।

चित्त की वृत्तियां चित्त में अपने समान ही छाप छोड़ जाती हैं। इन वृत्तियों के अनुरूप छाप को ही संस्कार (Disposition) कहते हैं। इन्हीं संस्कारों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षाशास्त्री पर्सीनन ने 'एनग्राम' (Engram) अर्थात् संस्कार शब्द से पुकारा है। संस्कार ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और क्रियात्मक (Conative), तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों संस्कारों के अतिरिक्त पूर्वजन्म तथा जन्म से पूर्व गर्भावस्था (Pre-natal) के संस्कार भी होते हैं, जिन्हें वासनायें (Pre-dispositions) कहते हैं। ये सभी संस्कार वृत्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

पूर्वजन्म वा गर्भावस्था की वृत्तियों से हमारी वासनायें होती हैं, जो हमारी रुचियों तथा प्रवृत्तियों को बताती हैं। इस जन्म के अनुभव (ज्ञानज संस्कार), उद्वेग (भावात्मक संस्कार) तथा क्रियायें (क्रियात्मक संस्कार) छोड़ जाती हैं। प्रमाज्ञान, जो प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाण के द्वारा प्राप्त होता है, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति की वृत्तियाँ चित्त में अपनी छाप छोड़ जाती हैं, जो स्मृति प्रदान करती हैं। इन पाँच वृत्तियों के द्वारा चित्त में पड़े हुए अंकनों को ही ज्ञानज संस्कार कहते हैं। स्मृति के कारण ये ज्ञानज संस्कार ही हैं। ये सब ज्ञानज संस्कार अवचेतन होते हैं, जो उपयुक्त परिस्थिति में चेतनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। कुछ ज्ञानज संस्कार सदैव ही अचेतन बने रहते हैं, जिन्हें चेतन में लाने के लिए आज के मनोवैज्ञानिकों ने अनेक विधियाँ बताई हैं, फिर भी पूर्ण रूप से उन्हें चेतन के घटक नहीं बनाया जा सकता है। योग में इन सबको पूर्ण रूप से जानने की विधि बतलाई गई है, जिसके द्वारा पूर्ण चित्त को जानकर उससे निवृत्ति प्राप्त हो सके। जब तक चित्त के समस्त संस्कारों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसके द्वारा प्रदान किये गये बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती है। योग के द्वारा जन्म-जन्मान्तरों के समस्त संस्कारों तथा वर्त्तमान जन्म के संस्कारों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान प्राप्त होने पर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। ज्ञानज संस्कारों की ही स्मृति हो सकती है, अन्य संस्कारों की नहीं। संस्कार तो भावनाओं, संवेगों तथा क्रियाओं के भी होते हैं, किन्तु उनकी स्मृति नहीं होती। क्लेश भावना तथा संवेग हैं। ये भावना तथा संवेग ही हमारी क्रियाओं के प्रेरक हैं। ये पंच क्लेश ( अविद्या,

अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ) भी अपनी छाप चित्त पर छोड़ जाते हैं अर्थात् इनके संस्कार भी चित्त पर अंकित हो जाते हैं, जिन्हें क्लेश संस्कार कहते हैं। ये क्लेश संस्कार स्मृति को उत्पन्न नहीं करते। इनसे तो क्लेशों की ही उत्पत्ति होती है। संवेग के संस्कार संवेग को ही उत्पन्न करते हैं तथा भावनाओं के संस्कार भावनाओं को ही पैदा करते हैं। हमारे सब कर्मों के भी संस्कार होते हैं। शुभ कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है, अशुभ कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है। इन्हें ही कर्माशय (Conative Disposition) कहा जाता है। ये धर्म अधर्म रूप कर्माशय ही जन्म, आयु और भोग प्रदान करते हैं। इन कर्माशयों से सम्बन्धित चित्त आत्मा सहित पूर्व जन्म के शुभ अशुभ कर्मों की वासनाओं से एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता रहता है। ये वासनायें ही एक विशिष्ट जाति में उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार से ज्ञानज संस्कार स्मृति को, भावात्मक संस्कार क्लेशों तथा संवेगों, और कर्माशय जाति, आयु और भोगों को उत्पन्न करते हैं। ये सब संस्कार चित्त ही के धर्म हैं।

संस्कारों के द्वारा ही हमें जीवन के समस्त ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक क्षेत्रों में बचत प्राप्त होती है। ज्ञान के क्षेत्र में हमारे अनुभवों के द्वारा प्राप्त वृत्तियों के संस्कारों से बचत होने के कारण ज्ञान का विकास होता है। इसी प्रकार से क्लेशों के संस्कारों के द्वारा क्लेश शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। क्रियाओं के संस्कारों के कारण क्रियायें पूर्व की अपेक्षा सरल हो जाती हैं। उनमें प्रयास की आवश्यकता कम पड़ती है। संस्कार वर्त्तमान जन्म तथा पूर्व के अनेकानेक जन्मों के होते हैं, जो कि ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह चित्त पर अंकित रहने के कारण प्रगट हो सकते हैं। सब पूर्व अनुभव तथा पूर्व कर्म संस्कार के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इन पूर्व संस्कारों को त्याग कर हमें किसी भी विषय का ज्ञान तथा कोई भी कर्म करना सम्भव नहीं है। संस्कार का खेल जड़ जगत् में भी सर्वत्र देखने में आता है।

आत्मा अनादि काल से इस संसारचक्र में पड़ा है, अतः वह अनन्त जन्मों में भ्रमण कर चुका है। आत्मा का चित्त से अनादि काल से सम्बन्ध होने से चित्त पर अनन्त जन्मों के संस्कार एकत्रित हैं, जिनके ऊपर बहुत कुछ हद तक यह जीवन आश्रित है। पूर्व जन्मों के संस्कार हमारे जीवन को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। उन संस्कारों के द्वारा ही, जिन्हें वासना कहा जाता है, हमारा वर्त्तमान जीवन तथा भविष्य बनता है। समस्त कर्मों के संस्कार चित्त

में अज्ञात शक्ति रूप से एकत्रित हैं। हमारा चित्त अनादि काल के संस्कारों का पुञ्ज है। अवचेतन चित्त के घटक ही ये संस्कार हैं, जिनकी अभिव्यक्ति स्मृति रूप में उपयुक्त काल में होती है।

ज्ञानज संस्कार केवल हमें स्मृति ही नहीं प्रदान करते बल्कि हमारे संवेदनों को अर्थ प्रदान करने का कार्य भी करते हैं। बिना इन ज्ञानज संस्कारों के हम केवल संवेदनों ( Sensations ) के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञानज संस्कार संवेदनाओं को आत्मसात् ( assimilate ) कर अर्थ प्रदान करते हैं। ज्ञानज संस्कारों को आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रत्यक्ष ( Apperception ) शब्द से बोधित किया जा सकता है। हमारी चेतना में नवीन तत्वों के अर्थ संस्कारों के उस क्षेत्र पर आधारित हैं, जिससे वह सम्बन्धित होते हैं। मन की अवस्था, स्वभाव, आदि सब पर ही चेतन अवस्था के तत्वों का अर्थ आधारित है। ये संस्कार ही जो कि पूर्व के अनुभवों से प्राप्त हैं, हमारे चित्त की अवचेतन अवस्था के घटक हैं। अवचेतन मन के अनेक स्तर, योगदर्शन ने माने हैं, जिनमें कुछ व्यक्ति को बन्धन में बाँधते हैं तथा कुछ आध्यात्मिक प्रगति कराते हैं। व्युत्थान संस्कार, जो कि वृत्तियों के द्वारा चित्त में अंकित हैं, वे स्वयं भी वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। उनके अनुसार ही हमारा ध्यान आकृष्ट होता है और फिर उनके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। इस प्रकार से यह व्युत्थान संस्कार तथा वृत्तियों का चक्र सदैव चलता रहता है। यह संस्कारों का ढाँचा स्वयं हमारे द्वारा निर्मित है। एक विशिष्ट संस्कार के द्वारा हमें विशिष्ट विषय की ही स्मृति होती है, जिसके द्वारा संस्कार अंकित हुये हैं। संस्कारों का प्रत्यक्ष सामान्य रूप से नहीं होता, इन संस्कारों को, जो कि निम्नवृत्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, उत्कृष्ट संस्कारों से समाप्त किया जा सकता है। ये उत्कृष्ट संस्कार उत्कृष्ट वृत्तियों के द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं। ज्ञानज संस्कार, क्लेश संस्कार तथा धर्माधर्म संस्कार को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते, भले ही वे एक दूसरे से भिन्न हैं। उनका कार्य गुणों ( तीनों गुणों ) के समान ही निरन्तर चलता रहता है।

संस्कार दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। ( १ ) व्युत्थान संस्कार। ( २ ) निरोध संस्कार।

व्युत्थान संस्कार को सबीज संस्कार तथा निरोध संस्कार को निर्बीज संस्कार भी कह सकते हैं। सबीज संस्कार ही निरन्तर संसारचक्र को जारी रखनेवाले

हैं, किन्तु इन व्युत्थान संस्कारों में भी अक्लिष्ट संस्कार होते हैं, जो विवेक ज्ञान की तरफ ले जाने के कारण प्रज्ञा संस्कार भी कहे जा सकते हैं। निर्बीज संस्कार वे संस्कार हैं, जिनके द्वारा वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होती। इनके द्वारा सबीज संस्कार नष्ट होते हैं। वृत्ति और संस्कारों का चक्र इन निर्बीज वा निरोध संस्कारों के द्वारा समाप्त हो जाता है।

सबीज संस्कार दो प्रकार के होते हैं—( १ ) क्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाले। ( २ ) अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाले। जो क्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाले संस्कार होते हैं, वे अज्ञानजन्य संस्कार कहे जाते हैं और जो अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाले संस्कार हैं, उन्हें प्रज्ञाजन्य संस्कार कहते हैं। इन क्लेशमूलक सबीज संस्कारों को ही कर्माशय कहा गया है। चित्त में क्लेशों की छाप पड़ती है, अर्थात् क्लेश संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन क्लेश संस्कारों के द्वारा सकाम कर्मों की उत्पत्ति होती है। निर्बीज समाधि के द्वारा जिन योगियों ने क्लेशों को समाप्त कर दिया है केवल वे ही निष्काम कर्म करते हैं, जिनका फल उन्हें भोगना नहीं पड़ता है। कर्माशय शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण ( पुण्य, पाप और पुण्य-पाप मिश्रित अथवा धर्म, अधर्म और धर्म-अधर्म मिश्रित ) तीन प्रकार के होते हैं। प्रज्ञाजन्य संस्कार, जो कि ऊपर कहे गये योगियों के वासनारहित केवल कर्त्तव्यमात्र के लिये किये गये कर्मों के द्वारा होते हैं, जो अशुक्लाकृष्ण कहा जाता है, क्योंकि वे धर्म-अधर्मरूप कर्माशय के समान फल देनेवाले नहीं होते।

रजोगुण प्रेरक होने के कारण बिना उसके क्रिया सम्भव नहीं है। जब वह सत्वगुण के साथ होता है, तो ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य वाले कर्म करवाता है। तमोगुण के संसर्ग से अज्ञान, अधर्म और अनैश्वर्य वाले कर्मों को कराता है। दोनों के समान रूप से साथ रहने पर शुभ-अशुभ वा पाप-पुण्य दोनों ही प्रकार के मिश्रित कर्मों को करवाता है। इन तीनों प्रकार के कर्मों के अनुरूप सबीज संस्कार चित्तमें अंकित होते हैं। इन संस्कारों को ही वासना कहा जाता है, जो कर्मों के फलों को भुगवाती है। पुण्य कर्मों के संस्कारों के द्वारा मनुष्य देवत्व के भोग प्राप्त करता है और पाप कर्मों के संस्कारों के द्वारा निम्नश्रेणी के जीवों के भोगों के तुल्य भोग प्राप्त करता है, और शुभ-अशुभ कर्मों के संस्कार मनुष्यों के सदृश भोग प्रदान करते हैं। जब-तक हमारे कर्मों ( शुभ-अशुभ ) का सुख-दुःख रूप फल प्राप्त नहीं होता, तबतक

वे वासना रूप से हमारे चित्त में विद्यमान रहते हैं। हमारी शरीर और इन्द्रियों की क्रियाओं का वास्तविक कारण हमारी मनोवृत्तियां ही हैं, जिनके द्वारा वासनाओं के संस्कार पड़ते हैं। मनोवृत्तियां अनन्त होने से वासनाओं के संस्कार भी अनन्त हैं। निरन्तर मनोवृत्तिरूप कर्मों के द्वारा वासनायें होती हैं और उन वासनाओं से कर्मो की उत्पत्ति होती रहती है। कुछ कर्माशय इसी जन्म में फल देनेवाले होते हैं, कुछ दूसरे जन्म में फल देते हैं, और कुछ ऐसे कर्माशय होते हैं, जो इस जन्म में भी और अगले जन्म में भी फल देते हैं। कर्माशय अविद्यामूलक होते हैं, क्योंकि वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह के द्वारा उत्पन्न होते हैं। कुछ कर्माशय इस प्रकार के हैं, जो इसी जन्म में फल प्रदान करते हैं तथा कुछ ऐसे हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों में अपना फल प्रदान कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के भी कुछ कर्म होते हैं, जिनके उग्र होने के कारण चित्त पर उग्र संस्कार पड़ते हैं और वे तुरन्त वर्त्तमान जीवन में ही फल देते हैं।

उग्र कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—(१) पुण्यरूप (२) पापरूप। इन दोनों को योग में दृष्टजन्म वेदनीय कहा गया है। उग्र तप आदि अथवा ईश्वर देवता आदि की पूजा आदि कर्मों से चित्त पर उग्र संस्कार पड़ते हैं। वे ही पुण्य कर्माशय कहे जाते हैं, जिनके द्वारा तुरन्त इसी जन्म में फल प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार का महादेव जी की उग्र पूजा आदि से मनुष्य शरीर ही देव शरीर में बदल गया अर्थात् इसी जन्म में उसने देवत्व प्राप्त किया। उग्र पुण्य कर्माशय की तरह ही उग्र पाप रूप कर्माशय भी होते हैं, जो कि दुःखी को सताने, विश्वासघात करने तथा तपस्वियों को हानि पहुँचाने आदि उग्र पापों से होते हैं, जैसे कि नहुष राजा का, उग्र पुण्यों के कारण इन्द्रत्व को प्राप्त करके भी ऋषियों को लात मारने का उग्र पाप करने के कारण अगस्त ऋषि के शाप से, देव-शरीर सर्प-शरीर में बदल गया था। कर्मों की तीव्रता ही समय को निश्चित करती है। कर्मों के संस्कार, जितने अधिक उग्र होंगे उतने ही शीघ्र उनका फल प्राप्त होगा। तुरन्त ही फल प्रदान करनेवाले कर्माशय भी हो सकते हैं। धर्माधर्म रूप कर्माशय अविद्या आदि पंच क्लेश मूलक होने के कारण जाति आयु तथा भोग तीन तरह के फल प्रदान करते हैं। अविद्या आदि क्लेश संस्कारों के नष्ट होने पर कर्माशय फल प्रदान नहीं करते हैं। प्रज्ञासंस्कार से अविद्या आदि क्लेश के संस्कार सूक्ष्मीभूत होते हैं, किन्तु सूक्ष्म होने पर भी रहते सबीज ही हैं जो कि निरोध संस्कार द्वारा ही विनाश को प्राप्त

होते हैं, जिससे जाति, आयु तथा भोग रूप फल नहीं प्राप्त होते। जाति का अर्थ है जन्म जो कि दिव्य (देवताओं की), नारकीय, मानुष तथा तिर्य्यंक आदि की योनियों में होते हैं। आयु जीवन काल को कहते हैं, जिसका अर्थ होता है एक शरीर के साथ जोवात्मा का एक निश्चित समय तक सम्बन्ध रहना। भोग से अर्थ है सुख-दुःख का अनुभव जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन्द्रियों के विषयों से प्राप्त होता है। जिस प्रकार से तुषरहित वा दग्ध बोज (चावल) अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार से विवेक-ज्ञान के द्वारा अविद्या आदि क्लेशों के बोज दग्ध होने से धर्माधर्म-रूप कर्माशय जाति, आयु, भोग रूप फल प्रदान नहीं करते हैं।

वृत्ति रूप अनन्त कर्मों के अनन्त संस्कार चित्त में जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे हैं। कुछ संस्कार प्रबल रूप से जागते हैं, कुछ बहुत धीमे रूप से जागते हैं। प्रथम को प्रधान तथा दूसरों को उपसर्जन कहते हैं। मरने के समय प्रधान संस्कार पूर्ण रूप से जागते हैं और पूर्व सब जन्मों के अपने समान संचित संस्कारों को जगा देते हैं। इन प्रधान संस्कारों के द्वारा ही अगला जन्म तथा आयु निश्चित होती है, जिसमें उन कर्माशयों के अनुसार फल भोगा जा सके। इसमें कर्माशयों के अनुसार भोग भी निश्चित होते हैं। जिस जाति में जन्म होगा उसके ही समस्त पूर्व के जन्मों के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं और उन्हीं के अनुसार उसके कार्य होने लगते हैं। संस्कारों का बड़ा विचित्र जाल है। जब इस प्रकार के प्रधान संस्कार उदय होते हैं, जिनसे हमारा शेर की जाति में जन्म होता है तो हमें हमारे पूर्व समस्त शेर के जन्मों के संस्कार उदय हो जाते हैं और उन्हीं के अनुकूल भोग प्राप्त करते हैं तथा मनुष्य जाति के संस्कार विल्कुल सुप्त रहते हैं। संस्कारों का ही खेल विश्व में चल रहा है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं :—(१) संचित, (२) प्रारब्ध, (३) क्रियमाण। (१) संचित कर्म वे हैं, जो केवल संस्कार रूप से मौजूद हैं, किन्तु उनके फल भोगने की अवधि नहीं आई है। ये कर्म अनन्त जन्म-जन्मान्तरों के हैं (२) कर्माशय के अनन्त कर्मों में कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनको भोगने के लिये हमें वर्त्तमान जाति ओर आयु प्राप्त हुई है, ऐसे कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। (३) क्रियमाण कर्म वे हैं, जिन्हें इस जन्म में हम अपनी इच्छा से संग्रह करते हैं। ये नवीन कर्म नवीन संस्कारों की उत्पत्ति करते हैं, अर्थात् पूर्व के कर्माशयों में वृद्धि प्रदान करते हैं, तथा हमारे अनन्त जन्मों के कर्मों में मिलकर संग्रहित हो जाते हैं।

प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए हमको निश्चित आयु प्राप्त होती है, जिसके द्वारा हम प्रारब्ध कर्मों का फल भोगकर ही शरीर त्याग करते हैं। इस प्रकार से प्रारब्ध कर्मों के संस्कार ही प्रधान कर्माशय हुये और इन्हीं के द्वारा हमारी जाति, आयु और भोग निश्चित होने के कारण इनको नियत विपाक कहा गया है। योगसूत्र में इसे ही दृष्ट-जन्म-वेदनीय कहा गया है।

संचित कर्मों के संस्कारों को सुप्तरूप से रहने के कारण उपसर्जन कहते हैं। इनका फल निश्चित न होने के कारण इन्हें अनियत विपाक कहा गया है। इन कर्मों के भोग भले ही आगे के जन्मों में भोगे जायेंगे, किन्तु इनके भोगने का फल निश्चित नहीं है और इन्हें योग सूत्र में अदृष्ट-जन्म-वेदनीय नाम से सम्बोधित किया गया है।

क्रियमाण कर्मों में से कुछ कर्म तो प्रधान कर्माशय अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के साथ सम्मिलित होकर फल प्रदान करने लगते हैं और उनमें से कुछ कर्म ऐसे हैं, जो संचित कर्मों के साथ मिलकर सुप्त अवस्था को प्राप्त होते हैं तथा विपाक होने पर कभी अगले जन्मों में फल प्रदान करते हैं।

इस प्रकार से अनेकानेक जन्मों के कर्माशयों तथा वर्त्तमान जन्मों के कर्म के संस्कार मिलकर जन्म, मृत्यु के चक्र को चलाते रहते हैं। इन कर्मों के संस्कारों में से प्रारब्ध कर्मों के फलों को भोगकर ही प्राणी को छुट्टी नहीं प्राप्त हो जाती, बल्कि संचित कर्मों में से नियत विपाक होने वाले कर्मों को भोगते रहना पड़ता है और उसमें हर जन्म के क्रियमाण कर्मों के मिश्रित होने से कर्माशयों की वृद्धि होती चली जाती है और उनसे छुटकारा प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

उपर्युक्त कथित संस्कारों में संयम करने से उन संस्कारों का प्रत्यक्ष होता है। संस्कारो के प्रत्यक्ष होने के बाद उन संस्कारों के प्रदान करने वाले पूर्व जन्मों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। संस्कारों के साक्षात्कार हो जाने पर उन देश और काल तथा अन्य साधनों की जिनके द्वारा वे संस्कार प्राप्त हुए थे, स्मृतियाँ भी जागृत हो जाती हैं। पूर्व जन्मों के कर्मफलरूपी संस्कारों में धारणा, ध्यान, समाधि करने से उन समस्त पूर्वजन्मों का ज्ञान प्राप्त होता है। सही तो यह है कि उन संस्कारों से सम्बन्धित शरीर, देश, काल आदि का प्रत्यक्ष हुये बिना संस्कारों का प्रत्यक्ष होना ही सम्भव नहीं है। अतः संस्कारों के साक्षात्कार से पूर्व जन्मों का साक्षात्कार निश्चित रूपसे हो जाता है।

जिन-जिन जन्मों में संस्कार संचित हुए हैं, संस्कारों में संयम करने से किस प्रकार से, कब कब, किन-किन अवस्थाओं में किन-किन कर्मों के द्वारा ये संस्कार पड़े हैं, इन सबकी स्मृति जागृत हो जाती है। जिस तरह से बीज में अप्रत्यक्ष रूप से समस्त वृक्ष विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार से इन बीज रूपी संस्कारों में कर्मों के समस्त रूप विद्यमान रहते हैं। अतः संस्कारों में संयम करने से कर्मों का ज्ञान भी, जिनके वे संस्कार हैं, निश्चित रूप से हो जाता है। जिस प्रकार से अपने संस्कारों में संयम करने से, उनसे सम्बन्धित पूर्वजन्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार से अन्य व्यक्तियों के संस्कारों में संयम करने से उन व्यक्तियों के भी पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस रूप से उन पड़े हुए समस्त संस्कारों में, जिनका भोग आने वाले अग्रिम जन्मों में प्राप्त होनेवाला है, संयम कर लेने से आगे आनेवाले जन्मों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिन योगियों के संचित कर्मों के संस्कार विवेक ख्याति के द्वारा दग्धबीज हो गये हैं, तथा क्रियमाण कर्म संस्कार उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन योगियों के तो भावी जन्म होने की सम्भावना ही नहीं है। अतः केवल उन्हीं व्यक्तियों के भावी जन्मों का सम्भावित ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिनके कि संचित कर्म संस्कार दग्धबीज नहीं हुए हैं तथा क्रियमाण कर्म संस्कार भी बन रहे हैं।

संस्कारों की तुलना फोटोग्राफ की नेगेटिव प्लेट, ग्रामोफोन रेकार्ड वा टेपरेकार्डर से की जा सकती है। जब तक चित्त में संस्कार रहेंगे, तब तक उनके भागों के लिये जन्म लेकर कर्म फल भोगने ही पड़ेंगे, जैसे जब तक टेपरेकार्डर, ग्रामोफोन रेकार्ड अथवा फोटोग्राफ के नेगेटिव संस्कारों को समाप्त नहीं कर देंगे, तब तक वे अपना रेकार्ड किया हुआ अंश प्रगट करने की शक्ति रखते ही रहेंगे। उस शक्ति के समाप्त हो जाने पर वे उन अंशों को प्रगट नहीं कर सकेंगे। उसी प्रकार से संस्कारों के दग्धबीज हो जाने पर, कर्मफल प्राप्त नहीं हो सकते। योग में इसके लिये विधियां बताई गई हैं।

व्युत्थान संस्कार चित्त में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। जब तक दूसरे प्रकार के संस्कार समाधि के द्वारा नहीं पड़ते, तब तक इन संस्कारों में रुकावट नहीं आती। अविद्या मूलक संस्कार ही क्लिष्ट संस्कार होते हैं, जिनके द्वारा प्राणी क्लेश पाता रहता है। व्युत्थान संस्कारों में विद्या संस्कार भी आते हैं, जो कि इन अविद्या संस्कारों के विरोधी हैं। इन विद्या संस्कारों के द्वारा क्लिष्ट संस्कारों का नाश हो सकता है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में प्रज्ञामूलक

संस्कार उत्पन्न होने से अविद्यामूलक संस्कार क्षीण होते चले जाते हैं, क्योंकि ये नवीन-नवीन प्रज्ञाकृत संस्कार उत्पन्न होकर क्लिष्ट संस्कारों को कम करते चले जाते हैं। सम्प्रज्ञात् समाधि के निरन्तर अभ्यास से विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होती है। यह विवेक ख्याति की अवस्था विद्या की अन्तिम अवस्था है, जिसके द्वारा अविद्या मूलक समस्त संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं, और फिर उनके द्वारा कर्मफल प्राप्त नहीं होते हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने के लिये निरन्तर प्रज्ञा से संस्कार तथा संस्कार से प्रज्ञा उत्पन्न होती रहती है। इस प्रकार का चक्र निरन्तर चलता रहता है, जिससे कि विवेक ख्याति का उदय होकर चित्त भोग आदि के अधिकार वाला नहीं रह जाता है क्योंकि भोग आदि अधिकार वाला तो केवल क्लेश आदि वासनाजन्य संस्कारों वाला चित्त ही होता है। विवेक ख्याति भी चित्त की वृत्ति है; उसके भी संस्कार होते हैं। इन संस्कारों का भी निरोध होना आवश्यक है। पर वैराग्य के द्वारा उनका भी निरोध हो जाता है और इसके होने से समस्त संस्कारों का निरोध होकर निर्बीज समाधि प्राप्त होती है।

व्युत्थान संस्कार का दबना निरोध संस्कार के द्वारा होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त इन तीनों चित्त की भूमियों को व्युत्थान कहते हैं, जो कि सम्प्रज्ञात समाधि की तुलना में व्युत्थान हैं। यही नहीं असम्प्रज्ञात् समाधि की तुलना में सम्प्रज्ञात समाधि भी व्युत्थान ही है। सही रूप में तो व्युत्थान संस्कार निरोध संस्कार के बिना नष्ट नहीं हो सकते। व्युत्थान संस्कार के समान ही निरोध संस्कार भी चित्त के धर्म होते हैं, और इसीलिये चित्त में सदैव बने रहते हैं। केवल कैवल्य अवस्था में ही इनकी निवृत्ति चित्त के साथ साथ ही हो जाती है। व्युत्थान संस्कारों का उपादान कारण अविद्या है। जबतक यह उपादान कारण चित्त में विद्यमान रहेगा, तबतक व्युत्थान संस्कार चित्त से अलग नहीं हो सकते। इसलिये ही उनकी निवृत्ति के लिये निरोध संस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। व्युत्थान संस्कार से निरोध संस्कार प्रबल होते हैं, किन्तु फिर भी अभ्यास में कमी आने से उनमें कमी आ जाती है, और व्युत्थान संस्कार फिर से प्रबल हो जाते हैं। इसलिये असम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास निरन्तर चलता रहना चाहिये। जिस प्रकार से विवेक ख्याति रूप अग्नि से दग्ध बीज हुए क्लेश अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार से विवेक ख्याति के अभ्यास की अग्नि से समस्त पूर्व जन्मों के व्युत्थान संस्कार जल जाने के कारण व्युत्थान की वृत्तियों को पैदा

नहीं करते। व्युत्थान संस्कारों का उदय होना तो विवेकख्याति की अपरिपक्व अवस्था का द्योतक है। परिपक्वावस्था हो जाने पर व्युत्थान संस्कारों का सदैव के लिये निरोध हो जाता है। विवेक के संस्कार भी निरोध संस्कारों से नष्ट किये जाते हैं, और निरोध संस्कारों को भी असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा समाप्त किया जाता है। विवेक ज्ञान से विवेक ज्ञान के संस्कारों की उत्पत्ति होती है। उन विवेक ज्ञान के संस्कारों से व्युत्थान संस्कारों को नष्ट किया जाता है और विवेक ज्ञान के संस्कारों को निरोध संस्कारों से समाप्त करना चाहिये, उसके बाद निरोध संस्कारों की भी समाप्ति असम्प्रज्ञात समाधि से करनी चाहिये। इस प्रकार की साधना का अन्तिम फल कैवल्य है।

# अध्याय १७

## क्रिया योग (The Path of Action)※

पातंजल योग सूत्र[1] में कर्मों का विवेचन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। ऐच्छिक क्रियाओं का बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। भावनायें, क्लेश, संवेग आदि ही हमारे कर्मों के प्रेरक हैं। उन्हीं के द्वारा कर्मों में प्रवृत्ति होती है। जिन विषयों से हमें सुख प्राप्त होता है, उनके प्रति हमें राग हो जाता है, तथा जिन विषयों से हमको दुःख प्राप्त होता है, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सुख प्रदान करने वाले विषयों में बाधक विषयों के प्रति तथा सुख में विघ्न पहुँचाने वाले विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, राग के द्वारा ही द्वेष की उत्पत्ति होती है और ये राग द्वेष ही प्रयत्नों का कारण हैं। राग द्वेष के बिना प्रयत्नों का उदय नहीं होता है, जो कि मानसिक, शाब्दिक वा शारीरिक चेष्टा का कारण हैं। जितने भी संकल्प होते हैं, वे या तो राग के कारण वा द्वेष के कारण ही होते हैं। राग के कारण प्रिय विषयों की प्राप्ति की इच्छा होती है तथा द्वेष के कारण उन दुःख देने वाली वस्तुओं से निवृत्ति प्राप्त करने की इच्छा होती है। ये इच्छायें ही हमें कर्म में प्रवृत्त करती हैं और इनके द्वारा जो चेष्टायें वा क्रियायें होती हैं उन्हें ही ऐच्छिक क्रियायें कहते हैं। ऐच्छिक क्रियायें सुख या दुःख को प्रदान करने वाली होती हैं। हमारी कुछ ऐच्छिक क्रियाओं के द्वारा दूसरों को सुख लाभ होता है, दूसरों का हित होता है, तथा कुछ ऐसी क्रियायें होती हैं जिनके द्वारा दूसरों को दुःख होता है, उनको हानि पहुँचती है। जिन ऐच्छिक क्रियाओं के द्वारा समाज का हित होता है, वे कर्म धर्म को उत्पन्न करने-वाले होते हैं। जिन कर्मों के द्वारा समाज का अहित होता है तथा जो समाज के लिये घातक होते हैं, उन कर्मों से अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं। उन्हीं पूर्व के किये गये बुरे कर्मों से अधर्म तथा भले कर्मों से धर्म की उत्पत्ति होती है। उनके कारण ही वर्तमान में

---

※विशद विवेचन के लिये हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रंथ देखने का कष्ट करें। १. पा. यो. सू.—४।७, ८;

दुःख तथा सुख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से क्लेश से कर्म, कर्म से धर्म-अधर्म रूप कर्माशय तथा उनके द्वारा जाति, आयु, भोग आदि प्राप्त होता है। और यह चक्र निरन्तर चलता ही रहता है क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। अविद्या ही क्लेशों को उत्पन्न करती है। अविद्या से अस्मिता की उत्पत्ति होती है और अस्मिता से ही राग द्वेष आदि समस्त क्लेशों का उदय होता है; और इन क्लेशों से ही कर्म तथा उनके धर्म अधर्म रूप कर्माशय जिनके फलस्वरूप जाति, आयु, भोग का चक्र चलता रहता है।

कर्म स्वयं में फल के देने वाले नहीं होते हैं। उनके करने में हमारी मनोवृत्ति ही धर्म अधर्म रूपी कर्माशय की उत्पत्ति का कारण होती है। इच्छाओं और वासनाओं के द्वारा ही कर्मों में बन्धन शक्ति आती है। कर्म अगर स्वयं बन्धन का कारण होते अर्थात् धर्माधर्म रूप कर्माशय को उत्पन्न करनेवाले होते तो संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त करना असम्भव हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता।

योग में ऐच्छिक क्रियाओं के नैतिक वर्गीकरण में चार प्रकार के कर्म बताये गये हैं। वे चार निम्नलिखित हैं:—

१—शुक्ल ( पुण्य वा धर्म )।
२—कृष्ण ( पाप वा अधर्म )।
३ - शुक्ल-कृष्ण ( पुण्य-पाप मिश्रित )।
४—अशुक्ल-अकृष्ण ( न पुण्य न पाप )।

१—शुक्ल ( धर्म वा पुण्य ) :—ये धर्म परहित, अहिंसा, तप, स्वाध्याय आदि करने वाले व्यक्तियों के होते हैं। तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि से किसी भी प्रकार का सामाजिक अहित नहीं होता, इसलिये ये कर्म धर्म को ही उत्पन्न करने वाले होते हैं। इन शुभ कर्मों से जो धर्म रूप कर्माशय उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है। इन कर्मों से उनके फल के अनुसार ही वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है। अतः उन्हें भी कर्म फल भोगने के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। वर्तमान जीवन में पूर्व के धर्म रूपी कर्माशय के ही फल को सुख रूप में भोगते हैं। यह कर्म भी हमारी मनोवृत्ति से प्रभावित होने के कारण हमें निश्चितरूप से फल भुगवाते हैं। अतः संसार के चक्र में डाले रहते हैं।

२—कृष्ण ( पाप वा अधर्म ):—समाज के लिये अकल्याणकारी कर्म जैसे, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, बलात्कार आदि जितने भी असामाजिक कर्म हैं, वे सभी कृष्ण कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति को ही दुरात्मा, पापी कहा जाता है। इन दुष्कर्मों से जो अधर्म रूप कर्माशय उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति को दुःख प्राप्त होता है। इन कर्मों से उनके फल के अनुसार ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अतः प्राणी को इन पापकर्मों का फल भोगने के लिये उसके अनुरूप ही जन्म प्राप्त होता है। वर्तमान जीवन में पूर्व के अधर्म रूपी कर्माशय के ही फल को दुःख रूप में भोगते हैं। ये पाप कर्म भी हमारी मनोवृत्ति से प्रभावित होने के कारण हमें निश्चित रूप से फल भुगवाते हैं। अतः संसार के चक्र में डाले रहते हैं।

३—शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप मिश्रित)—साधारण रूप से सामान्य मनुष्यों के द्वारा किये गये कर्म ऐसे होते हैं, जो कि समाज में किसी को अहित करके दुःख देने वाले होते हैं तथा किसी को हित करके सुख देने वाले होते हैं। अतः किसी को सुख और किसी को दुःख देने वाले होने के कारण वे पुण्य-पाप मिश्रित कर्म कहलाते हैं। इन कर्मो के फलों के अनुकूल गुणों वाली ही वासनायें उत्पन्न होती हैं, तथा प्राणी उन कर्मो के फल के अनुसार ही जन्म, आयु, आदि प्राप्त करता है, तथा उनके अनुसार ही सुख, दुःख भोगता है। ये वासनायें कर्म में प्रवृत्त करती हैं और उन्हीं कर्मों के अनुसार फिर वासनायें बनती हैं। इन पुण्य-पाप मिश्रित कर्मों को करवानेवाली प्राणियों की मनोवृत्तियों के कारण, उन्हीं के अनुसार सुख दुःख रूपी कर्म फल भोगने का चक्र निरन्तर चलता रहता है। जितने भी कर्म किसी को कष्ट तथा किसी को सुख देने वाले उभय जनक होते हैं, वे सभी शुक्ल-कृष्ण कर्म कहे जाते हैं।

उपर्युक्त ये तीनों प्रकार के कर्म लगाव वा वासना पूर्ण कर्म होने के नाते प्राणियों को निरन्तर कर्माशयों के द्वारा उनके अनुकूल फलभोग प्रदान करने के लिये संसार चक्र को चलाते रहते हैं। संसार चक्र ही इन वासनापूर्ण कर्मो के कारण है। अतः कर्म स्वतः में फल प्रदान करने वाले नहीं होते, बल्कि मनोवृत्ति ही फल प्रदान करती है, जोकि नीचे दिये हुए अशुक्ल-अकृष्ण कर्मों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

अशुक्ल-अकृष्ण :—फलों की आशा रहित निष्काम कर्म अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होते हैं वे कर्म समाज में किसी को हानि तथा किसी को लाभ पहुँचाने की

मनोवृत्ति से नहीं किये जाते हैं। कर्म जब भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं किये जाते तो उनके धर्माधर्म रूप कर्माशय नहीं बनते, अतः वे कर्मफल नहीं प्रदान कर सकते हैं। योगी लोगों के ही कर्म इस प्रकार के होते हैं। अविद्या आदि क्लेशों से प्रेरित होकर वे कर्म नहीं करते हैं। बंधन का कारण तो लगाव है। कर्म वासनायें ही कर्मो का फल देती हैं। वासनारहित कर्म न तो धर्म रूप होते हैं और न अधर्म रूप। गीता के १८वें अध्याय के श्लोक २ में भी इसी भाव को व्यक्त किया है।

> काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
> सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ गी० १८-२ ॥

ज्ञानी लोग समस्त काम्य कर्मो के छोड़ने को संन्यास कहते हैं तथा पंडित लोग सब कर्मो के फलों के त्याग को ही त्याग कहते हैं।

जहां तक कर्मों का प्रश्न है उनको तो किये बिना रहा ही नहीं जा सकता, किन्तु कर्म में प्रवृत्त करने वाले अविद्या आदि पंच क्लेश नहीं होने चाहिये। योगियों के समस्त कर्म ऐसे ही होते हैं। वे समस्त कर्मो तथा उनके फलों को ईश्वर को समर्पित कर अपने आप हर प्रकार के बन्धन से मुक्त रहते हैं। वे केवल कर्तव्य के लिये ही कर्तव्य करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट के अनुसार भी भावनाओं और मनोवेगों के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करना अनैतिक है। सच तो यह है कि आत्मसन्तुष्ट व्यक्ति के लिये अपना कोई कार्य रह ही नहीं जाता है। उसके समस्त कार्य ईश्वर तथा समाज के कार्य होते हैं। उनको स्वयं कर्म करने न करने से कोई लाभ नहीं होता है। इस प्रकार के कर्म आसक्ति रहित होते हैं। ज्ञानी जानता है कि कर्म गुणों के द्वारा होते हैं। इसलिये वह अज्ञानी की तरह अहंकारवश अपने को कर्ता समझ कर उनमें आसक्त नहीं होता है। गीता में बड़े सुन्दर ढंग से इनका वर्णन पांचवे अध्याय के १०, ११ और १२वें श्लोकों में किया गया है।

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
> कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
> युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
> अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को ब्रह्म अर्पित कर आसक्ति रहित कर्म करता है वह जल में कमल के पत्ते के समान पाप से निर्लिप्त रहता है ।। १० ।।

निष्काम कर्म योगी केवल आत्म शुद्धि के लिए ही अहंकार बुद्धि रहित, आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से ही कर्म करते हैं ।।११।।

योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्म योगी कर्म के फलों को त्याग कर ( ब्रह्मार्पित करके ) परम शान्ति प्राप्त करता है ; तथा जो योग युक्त नहीं है अर्थात् सकामी व्यक्ति वासना से फलों में आसक्त होकर बँध जाता है ।।१२।।

सच तो यह है कि हमारे सुख दुःख का तथा पाप पुण्य का सारा जाल त्रिगुणात्मक प्रकृति का है। अज्ञान के कारण त्रिगुण ( सत्त्व, रजस्, तमस् ) अव्यय, निर्विकार, आत्मा को शरीर से बांधते हैं; इस बंधन के कारण आत्मा अपने को सीमित समझने लगता है। सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीनों गुण ही आत्मा को बांधते हैं। सत्त्व सुख और ज्ञान से, रागात्मक रजोगुण तृष्णा और आसक्ति को पैदा कर कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा तथा मोहात्मक तमोगुण आलस्य निद्रा तथा प्रमाद से प्राणी को बांधते हैं। ये गुण अहंकार को पैदा करने वाले होने से ही बांधते हैं। बंधन रहित होने के लिए अहंकार को समाप्त करना चाहिए। अतः सब कर्म भगवान् को समर्पित करने चाहिए, जिससे कि कर्म करने का अभिमान समाप्त हो जाता है और वे कर्म फल प्रदान करने में असक्त हो जाते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारण व्यक्तियों के तीन प्रकार के कर्म शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण मिश्रित क्रम से धर्म, अधर्म तथा धर्माधर्मरूपी कर्माशयों को उत्पन्न करने वाले होने के कारण व्यक्ति को जन्म, मरण के चक्र में निरन्तर घुमाते रहते हैं, किन्तु निष्काम कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। योग सूत्र के साधनपाद में क्रियायोग का वर्णन है। कर्मयोग को ही क्रियायोग कहा गया है। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग इसलिए कहा गया है कि ये कर्मयोग के साधन हैं। हर व्यक्ति एकाग्र चित्त वाला नहीं होता। जो व्यक्ति चंचल चित्त वाले होते हैं उनके लिए तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान को बताया गया है जिससे उनका चित्त शुद्ध तथा स्थिर हो सके। समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिए तो अभ्यास तथा वैराग्य की अनेक विधियाँ योगसूत्र के प्रथम पाद में वर्णित हैं, किन्तु विक्षिप्त चित्त अर्थात् राग-द्वेष,

---

१. गीता १४-५ से ६ तक।

तथा सांसारिक वासनाओं वाले मलिन चित्त अभ्यास तथा वैराग्य साधन नहीं कर सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों के चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास तथा वैराग्य साधन कर सकें इसके लिए योगसूत्र के दूसरे पाद में क्रिया योग सहित यम, नियम आदि का वर्णन है। चित्त शुद्धि का सरल, उपयोगी तथा असंदिग्ध उपाय क्रिया योग है। अतः तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी योग के साधन हैं[1]। अविद्या आदि पंच क्लेशों के चित्त में अनादि काल से पड़े हुए संस्कारों को क्षीण करके साधक को योग युक्त बनाने के लिए क्रिया योग है[2]। बिना क्लेशों को क्षीण किए अभ्यास तथा वैराग्य सुगमता से नहीं हो सकते। क्रियायोग से समाधि सिद्ध होती है तथा क्लेश क्षीण होते हैं। क्लेश क्षीण होने तथा समाधि अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था विवेक ख्याति प्राप्त होती है। इस विवेक ज्ञान रूपी आग से क्रियायोग के द्वारा क्षीण किये हुए क्लेशों के संस्कार रूपी बीज भस्म हो जाते हैं जिससे फिर वे क्लेश प्रदान करने योग्य ही नहीं रहते।

तप :—तप शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन को उचित रीति से नियंत्रित करने का साधन है। तप के बिना अनादि काल के रजस तथा तमस प्रेरित कर्मों, क्लेशों तथा वासनाओं से मलिन चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती है। तप के द्वारा ही साधक गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, सुख-दुःख, तथा मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों में भी स्थिर होकर योग में लगा रह सकता है। राजसी तथा तामसी तप की योग में निन्दा की गई है क्योंकि उनके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों में रोग तथा पीड़ा और चित्त में अप्रसन्नता होती है। जिस प्रकार स्वर्णादि धातुओं के मल को अग्नि जला देती है ठीक उसी प्रकार से तप से साधक का तमो गुणी आवरण रूपी मल जल जाता है।

तप के द्वारा शरीर स्वस्थ, स्वच्छ, निर्मल तथा हलका हो जाता है। शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर में अणिमा ( शरीर को सूक्ष्म कर लेना ), लघिमा ( शरीर को हलका कर लेना ), महिमा ( शरीर को बड़ा कर लेना ), प्राप्ति ( पृथ्वी पर बैठे-बैठे ही उँगली के पोरे से चन्द्रमा को छू सकना ), प्राकाम्य ( इच्छा पूर्ण होने में कोई रुकावट न होना अर्थात् जो

---

१. यो० सू० भा० २-१

२. यो० सू० भा० २-२

चाहे सो प्राप्त होना। वाशित्व ( समस्त भूतों तथा पदार्थों को वश में करना ), ईशितृत्व ( ईश्वरत्व प्राप्त होना अर्थात् ईश्वर के समान शक्ति प्राप्त होना ), यत्रकाभावसामित्व ( योगी के संकल्प के अनुसार पदार्थों के गुण हो जाना। योगी संकल्प से विष में अमृत के गुण पैदा कर सकता है किन्तु ऐसा करता नहीं), आदि शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण आदि इन्द्रियों की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।[1] तप का पूर्ण रूप से अनुष्ठान होने पर तम रूप अशुद्धियां नष्ट होकर अणिमादि सिद्धियां, आवरण हटने के कारण, स्वतः प्रकट हो जाती हैं।

शरीर के ऊपर नियंत्रण करके उसमें गर्मी, सर्दी आदि सहने की शक्ति पैदा करना कायिक तप है, वाणी पर संयम करना वाणी का तप है। मन से अपवित्र अर्थात् बुरे विचारों को हटाते हुये मन को संयत करना मन का तप है। गीता के १७ वें अध्याय में तप के पहले, शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीन भेद किये हैं।[2] तथा उसके बाद प्रत्येक के सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद दिये गये हैं।[3] यथा :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

---

१. योग भा० २।४३.
२. गीता १७।१४, १५, १६.
३. गीता १७।१७, १८, १९.

शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों को पूजा को कायिक तप कहते हैं ॥१४॥

मन को उद्विग्न न करने वाले, प्रिय तथा हितकारक बचनों और स्वाध्याय के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं ॥१५॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मुनियों के समान वृत्ति, आत्मनियंत्रण तथा शुद्ध भावना रखने को मानस तप कहते हैं ॥१६॥

मनुष्य का, फल की आशा से रहित परम श्रद्धा तथा योग युक्त होकर इन तीनों प्रकार के तपो को करना सात्विक तप कहलाता है ॥१७॥

सत्कार, मान, पूजा वा पाखण्ड पूर्वक किया गया तप चंचल और अस्थिर राजस तप कहलाता है ॥१८॥

मूढ़ता पूर्वक, हटपूर्ण, स्वयं को कष्ट देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिये किया गया तप तामस तप कहलाता है ॥१९॥

स्वाध्याय :—वेद, उपनिषद् पुराण आदि तथा विवेकज्ञान प्रदान करनेवाले सांख्य, योग, आध्यात्मिक शास्त्रो का नियम पूर्वक अध्ययन तथा गायत्री आदि मंत्रों का ओंकार के सहित जाप स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय निष्ठा जब साधक को प्राप्त हो जाती है तब उसे उसकी इच्छानुसार देवता, ऋषियों तथा सिद्धों के दर्शन होते हैं तथा वे उसको कार्य सम्पादन में सहायक होते हैं।

ईश्वर-प्रणिधान :—अपने समस्त कर्मो के फल को परम गुरू परमात्मा को समर्पित करना वा कर्मफल त्यागना ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधान ईश्वर की एक विशेष प्रकार की भक्ति है; जिसमें भक्त शरीर, मन, इन्द्रिय, प्राण आदि तथा उनके समस्त कर्मों को उनके फलों सहित अपने समस्त जीवन को ईश्वर को समर्पित कर देता है।

शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥ यो. व्यास भा. २।३२॥

जो योगी बिस्तर तथा आसन पर बैठे हुये, रास्ते में चलते हुये अथवा एकान्त में रहता हुआ हिंसादि वितर्क जाल को समाप्त करके ईश्वर प्रणिधान करता है,

वह निरन्तर अविद्यादि को जो कि संसार के कारण हैं नष्ट होने का अनुभव करता हुआ तथा नित्य ईश्वर में युक्त होता हुआ जीवन-मुक्ति के नित्य सुख को प्राप्त करता है।

ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि की सिद्धि होती है।[1] इस भक्ति विशेष तथा कर्मों के फल सहित समर्पण से योगमार्ग विघ्नरहित हो जाता है। अतः शीघ्र ही समाधि की सिद्धि होती है। योग के अन्य अंगों का पालन विघ्नों के कारण बहुत काल में समाधि सिद्धि प्रदान करता है। ईश्वर प्रणिधान उन विघ्नों को नष्ट कर शीघ्र ही समाधि की सिद्धि प्रदान करता है। अतः ईश्वर प्रणिधान अत्यधिक महत्व पूर्ण है।

अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति की असीम अवस्था, अपने समस्त कार्यों को सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर को सौंप कर अनासक्त तथा निष्काम भाव से केवल कर्त्तव्य रूप से अपने को साधनमात्र समझते हुये करने से पैदा होती है।[2] आत्म विश्वास ईश्वर भक्ति की देन है। भक्तों की संकल्प शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। उनके द्वारा साधारण रूप से ही अद्भुत चमत्कार होते रहते हैं जिसको विज्ञान समझ ही नहीं सकता है। इसका कारण है कि उनकी इच्छा ईश्वर की इच्छा तथा उनके सब कार्य ईश्वर के ही कार्य होते हैं। भक्त अनुचित तथा स्वार्थ से तो कुछ करता ही नहीं है। उसकी वाणी से जो निकलता है वह सत्य उचित तथा अहिंसात्मक होता है। उसके क्षेत्र में ईश्वरीय शक्ति की अभिव्यक्ति होती रहती है। संसार की कोई शक्ति उसका मुक़ाबिला नहीं कर सकती है।

योग में ईश्वर उस पुरूष विशेष को कहा है जो अविद्या आदि पंच क्लेश, क्लेशों से उत्पन्न पुण्य पाप कर्मों के फल तथा वासनाओं से त्रिकाल में असम्बद्ध रहता है। ईश्वर का अन्य पुरूषों के समान चित्त में व्याप्त क्लेशों के साथ औपाधिक सम्बन्ध भी नहीं है। अतः वह अन्य पुरूषों से भिन्न है। ईश्वर में कोई भी क्लेश आरोपित नहीं होता है। ईश्वर मुक्त तथा प्रकृतिलीन पुरुष आदि से भी भिन्न है। वह भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों काल में कभी भी बद्ध तथा क्लेशों से सम्बन्धित नहीं रहता है। वह तो सदा मुक्त है किन्तु मुक्त तथा

---

१—यो० व्या० भा० १।२३ २।४५

२—भगवद्गीता ६—२२, २७, २८, ३४

प्रकृतिलीन आदि सदा मुक्त नहीं हैं क्योंकि मुक्तात्मा ने भूत काल के बन्धनों को योग साधनों द्वारा समाप्त करके मुक्तावस्था का कैवल्य प्राप्त किया है तथा प्रकृतिलीन भविष्य में बन्धन को प्राप्त करने वाले हैं। प्रकृतिलीन योगियों को प्राकृत-बन्धन होता है, जब उनकी अवधि समाप्त हो जाती है तब वे संसार में आते हैं तथा क्लेशों से संबन्धित हो जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा से ईश्वर भिन्न है। ईश्वर बुद्धिगत काल्पनिक सुख दुःख भोग से त्रिकाल में भी सम्बद्ध नहीं होता है। इसी कारण उसे पुरुष विशेष कहा गया है। समस्त जीवात्माओं का क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) (यो० २।३), कर्म (पुण्य, पाप, पुण्य-पाप तथा पुण्य पाप रहित) (यो० ४।७), विपाक (कर्मों के फल) (यो० २।१३), तथा आशय (कर्मों के संस्कार) (यो० २।१२) से अनादि सम्बन्ध है किन्तु ईश्वर का इनसे न तो कभी सम्बन्ध था, न है तथा न कभी भविष्य में होने की सम्भावना ही है। अज्ञान रहित होने के कारण वह इनसे सम्बन्धित नहीं है। ईश्वर में ऐश्वर्य तथा ज्ञान की पराकाष्ठा है। वह नित्य, अनादि, अनन्त और सर्वज्ञ है। उससे बढ़कर कोई है ही नहीं। वह धर्म, वैराग्य आदि की पराकाष्ठा का आधार है। वह काल की सीमा से परे है। ब्रह्मादि उत्पत्ति तथा विनाश वाले होने के कारण काल-परिच्छिन्न हैं किन्तु ईश्वर सदा विद्यमान रहते हैं। ईश्वर को इसलिये काल से अपरिमित, सब पूर्वजों तथा गुरुवों का भी गुरु कहा है। सृष्टि के समय ब्रह्मादि की उत्पत्ति होती है तथा महा प्रलय में नाश होता है, किन्तु ईश्वर की किसी भी काल में न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। ईश्वर ही ब्रह्मादि को उपदेश द्वारा ज्ञान देता है। ईश्वर में छः अंग (सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतनता और अनन्त शक्ति) तथा दस अव्यय (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्म सम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व) सदा मौजूद रहते हैं।[1] ईश्वर के सान्निध्य मात्र से प्रकृति की साम्य अवस्था भंग हो जाती है। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। पुरुष तथा प्रकृति दोनों से अलग है। वह प्रकृति तथा पुरुषों को उत्पन्न नहीं करता। वे तो अनादि हैं। उनकी न तो उत्पत्ति होती है न विनाश। प्रत्येक पुरुष अपना कैवल्य बिना ईश्वर के भी प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का पुरुषों से कोई जैविक सम्बन्ध नहीं है। वह प्रकृति के विकास की बाधाओं को

---

१. वायु पु० १२-३१, १०-६०

दूर कर सकता है। योग में एक ईश्वर को मानते हुये भी बहुत से देवताओं को माना है जो अविद्या के कारण संसार चक्र में पड़े हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ही वेदों को रचता वा अभिव्यक्त करता है। वेदों के द्वारा ईश्वर सबको ज्ञान प्रदान करता है। पुरुषों को मुक्त करने के लिये ही वह दया से प्रेरित होकर सृष्टि करता है। उसका कोई स्वार्थ नहीं है। जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक अपने समस्त कर्मों को उनके फल सहित ईश्वर को समर्पित कर उसकी आराधना करते हैं वह उनकी बाधाओं को हटाकर उन्हें मोक्ष प्रदान करने में सहायक होता है।

ईश्वर का बोध करानेवाला शब्द ॐ है।[1] प्रणव ( ओम् ) का जप तथा उसमें निहित अर्थ की भावना अर्थात् ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करना ही ईश्वर-प्रणिधान है। चित्त को सब तरफ से हटाकर ईश्वर पर लगाना ही भावना है जिसके द्वारा चित्त एकाग्र होकर शीघ्र समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रणव के जप तथा ईश्वर भावना के द्वारा योगियों को विवेक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। सब प्रकार से मन इन्द्रियों का संयम कर ॐ का जप तथा ईश्वर स्मरण निरन्तर करते रहनेवाले को निश्चय ही कैवल्य प्राप्त होता है। ईश्वर प्राणिधान से प्रथम आत्म साक्षात्कार प्राप्त होता है फिर ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

भक्त पर भगवान् अनुग्रह रखते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति करते रहते हैं। ईश्वर-प्रणिधान से योगाभ्यास में उपस्थित होनेवाले समस्त विघ्न दूर होते हैं।[2] व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व तथा अनवस्थितत्त्व ये चित्त के नौ विक्षेप ही योगाभ्यास में उपस्थित होनेवाले विघ्न हैं। इन नौ विघ्नो के द्वारा चित्त में विक्षेप पैदा होते हैं जिससे चित्त की एकाग्रता हटती है।[3] धातु, रस तथा करण की विषमता को व्याधि कहते हैं। शरीर के रोगी होने से योग का अभ्यास नहीं हो सकता है अतः व्याधि समाधि में विघ्न रूप है। इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने की क्षमता न होना स्त्यान है। योगाभ्यास न हो सकने से यह भी योग में विघ्न रूप ही है। संशय युक्त पुरुष भी योगाभ्यास नहीं कर सकता है क्योंकि योग

---

१. योग सू० १-२७ ( तस्य वाचक प्रणवः ॥२७॥ )

२. योग सू० १-३०

३. यो० सू० व्या० भा० १-३०

साध्य है वा असाध्य आदि दो कोटियों को विषय करता रहता है। अतः संशय भी योगाभ्यास में विघ्न है। उत्साह पूर्वक समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है जिससे समाधि अभ्यास की रुचि ही नहीं होती अतः उसमें विघ्न होता है। आलस्य के द्वारा शरीर तथा मन में भारी-पन होने से समाधि में विघ्न पड़ता है; योगाभ्यास नहीं हो पाता है। विषयों में तृष्णा बने रहने को अविरति कहते हैं, जिससे वैराग्य का अभाव बना रहता है। जब योग के साधन असाधन प्रतीत हो तथा असाधन साधन प्रतीत हों तो इस प्रकार के भ्रान्ती दर्शन से समाधि मे विघ्न पैदा होता है। किसी प्रतिबन्धक के कारण समाधि प्राप्त न होना अलब्ध-भूमिकत्व कहा जाता है तथा समाधि प्राप्त करके भी उस पर चित्त स्थिर न रहना अनवस्थितत्व कहा जाता है। इसमें पूर्ण रूप से चित्त के विरुद्ध न होने पर भी साधारण निरोध में ही मस्त होकर साधक अभ्यास छोड़ बैठता है इसीलिये यह समाधि में विघ्न रूप है।

इन नौ प्रकार के विक्षेपों के साथ साथ दुःख, दौर्मनस्य अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास ये पांच प्रतिबन्धक भी रहते हैं।[२] दुःख के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक तीन भेद होते हैं। शरीर को होने वाली ज्वरादि व्याधियों तथा काम क्रोधाधि मानसिक दुःखों को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। चौर, सर्प आदि अन्य प्राणियों से प्रदान किया गया दुःख आधिभौतिक दुःख होता है। वर्षा, बिजली, ग्रह पीड़ा, उग्र गर्मी तथा अनावृष्टि आदि दैवी शक्तियों के द्वारा प्रदान दुःखों को आधिदैविक दुःख कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के दुःखों से समाधि में विक्षेय पड़ता है। अतः ये भी अन्तराय रूप ही हैं। इच्छा की अपूर्ति से जो मनः क्षोभ होता है उसे दौर्मनस्य कहते हैं। वह भी चित्त को क्षुब्ध करने के कारण समाधि में विघ्नरूप है। शरीर के अंगों के कांपने को अंगमेजयत्व कहते हैं जो कि आसन का विरोधी होने से समाधि में विघ्न कारक है। श्वास ( बिना चाहे ही बाहर की वायु का भीतर जाना ) तथा प्रश्वास ( बिना चाहे ही भीतर की वायु का बाहर जाना ) दोनों ही प्राणायाम में विरोधी होने से समाधि में विघ्नरूप हैं।

ये सब उपर्युक्त विघ्न विक्षिप्त चित्त वालों को ही होते हैं, एकाग्र चित्त वालों को नहीं होते हैं। इनसे निवृत्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर अभ्यास तथा

---

२. यो० भा० १-३१

वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिए। विक्षेपों से निवृत्ति पाने के लिए ईश्वर रूप एक तत्त्व में ही निरन्तर चित्त को लगाना चाहिए[1]। ईश्वर-प्रणिधान से ऊपर कहे गए समस्त विक्षेपों की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् समाधि के सारे विघ्नों का नाश हो जाता है। ईश्वर-प्रणिधान के निरन्तर अभ्यास से समस्त विघ्नों का नाश होकर शीघ्र समाधि लाभ तथा मोक्ष प्राप्त होता है।

तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—क्रियायोग का विवेचन उन साधकों के लिए है जो सीधे सीधे समाधि का अभ्यास नहीं कर सकते है। जिनका चित्त चंचल हो। विक्षिप्त चित्तवाला व्यक्ति जिसमें एकाग्रता नहीं है, जिसे पंच क्लेश मलिन किए हुए हैं, उसके लिए विवेक ख्याति की अवस्था को प्रदान करने वाला क्रिया योग का मार्ग है, इससे क्लेश क्षीण होकर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा विवेकख्याति की अवस्था प्राप्त कर, समस्त क्लेश रूपी बीजों को दग्ध कर पर वैराग्य की उत्पत्ति के द्वारा विवेकख्याति रूपी चित्त की वृत्ति का भी निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, जो कि योग का लक्ष्य है।

---

१. यो० भा० —१·३२

अध्याय १८

## अभ्यास तथा वैराग्य *

अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा उत्तम अधिकारी समाधि अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। अभ्यास तथा वैराग्य ही चंचल चित्त को शांत करने के साधन हैं। चित्त का विषयों की तरफ़ होने वाला बहिर्मुखी प्रवाह वैराग्य के द्वारा रुकता है। तथा विवेक-ज्ञान की तरफ़ उसे अभ्यास के द्वारा प्रवृत्त किया जाता है। गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण जी से कहा कि :--

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥६।३३॥
चंचलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६।३४॥

हे मधुसूदन, मन की चंचलता के कारण मुझे तुम्हारा बतलाया हुआ साम्य-बुद्धि से सिद्ध होने वाला यह योग, स्थिर रहने वाला नहीं प्रतीत होता है ॥६।३३॥

हे कृष्ण ! मन का निग्रह करना वायु के निग्रह करने के समान ही अत्यधिक कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि यह (मन) चंचल, हठीला, बलवान् तथा दृढ़ है ॥६।३४॥

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण जी ने कहा है :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६।३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६।३६॥

हे महाबाहो ! मन निस्सन्देह चंचल और दुर्निग्रह है और कठिनता से वश में आनेवाला है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र, इसे अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है ॥६।३५॥

---

* विशद विवेचन के लिये हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रंथ देखने का कष्ट करें।

मेरे विचार से बिना मन के वश में हुए यह योग प्राप्त होना कठिन है, किन्तु मन को वश में करने वाले प्रयत्नशील व्यक्ति को यह साधन द्वारा प्राप्त हो सकता है ॥ ६-३६ ॥

वृत्तियों का प्रवाह चित्तरूपी नदी में निरन्तर बहता रहता है। इस चित्त-नदी की वृत्तियों के प्रवाह की दो धारायें हैं। एक धारा संसार चक्र को चलाती रहती है। वह ( वृत्तियों का प्रवाह ) ही व्यक्ति को जन्म-मृत्यु के चक्र मे घुमाती रहती है। वह वृत्तियों की धारा संसार सागर की तरफ़ जाती है। दूसरी धारा वह है, जो व्यक्ति को विवेक-ज्ञान प्रदान करके मुक्ति की तरफ़ ले जाती है। इस प्रकार चित्तरूपी नदी भीतर तथा बाहर दोनों तरफ़ को बहने वाली है। विषयों की तरफ़ बहने वाली बहिर्मुखी धारा है, जो भोग प्रदान कराती है। दुःख देने वाली होने के कारण यह धारा पापवहा कही गयी है। इस धारा का प्रवाह अत्यधिक तीव्र है। इसके तीव्र गति से चलते हुये दूसरी मोक्ष की तरफ़ बहने वाली धारा का, जो कि कल्याणवहा कही जाती है, बहना नहीं हो सकता। जब तक वैराग्यरूपी बाँध से पापवहा धारा को रोका नहीं जायेगा तथा अभ्यासरूपी फावड़े से निरन्तर कल्याणवहा धारा का मार्ग साफ़ नहीं किया जायेगा, तब तक चित्त नदी की मोक्ष प्रदान करने वाली कल्याणवहा धारा का प्रयास प्रारम्भ नहीं हो सकेगा। अनादिकाल से विषयों की तरफ़ बहने के कारण पापवहा अधिक गहरी हो गई है, अतः कल्याणवहा का प्रवाह जारी नहीं हो पाता। जैसे एक नदी की दो धाराओं में से एक तरफ़ ही नदी बह रही हो तो दूसरी तरफ़ की धारा तब तक प्रवाहित नहीं होगी जब तक कि बहने वाली धारा में बाँध नहीं बाँधा जायेगा, ठीक उसी प्रकार जब तक संसार सागर की तरफ़ बहने वाली चित्त नदी की धारा को वैराग्य रूपी बाँध से नहीं रोका जावेगा तब तक मोक्ष की तरफ प्रवाह जारी नहीं होगा। जैसे जैसे वैराग्य के द्वारा बाँध लगाया जावेगा तथा साथ साथ अभ्यासरूपी बेलचे से खोद कर मार्ग बनाया जावेगा वैसे वैसे कल्याण सागर की तरफ़ जाने वाली धारा का प्रवाह बढ़ता जावेगा तथा संसार सागर की तरफ़ ले जाने वाली धारा का प्रवाह कम होता जावेगा। अतः अभ्यास और वैराग्य दोनों की ही आवश्यकता मोक्ष प्राप्त करने में पड़ती है।

पूर्व जन्मों के विषय भोग के लिये किये गये कामों के संस्कारों की वृत्तियाँ भी विषयों की तरफ़ ले जाती हैं। कैवल्य के लिये किये गये पूर्व जन्म के पुरुषार्थ विवेक की तरफ़ ले जाते हैं। विषय मार्ग तो जन्म से ही खुला

रहता है। किन्तु विवेक मार्ग को खोलने के लिये अभ्यास का कुदार उठाना पड़ता है तथा विषय मार्ग पर वैराग्यरूपी बांध लगाना पड़ता है। जब वैराग्य का पूर्ण बांध लग जाता है जिससे कि वृत्तियाँ विषयों की तरफ़ जाती ही नहीं तथा अभ्यासरूपी फावड़े से विवेक मार्ग को ख़ूब गहरा खोद लिया जाता है, तब वृत्तियों का सारा प्रवाह बड़ी तीव्र गति से विवेक मार्ग से बहने लगता है और अन्ततोगत्वा मोक्ष प्रदान करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तवृत्ति निरोध के लिये अभ्यास तथा वैराग्य दोनों की, साथ साथ ही, जरूरत होती है। एक के बिना दूसरा कुछ भी नहीं कर सकता। रजोगुण तथा तमोगुण के कारण विवेक की तरफ़ व्यक्ति नहीं चल पाता। रजोगुण के द्वारा प्रदान किया हुआ वृत्तियों का चांचल्य वैराग्य के द्वारा, तथा तमोगुण के द्वारा प्रदान किये हुये आलस्य, मूढ़ता आदि, अभ्यास के द्वारा दूर किये जाते हैं। वैराग्य से चित्त की वहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी तो अवश्य हो जाती है किन्तु बिना अभ्यास के चित्त स्थिर नहीं हो पाता। अतः बिना दोनों के चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। भोग मार्ग में वैराग्य के द्वारा रुकावट डाली जाती है, तथा अभ्यास के द्वारा मोक्ष मार्ग खोला जाता है।

जो प्रयत्न, पूर्ण उत्साह तथा सामर्थ्य से चित्त को स्थिर करने के लिये किया जाता है उसे अभ्यास कहते है।[1] योग के यम नियम आदि बाह्य तथा आन्तर साधनों को निरन्तर पालन करते रहना ही अभ्यास का स्वरूप है, तथा समाधि ( चित्त वृत्तियों का निरोध ) ही अभ्यास का प्रयोजन है। चित्त में सत्व प्रधान वृत्तियों का, राजस तथा तामस वृत्तियों को पूर्णतया दबाकर चलनेवाला, निरन्तर प्रवाह चित्त-स्थिति को प्राप्त कराता है। चित्त-स्थिति, चित्त का वृत्तिरहित शान्त प्रवाह है। इस स्थिति में चित्त सुखी या दुःखी नहीं होता। संसार के विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ) ऐसे चित्त में सुख दुःख पैदा नहीं कर सकते। चित्त एकाग्र हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अनादि काल से चली आ रही स्वाभाविक चंचल चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास के द्वारा कैसे हो सकता है? अभ्यास में अपार शक्ति है। अभ्यास के लिये कुछ भी दुःसाध्य नहीं है। संसार के समस्त कार्य अभ्यास से सुलभ हो जाते हैं। अभ्यास हमारी प्रकृति के विरुद्ध कार्यों को भी करवा देता है। विष भी, जिसके सेवन से मृत्यु हो जाती है, अभ्यास

---

१. यो. सू. समाधि पाद, सूत्र १३, भाष्य

से अविष (अमृत) बन जाता है। विषों का कम मात्रा से सेवन प्रारम्भ करके अभ्यास करने पर वे खाने वालों की प्रकृति के अंग बन जाते हैं। लेखक ने हरिद्वार में एक विषपान करनेवाले को देखा था जो अफ़ीम आदि से नशा न होने के कारण अपने पास डिबिया में रक्खे एक अति विषैले सर्प से अपनी जीभ में कटवाकर ही अपनी बेचैनी को दूर कर पाता था। नट तथा सरकस का तमाशा देखने से भी स्पष्ट हो जाता है कि अभ्यास के द्वारा बहुत अद्भुत कार्य हो सकते हैं। अभ्यास के द्वारा पशुओं से भी अनोखे-अनोखे कार्य करवा लिये जाते हैं। इसी प्रकार से नित्य निरन्तर विवेक ज्ञान के अभ्यास से साधक का चित्त भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। सत्य तो यह है कि भोगजन्य होने से, चित्त-चांचल्य आगन्तुक है, नैसर्गिक नहीं। नैसर्गिक आगन्तुक से बलवान् होता है। बलवान् से सदैव निर्बल का बाध होने के नियमानुसार चित्त को अभ्यास से स्थिर किया जा सकता है। योगवासिष्ठ में भी अभ्यास के विषय मे कहा गया है—

> दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम्।
> विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥योगवा० ॥६।६७।३३॥
> दृढ़ाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा।
> निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥योगवा० ॥६।६७।४४॥

अभ्यास का ऐसा महत्व है कि बराबर अभ्यास ( यत्न ) के करते रहने से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, शत्रु भी मित्र हो जाते है; तथा विष भी अमृत हो जाता है॥ योगवा०। ६।६७।३३॥

यत्न नाम वाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में सफलता प्राप्त होती है, अन्य किसी साधन से नहीं।

योगवा०।६।६७।४४॥

किसी हिन्दी कवि ने ठीक कहा है :—

> करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
> रसरी आवत जात से सिल पर पड़त निशान॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अभ्यास से सब कुछ सुलभ है। किन्तु फिर भी अनन्त जन्मों की भोगवृत्तियों के बलवान्, चित्त के एकाग्रता विरोधी, संस्कारों से केवल इसी जन्म का अर्थात् थोड़े काल का अभ्यास कैसे छुटकारा दिला सकता है? मनुष्य के चित्त में अनादि काल से, अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों से, विषय

भोगों के संस्कार पड़ते चले आ रहे हैं; अतः वे थोड़े समय में नष्ट नहीं हो सकते। इसलिए अभ्यास में ज़रा सी भी असावधानी नहीं होनी चाहिये। असावधानी से व्युत्थान संस्कार प्रबल होकर निरोध संस्कारों को दबा सकते हैं। इसीलिये योग में अभ्यास को अत्यधिक प्रबल बनाने के लिये धैर्य के साथ बहुत समय तक नियमित रूप से सात्विक श्रद्धा, भक्ति और उत्साह के साथ निरन्तर व्यवधान रहित अभ्यास करते रहना चाहिये।[1] इस प्रकार से किये गये अभ्यास के द्वारा व्युत्थान संस्कार दबाये जा सकते हैं। यहाँ पर अधिक समय का अर्थ कुछ वर्षों से नहीं है, बल्कि अनेक जन्मों तक से है। हर व्यक्ति को शीघ्र समाधि लाभ नहीं होता। इससे निराश होकर अभ्यास से मुख नहीं मोड़ना चाहिये। धैर्य पूर्वक उसके लिये चिर काल तक अभ्यास जारी रखना चाहिये। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है :—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥गी० ६-२३॥

उस स्थिति को जिसमें दुःख संयोग का वियोग होता है योग की स्थिति कहते हैं। इस योग का आचरण निश्चय से बिना मन को उकताये हुये करना चाहिये। ॥ गी० ६-२३ ॥

माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर गौडपाद कारिका के अद्वैत प्रकरण की ४१ वीं कारिका में भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ मा. का., अ. प्र. ४१ ॥

"जिस प्रकार से धैर्य पूर्वक समुद्र को (समुद्र के जल को) कुशा के अग्रभाग से एक एक बूँद करके फेंका जा सकता है उसी तरह से समस्त खेद त्याग देने पर मन का निग्रह भी किया जा सकता है।" इस विषय में टिटिहरी का एक बहुत सुन्दर उपाख्यान है, जिसने अपने बच्चों के समुद्र द्वारा लेलिये जाने पर समुद्र को, चाहे जितने काल में हो, अपनी चोंच से पानी निकाल निकाल कर सुखाने का प्रण किया था। ऐसे खेदरहित निश्चय के प्रताप से समस्त पक्षियों की तथा पक्षी-राज गरुड़ जी की सहायता प्राप्त होने पर उसे समुद्र ने उसके बच्चे दे दिये थे।

---

१. समाधि पाद, सूत्र १४, भाष्य

दूसरी बात यह है कि अभ्यास निरन्तर व्यवधान रहित होना चाहिये, क्योंकि कभी किया और कभी न किया हुआ अभ्यास कभी भी दृढ़ नहीं हो पाता। तीसरी बात यह है कि बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया हुआ अभ्यास भी बिना श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप, वीर्य और उत्साह के दृढ़ होकर भी चित्त को स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता है। अतः अभ्यास श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप वीर्य तथा उत्साह के साथ बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया जाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास पूर्ण फल के देनेवाला होता है। जिस प्रकार तप, सात्विक, राजसिक तथा तामसिक होने से तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति आदि भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती हैं। अभ्यास में सात्विक श्रद्धा तथा भक्ति आदि होनी चाहिये। सत्य तो यह है कि बिना श्रद्धा के मनन नहीं हो सकता और बिना निष्ठा के श्रद्धा नहीं हो सकती।

अभ्यास के विवेचन के बाद वैराग्य के विषय में विवेचन करना आवश्यक है। क्योंकि बिना वैराग्य के अभ्यास भी कठिन है।

अपर और पर दो प्रकार का वैराग्य होता है। अपर वैराग्य के बिना पर वैराग्य सम्भव नहीं है। अपर वैराग्य समस्त विषयों से तृष्णा रहित होना है। विषय दो प्रकार के होते है। एक तो सांसारिक विषय, जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध अर्थात् धन, स्त्री, ऐश्वर्य तथा अन्य विषयभोग की सामग्रियाँ आदि, दूसरे विषय वेदों तथा शास्त्रों के द्वारा वर्णित स्वर्गादि सुख। कहने का अर्थ यह है कि समस्त जड़ चेतन लौकिक विषयों तथा समस्त सिद्धियों सहित दिव्य विषयों से राग रहित होना ही अपर वैराग्य है। समस्त विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें आसक्त न होना वैराग्य है। अप्राप्त विषयों का त्याग वैराग्य नहीं कहा जा सकता है। अनेक कारणों से विषय अरुचिकर तथा त्याज्य हो सकते है। अरुचिकर न होते हुये भी बहुत से विषयों को बाध्य होकर त्यागना पड़ता है। रोगों के कारण बाध्य होकर परहेज करना पड़ता है। न मिलने पर तो इच्छा होते हुये भी व्यक्ति विषयों का भोग नहीं कर सकता। अपने से बड़ों की आज्ञा के कारण भी त्याग करना पड़ता है। ढोंगी भी दिखाने के लिये त्याग करते है। अधिकतर तो भय के कारण व्यक्ति विषयों का त्याग करता है। कितने ही विषय लोभ, मोह तथा लज्जा के कारण त्यागने पड़ते है। प्रतिष्ठा के कारण मनुष्य को अनेक विषयों से अपने आपको मोड़ना पड़ता है।

किन्तु ये सब त्याग वैराग्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इन त्यागों में विषयों की तृष्णा का त्याग नहीं हो पाता। चित्त में सूक्ष्म रूप से तृष्णा का बना रहना वैराग्य कैसे कहा जा सकता है? वैराग्य तो समस्त विषयों से पूर्ण रूप से तृष्णा रहित होना है। चित्त को विषयों में प्रवृत्त कराने वाले रागादि कषाय हैं जिन्हें चित्तमल कहा जाता है। इन चित्तमलों के द्वारा राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य ये ६ कालुष्य पैदा होते है।

सुख प्रदान करने वाले विषयों को सर्वदा चाहने वाली राजस वृत्ति को राग कहते है, जिसके कारण विषयों के न प्राप्त होने से चित्त मलिन हो जाता है। मैत्री भावना से राग-कालुष्य तथा ईर्ष्या-कालुष्यता का नाश होता है। मित्रसुख को अपना सुख मानने से उन समस्त सुख प्रदान करने वाले विषयों को भोगनेवाले में मित्र भावना करके राग कालुष्य को नष्ट किया जाता है। ऐश्वर्य से होने वाली चित्त की जलन भी जिसे ईर्ष्या कालुष्य कहते हैं, मैत्री भावना से नष्ट हो जाती है क्योंकि मित्र का ऐश्वर्य अपना समझा जाता है। चित्त को कलुषित करने वाली अपकार करने की भावना ( परापकार चिकीर्षा-कालुष्य ) करुणा भावना से नष्ट की जाती है। गुणों में दोष देखने की प्रवृत्ति अर्थात् असूया-कालुष्य, पुण्यवान् या गुणवान् पुरुषों के प्रति हर्ष भावना के होने से नष्ट होती है। पापी तथा दुष्टात्मा व्यक्ति के प्रति उदासीनता की भावना रखने से द्वेष तथा बदला लेने वाली भावना ( अमर्ष कालुष्य ) नष्ट हो जाती है। इन समस्त मलों के नष्ट होने पर ही व्यक्ति विषय में प्रवृत्त नहीं होता। प्रयत्न से धीरे धीरे मलों के नष्ट होने के कारण अपर वैराग्य की चार श्रेणियां हो जाती हैं। १—यतमान, २—व्यतिरेक ३—एकेन्द्रिय और ४—वशीकार।

१-यतमान :-मैत्री आदि भावना के अनुष्ठानों से राग-द्वेष आदि समस्त मलों के नाश करने के प्रयत्नों के प्रारम्भ को यतमान वैराग्य कहते हैं। इसमें व्यक्ति दोषों का निरन्तर चिन्तन तथा मैत्री आदि का अनुष्ठान करता है जिससे इन्द्रियां विषयाभिमुख नहीं होती।

२—व्यतिरेक :-निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर व्यक्ति के कुछ मल जल जाते हैं कुछ बाकी रह जाते है। इन नष्ट होने वाले तथा बाकी रहने वाले मलों का अलग अलग ज्ञान ही व्यतिरेक वैराग्य है।

३—एकेन्द्रिय :-इन्द्रियों को जब चित्त-मल विषयों में प्रवृत्त नहीं कर पाते किन्तु विषयों के सम्बन्ध होने पर चित्त में क्षोभ की सम्भावना बनी रहती है,

क्योंकि चित्त में वे सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हैं, तब उस वैराग्य को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं।

४—वशीकार :—जब चित्त में सूक्ष्म रूप से भी मल नहीं रह जायें तथा किसी विषय की उपस्थिति में भी उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि बनी रहे तो वशीकार नामक वैराग्य होता है। इसके अन्तर्गत उपर्युक्त तीनों वैराग्य आ जाते हैं। इस अपर वैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति चित्त तथा पुरुष का भेद-ज्ञान है जो त्रिगुणात्मक चित्त की वृत्ति होते हुये भी एक सात्विक वृत्ति है। किन्तु वह है तो वृत्ति ही। अतः इसका भी निरोध आवश्यक है। इसका निरोध पर वैराग्य द्वारा होता है। अपर वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय निग्रह होकर समस्त बाह्य विषयों का त्याग हो जाता है। अपर वैराग्य से सम्प्रज्ञान समाधि के द्वारा विवेक-ख्याति उत्पन्न होती है। सत्वगुण प्रधान विवेक ख्याति वृत्ति से भी तृष्णा रहित होने को पर वैराग्य कहते है। पर वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का साधन है। पर वैराग्य समस्त गुणों से तृष्णा रहित होना है। लौकिक तथा पारलौकिक समस्त विषयों मे दोष दृष्टि हो जाने पर उनसे विरक्ति हो जाती है। इस विरक्ति को ही वैराग्य कहते हैं। इस अवस्था में विषयों में राग नहीं रह जाता। विषयों से राग रहित हो जाने पर उनकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, और चित्त अभ्यास के द्वारा शान्त होकर एकाग्र हो जाता है। बहिर्मुखी वृत्तियाँ वैराग्य द्वारा अन्तर्मुखी होती हैं तथा अभ्यास द्वारा अन्तर्मुखी वृत्तियों का निरोध होकर चित्त एकाग्रावस्था को प्राप्त होता है। यह एकाग्रावस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इस एकाग्रावस्था की पराकाष्ठा पुरुष-चित्त भेद-ज्ञान रूपी विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति के अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर चित्त निर्मल होता रहता है। जब चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है तब विवेक ख्याति स्वयं भी गुणों के परिणाम रूप चित्त की सात्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है जिससे इससे भी वैराग्य पैदा हो जाता है। इसे ही पर वैराग्य कहते हैं। इसमें गुणों का बिल्कुल सम्बन्ध न होने से इसे ज्ञानप्रसादमात्र कहा जाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। अभ्यास के निरन्तर जारी रहने पर चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। अतः पर वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था पर पहुंच कर योगी अपने पंच क्लेशों से निवृत्त होकर, संसार चक्र के समस्त बन्धन टूटे हुये समझने लगता है। जो प्राप्ति योग्य था, वह सब प्राप्त हुआ, ऐसा समझने लगता है। पर-वैराग्य के निरन्तर अभ्यास

से ही असम्प्रज्ञात समाधि स्थिर होती है तथा मोक्ष प्राप्त होता है। इस स्थिति पर पहुंच कर अभ्यास तथा वैराग्य का कार्य समाप्त हो जाता है। इस अन्तिम अवस्था तक पहुंचाना ही अभ्यास तथा वैराग्य का कार्य था। प्रारम्भ में असम्प्रज्ञात समाधि भी क्षणिक होती है। बीच बीच में व्युत्थान संस्कार उदय होते रहते हैं। किन्तु निरन्तर अभ्यास से व्युत्थान संस्कार दब जाते हैं। विवेक ख्याति की स्थिति भी प्रारम्भ में क्षणिक होती है। विवेक ख्याति जब अभ्यास से स्थायी अवस्था को प्राप्त कर लेती है तो उस अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। ( योग दर्शन ४।२९, ३० ) धर्ममेघ समाधि में निरन्तर अभ्यास चलते रहने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है। धर्ममेघ समाधि की उच्चतम स्थिति पर वैराग्य है। परवैराग्य रूपी साधन से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा कैवल्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कैवल्य प्राप्त करने में अभ्यास तथा वैराग्य का अत्यधिक महत्व है। बिना उसके संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता।

अध्याय १९

# अष्टांग योग

योग का अन्तिम लक्ष्य पुरुष को स्वरूपावस्थिति प्रदान करना है। स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिये चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध होना चाहिये। योग में चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के लिये एक मार्ग बताया गया है जो कि अष्टांग योग के नाम से पुकारा जाता है। स्वरूप-स्थिति के प्राप्त करने का यह विशिष्ट साधन है। इस साधन के आठ अंगों का वर्णन पातंजल योग दर्शन में किया गया है। योग के ये आठ अंग निम्नलिखित हैं:—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

पा० यो० सू० २।२९

१—यम ( अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह )

२—नियम ( शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान )

३—आसन ( सुख पूर्वक अधिक काल तक एक स्थिति में बैठने का अभ्यास )

४—प्राणायाम ( प्राणों पर नियन्त्रण करना )

५—प्रत्याहार ( विषयों से इन्द्रियों को हटाना )

६—धारणा (चित्त को बाह्य या आभ्यान्तर, स्थूल वा सूक्ष्म विषयों में बांधना)

७—ध्यान ( विषय में वृत्ति का एक समान स्थिर रहना )

८—समाधि ( ध्यान की पराकाष्ठा )

इन आठ अंगों में से पहले पाँच (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) तो योग के बहिरंग साधन हैं तथा अन्तिम तीन ( धारणा, ध्यान, समाधि ) अन्तरंग साधन हैं। जिस विषय में समाधि लगानी होती है धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का केवल उस विषय से ही सीधा सम्बन्ध होता है इसी कारण इन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है। इन अन्तिम तीनों साधनों को मिलाकर संयम कहते हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि के तो ये तीनों भी बहिरंग साधन ही हैं। केवल पर वैराग्य को ही असम्प्रज्ञात समाधि का अंतरंग साधन कहा जा सकता है। अष्टांग योग में समाधि का तात्पर्य सम्प्रज्ञात समाधि से है। अतः अष्टांग

अष्टाङ्ग योग चित्रण

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

योग की सीमा विवेक ख्याति है। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा तनु हुये सब क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) को विवेक ख्याति दग्ध बीज कर देती है जिससे क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होते।

यम नियम का महत्व केवल साधक के लिये ही नहीं है वरन सबके लिये है। यम नियम के पालन के बिना समाज के कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकते। सुन्दर सामाजिक व्यवस्था के लिये इनका पालन अनिवार्य है। आज समाज मे विकृति आने के प्रमुख कारणों में से यम नियम का पालन न होना भी एक है। हमारे मत से तो अगर हर व्यक्ति यम नियमों का पालन करने लगे तो समाज स्वयं ही आदर्श बन जायेगा, अशान्ति तथा अव्यवस्था रहेगी ही नहीं। अतः सब मनुष्यों का परम कर्त्तव्य यम नियम का श्रद्धापूर्वक पालन करना है। यम का पालन तो हर जाति, देश, काल, अवस्था, आश्रम तथा मत के मनुष्यों के लिये, अगर वे समाज में रहना चाहते है तो, अनिवार्य है। इसके पालन के बिना व्यवस्था नहीं आ सकती। योग मार्ग पर चलने का अधिकारी तो कोई बिना यम नियम के पालन के हो ही नही सकता। योग के आठों अंगों में सर्व प्रथम यम का विवेचन करना चाहिये क्योंकि इसके बिना नियमों का पालन भी ठीक ठीक नहीं हो सकता। यम पाँच है :—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ पा० यो० सू० २।३० ॥

१—अहिंसा ( मनसा वाचा कर्मणा किसी प्रकार से भी किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना )

२—सत्य ( मन में समझे गये के अनुसार ही दूसरों से कथन करना )

३—अस्तेय ( मन मे भी किसी के धन आदि को ग्रहण करने की इच्छा न करना )

४—ब्रह्मचर्य ( सब इन्द्रियों के निरोध के द्वारा उपस्थेन्द्रिय पर संयम करना )

५—अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धन आदि, का संग्रह न करना)

**अहिंसाः**—यह सर्वप्रथम यम है। किसी भी तरह से, कभी भी, किसी भी प्राणी के प्रति, चित्त मे द्रोह न करना, अहिसा है। किसी भी प्रकार की हिंसा न करना अहिसा है। हिंसा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार की होती है। किसी प्राणी को शारीरिक कष्ट प्रदान करना शारीरिक हिंसा होती है तथा मानसिक कष्ट देना मानसिक हिसा होती है। अन्तःकरण को मलिन करना

आध्यात्मिक हिंसा होती है। हिंसा करने वाले के चित्त में हिंसात्मक क्लिष्ट वृत्ति के हिंसात्मक क्लिष्ट संस्कार पड़ जाते हैं जिनसे उसका चित्त मलिन हो जाता है। अतः आध्यात्मिक हिंसा ही प्रमुख हिंसा होती है। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं को न करना अहिंसा है। हिंसा करने वाले के प्रति भी बदला लेने की भावना न रखनी चाहिये क्योंकि वह अपने चित्त को हिंसाके संस्कारों से मलिन करके अपनी हिंसा स्वयं कर रहा है। हिंसा करने वाला तथा जिस पर हिंसा की जाती है दोनों ही हिंसा के शिकार होने से दया के पात्र है। अतः साधक योगी को दोनों के कल्याणार्थ ही विचार तथा कार्य करने चाहिये। इस प्रकार से अपने तथा अन्य किसी भी प्राणी को मानसिक वा शारीरिक कष्ट मन, शरीर अथवा बचन से न पहुंचाना ही अहिंसा है। यही नहीं किसी अन्य के द्वारा भी नहीं पहुँचवाना चाहिये। कष्ट पहुँचाने की सलाह देना भी हिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। दूषित मनोवृत्ति हो जाना भी हिंसा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से अपना वा किसी प्राणी के कष्ट का कारण बनना हिंसा करना होता है। अतः अपने या किसी भी प्राणी के कष्ट का प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष कारण नहीं बनना चाहिये। विशुद्ध शिक्षा, सुधार तथा प्रायश्चित के लिये दी गई ताड़ना तथा दण्ड, रोगियों को रोग मुक्त करने के लिये किये गये आपरेशन हिंसा नहीं है। किन्तु ये ही दूषित मनोवृत्ति से किये जाने पर निश्चित रूप से हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिंसक का यदि किसी प्रकार भी सुधार न हो सके तो उसे मार देना हिंसा नहीं है। किन्तु यह कार्य दूषित मनोवृत्ति से नहीं होना चाहिये। बदला लेने की भावना से किये जाने पर यही कर्म हिंसा हो जायेगा। अत्याचारी को समाप्त करना भी कर्तव्य है। अगर कोई व्यक्ति अत्याचार, अनाचार, हिंसा, अपमान आदि सहता है, तो वह कायर है। मनु स्मृति में भी कहा गया है कि—

> गुरूं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ (मनु० ८।३५०)॥

गुरू, बालक, वृद्ध वा विद्वान् ब्राह्मण भी अगर आततायी (आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र उठाने वाला, धन, वित्त, स्त्री को चुराने वाला) के रूप में सामने आता है तो उसको बिना सोचे विचारे तुरन्त मार डालना चाहिये।

आततायी को मारने में हिंसा नहीं है बल्कि उसे न मारना हिंसा को बढ़ाना है। अहिंसा व्रत का पालन करना बलवान्, वीर, तथा चरित्रवान् पुरुषों का काम है, निर्बल

चरित्रहीन तथा कायरों का नहीं। कायर तथा निर्बल तो हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। अहिंसा का विचार अति सूक्ष्म है। इसको समझना सर्वसाधारण के लिये बहुत कठिन हो जाता है। अतः उन्हें तो नीचे दिये सूत्र के अनुसार चलना ही प्रर्याप्त है—"जैसा व्यवहार आप दूसरों से चाहते हैं वैसा व्यवहार दूसरों के साथ करो, तथा जिस व्यवहार को दूसरों से नहीं चाहते हो उसे आप भी दूसरों के साथ न करो" जिस व्यक्ति के मन में प्राणिमात्र के हित का भाव सदा रहेगा उससे तो हिंसा हो ही नहीं सकती। विश्व के सब राष्ट्रों का कर्त्तव्य है कि वे अपने अपने राष्ट्र के व्यक्तियों को अहिंसा की ठीक शिक्षा बचपन से ही प्रदान करें। इसी में मानव का हित है। साधक योगी जब अहिंसा व्रत को दृढ़ कर लेता है तब उसके पास पहुंचकर हिंसक प्राणियों की भी हिंसक वृत्ति समाप्त हो जाती है। वे भी बैर भाव त्याग देते हैं। अगर इस व्रत का पालन सब राष्ट्र करने लगेंगे तो कितना सुन्दर होगा। सब तरफ शान्ति की स्थापना स्वतः हो जायेगी।

**सत्य** :—मन, वचन अथवा कर्म से वस्तु के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति ही सत्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान वा शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त वस्तु के यथार्थ रूप को मन में धारण करना, वाणी से कथन, तथा उसी के अनुरूप व्यवहार सत्य कहलाता है। स्वयं को ज्ञान जिस रूप से हुआ है ठीक उस ज्ञान को उसी रूप में दूसरों को कराने के लिये कही गई वाणी तथा कर्म सत्य है। दूसरे व्यक्तियों को अपने मन के विचार के अनुकूल कहे गये वचन सत्य हैं। मन वचन की एक रूपता को ही सत्य कहते हैं। दूसरे को धोखा देने वाले, भ्रान्ति में डालने वाले, तथा बोध कराने में असमर्थ वचन सत्य नहीं कहे जा सकते। दूसरों के भीतर अपने अन्तःकरण तथा इन्द्रियादि से उत्पन्न ज्ञान से भिन्न ज्ञान उत्पन्न करने के लिये कहे गये वचन सत्य नहीं हैं। उदाहरण रूप से द्रोणाचार्य के अश्वत्थामा की मृत्यु के विषय में पूछने पर युधिष्ठिर के द्वारा उत्तर में कहे गये वचन "अश्वत्थामा हतः" असत्य थे, क्योंकि युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा नामक हाथी की मृत्यु देखी थी किन्तु उनके कथन से द्रोणाचार्य को अपने पुत्र की मृत्यु का बोध हुआ था। अतः धोखा देनेवाली वाणी सत्य नहीं होती। दूसरे को भ्रम में डालने वाली वाणी भी सत्य नहीं होती है। जिस वाणी के द्वारा सुननेवाले को दो वा अधिक अर्थ का बोध हो अर्थात् जिसके द्वारा सुननेवाला यथार्थ अर्थ का ज्ञान निश्चित रूपसे प्राप्त न करके भ्रान्त ही रहे वह वाणी सत्य नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त रूप से वचन सत्य होते हुये भी अगर उन वचनों से किसी के चित्त

को दुःख होता है तो उनका प्रयोग करना उचित नहीं है। जिन वचनों में किसी भी प्राणी का अपकार नहीं होता है किन्तु सब तरह से सब प्राणियों का हित ही होता है उन्हीं का प्रयोग करना उचित है। अहितकारी वचन सत्य प्रतीत होते हुये भी पाप जनक हैं। प्राणियों का नाश करने, पीड़ा पहुँचाने वा हानि पहुँचाने वाली वाणी कभी किसी काल में भी उचित नहीं। अतः भली प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियों के हितार्थ सत्य वाणी बोले। मनु स्मृति में भी इसी प्रकार कहा है—

> सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
> प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ मनु० ४।१३८ ॥

"सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले तथा प्रिय असत्य न बोले यह सनातन धर्म है"। (मनु० ४।१३८)

सत्य अहिंसा का आधार है। कुछ लोगों का कहना है कि सत्य कटु होता है तथा ऐसे व्यक्ति दूसरों को कष्ट प्रदान करने वाली वाणी बोलने को ही सत्य बोलना समझते है। किन्तु जिस वाणी में दूसरों को कष्ट पहुँचाने की भावना हो वह वाणी उचित नहीं। चिढ़ाने की भावना से अन्धे को अन्धा कहना, लंगड़े को लंगड़ा कहना आदि कभी भी उचित नहीं हो सकते। "अन्धे के अन्धे ही हैं" द्रोपदी के ऐसा कहने से महाभारत जैसा युद्ध हुआ था। हिंसात्मक प्रवृत्ति को समाप्त करना ही उचित है। किसी का चित्त दुखाना ठीक नहीं। सबसे बड़ा सत्य निरपराधी प्राणियों की हिंसा को रोकना है। सत्य कर्त्तव्य है। अहिंसा भी कर्त्तव्य है। अहिंसा तीनों काल (भूत, भविष्य तथा वर्तमान) में कर्त्तव्य है। अहिंसा के लिये उचित रूप से जो भी कुछ कहा वा किया जावे वह सब ठीक है। परिस्थिति विशेष में जो कुछ कहना वा करना चाहिये वह कहना वा करना उस व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को भी सत्य कहते हैं। जिन वचनों से पारस्परिक द्वेष बढ़ता है, दूसरों को दुःख होता है तथा दूसरों को धोखा होता है उनको नहीं बोलना चाहिये। चुगली करना वा अनावश्यक बोलना भी सत्य के विरुद्ध होता है। हर स्थिति में यह ध्यान रखना अति आवश्यक हो जाता है कि सत्य कभी भी सर्वहित विरोधी न हो।

महाभारतकार का मत यह है :—

> सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
> यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम् ॥महा.शा. ३२६।१३;२८७।१६॥

"सत्य भाषण उत्तम है, हित कारक वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है, क्योंकि हमारे मत में जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही सत्य है।"

( महा० शा० ३२६।१३, २८७।१६ )

सत्य के अच्छी प्रकार से पालन करने वाले की वाणी में बल आ जाता है और उसके वचन कभी असत्य नहीं होते। उसके शाप तथा आशीर्वाद दोनों ही फलते है; किन्तु अहिंसात्मक प्रवृत्ति होने के कारण वह प्रायः शाप नहीं देता है।

**अस्तेय** :—अस्तेय शब्द का अर्थ है चोरी न करना। यह सत्य का ही रूपान्तर है। जब किसी व्यक्ति की किसी वस्तु को कोई चुराता है तो वह व्यक्ति दूसरे की वस्तु को अपनी बनाता है। यह असत्य है। अतः स्तेय असत्य है। स्तेय हिंसा है। क्योंकि जब किसी व्यक्ति को उसकी वस्तु से वंचित किया जाता है तो उसे कष्ट होता है। इस प्रकार से अहिंसा का ठीक-ठीक पालन ही अस्तेय का पालन है। आधार अहिंसा ही है। स्तेय वा चोरी किसी के धन, वस्तु, वा अधिकार आदि को बिना बताये धोखे से वा अन्याय पूर्वक हरण करने को कहते हैं। इस प्रकार से न करना ही अस्तेय है।

मनुष्य मात्र के कुछ अधिकार होते है उनसे उन्हे वंचित करने वाले चोर है। बलवान् जाति वा वर्ग का निर्बल जाति वा वर्ग को उसके अधिकारों से वंचित करना चोरी है। उच्च जाति वा वर्ग जब निम्न जाति वा वर्ग को सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित करता है तो वह चोर है। अधिकार छिनने से भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सब को ही कष्ट होता है। कष्ट देना हिसा है। अतः इस रूप से स्तेय हिंसा है। जो धनी व्यक्ति अपने धन के घमंड में इतना नीच हो जाता है कि वह ग़रीब व्यक्तियों के अधिकारों का भी हरण कर उन्हें उनसे वंचित कर देता है, तो वह व्यक्ति निश्चित रूप से चोर है। मानव शरीर का परम लक्ष्य है आत्मोपलब्धि, जो भी उसके इस आत्मोन्नति के अधिकारों को छीनता है वह सचमुच चोर है क्योंकि इस अधिकार को छीनने से बड़ा पाप कोई नहीं हो सकता है। धर्म के ठेकेदार बनने वालों को कोई अधिकार नहीं है कि वे दूसरों को धर्म से वंचित रक्खें। अगर वे ऐसा करते है तो उनसे बड़ा चोर कोई नहीं है। सरकार का कार्य है कि वह गरीबों के अधिकार की रक्षा करे किन्तु अगर वह स्वयं उन्हें उनके इन अधिकारों से वंचित करती है तो वह सरकार स्वयं चोर है। राजा का धर्म ही प्रजा के सब तरह के अधिकारों की रक्षा करना है। सरकार इसलिये ही होती है। अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या है? इसके विपरीत आचरण करने वाली सरकार

महाचोर है। चोरी का दूसरा रूप घूसखोरी है। जब सब जुल्मों से रिश्वत माफ़ी दिलवा देती है तो भला बदमाशी, जुल्म, चोरी तथा डकैती आदि कैसे बन्द हो सकती है ? रिश्वत का तात्पर्य होता है दूसरे के द्रव्य को छीनना। रिश्वत एक तरफ़ तो दूसरों को चोरी करने के लिये प्रोत्साहित करती है दूसरी तरफ़ दूसरों को उनके द्रव्य से वंचित करती है। एक व्यक्ति १ लाख रुपये का ग़बन करके अगर १००० रु० की रिश्वत देने से बच जाता है तो रिश्वत लेने वाले ने ग़बन करने वाले से कई गुना अधिक पाप किया। वह घूसखोर ही चोरी करवाता है। अतः वह महा पापी है।

यदि निश्चित या उचित मुनाफ़ा न लेकर कोई दुकानदार वा सौदागर अधिक मुनाफ़ा लेता है वा ग़लत तोलता है तो वह चोर है। ठीक चीज़ की जगह अगर उसमें मिलावट करके कोई दुकानदार उसे बेचता है तो भी वह चोर है क्योंकि असली वस्तु के स्थान पर नक़ली वस्तु बेचकर वह दूसरों को धोखा देता है। इसी तरह से जो मिल मालिक तथा ज़मींदार मज़दूरों से कमवा कर केवल रुपया लगाने के कारण उचित भाग से अधिक लेते हैं तथा मजदूरों को उनके परिश्रम के अनुरूप नहीं देते हैं तो वे निश्चित रूप से चोर हैं। रुपया उधार देकर दूसरे का घर-द्वार, ज़मीन आदि नीलाम करवानेवाला भी एक प्रकार से चोर ही है। सत्य तो यह है कि जो भी अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक ठीक नहीं करता वही चोर है, चाहे वह वैद्य, डाक्टर, वकील, अध्यापक वा प्रशासक, कोई भी क्यों न हो ? इन सबके मूल में है लोभ तथा राग। इन दो शत्रुओं के कारण मनुष्य अनुचित आचरण करता है। अतः हर एक मनुष्य को लोभ तथा राग-रहित होने का अभ्यास करना चाहिये। योगी को लोभ तथा राग होना ही चोरी है क्योंकि इन्हीं के कारण दूसरे की वस्तु को मनुष्य अन्यायपूर्वक प्राप्त करना चाहता है। अत: राग तथा लोभ को त्यागना अस्तेय है। केवल व्यवहार से चोरी ( स्तेय ) न करना अस्तेय नहीं है बल्कि अस्तेय का ठीक-ठीक पालन तो तभी होता है जब मन में दूसरों को उनके धन, द्रव्य, अधिकार आदि से वञ्चित करने की इच्छा भी न पैदा हो। ऐसी भावना पैदा होना भी स्तेय है। अतः मन तथा कर्म दोनों से अस्तेय का पालन करना चाहिये। विश्व के सब राष्ट्रों को इसका पालन करना चाहिये। विश्व शान्ति व व्यवस्था के लिये हर राष्ट्र का कर्तव्य हो जाता है कि इसे बच्चों की शिक्षा का प्रधान अंग बना दे। अगर सब राष्ट्र अपने इस कर्तव्य का ठीक ठीक पालन करेंगे तो उन्हें किसी भी आन्दोलन का सामना नहीं करना पड़ेगा। अस्तेय के दृढ़ होने पर समस्त रत्नों की प्राप्ति होने लगती है। उसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहती।

**ब्रह्मचर्य** :—काम विकार को किसी भी प्रकार से उदय न होने देना ब्रह्मचर्य है। जब तक समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं होता तब तक काम विकार की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता। अतः सब इन्द्रियों के नियन्त्रण से कामेन्द्रिय के ऊपर संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। मन पर पूर्ण नियन्त्रण ब्रह्मचर्य के लिये परम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पूर्णतया पालन करने के लिये खाने पीने तथा रहन सहन को उसके अनुकूल बनाना पड़ेगा। दक्ष मुनि के विचार से आठ प्रकार के मैथुन से रहित होना ही ब्रह्मचर्य है।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥ ( दक्षसंहिता )

काम क्रियाओं वा बातों का स्मरण करना, उनके विषय में बात करना, स्त्री के साथ क्रीड़ा करना, उसके ( स्त्री के ) अंगों को देखना, उसके साथ गुप्त बात चीत करना, भोग इच्छा, सम्भोग निश्चय तथा सम्भोग क्रियायें ये आठ प्रकार के मैथुन हैं, जिनके विपरीत आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के पालन के लिये आवश्यक हो जाता है कि एकादश इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो। रसनेन्द्रिय पर नियन्त्रण न होने से अन्य इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण नहीं होता। अतः ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये जो कि ब्रह्मचर्य पालन में बाधक हो। उत्तेजक, तामसिक तथा राजसिक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। ऐसा सात्विक भोजन होना चाहिये जिससे सब इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुये ब्रह्मचर्य का पालन पूर्णरूप से हो सके। कामोत्तेजना को उत्पन्न करने वाले दृश्यों को नहीं देखना चाहिये। कामोत्तेजक शब्दों को नहीं सुनना चाहिये। कामोत्तेजक विषयों का स्पर्श नहीं करना चाहिये। कामोत्तेजक पदार्थों का सेवन भोजन के रूप में भी नहीं करना चाहिए। कामोत्तेजक गंध वाले पदार्थों को सूँघना नहीं चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार से कामवासना को जागृत करने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों से दूर ही रहना चाहिये। कामोत्तेजक विचारों को भी मन में नहीं आने देना चाहिये। ब्रह्मचर्य, मन, इन्द्रिय तथा शरीर से किसी भी प्रकार से होने वाले काम विकार का अभाव है।

ब्रह्मचर्य पालन के बिना शरीर, मन, इन्द्रियों को बल तथा सामर्थ्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग मार्ग के लिये ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। सच

तो यह है कि ब्रह्मचर्य के बिना सांसारिक तथा पारमार्थिक कोई भी कार्य ठीक ठीक सम्पन्न नहीं होता। कार्य करने की शक्ति ही ब्रह्मचर्य से आती है। बुढ़ापा तथा मृत्यु ब्रह्मचारी के नज़दीक नहीं आते। ब्रह्मचर्य के ठीक ठीक पालन से कुछ भी दुर्लभ नहीं है। शारीरिक बल तथा स्वास्थ्य ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य पालन से सहनशीलता बढ़ती है। इसके पालन से शारीरिक, मानसिक, तथा सामाजिक आदि सभी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। सच तो यह है शारीरिक तथा मानसिक आदि समस्त शक्तियों का विकास ब्रह्मचर्य से ही होता है। इसके पालन से समाज रोग मुक्त होता हुआ स्वस्थ तथा सुखी रहता है। इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है कि इतनी महान् शक्ति का इन्द्रिय सुख भोग में दुरु-पयोग किया जाय। उसे बरबाद करना तो पाप है। इस प्रकार का दुरूपयोग ही अनेक रोगों का कारण है। "भोगा भवमहारोगा" ( योग वा० १।२६।१० ) "भोग महारोग है" ( योग वा० १।२६।१० )। शास्त्रों में यौन सम्बन्ध केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही बताया गया है, काम तुष्टि के लिये नहीं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काम-तुष्टि न होने से व्यक्ति को शारीरिक तथा मानसिक हानि नहीं होगी ? यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों का प्रायः यह कथन है कि काम प्रवृत्ति के दमन से अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। इन विद्वानों के अनुसार ब्रह्मचर्य शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिये घातक ही है। किन्तु कुछ विद्वानों का कथन इसके विपरीत है। सत्य तो यह है कि मन पर नियन्त्रण न होने से शरीर तथा इन्द्रियों के व्यवहार को ही केवल रोकते रहने से हानि पहुँचने की सम्भावना है। किन्तु सही रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने से तो इसकी कल्पना करना भी मूर्खता है। ब्रह्मचर्य का ढोंग तथा ब्रह्मचर्य दोनों में बहुत भेद है। ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त शक्ति की संसार के हर क्षेत्र में आवश्यकता पड़ती है। योगी को तो इसका पालन अनिवार्य है क्योंकि इसके पालन के बिना योगी कैवल्य की तरफ़ एक क़दम नहीं रख सकता। ब्रह्मचर्य के ढोंग के द्वारा हमें स्वयं तथा समाज दोनों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। ब्रह्मचर्य का केवल व्यक्तिगत महत्व नहीं है, इसका सामाजिक महत्व भी है। ब्रह्मचर्य के संस्कार हमारी संतानों में भी पहुँचते हैं। जितना अधिक ब्रह्मचर्य का पालन ठीक ठीक रूप से किया जावेगा उतनी ही अधिक सब प्रकार की शक्ति सम्पन्न निरोग सन्तान पैदा होगी जिसके द्वारा समाज का विकास ही होता चला जायेगा। आज समाज में इसके विपरीत स्थिति है। सब राष्ट्रों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस तरफ़ ध्यान दें; नहीं तो मानव सुखी नहीं रह सकेगा। निर्बल के लिये संसार

में कोई स्थान नहीं है। शिक्षा का मुख्य अंग ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये जैसा कि हमारी प्राचीन शिक्षा में था। शिक्षा काल मे इसका ठीक ठीक पालन अनिवार्य होना चाहिये। तथा इसका सही ज्ञान प्रदान करना चाहिये। ब्रह्मचर्य के दृढ़ होने पर योगी के मार्ग की सारी बिघ्न बाधायें हट जाती हैं। ब्रह्मचर्य के ठीक-ठीक पालन से अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मचारी स्वयं सिद्ध हो जाता तथा अन्य जिज्ञासुओं को ज्ञान प्रदान करने में भी समर्थ होता है।

**अपरिग्रह** :--धन, सम्पत्ति आदि किसी भी विषय वा भोग सामग्री को अपनी आवश्यकता से अधिक संचय न करना तथा शरीर के साथ लगाव न रखना अपरिग्रह है। अस्तेय तो अन्याय पूर्वक वा चोरी से किसी का धन न लेना है, किन्तु अपरिग्रह से तो अपने ही धन आदि का संग्रह करने का भी निषेध होता है। अपने परिश्रम से कमाये धन को भी आवश्यकता से अधिक भोग में लगाना तथा संचय करने का निषेध अपरिग्रह से होता है। विषय भोगों का कोई अन्त नहीं है। जितना उनके पीछे चलते है उतना ही वे भी बढ़ते जाते हैं। विषय भोग तृष्णा कभी शान्त नहीं होती इस विषय में भर्तृहरि जी का कथन ठीक ही है:--

> भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
> कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु उन्होंने हमें भोग लिया; तप नहीं तपे किन्तु हम ही तप गये; काल नहीं बीता किन्तु हम ही बीत गये; तृष्णा समाप्त नहीं हुई किन्तु हम ही समाप्त हो गये।

भोगों को हम जितना बढ़ाते जाते है उतना ही उनमें राग बढ़ता जाता है तथा राग बढ़ने से भोग सामग्री संचय करने की प्रवृति बढ़ती जाती है। अगर ठीक ठीक समझने का प्रयास किया जाये तो किसी प्राणी को बिना पीड़ा पहुँचाये कोई भी भोग सम्भव नहीं है। किन्तु प्राणी को पीड़ित करना ही हिंसा है। हिंसा करना पाप है। अपनी आवश्यकता से अधिक भोग सामग्रियों वा भोग विषयों का संग्रह भी पाप है।

बिना परिश्रम से प्राप्त विषयों का भोग तो पाप है ही, किन्तु परिश्रम से प्राप्त भोग सामग्री भी अगर हमारी आत्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्यों के लिये साधन रूप से जितनी आवश्यक है, उससे अधिक है, तो वह भोग सामग्री हमारे पास संचित होकर दूसरे को विकसित होने से वंचित करने के कारण पाप युक्त है। बहुत

व्यक्तियों की आत्मोन्नत्ति में जो भोग सामग्री उपयोगी हो सकती थी अगर वह एक ही व्यक्ति के पास संग्रहित रहे तो इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है ? संसार की विषमता का मुख्य कारण परिग्रह है। कुछ व्यक्तियों के पास सोने, उठने बैठने के लिये झोंपड़ी भी नहीं है और कुछ व्यक्ति ऐसे है जिनके पास बहुत से मकान खाली पड़े हैं, काम में भी नहीं आते। कुछ के पास खाद्य-सामग्री सड़ रही है; कुछ उसके विना भूखे मर रहे हैं। इस रूप से, संग्रह करने वाला हिंसक ही होता है। साम्यवाद की समग्र उत्तमताएँ केवल अपरिग्रह के पालन से प्राप्त हो जाती हैं। सनातन हिन्दू धर्म के अपरिग्रह पर आधारित समाजवाद जैसा सुन्दर साम्यवाद हमे कही प्राप्त होता ही नहीं। हिंदू शास्त्रो मे तो यहाँ तक लिखा है कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करने वाले व्यक्ति को वही दण्ड मिलना चाहिये जो चोर को दिया जाता है क्योंकि वह भी कम अपराधी नहीं है।

यावद् भ्रियेत जठरं तावन् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ श्रीमद्भागवत ७।१४।८ ॥

"जितने से मनुष्य का पेट भरे (आवश्यकता पूरी हो) उतने पर ही उनका अधिकार है। जो उससे अधिक सम्पत्ति पर अपना कब्जा करता है वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।"

यदि आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाये तो कोई भी व्यक्ति निर्धन, भूखा तथा बिना स्थान नहीं रह सकता। अगर हम परिश्रम से कमाई हुई आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति को आम जनता की धरोहर समझते हैं तो भी कल्याण है। आज अपरिग्रह का आंशिक रूप से साम्यवादी पालन कर रहे हैं किन्तु हिंसात्मक होने के कारण उनसे भी अपरिग्रह का पालन नहीं होता। अपरिग्रह का मूल आधार तो अहिंसा है, अतः वह हिंसात्मक नहीं हो सकता। आज के साम्यवादियों ने साम्यवाद को भी ग़लत रूप दे रक्खा है। साम्यवाद का सच्चा रूप हिन्दू धर्म में ही मिलता है जो नीचे दिये श्लोक से व्यक्त होता है :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

"सभी सुखी हों, सभी निरोग सभी का कल्याण हो हों, तथा कोई भी दुखी न हो।"

अपरिग्रह सर्व हित के लिये अति आवश्यक है। इसका पालन केवल योगी हो के लिये नहीं किन्तु सबके लिये ज़रूरी है। अगर ठीक-ठीक रूप से सब लोग इसका

पालन करने लगें तो संसार मे मनुष्य का दुःख बहुत हद तक दूर हो जायेगा। योगी को जब अपरिग्रह विषयक निष्ठा प्राप्त होती है तब भूत वर्तमान तथा भविष्य के जन्मों का ज्ञान हो जाता है। उसे, 'पूर्व जन्म में मैं कौन था तथा कैसे था, यह शरीर क्या है तथा कैसे स्थित है, भविष्य में कौन हूंगा तथा किस प्रकार से स्थित हूंगा' का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है। सच तो यह है कि योगी के लिये अविद्या, अस्मिता आदि पंच क्लेश तथा शरीर से लगाव ( अहंत्व तथा ममत्व ) ही सबसे बड़ा परिग्रह है। जब इनसे योगी को छुटकारा प्राप्त हो जाता है तब योगी का चित्त शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है जिससे उसे त्रिकाल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। सब राष्ट्रों को शिक्षा प्रणाली में अपरिग्रह पालन की शिक्षा सम्मिलित कर देनी चाहिये, तथा स्वयं भी इसका पालन ठीक रूप से करने तथा कराने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

## नियम—

नियम पाँच है :—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ पा० यो० सू०—२।३२ ॥

१—शौच ( बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि )

२—संतोष ( हर स्थिति में प्रसन्न रह कर सब तरह की तृष्णा से मुक्त होना )

३—तप ( भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान, हर्ष-शोक आदि सब द्वन्दों को सहन करना )

४—स्वाध्याय ( वेद-उपनिषद, योग, गीता आदि आध्यात्मिक तथा मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन, वा प्रणव जप )

५—ईश्वर-प्रणिधान ( ईश्वर को फलसहित सब कर्मों का समर्पण करना )

## शौच—

### १. बाह्य शौच—

मिट्टी जल गोबर आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान आदि तथा शरीर को शुद्ध रखना; आधे पेट शुद्ध सात्त्विक भोजन करके शरीर को निरोग रखना; नेती, धौती आदि हठ योग की क्रियाओं तथा औषधियों से शरीर को शुद्ध रखना, बाह्य शौच है। इस बाह्य शौच का पालन वैज्ञानिक है। इसका मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। रोगों से बचाव होता है। मृत्तिका मे रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति होती है। गोबर से स्थान को लीपकर शुद्ध इसीलिये बनाया जाता है कि गोबर में भी अनेक रोगों के कीटाणुओं को मारने की अद्भुत शक्ति होती है। इस प्रकार से मृत्तिका, जल, गोबर आदि के द्वारा

सफाई करने से रोगादि दूर रहते हैं। शुद्ध सात्विक भोजन के आधे पेट करने से पेट ठीक रहता है, तथा पेट ठीक रहने से सारा शरीर निरोग रहता है। इसके बावजूद भी योगी नेती, धौती, बस्ति आदि के द्वारा शरीर के संचित मल को दूर कर शरीर को निर्मल करता रहता है, जिससे वह स्वस्थ रहता है। औषधि तथा अन्य चिकित्सा से भी शरीर को शुद्ध किया जाता है। शौच का अभ्यास दृढ़ होने अर्थात् शौच निष्ठा प्राप्त होने पर योगी का मन शुद्ध हो जाता है और वह शरीर की अशुद्धियों को जानकर उससे राग रहित हो जाता है। उसका शरीर-अध्यास समाप्त हो जाता है। वह दूसरों के शरीर के संसर्ग से रहित हो जाता है। निरन्तर मृत्तिका आदि से शुद्ध करते रहने पर भी अपना ही शरीर अशुद्ध बना रहता है; इस अनुभव के कारण जब उसी से वह अलग होना चाहता है, तब भला दूसरों के शरीर का संसर्ग वह कैसे करेगा ? वह स्त्री तथा सुन्दर चेहरों से प्रेम नहीं करेगा, क्योंकि शरीर की अशुद्धि का उसे अनुभव हो चुका है। शौच परोक्ष रूप से एकाग्रता प्रदान करने में सहायक होता है। शौच से स्वास्थ्य प्राप्त होता है, जिससे प्रसन्नता मिलती है, प्रसन्नता एकाग्रता प्रदान करती है। अप्रसन्न चित्त एकाग्र हो ही नहीं सकता। चित्त के एकाग्र होने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है जिसके द्वारा आत्म-दर्शन प्राप्त होता है जो योग है।

**२. आभ्यान्तर शौच :—**

चित्त के मलों को दूर करना आभ्यान्तर शौच है। राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष तथा अमर्ष इन छः प्रकार के मलों के द्वारा चित्त कलुषित होता रहता है।

१—राग-कालुष्य—सुख अनुभव के बाद सदा सुख प्राप्त करने वाली राजस वृत्ति विशेष को राग-कालुष्य कहते हैं। सुखद विषयों में राग उन विषयों के प्राप्त न होने पर चित्त को कलुषित करता है। चित्त दुःखित होता है।

२—ईर्ष्या-कालुष्य—दूसरों के गुण वैभव के आधिक्य से चित्त में जलन होना अर्थात् दूसरों को सुखी तथा प्रसन्न देखकर जलना राजस-तामस वृत्ति होने से चित्त को कलुषित करने के कारण ईर्ष्या-कालुष्य कहलाता है।

३—परापकारचिकीर्षा-कालुष्य—विरोधी पुरुषों के अपकार करने की इच्छा, चित्त की राजस-तामस वृत्ति होने से चित्त को कलुषित करने के कारण परापकारचिकीर्षा-कालुष्य कही जाती है।

४—असूया-कालुष्य—पुण्यात्मा व्यक्ति के गुणों में दोषारोपण करना, चित्त की राजस-तामस वृत्ति होने से चित्त को कलुषित करने के कारण असूया-कालुष्य कहलाता है। इस चित्त की स्थिति वाला व्यक्ति, पूजा पाठ करने, नियम से रहने वाले सदाचारी व्यक्तियों को ढोंगी, पाखण्डी आदि शब्दों से पुकारता है।

५—द्वेष-कालुष्य—जिन सुखद विषयों से राग होता है उनमें बाधक व्यक्तियों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। यह द्वेष, चित्त की राजस-तामस वृत्ति होने से चित्त को कलुषित करने के कारण द्वेष-कालुष्य कहलाता है।

६—अमर्ष-कालुष्य—पापात्मा व्यक्ति के कठोर वचनों से अपनेको अपमानित हुआ समझकर, पुरुष चित्त में बदला लेने की चेष्टा करता है, जो कि चित्त की राजस-तामस वृत्ति होने से चित्त को कलुषित करने के कारण अमर्ष-कालुष्य कहलाता है।

इन उपर्युक्त छः कालुष्यों से चित्त कलुषित होने से चित्त कभी एकाग्रता को प्राप्त नहीं हो पाता है। अतः इन छः कालुष्यों से निवृत्ति प्राप्त करना योगी के लिये अनिवार्य है। इनसे निवृत्ति पाना ही आभ्यन्तर शौच है। पातंजल योगदर्शन में इसके उपाय बताये हैं जो कि नीचे दिये सूत्र से व्यक्त होते हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ पा० यो० सू० १।३३ ॥

सुखी, दुःखी, धर्मात्मा तथा पापी व्यक्तियों के बारे में क्रमशः मित्रता, करुणा, हर्ष तथा उदासीनता की भावना रखने से चित्त प्रसन्न तथा निर्मल होता है।

सुखी व्यक्तियों के साथ मित्रता की भावना रखने से राग तथा ईर्ष्या-कालुष्य रूपी चित्त के मल की निवृत्ति होती है। जब सुखी व्यक्ति के साथ मैत्री भावना की जावेगी तो उसके सुख को अपना सुख समझने से राग-कालुष्य रूपी चित्त का मल नष्ट हो जावेगा। मित्र के सुख वैभव सब उसी प्रकार से अपने ही हैं जिस प्रकार से पुत्र की ऐश्वर्य प्राप्ति अपनी ही ऐश्वर्य प्राप्ति है। इस प्रकार से मित्र के सद्गुण तथा वैभव आदि में अपनापन होने के कारण चित्त में जलन होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। अतः ऐश्वर्य सम्पन्न सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना रखने से ईर्ष्या रूपी मल चित्त में नहीं रहता।

दुःखियों के प्रति करुणा वा दया की भावना से परापकारचिकीर्षा रूपी मल की निवृत्ति हो जाती है। दूसरों के प्रति घृणा नहीं रह जाती। अपने कष्ट के समान अन्य को भी कष्ट होता है ऐसा समझने से दूसरों को दुःख पहुंचाने

की भावना समाप्त हो जाती है। इससे सबके सुख तथा कल्याण की भावना उदय होने पर व्यक्ति किसी को दुःख पहुंचाने की सोच ही नहीं सकता।

पुण्यात्मा पुरुष के सद्गुणों तथा धर्माचरण को देख कर उनके प्रति मुदिता भावना होने से असूया-कालुष्य चित्त में नहीं रह जाता। उनके उत्तम आच-रणों से आनन्दित होनेवाले को उनके आचरणों पर दोषारोपण करने की प्रवृत्ति चित्त में पैदा ही नहीं हो सकती।

पापी, दुष्ट, कष्ट देने वाले पुरुष के प्रति उपेक्षा की भावना रखने से चित्त से द्वेष तथा अमर्ष-कालुष्य नष्ट होता है। इन उपर्युक्त मैत्र्यादि चारों भावनाओं के अनुष्ठान से चित्त मल रहित होकर निर्मल हो जाता है तथा यह निर्मल चित्त प्रसन्न होता हुआ एकाग्रता को प्राप्त करता है। मैत्र्यादि भावनाओं से चित्त की यह शुद्धि ही आभ्यान्तर-शौच कहलाती है। अविद्या आदि पंच क्लेशों के मलों को विवेक ज्ञान द्वारा चित्त से हटाने को ही चित्त की शुद्धि कहते हैं। यह चित्त की शुद्धि ही अभ्यान्तर शौच कहलाती है। आभ्यान्तर शौच के दृढ़ होने पर सत्व प्रधान चित्त से रजस तथा तमस का आवरण हट जाता है और चित्त स्फटिक सम स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ होने से चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त के एकाग्र होने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होने पर चित्त में विवेक ज्ञान रूपी आत्म साक्षात्कार-योग्यता प्राप्त होती है। आभ्यान्तर शौच सिद्ध होने पर चित्त सत्व की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रिय नियन्त्रण तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। अतः आत्म-साक्षात्कार के लिये व्यक्ति को निरन्तर बाह्य तथा आभ्यान्तर शौच का पालन करते रहना चाहिये। यह केवल योगी के लिये ही नहीं किन्तु सब मनुष्यों के लिये आवश्यक धर्म है। योगी के लिये तो यह अनिवार्य है ही।

हिन्दू धर्म में शौच का बड़ा महत्व है। प्राचीन-शिक्षा और आज की शिक्षा के रूप में भिन्नता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा में धर्म की शिक्षा भी अनिवार्य थी। केवल शिक्षा ही नहीं धर्म पालन का अभ्यास शिक्षा के साथ साथ कराया जाता था। हिन्दू धर्म में शौच का मुख्य स्थान था। उसका विकृतरूप आज भी पुराने हिन्दू परिवारों में देखने को मिलता है। सच तो यह है कि विश्व शान्ति को चाहने वाले राष्ट्र जब तक इसे अपनी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रमुख अंग नहीं बनायेंगें तब तक मानव की पाशविकता के ऊपर वे काबू नहीं पा सकते। आज तो शौच के नाम पर ही लोग हँसते हैं तथा उसे ढोंग पाखण्ड तथा मूर्खता बताते हैं। शरीर मन के सम्बन्ध से, जिसका विवेचन

पूर्व में हो चुका है, स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक शौच का मन पर कितना प्रभाव पड़ता है। अतः बाह्य शौच का कम महत्व नहीं है। बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच का पालन हर मनुष्य के लिये अति आवश्यक है। देश काल में बाह्य शौच में भेद हो सकता है। धर्म में हर देश के लिये बाह्य शौच के एकसे नियम नहीं हो सकते। जिस देश के लिये शौच के जो भी नियम हों उन्हीं नियमों का पालन होना चाहिये। उसको देश की शिक्षा का अंग बनाना चाहिये। यह विश्व कल्याण का सरल मार्ग है।

**संतोष**:—प्रारब्धानुसार तथा अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करने पर प्राप्त फल अथवा अवस्था मे मस्त तथा प्रसन्न चित्त रहना तथा उससे अधिक की लालसा न करना ही संतोष है। जो पुरूष अप्राप्त वस्तु की लालसा को त्याग प्राप्त वस्तु में समभाव वर्तता है तथा कभी खेद और हर्ष का अनुभव नहीं करता वह पुरूष सन्तुष्ट कहलाता है। संतोष ही सुख का देने वाला तथा असंतोष ही दुःख प्रदान करने वाला होता है।

> सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
> सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ मनु० ४।१२ ॥

सुख की इच्छा करने वाला परम संतोषी तथा संयमी बने क्योंकि सुख का मूल कारण संतोष है और दुःख का मूल कारण असंतोष है। ॥मनु० ४।१२॥

> आशावैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते।
> म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥ योगवा० २।१५।९ ॥
> सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः ।
> राजानमुपतिष्ठन्ति किंकरत्वमुपागताः ॥ योगवा० २।१५।१६ ॥

संतोष रहित आशा वशीभूत चित्त में ज्ञान उसी प्रकार से प्रकाशित नहीं होता है जैसे मलिन दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता।

जिस प्रकार से राजा की सेवा में राजा के नौकर चाकर उपस्थित रहते हैं ठीक उसी प्रकार से संतुष्ट व्यक्ति की सेवा के लिये महा ऋद्धियाँ उपस्थित रहती है।

संतोष का मतलब आलस्य तथा प्रमाद नहीं होता है। संतोष की स्थिति में तो चित्त में सत्व के प्रकाश के कारण प्रसन्नता रहती है न कि तमस के अंधकार के कारण आलस्य और प्रमाद। संतोष का अर्थ पुरूषार्थ हीनता नहीं है। प्रयत्न न करने को संतोष नहीं कहते हैं। आलस्य तथा निकम्मापन संतोष नहीं है।

संतोष सांख्य में प्रतिपादित तुष्टियाँ नहीं हैं।[1] संतोष इन सबसे भिन्न है। वह तो उत्तम से उत्तम सुख प्रदान करने वाली अवस्था है। किसी भी योगाभ्यासी को अज्ञान वश तुष्टियों को संतोप न समझ बैठना चाहिये क्योंकि ऐसा समझने पर उसका योगाभ्यास शिथिल पड़ जायेगा और वह कभी भी कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकेगा। संतोप के पूर्ण रूप से दृढ़ होने पर तृष्णा का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है। तृष्णा के नष्ट होने पर जो सुख प्राप्त होता है उसकी तुलना किसी भी सुख से नहीं की जा सकती है। किसी ने ठीक कहा है :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

---

१—आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयोऽभिमताः॥ सां०का० ५०॥

प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ होती है तथा विषयों में वैराग्य होने से पाँच बाह्य तुष्टियाँ होती हैं, अतः कुल तुष्टियाँ ९ होती है।

१—प्रकृति का कार्य है पुरूष को भोग तथा मोक्ष प्रदान कराना इस आशा पर योगाभ्यास न करना 'प्रकृति तुष्टि' वा 'अम्भ' कहलाती है।

२—अन्य मूर्ख गुरु का उपदेश है कि प्रकृति के द्वारा ही अगर मोक्ष स्वयं होता तो सबकी ही मुक्ति हो जाया करती, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः संन्यास लेने से स्वयं मोक्ष हो जाता है। यह सोचकर योगाभ्यास नहीं करना उपादान तुष्टि वा सलिल कहलाती है।

३—संन्यास से भी शीघ्र मोक्ष नहीं मिलता वह तो समय आने पर स्वयं ही हो जाता है इस प्रकार दिये गये मूर्ख गुरू के उपदेश से प्रभावित होकर योगाभ्यास न कर, समय पर छोड़ देना काल तुष्टि वा ओघ कहलाती है।

४—काल आदि किसी से मोक्ष नहीं होता वह तो भाग्य से होता है, मूर्ख गुरू के इस प्रकार के उपदेश से भाग्य के ऊपर छोड़कर योगाभ्यास न करना भाग्य तुष्टि वा वृष्टि कहलाती है।

**बाह्य तुष्टियां**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँचों विषयों के प्राप्त करने में दुःख, रक्षा करने में दुःख, विनाश होने में दुःख, भोगने में दुःख तथा दूसरे की हिंसा मे दुःख होता है यह समझकर मोक्ष प्राप्त करने के बाह्य साधनों मे भय, प्रमाद तथा आलस्य करना ही पाँच बाह्य तुष्टियां हैं जो क्रमशः—पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमांभ तथा उत्तमांभ कहलाती है।

इसलोक के समस्त विषय-सुख ( स्त्री आदि ) तथा स्वर्ग के दिव्य महान सुख ( अमृत पान तथा अप्सरासंभोग ) दोनों मिलकर भी तृष्णा के नष्ट होने के सुख अर्थात् संतोष सुख के सोलहवें हिस्से के समान भी नहीं है।

पूर्ण रूप से संतोष की दृढ़ता तभी समझनी चाहिये जब कि सर्वोत्तम सुख प्राप्त हो जावे। अन्य किसी भी प्रकार से ऐसा सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। सचमुच में अमीर वह है जिसकी आवश्यकतायें कम होती हैं। और ग़रीब वह है जिसको प्राप्ति के साधनों से अधिक आवश्यकतायें होती हैं। संतोष आवश्यकताओं को कम करता है। जिससे व्यक्ति प्रसन्न तथा सुखी रहता है।

इसके विरोध में आज अधिक लोगों का यह कहना है कि संतोष से तो व्यक्ति तथा समाज का विकास ही रुक जाता है। संतुष्ट व्यक्ति अपनी अवस्था में संतुष्ट होने के कारण उसे बदलने का प्रयास ही नहीं करेंगे। आवश्यकताओं से ही सभ्यता का विकास होता है। सभ्य देश निरन्तर विकास की ओर है। वे अपनी अवस्था से सन्तुष्ट कभी नहीं रहते हैं। किन्तु क्या सभ्यता का कार्य मनुष्य को असन्तुष्ट तथा दुःखी बनाना ही है? ऐसी सभ्यता की, जिससे मानव दुःखी, स्वार्थी, लालची तथा हृदयहीन बनता हो, क्या जरूरत है? उससे मानव कल्याण होही नहीं सकता। इसने तो मानव की सारी शक्ति बाह्य भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि तथा पूर्ति में लगादी है। यह मानव का वास्तविक विकास नहीं है। मानव का विकास तो आत्मोपलब्धि की तरफ़ चलने में है। उसके लिये साधन रूप से भौतिक वस्तुओं का स्थान हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा को भूल कर भौतिकवाद की तरफ़ ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगादी जावे। मानव का कल्याण इस सभ्यता के विकास से नहीं हो सकता। दूसरे, संतुष्टि का अर्थ किसी राष्ट्र वा व्यक्ति के विकास में रुकावट नहीं है किन्तु सन्तुष्ट व्यक्ति वा राष्ट्र अपने सारे कार्यों को ईश्वर के कार्य समझ कर लगाव रहित होकर करता है। उसके कार्य कभी स्वार्थ तथा दूसरों के अहित से प्रेरित होकर हो ही नहीं सकते। उसके समान उत्साह तथा उमंग से तो कोई कार्य कर ही नहीं सकता। उसका विकास ही विश्व कल्याण का भी विकास है। वही सही शब्दों में विकास कहा जा सकता है। इसके द्वारा ही विश्व में न्याय, शान्ति तथा प्रेम की भावना फैलती है क्योंकि यह लालच, संकीर्णता, द्वेषादि सभ्यता की देनों को समाप्त कर देता है। आज सब राष्ट्रों को इसका पालन करना चाहिये और उन्हें अपने ही से सन्तुष्ट रहना चाहिये। दूसरों को हड़पने का विचार निकाल देना चाहिये। इसके पालन करने से मानव जाति की शक्ति

का अपव्यय होना बच जायेगा तथा वह शक्ति उसके कल्याण में लगेगी। आज मानव की महान शक्ति मानव के अकल्याण में लग रही है वही शक्ति सन्तोष के द्वारा मानव कल्याण में बदली जा सकती है।

**तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान[१] :—**

यम नियम के पालन करने में अनेक बिघ्न पैदा हो जाते हैं। उत्तम कार्यों के सम्पादन करने में विघ्न प्रायः आया ही करते हैं। चित्त में हिंसा असत्य भाषण आदि की वृत्ति उदय होना यम नियम के पालन में बिघ्न हैं क्योंकि ये वृत्तियाँ अहिंसा आदि की विरोधी हैं। जब किसी कारण से साधक के चित्त में हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अशौच, असन्तोष, तप-अभाव, स्वाध्याय-त्याग तथा नास्तिकता के भाव उदय होने लगें तब उनकी प्रति पक्ष भावना के द्वारा उन्हें दूर करना चाहिये। साधक के चित्त में वैरी को मारने, झूठ बोलकर तथा चोरी से हानि पहुंचाने आदि की प्रवृत्ति होने पर यह भावना उदय करनी चाहिये कि 'मैंने जब सब जीवों को अभय प्रदान करने तथा उनके कल्याणार्थ योग मार्ग अपनाया है तथा इन विरोधी वृत्तियों का त्याग किया है तब फिर कुत्ते के वमन करके खाने के समान इन्हें कैसे अपनाऊँ।' यम नियमों के विरोधी हिंसा, असत्य आदि सब, दुःख तथा अज्ञान को प्रदान करते हैं। उनसे सुख तथा ज्ञान तो प्राप्त होही नहीं सकते। इस प्रकार की भावना को ही प्रतिपक्ष भावना कहते हैं।

ये यम नियमों के विरोधी भाव तीन प्रकार के होते है (१) स्वयं किये गये (२) दूसरों से करवाये गये, (३) करने वालों का समर्थन करना। ये तीनों भी लोभ, क्रोध तथा मोह से किये जाने के कारण तीन-तीन प्रकार के अर्थात् ३ × ३ = ९ प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार ये ९ भी मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भेद से ९ × ३ = २७ प्रकार के हुये। ये २७ भी मृदु, मध्य तथा तीव्र के भेद से २७ × ३ = ८१ प्रकार के हुये। ये ८१ भी असंख्य प्राणियों के भेद से असंख्य प्रकार के हुये। ये ही, दुःख तथा अज्ञान रूपी अनन्त फलों को देने वाले है।

हिंसा करने वाले वा किसी को दुःख देने वाले के स्त्री, पुत्र, धन आदि नष्ट हो जाते हैं उसे महान कष्ट तथा नरक यातना भोगनी पड़ती है। इसी प्रकार

---

१. तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के विषय में क्रिया योग नामक अध्याय १७ के अन्त में देखने का कष्ट करें। यहां उसकी पुनरावृत्ति करना ठीक नहीं है।

से असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि से भी महा दुःख होता है। इन अनिष्टों को विचार कर साधक को इनमे मन को नही लगाना चाहिये। किन्तु उपर्युक्त प्रतिपक्ष भावना के द्वारा उसे इनका त्याग करते रहना चाहिये। अगर ऐसा नहीं करेगा तो इनके फन्दे से बच नही सकता, अर्थात् संसार चक्र से मुक्त नहीं हो सकता तथा सर्वदा दुःख-यातना ही सहता रहेगा। प्रतिपक्ष भावना से ये सब विरोधी भाव दग्ध बीज सम हो जाते है तथा फल प्रदान करने मे असमर्थ हो जाते है[1]।

**आसन**[2] :—जिस अवस्था में शरीर स्थिरता पूर्वक दीर्घ काल तक सुख से रह सके उसे आसन कहते हैं। एक ही स्थिति मे बिना हिले डुले अत्यधिक समय तक बिना किसी कष्ट के स्थित रहने को आसन कहते है। हठ योग मे अनेक आसनों का वर्णन मिलता है। हठ योग मे आसनों का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ बनाना, उसके आलस्य तथा भारीपन को दूर करना है। आसनों के द्वारा शरीर में हल्कापन तथा स्फूर्ती आती है। आसनों के द्वारा शरीर योग साधन करने के योग्य होता है। शरीर में शीत उष्ण आदि को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है। पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार उनका मुख्य उद्देश्य तो सुख पूर्वक अधिकतम समय तक स्थिरता पूर्वक ध्यान मे बैठना है।

पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वास्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, प्रर्यङ्क, क्रौंचनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान आदि आसनों में से जिस आसन से साधक योगी स्थिरता सुगमता तथा सुख पूर्वक अधिक देर तक बैठ सके उसी आसन को अपना लेना चाहिये। आसनों के विषय मे आसनों की कोई भी अच्छी पुस्तक काफ़ी ज्ञान प्रदान कर सकती है। शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, हठ-योग संहिता, हठ योग प्रदीपिका तथा योग उपनिषदों में आसनों का वर्णन किया गया है। आसन को सिद्ध करने के लिये शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को रोकना तथा अनन्त में चित्त को लीन करना चाहिये। कहने का अर्थ है कि शरीर तथा मन दोनों को ही चेष्टा-हीन कर देना चाहिये तभी आसन सिद्ध होता है। चित्त बिना किसी रुकावट के निरन्तर व्यापकता से तदाकार रहने से निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है तथा शरीर का अध्यास छूट जाता है। शरीर का अध्यास छुट जाने के कारण आसन से दुःख नही होता है तथा बहुत देर तक

---

१. पा० यो० भा० २।३३, ३४

२. पा० यो० भा० २।४६, ४७, ४८

बिना हिले डुले स्थिरता के साथ साधक सुख पूर्वक बैठ सकता है। साधारणतया चित्त निरन्तर एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है, किन्तु जब उसका व्यापकता से तदाकार हो जाता है तब वह किसी विषय पर जा ही नहीं सकता; अतः शान्त हो जाता है। आसन के सिद्ध हो जाने पर साधक योगी को गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द कष्ट नहीं देते। उनमें सहनशीलता आ जाती है अर्थात् वह तितिक्षु बन जाता है। उसमें स्वभाविक रूप से द्वन्दों को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है। आसन-सिद्ध होने को यही पहचान है। जिसे किसी भी द्वंद से कष्ट नहीं होता अर्थात् सहन शीलता पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है ऐसे साधक योगी को आसन-सिद्ध समझना चाहिये। आसन मानसिक संतुलन पैदा करता है। मन को बस में करने से जो होता है वही आसन सिद्ध होने से भी होता है क्योंकि आसनों के द्वारा मन पर क़ाबू होता है। आसनों के द्वारा काफ़ी देर तक भूख प्यास आदि को रोके रह सकते हैं। आसन से ध्यान को उनसे हटाया जा सकता है। आसनों के द्वारा स्नायु मण्डल को शक्ति मिलती है। उनके द्वारा संकल्प शक्ति को विकसित करके, मनचाहे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। यह मन तथा शरीर दोनों को काबू में करके शक्तिशाली बनाने का साधन हैं। यही मन शरीर पर अधिकार प्राप्त करना योग का आधार है।

***प्राणायाम**[1] :–प्राण ही जीवन है। प्राण समस्त संसार की रक्षा करने वाली महाशक्ति है। प्राण के बिना प्राणी जीवित ही नहीं रह सकता। निम्नतम कोटि से लेकर उच्चतम कोटि के जीव के लिये प्राण अनिवार्य है। जब से जीव जन्म लेता है, तब से ही श्वास प्रश्वास की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। भोजन और जल के बिना प्राणी कुछ दिन तक जीवित रह सकता है, किन्तु प्राण के बिना वह बहुत ही अल्प समय में समाप्त हो जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग में आज ठीक-

---

* बिना गुरु प्राणायाम का अभ्यास केवल पुस्तकों के आधार पर नहीं करना चाहिये। यहविषय बहुत कठिन है।

१. पा० यो० भा०–२।४९,५०,५१,५२,५३। शिवसंहिता–अध्याय ३।२२ से २६ तक घेरण्डसंहिता –अध्यास ५।३९ से अन्त तक। अमृतनादोपनिषद–६ से १४ तक श्लोक। त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद् ९४ से १२९ तक श्लोक। दर्शनोपनिषद – भाग ४। योगकुण्डली –उपनिषद १९ से ३९ तक श्लोक। योगचूड़ामणि उपनिषद ९५ से १२१ तक। योगशिखोपनिषद –८६ से १०० तक। शाण्डिल्योपनिषद –४।१२, १३, ७।१ से १३ तक।

ठीक सांस लेने की क्रिया भी लोगों की करीब करीब विकृत-सी हो गई है, क्योंकि जीवन कृत्रिम हो गया है। योग में प्राण पर विजय प्राप्त करने वाली क्रिया को प्राणायाम कहते है।[२] **योग के पंच बहिरंग साधनों में प्राणायाम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।** क्योंकि प्राणायाम के द्वारा ही प्राण का नियन्त्रण होता है। प्राण के नियन्त्रण से मन का नियन्त्रण बहुत आसानी से हो जाता है, क्योंकि मन और प्राण का अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राण से मन जुड़ा हुआ है। अतः प्राण पर काबू पाने पर मन पर काबू पाना स्वतः सरल हो जाता है। मन रूपी पक्षी प्राण रूपी खूँटे से बँधा होने के कारण सर्वत्र भ्रमण करने पर भी उससे बाहर नहीं हो सकता है, सुषुप्ति में तो उसी में विश्राम करना है। प्राण भी व्यष्टि तथा समष्टि रूप से होता है। व्यक्ति के लिये वह व्यष्टि है। समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ है। शरीर तथा विश्व में प्राण ही शक्ति है। इस शरीर की शक्ति को जो हमारे भीतर निरन्तर स्पन्दित होती रहती है, हम अपने फेफड़ों की गति के द्वारा नियन्त्रित कर सकते है। प्राण का नियन्त्रण मन के नियन्त्रण के लिये तथा मन का नियन्त्रण आध्यात्मिक विकास के लिये अत्यधिक आवश्यक है। मन को वश में करना सरल नहीं है। उसके लिये दीर्घ काल तक प्राण नियन्त्रण का अभ्यास अपेक्षित है अन्यथा मन पर क़ाबू पाना असम्भव है। प्राणायाम के लिये आसन का सिद्ध होना आवश्यक होता है। बिना आसन के सिद्ध हुये मन की चंचलता बनी रहती है जिसके कारण प्राण भी स्थिर नहीं हो पाता है। अतः प्राणायाम का अधिकारी वही है जिसको आसन सिद्ध हो गया हो। मन को स्थिर करने के लिये शरीर की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है जो आसन के द्वारा होती है। आसन के सिद्ध होने के बाद श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है। श्वास-प्रश्वास निरन्तर स्वाभाविक रूप से चलते रहते हैं। बाहर से वायु का भीतर प्रवेश जिसे श्वास कहते है तथा शरीर के भीतर की वायु का बाहर निकलना जिसे प्रश्वास कहते हैं दोनों ही निरन्तर स्वाभाविक रूप से जारी रहते है। इनकी स्वाभाविक गति के अभाव को ही प्राणायाम कहा जाता है। श्वास-प्रश्वास के गति विच्छेद के साथ साथ चित्त का भी गति विच्छेद होना ही यथार्थ प्राणायाम है। इसके रोकने के विशेष नियम हैं। उन नियमों के अनुसार श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। इस प्राण के नियन्त्रण को ही प्राणायाम कहते हैं। गीता में भी इसके विषय में निम्नलिखित श्लोक है :—

---

२. हठयोगा संहिता—प्राणायाम प्रकरण।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। गी०४–२९ ।।

कुछ योगी प्राण वायु को अपान में, कुछ अपान वायु को प्राण मे हवन किया करते है तथा उनके अलावा बहुत से योगी प्राण तथा अपान की गति को अवरूद्ध करके प्राणायाम में प्रवृत्त होते हैं ।

यहां प्राणायाम को भी एक यज्ञ माना है, तथा प्राण को प्रश्वास तथा अपान को श्वास के रूप में प्रयोग किया है । अतः प्राण को अपान में हवन करने से पूरक प्राणायाम तथा अपान को प्राण मे हवन करने से रेचक प्राणायाम होता है । प्राण साथ अपान दोनों के निरोध से कुम्भक प्राणायाम होता है ।

इस तरह से पातंजल योग दर्शन में भी साधारण रूप से प्राणायाम के पूरक, कुम्भक तथा रेचक तीन भेद होते है । रेचक प्राणायाम में प्राण के बहिर्गत होने से उसमें श्वास का स्वतः ही निरोध हो जाता है, अर्थात् रेचक प्राणायाम मे प्रश्वास का तो सद्भाव होता है, किन्तु श्वास का अभाव स्वाभाविक रूप से हो जाता है । इतना ही नहीं किन्तु अगर सामान्य व्यक्तियों के अनियमित चलने वाले श्वास प्रश्वास का अवलोकन किया जाय तो प्रश्वास की स्वाभाविक गति का भी अभाव रेचक प्राणायाम में वायु को बाहर निकाल कर वहीं धारण करने के कारण हो जाता है । इसी तरह से पूरक प्राणायाम मे प्रश्वास का तो निरोध होता ही है, साथ साथ बाहर की वायु को पीकर धारण करने की वजह से श्वास की सामान्य व्यक्तियों में स्वतः होने वाली गति का भी निरोध हो जाता है । कुम्भक प्राणायाम में प्राण वायु को जहाँ का तहाँ एकदम अवरूद्ध करने से श्वास प्रश्वास दोनों की गति का पूर्णरूप से निरोध हो जाता है । इस तरह से इन तीनों प्राणायामों में प्राणायाम की सामान्य परिभाषा ठीक-ठीक घट जाती है । यह प्राणायाम के सामान्य लक्षण हुए ।

पातंजल योग दर्शन में प्राणायाम के इन तीनों ( पूरक, कुम्भक, रेचक ) भेदों का विवेचन किया गया है ।[१] योग उपनिषद, घेरण्ड संहिता तथा शिव-संहिता आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है । अमृतनादोपनिषद में त्रिविध प्राणायाम का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया गया है, जिनको रेचक पूरक, कुम्भक नाम दिये हैं ।[२]

१. पा० यो० स० भा० २।५० ।
२. अमृत्नादोपनिषद–९ ।

**रेचक** :—रेचक प्राणायाम में प्राण को बहुत ही मंदगति से हृदय से बाहर निकालकर अन्तर स्थान की वायु से रिक्त करके उसी अवस्था में स्थिर रखते हैं।[1] इस प्राणायाम में प्रश्वास के द्वारा प्राण की स्वाभाविक गति का अभाव किया जाता है। इस प्रकार से श्वास निकाल कर स्थिर होने वाली वाह्य वृत्ति को रेचक प्राणायाम कहते है।

**पूरक** :—जिस प्रकार से कमल नाल के द्वारा व्यक्ति जल को खींचता है, उसी प्रकार से नासिका द्वारा वायु को खींच कर भीतर ही रोकना पूरक प्राणायाम कहा जाता है।[2] इस प्राणायाम में श्वास के द्वारा स्वाभाविक प्राण की गति का निरोध किया जाता है। यह आभ्यान्तर वृत्ति पूरक प्राणायाम के नाम से पातंजल योग दर्शन में कही गई है। श्वास को खींच कर रोकने को ही पूरक प्राणायाम कहते हैं।

**कुम्भक** :—शरीर को निश्चल रखते हुये श्वास और प्रश्वास न लेने की अवस्था की स्थिरता को कुम्भक कहते है।[3] यह श्वास-प्रश्वास दोनों की गतियों का निरोध करके प्राण को एक दम जहाँ का तहाँ रोक देनेवाली स्तंभ-वृत्ति कुम्भक प्राणायाम कही जाती है। प्राण को जहाँ का तहाँ एक दम रोकना ही कुम्भक कहलाता है, इसमें श्वास-प्रश्वास की गति का एक दम अभाव हो जाता है।

शिवसंहिता मे प्राणायाम की विधि का वर्णन किया गया है। योगी को एकान्त स्थान में कुशासन पर पद्मासन लगाकर अपने शरीर को सीधा और स्थिर रखते हुये गुरू तथा गणेश और दुर्गा जी को प्रणाम करते हुये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।[4] अभ्यास करने वाले को अपने दाहिने अंगूठे से पिंगला ( दाहिना नथना ) को बंद करते हुये इड़ा ( बाँया नथना ) के द्वारा वायु को खींचकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोकना तथा फिर धीरे-धीरे दाहिने नथने के द्वारा छोड़ना चाहिये।[5] इसके बाद साधक को दाहिने नासिका छिद्र से वायु को धीरे धीरे खींचकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोककर धीरे धीरे

---

१. अमृतनादोपनिषद्–११।

२. अमृत नादोपनिषद्–१२

३. अमृत नादोप निषद्–१३

४. शिव संहिता ३।२०,२१

५, शि० सं०–३।२२

बायीं नासिका से छोड़ना चाहिये । इस प्रकार की योगविधि से साधक को आलस्य तथा सब द्वन्दों से रहित होकर बीस कुम्भकों का प्रतिदिन चार समय ( १–सूर्योदय, २–दोपहर, ३–सूर्यास्त तथा ४–अर्धरात्रि ) अभ्यास करना चाहिये ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणायाम के पूरक, रेचक तथा कुम्भक तीन अंग हैं । ये तीनों प्रकार के प्राणायाम भी देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षित होते हैं । देश, काल और संख्या से इनको नापा जाता है । इनके द्वारा ही प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता चलता है । इनकी दीर्घता और सूक्ष्मता की परीक्षा भी देश, काल और संख्या के द्वारा की जाती है ।

रेचक प्राणायाम में प्राण को बाहर निकालते समय प्राण की दूरी को अभ्यास से धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है । इस अभ्यास के बढ़ने की परीक्षा पतली धुनी हुई रूई को रेचक प्राणायाम के समय नासिका के सामने रख कर की जाती है । जितनी दूर पर वह धुनी हुई रूई श्वास के द्वारा हिलती है, वही उसका देश है । यही देश के द्वारा रेचक की परीक्षा है । अभ्यास के द्वारा रेचक प्राणायाम में श्वास की दूरी बढ़ती जाती है । इस प्रकार से जब अभ्यास के द्वारा रेचक नासिका के अग्रभाग से १२ अंगुल पर स्थित हो जाता है तब उसे दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है । इस रेचक प्राणायाम में जिस प्रकार से अभ्यास के द्वारा श्वास की परिधि बढ़ती जाती है, ठीक उसी प्रकार से पूरक प्राणायाम में श्वास की लम्बाई अन्दर की तरफ बढ़ती जाती है । भीतर श्वास लेने से चींटी के स्पर्श के समान श्वांस का स्पर्श प्रतीत होता है, जो कि अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे क्रम से नाभि तथा तलुओं तक पहुंच जाता है, तथा ऊपर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है । जब यह नाभि तक स्थिर होता है, तो पूरक को दीर्घ-सूक्ष्म जानना चाहिये । देश के द्वारा परीक्षा केवल रेचक और पूरक की ही की जाती है । कुम्भक की स्थिति एक दम जहाँ के तहां श्वास-प्रश्वास को अवरूद्ध करने की स्थिति होने के कारण उसमें न तो बाहर ही वायु की गति होती है और न अन्दर ही, इसलिये उसमें बाहर हिलने तथा अन्दर के स्पर्श का प्रश्न ही उदय नहीं होता । दूसरे प्रकार के कुम्भक में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसमें इड़ा के द्वारा वायु को धीरे-धीरे खींचकर सामर्थ्यानुकूल रोका जाता है और फिर पिंगला के द्वारा उसको बाहर निकाला जाता है, फिर उसके बाद पिंगला के द्वारा वायु को

---

१. शि० सं०–३।२३, २४, २५

खींचा जाता है, और सामर्थ्य के अनुकूल रोक कर इड़ा के द्वारा बाहर निकाला जाता है। इसमें दोनों ही देश ( बाह्य और अभ्यन्तर ) इसका विषय है। इसलिये पूर्व में रेचक और पूरक के देश परीक्षण इस पर भी लागू होते हैं और उन परीक्षणों के द्वारा इसकी दीर्घता और सूक्ष्मता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। कुम्भक का स्थान रेचक तथा पूरक दोनों के द्वारा माना जाता है। श्वास-क्रिया को बाहर तथा भीतर दोनों ही जगह रोका जा सकता है। रेचक तथा पूरक दोनों की क्रियाओं के अभाव से इसका निश्चय होता है। इस तरह से यहां देश का अर्थ श्वास की शरीर के बाहर तथा भीतर की दूरी तथा प्राण केन्द्रित स्थान है।

जिस प्रकार से देश के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा होती है उसी प्रकार से काल द्वारा भी प्राणायाम की परीक्षा होती है। मात्रा से समय का हिसाब लगाया जाता है। जितना समय घुटने के ऊपर से चारों तरफ हाथ को फिरा कर एक चुटकी बजाने में लगता है, उसका नाम मात्रा है। मात्रा काल की इकाई है। सामान्य रूप से मात्रा को हम सेकेण्ड कह सकते है। प्राणायाम के अभ्यास के बढ़ते जाने से समय में भी बृद्धि होती चली जाती है। तीनों प्राणायाम का समय परिमाण अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे बढ़ता चला जाता है। जब ३६ मात्राओं तक प्राणायाम का समय पहुंच जाता है तब वह दीर्घ और सूक्ष्म समझा जाना चाहिये। प्राण का किसी एक विशेष केन्द्र पर केन्द्रित करने का समय भी उसके समय के परिमाण को बताता है। रेचक, पूरक और कुम्भक इन तीनों के समय में भेद रक्खा गया है।

संख्या के द्वारा भी तीनों प्राणायामों की दीर्घ सूक्ष्मता की परीक्षा की जाती है। जब प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता चलता है तो प्राणायाम की संख्या भी बढ़ती जाती है। प्राणायाम के अभ्यास से बहुत से स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास मिलकर एक ही श्वास बन जाता है। जब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म होता है तब एक श्वास के अन्तर्गत १२ स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास आ जाते है। १२ श्वास प्रश्वास का एक श्वास प्रथम उद्घात होता है। चौबीस स्वाभाविक श्वास प्रश्वास का जब एक श्वास होता है तो द्वितीय उद्घात कहा जाता है। इसी प्रकार से तृतीय उद्घात ३६ श्वास-प्रश्वास का एक होता है। कुछ के मत से मात्रा काल उपर्युक्त मात्राकाल का १ ( एक तिहाई ) होने से प्रथम उद्घात ३६ मात्रा, दूसरा उद्घात ७२ मात्रा तथा तीसरा उद्घात १०८ मात्रा का होता है। नाभी से प्रेरित प्राण का मस्तिष्क में टकराना उद्घात् है। श्वास-प्रश्वास

को रोकने से उनको ग्रहण वा छोड़ने के लिये जो उद्वेग होता है उसे ही उद्घात कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार श्वास-प्रश्वास रोकना मात्र उद्घात है। सत्य तो यह है कि जिस समय तक श्वास वा प्रश्वास को रोकने से प्राण को छोड़ने वा ग्रहण करने की इच्छा होती है उस काल तक की रुकावट को ही उद्घात कहते हैं। प्रथम उद्घात अधम दीर्घ सूक्ष्म, द्वितीय उद्घात मध्यम दीर्घ सूक्ष्म, और तृतीय उद्घात उत्तम ( तीव्र ) दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है। यही संख्या द्वारा दीर्घ सूक्ष्म सूक्ष्मता की परीक्षा है।

अभ्यास से प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म किया जाता है। दीर्घ काल तक रेचन वा विधारण को दीर्घ तथा श्वास-प्रश्वास की क्षीणता तथा विधारण की निरायासता को सूक्ष्म कहते हैं। जब नाक के सामने की रूई न हिले तो ऐसा प्रश्वास सूक्ष्मता का द्योतक होता है।

पूरक, कुम्भक तथा रेचक मे १।४।२ का अनुपात होता है। १२ मात्रा तक श्वास खींचने में तो ४८ मात्रा तक कुम्भक तथा २४ मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह अधम प्राणायाम का रूप है। २४ मात्रा तक श्वास खींचने में अर्थात् २४ मात्राके पूरक में ९६ मात्रा तक कुम्भक तथा ४८ मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह मध्यम प्राणायाम हुआ। ३६ मात्रा के पूरक मे १४४ मात्रा तक कुम्भक तथा ७२ मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह तीसरा उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

अपनी अपनी इच्छा से देश, काल, संख्या के अनुसार तीनों प्राणायामों के नियमों पर चलना आश्रित है। इन तीनो को एक साथ ही होना चाहिये ऐसी वात नहीं है। अनेक शास्त्रों में काल का प्राणायाम के अभ्यास में अधिक महत्व दिया है।

घेरण्ड संहिता में आठ प्रकार के कुम्भक वताये हैं।[1]

> सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
> भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकः॥ ५।४६

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा तथा केवली ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।

---

१. घेरण्ड संहिता—५।४६, ४७ से ९६ तक

१—**सहित कुम्भक** :—सहित कुम्भक दो प्रकार का होता है एक सगर्भ दूसरा निर्गर्भ। बीज मंत्र के उच्चारण के साथ किया गया कुम्भक सगर्भ तथा विना बीज मंत्र के किया गया कुम्भक निर्गर्भ है।

**सगर्भ सहित कुम्भक**[1] :—साधक को पूरब वा उत्तर की तरफ मुख कर सुखासन से बैठ कर रक्त वर्ण रजस गुण पूर्ण "अं" अक्षर के रूप में ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये। बाँये नासिका छिद्र से पूरक करना आरम्भ करे तथा उसके बीज मंत्र "अं" को १६ बार जपे। उसके बाद कुम्भक करने से पूर्व उड्डियान बन्ध बाँधे। इसके बाद साधक श्याम वर्ण सत्त्वगुण पूर्ण हरि का ध्यान तथा कुम्भक के बीज मंत्र "ऊं" का ६४ बार जप करते हुये कुम्भक करे। उसके बाद श्वेत वर्ण तमस् गुण पूर्ण शिव का ध्यान तथा रेचक के बीज मंत्र "मं" का ३२ बार जाप करते हुये रेचक करे। फिर दाहिने नथुने से पूरक प्रारम्भ करके कुम्भक तथा बाँयें नथुने से रेचक करे। इसी प्रकार से सबीज प्राणायाम को दोहराता रहे। पूरक, कुम्भक तथा रेचक तीनों को ही अलग अलग प्रणवात्मक समझकर प्रणव की उपासना की भावना रखते हुये भी तीनों में ओम् का जाप खास मात्राओं से करने को भी सगर्भ प्राणायाम कहते हैं। ब्रह्म के ध्यान के साथ भी प्राणायाम किया जाता है।[2] इस उपर्युक्त विधि मे नथुनों को बदलते हुये पूरक, कुम्भक तथा रेचक को करें। पूरक, कुम्भक तथा रेचक का अनुपात १:४:२ का होना चाहिये। आरम्भ करते समय दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिने नथुने को दबाकर बाँये नथुने से पूरक तथा कुम्भक में बाँये नथुने को दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से दबाकर वायु को भीतर धारण करके फिर रेचक में बाँये नथुने बन्द रखते हुये दाहिने नथुने का अँगूठा हटा कर वायु को धीरे-धीरे छोड़ा जाता है। इस क्रिया के बाद फिर यहो दाहीने नथुने से पूरक करके दोहराई जाती है। इसी प्रकार नथुनों को बराबर बदलते रहना पड़ता है। बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर प्राणायाम में नथुनों को उँगलियों से दबाने की जरूरत नहीं होती है। अगर कुम्भक में जालन्धर बन्ध लगाया हो तो भी उँगलियों से नथुनों के दबाने की आवश्यकता नहीं होती है। सत्य तो यह है कि प्राणायाम बन्धों के सहित ही करना चाहिये। पूरक के समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध, कुम्भक के समय मूल बन्ध तथा जालन्धर

---

१. घेरण्ड संहिता—५-४६ से ५७ तक

२. वाराहोपनिषद्—५-५४ से ६१ तक

बन्ध, रेचक के समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध करना चाहिये। मूल बन्ध प्राणायाम में शुरु से अन्त तक रहता है। इनके बिना प्राणायाम करने से हानि होने की आशंका है। १२-४८-२४ मात्राओं ( सेकन्डों ) वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक अधम, १६-६४-३२ मात्राओं वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक मध्यम तथा २०-८०-४० मात्राओं वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक उत्तम प्राणायाम घेरण्ड संहिता के अनुसार माना गया है।[1]

निर्गर्भ सहित कुम्भक में बीज मंत्र का जप नहीं किया जाता है। निर्गर्भ प्राणायाम से सगर्भ प्राणायाम सौ गुणा अधिक शक्ति रखता है।

अधम प्राणायाम के अभ्यास से प्रचुर मात्रा में पसीना निकलने लगता है; मध्यम प्राणायाम के अभ्यास से सुष्मना में कम्पन की अनुभूति होती है तथा उत्तम प्राणायाम के अभ्यास से साधक आसन से ऊपर उठ जाता है। तीनों प्राणायामों मे सफलता के ये तीनों चिन्ह है।

प्राणायाम के द्वारा आकाश में स्थिति होने की शक्ति प्राप्त होती है। प्राणायाम के द्वारा रोगों से निवृत्ति होती है। इसके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति जागृत होती है। मन शान्त तथा प्रसन्न होता है। इसका अभ्यासी सुखी होता है।

**२—सूर्यभेदी कुम्भक**[2]—पूर्ण बलपूर्वक बाह्य वायु को दाहिने नथुने से अधिक से अधिक भीतर ग्रहण कर अँगूठे से दाहिने नथुने को बन्द कर जालन्धर बन्ध लगाते हुए सतर्कता पूर्वक रोके। पसीना नाखूनों के किनारे तथा बालों में से निकलना शुरु हो जाने तक इस कुम्भक को करे। उसके बाद चन्द्र नाड़ी से वेगपूर्वक रेचक करे। इस प्रकार से बराबर सूर्य नाड़ी से पूरक और चन्द्र नाड़ी से रेचक करे वा वायु को ऊपर की तरफ धीरे-धीरे खींचे जिससे कपाल की शुद्धि हो जावे। यह प्राणायाम शुरु में पाँच बार करे, और धीरे-धीरे इसको बढ़ाता चले। प्रारम्भ में नाखून के किनारों तथा बालों से पसीना नहीं निकलता है। इस अवस्था पर तो धीरे-धीरे कुम्भक का समय बढ़ाने से ही पहुंचा जाता

---

१. घेरण्ड संहिता—५।५५

२. घेरण्ड संहिता—५।५८ से ६८; योग कुण्डल्युपनिषत्—१।२२ से २५ तक। योग शिखोपनिषत्—१।८९ से ९२ तक; हठयोग प्रदीपिका—२।४८ से ५० तक हठयोग संहिता—प्राणायाम प्रकरण। २२ से ३२ तक

है। यह सूर्य भेदी कुम्भक की अन्तिम सीमा है। यह प्राणायाम भी प्रणव के मानसिक जप के साथ करने से अधिक उत्तम होता है।

वायु दस प्रकार की होती हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, वयान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय। इन दसों के अपने अपने स्थान हैं। प्रथम प्राणादि पांच वायु आभ्यन्तर शरीर तथा नागादि अन्तिम पंच वायु वाह्य शरीर में अवस्थित रहती हैं। इस प्रकार प्राण का हृदय, अपान का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ, वयान का समस्त शरीर स्थान होता है। श्वास की क्रिया प्राण के द्वारा, मल निस्सारण क्रिया अपान के द्वारा, पाचन क्रिया समान के द्वारा, भोजन निगलना उदान के द्वारा, तथा रुधिर संचार क्रिया वयान के द्वारा होती है। खांसी और डकार नाग, पलक की क्रिया कूर्म, छींकना कृकर, जंभाई देवदत्त, सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त रहना धनञ्जय का कार्य है। नाग चेतना, कूर्म नेत्र ज्योति, कृकर भूख प्यास, देवदत्त जंभाई, तथा धनञ्जय शब्दको उत्पन्न करता है। धनञ्जय मरने के बाद भी स्थूल शरीर को नहीं छोड़ता है। सूर्य-नाड़ी के द्वारा ये सब वायु अलग की जाती है।

सूर्य भेदी प्राणायाम के अभ्यास से जरा तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। मस्तिष्क शुद्ध होता है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। जठराग्नि प्रदीप्ति होती है। शरीर में उष्णता तथा पित्त वृद्धि होती है। कफ और बात से उत्पन्न समस्त रोग दूर होते हैं। आँतों के कृमि आदि नष्ट हो जाते हैं। इससे रक्तदोष और चमड़ी के रोग नष्ट होते है। वायु के द्वारा पैदा हुए चारों प्रकार के दोष दूर होते है। इससे गठिया आदि रोगों का इलाज किया जा सकता है।

इस सूर्य भेदी कुम्भक का एक दम उल्टा चन्द्र भेदी कुम्भक है। जिसमें बायें नथुने से पूरक और दाहिने नथुने से रेचक की क्रिया की जाती है। इसके द्वारा शरीर की थकान और गर्मी दूर होती है। सूर्य-भेदी प्राणायाम पित्त प्रकृतिवालों के लिये वर्जित है, तथा ग्रीष्म काल में वा जिन स्थानों पर अधिक गर्मी पड़ती हो वहाँ नहीं करना चाहिये। अत्यधिक शीत प्रधान स्थानों पर सूर्य भेदी इस प्राणायाम के द्वारा साधक को शीत नहीं सता सकता।

३—**उज्जायी कुम्भक**[1] गले से हृदय तक दोनों नथुनों से समरूप से शब्द

---

१. घेरण्ड संहिता—५।७०,७१,७२, हठ योग संहिता—प्राणायामप्रकरण—३३, ३४, ३५, हठयोग प्रदीपिका—२।५१, ५२, ५३; योग कुण्डल्युपनिषत्—१।२६ से २९ तक योग शिखोपनिषत्—१।९३, ९४

करते हुए पूरक करके वायु को भरे। उसके बाद कुछ देर तक कुम्भक करे, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कुम्भक करने के पश्चात् बायें नथुने से रेचक करे। यह प्राणायाम इसी प्रकार से दुहराया जा सकता है। पाँच प्राणायाम से अभ्यास शुरू करके इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाया जा सकता है। इसमें पूरक कुम्भक तथा रेचक थोड़े काल के लिये किये जाते हैं। वायु को कुम्भक में हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिये, तथा रेचक जितना भी हो सके उतना धीरे-धीरे करना चाहिये। पूरक में वायु को मुख में लिया जाता है, मुख से कण्ठ में तथा कण्ठ से हृदय में धारण किया जाता है। इसके विपरीत क्रम से रेचक किया जाता है।

इस प्राणायाम से साधक में सुन्दरता की वृद्धि होती है। जलोदर तथा धातुक्षय आदि रोग दूर होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। आमवात, उदर रोग, कफ रोग, मन्दाग्नि, दमा, क्षय आदि फेफड़े सम्बन्धी रोग, पेचिश, तिल्ली, खाँसी, बुखार आदि दूर होते हैं। सिर की गरमी नष्ट होती है, तथा साधक जरा और मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त करता है।

४—**शीतली कुम्भक**[1] :—यह कुम्भक सिद्धासन, पद्मासन आदि लगाकर तथा खड़े होकर भी किया जा सकता है। इसमें जीभ को होंठ के बाहर निकाल कर, कौवे की चोंच के समान बनाकर मुख से ही धीरे-धीरे सिसकारी भरते हुए पूरक करके पेट को वायु से भरके कुम्भक करे। कुम्भक में श्वास को जितनी देर आसानी से रोक सके उतनी देर रोके। कुम्भक की स्थिति में जीभ को मुख में भीतर ही रख लेना चाहिये। इसके बाद दोनों नथुनों से रेचक करे। इस क्रिया को बार बार करे। इस क्रिया को करने से बल ओर सौन्दर्य बढ़ता है, अनेक रोगों से निवृत्ति प्राप्त होती है, खून साफ़ होता है, प्यास तथा भूख को जीत लिया जाता है, ज्वर, तपेदिक, मन्दाग्नि, जहर के विकार, सर्प-दंश का असर दूर होता है। इसके अभ्यासी को अपनी खाल को बदलने तथा जल तथा अन्न के बिना रहने की शक्ति प्राप्त होती हैं, शरीर में शीतलता आ जाती है, किन्तु इस प्राणायाम का अभ्यास शीत काल में तथा अत्यन्त शीत स्थानों मे नहीं करना चाहिये। यह कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिये हितकर नहीं होता है।

---

१. घेरण्ड संहिता—५।७३, ७४; हठयोग प्रदीपिका—२।५७,५८; हठयोग संहिता—प्राणायाम प्रकरण—३६, ३७, ३८; योग शिखोपनिषत्—१।९५ योग कुण्डल्युपनिषत्—१।३०,३१।

**५—भस्त्रिका कुम्भक**[1] :—लोहार की धौंकनी के समान जल्दी-जल्दी पूरक तथा रेचक करना भस्त्रिका प्राणायाम में होता है। इसके करने में एक विशिष्ट रूप की आवाज़ होती है। ठीक तरह से पद्मासन लगाकर मुँह बन्द कर दोनों नथुनों से रेचक पूरक ज़ोर-ज़ोर से जल्दी-जल्दी फुफकार की आवाज़ के साथ बिना कुम्भक के २० बार करके अर्थात् बीसवें रेचक के बाद यथाशक्ति गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। जितनी देर तक आसानी तक श्वास को रोक सके उतनी ही देर तक कुम्भक करे। इस कुम्भक के बाद बहुत ही गम्भीरता पूर्वक वायु को धीरे-धीरे छोड़े। इस तरह से २० रेचक के बाद एक कुम्भक तथा रेचक करने से भस्त्रिका की एक आवृत्ति होती है। प्रत्येक आवृत्ति के बाद साधारण श्वास लेकर विश्राम करे। इस प्रकार से तीन आवृत्तियाँ प्रतिदिन प्रातः तथा तीन सायंकाल करें। यह बहुत ही प्रबल व्यायाम है। यह कपाल भाति तथा उज्जायी के मिश्रण से बना है। अतः कपाल भाति तथा उज्जायी के अभ्यास करने के बाद मे यह सरल हो जाता है। उज्जायी का विवेचन किया जा चुका है। कपाल भाति को भी समझाना इसके लिये उत्तम होगा। कपाल भाति कपाल को शुद्ध बनाने की एक विशिष्ट क्रिया है। इसमें पद्मासन पर बैठ हाथों को घुटने पर रखकर उग्रता पूर्वक जल्दी जल्दी पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसमें कुम्भक होता ही नहीं है। इसमें पूरक को धीरे-धीरे दीर्घता तथा कोमलता पूर्वक किया जाता है किन्तु रेचक अति शीघ्रता से किया जाता है। पूरक में पेडू की मांसपेशियों को ढीला छोड़ देना चाहिये। रेचक पेडू की मांसपेशियों को पीछे खींचते हुये करना चाहिये। पीठ तथा सिर झुका कर कपाल भाति नहीं करना चाहिये। इन दोनों का अभ्यास हो जाने पर भस्त्रिका सरल हो जाता है। भस्त्रिका कुम्भक हर मौसम में किया जा सकता है। यह त्रिदोष नाशक है। यह पूर्व में वर्णित सब प्राणायामों में श्रेष्ठ है। इस कुम्भक से सुष्मना मे स्थिर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि का भेदन होता है। यह आरोग्य को बढ़ाने वाला तथा शरीर की व्याधियों को नष्ट करने वाला है। तीनों धातुओं के द्वारा हुई विकृति इससे नष्ट हो जाती है। यह मन को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी जागृत करने में अत्यधिक उपयोगी है। इसके अभ्यास से नासिका तथा छाती के रोग, कफ रोग, अजीर्णता, अग्निमांद्य के रोग दूर होते है। यह

---

१. घेरण्ड संहिता—५।७५, ७६, ७७; हठयोग प्रदीपिका—२।५९ से ६७ तक; हठयोग संहिता—प्राणायाम प्रकरण—३९ से ४२ तक योगशिखोपनिषत्—१।९६ से १०० तक; योग कुण्डल्युपनिषत्—१।३२ से ३९ तक।

प्राणायाम नाड़ियों को शुद्ध करता है। शरीर को उष्णता प्रदान करता है। भस्त्रिका प्राणायाम गले की सूजन, दमा तथा तपेदिक आदि को नष्ट करता है। रोग तो इसके करने वाले के पास फटक ही नहीं सकता है। इसमें आवृत्ति की संख्या साधक की शक्ति के अनुकूल होनी चाहिये। अति नहीं करना चाहिये।

६—**भ्रामरी कुम्भक**[1] :—आधी रात बीतने के बाद, जानवर, पशु पक्षी आदिकों के शब्दों से रहित स्वच्छ स्थान पर साधक पद्मासन वा सिद्धासन लगा कर बैठ जावे। उसके बाद आँख बन्द कर भौहों के बीच ध्यान लगा कर योगी को दोनों नथुनों से भौंरे की तरह आवाज करते हुये दीर्घ स्वर से पूरक करना चाहिये फिर सामर्थ्यानुकूल कुम्भक करके एक तान सुरीली एवं मीठी भौंरी की धीमी-धीमी आवाज़ के समान ध्वनि करते हुए कण्ठ से रेचक करना चाहिये। इसे मूल बन्ध तथा उड्डीयान बन्ध के साथ करना चाहिए। घेरण्ड संहिता मे हाथों से कान बन्द करके पूरक तथा कुम्भक करने के लिये कहा है। जिसके अभ्यास से उसे दाहिने कान में अनेक शब्द सुनाई पड़ते हैं। पहिले तो झींगुर-शब्द के समान ध्वनि, उसके बाद क्रमशः वंशी, मेघ, झर्झरी तथा भौंरे की "गुन-गुन" की ध्वनि सुनाई देगी। इनके बाद क्रमशः घण्टा, कास्य, तुरी, भेरी, मृदंग, आनक, दुन्दुभि आदि शब्द सुनाई देते हैं। अभ्यास के दृढ़ होने पर अन्त में हृदयमें उठा हुआ "अनहद" शब्द सुनाई पड़ता है। उस "अनहद" ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है जिसमें ज्योति होती है। उस ज्योति में मन को लीन करना चाहिये। मन के उसमे लीन होने पर यह (मन) विष्णु के परम पद पर पहुंच जाता है। इस भ्रामरी कुम्भक मे सफलता प्राप्त होने पर समाधि में सफलता प्राप्त हो जाती है। इस प्राणायाम के द्वारा वीर्य शुद्ध होता है। साधक ऊर्ध्वगामी होता है। रक्त शुद्धि इस प्राणायाम के द्वारा होती है। मज्जा तन्तु भी पुष्ट और शुद्ध होते हैं। मन एकाग्रता को प्राप्त होता हैं। चित्त में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, जो कि अवर्णनीय है। जैसा सुख और आनन्द इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यासी को होता है, वैसा अन्य किसी भी साधारण व्यक्ति को नहीं हो सकता।

७—**मूर्छा कुम्भक**[2] :—यह प्राणायाम भ्रामरी प्राणायाम के ही सदृश

---

१. घेरण्ड संहिता—५।७८ से ८२ तक; हठयोग संहिता—प्राणायाम—प्रकरण—४३ से ४७ तक; हठयोग प्रदीपिका—२।६८।

२. घेरण्ड संहिता—५।८३; हठयोग प्रदीपिका—२।६९; हठयोग संहिता—प्राणायाम प्रकरण—४८ से ५१ तक।

है। अन्तर इसमें केवल इतना ही है कि दोनों कान, आँख, नाक और मुँह पर क्रमशः हाथों के अँगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठका रख कर किया जाता है। पूरक करते समय मध्यमा को थोड़ा ऊपर उठा लिया जाता है तथा कुम्भक में दोनों नथुनों को मध्यमा से दबाकर कुम्भक किया जाता है। इसी प्रकार से रेचक के समय मध्यमा को हटा लिया जाता है। इस प्राणायाम की विधि में हठयोग प्रदीपिका में पूरक करने के बाद जालन्धर बन्ध को बाँधकर जो कि ठोड़ी को छाती से सटाने पर होता है, कुम्भक करने का विधान है। उसके बाद जब कुछ बेहोशी-सी आने लगे तब धीरे-धीरे रेचक करे। इसमें भौंहों के बीच में मन को लगाने से मन की लयावस्था उत्पन्न होती है। इसलिये इस कुम्भक के द्वारा परमानन्द को प्राप्ति होती है। और इस प्रकार से आनन्द प्राप्त होते होते समाधि की सिद्धि होती है। यह प्राणायाम स्वतः ही प्रत्याहार की स्थिति मे पहुंचा देता है। इस कुम्भक के करने से वासनाओं का क्षय होता है। मनोनाश होने मे सहायता प्राप्त होती है। यह प्राणायाम समस्त आधि और व्याधियों को नष्ट करने के लिये महान औषधि है।

**८—केवली कुम्भक[1] :—**कुम्भक के वास्तविक रूप से दो ही भेद होते हैं, एक सहित कुम्भक दूसरा केवल कुम्भक जिनका विवेचन पूर्व मे किया जा चुका है। सहित कुम्भक मे पूरक तथा रेचक के सहित कुम्भक होता है किन्तु केवल कुम्भक में पूरक तथा रेचक रहित कुम्भक होता है। बिना सहित कुम्भक के दृढ़ हुये केवल कुम्भक हो ही नही सकता है। जब कुम्भक, पूरक तथा रेचक के बिना ही देश, काल, संख्या से रहित होकर होने लगे तब उसे केवल कुम्भक कहते है। हठयोग प्रदीपिका मे भी कहागया है कि केवल कुम्भक, रेचक तथा पूरक के बिना ही सुख पूर्वक वायु को धारण करने को कहते है।

हठ योग में केवल-कुम्भक की विधि निम्नलिखित है। उसमें प्राण वायु को तीनों बन्धों ( जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूल बन्ध ) के साथ हृदय से नीचे ले जाया जाता है और दूसरी तरफ़ अपान वायु को मूलाधार से ऊपर उठाया जाता है। इस प्रकार से करके नाभि स्थान पर स्थिति समान वायु पर दोनों की टक्कर दी जाती है तब केवल कुम्भक होता है। यह विधि हानि भी पहुंचा सकती है, अतः सवके लिये ठीक नहीं होती।

---

१. घेरण्ड संहिता—५।८४ से ९६ तक; हठयोग संहिता—प्राणायाम प्रकरण ५२ से ७० तक; हठयोग प्रदीपिका—२।७२, ७३, ७४।

इसके विषय में घेरण्ड संहिता मे बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है : श्वास लेते समय हर व्यक्ति मे स्वतः ही सः का उच्चारण होता रहता है : इसी प्रकार से श्वास के निकलने समय 'हं' का उच्चारण होता रहता है। इस प्रकार से 'सोऽहं' वा 'हंस' मंत्र का अजपा जप स्वतः चलता रहता है। जिसका ज्ञान साधारणतः किसी को नहीं होता। यह जप अचेतन रूप से निरन्तर श्वास-प्रश्वास के साथ होता रहता है। इस प्रकार से २१ हज़ार ६ सौ बार (२१६००) दिन रात में यह जप साधारण स्वस्थ मनुष्य का होता रहता है। इसे अजपागायत्री कहते हैं, जोकि मूलाधार चक्र अनाहत चक्र तथा आज्ञा चक्र पर जपा जाता है। यह वायु शरीर ९६ अंगुल का होता है। श्वास की स्वाभाविक वहिर्गति बारह अंगुल, गाने मे १६ अंगुल, भोजन में २० अंगुल, चलने फिरने में २४ अंगुल, निद्रा में ३० अंगुल, मैथुन में ३६ अंगुल और व्यायाम आदि में इससे भी अधिक होती है। इस स्वाभाविक १२ अंगुल के प्रमाण को घटाने से आयु बढ़ती है और उसकी स्वाभाविक गति मे वृद्धि होने से आयु क्षीण होती है। जब तक शरीर में प्राण स्थित रहते हैं, तब तक मृत्यु नहीं होती है।

जब वायु की समस्त लम्बाई शरीर के ही भीतर रह जाती है और उसका कोई भाग भी बाहर नहीं जा पाता तब वही केवल कुम्भक कहलाता है। सब प्राणी निश्चित संख्या मे अचेतन रूप से निरन्तर अजपा मंत्र जपते रहते है, किन्तु योगी को इसका जप उसकी संख्या गिनते हुए चेतन रूप से करना चाहिये। साधारण व्यक्तियों की होने वाली अजपा जप-जप की संख्या से दुगनी अजपा संख्या होने से मन एकाग्र हो जाता है। इस कुम्भक में रेचक और पूरक की प्रक्रिया नियमित नहीं होती। यह तो केवल कुम्भक है। केवली कुम्भक का जितना अधिक साधन होगा उतना ही मन लीन होता जायगा। प्रथम अवस्था में प्राण की क्रिया को, प्राण वायु को नियमित करके संयमित करनी चाहिये। इसकी विकसित अवस्था में तो यह स्वतः ही हुआ करता है। समस्त विषयों से मन को हटाकर भौंहों के मध्य में एकाग्र करते हुये अपान और प्राण दोनों की गति को रोकने से केवली प्राणायाम होता है। केवली प्राणायाम को दिन में आठ बार या पाँच बार जैसी गुरु की आज्ञा हो करना चाहिये। दिन मे तीन बार (सुबह, दुपहर और सायंकाल) भी किया जा सकता है। जब तक इस केवली प्राणायाम में सफलता प्राप्त नहीं होती तब तक अजपाजप की वृद्धि १ से लेकर ५ गुनी तक करके चला जाय। केवली प्राणायाम को जानने वाला ही वास्तविक

योगी है। जिसको केवली कुम्भक सिद्ध हो चुका है उसके लिये संसार में कुछ भी अप्राप्त नहीं है। इसके द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। सुषुम्ना को समस्त बाधायें मिटती है। इसके द्वारा समस्त आधि, व्याधि नष्ट हो जाती हैं। इस प्राणायाम में षट्चक्र भेदन की क्रियाएं भी की जाती है, जिसके द्वारा सहस्रार चक्र मे कुण्डलनी शक्ति ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करती है। इस प्राणायाम को खेचरी मुद्रा के साथ करने से विशेष लाभ होता है।

**नाड़ी शुद्धि के लिये प्राणायाम**[1] —समस्त योग शास्त्रों मे प्राणायाम से पूर्व नाड़ी शुद्धि का विधान है। मल मे पूर्ण नाड़ियों मे वायु प्रवेश नहीं हो सकता है। घेरण्ड संहिता मे समानु तथा निर्मानु क्रियाओं से नाड़ी की शुद्धि की जाती है। निर्मानु के लिये षट्कर्म किये जाते है।[2] जिसमें धोती, बस्ति, नेति लोलिकी, त्राटक तथा कपालभाति आते है। बीज मंत्र से समानु किया जाता है।

पद्मासन लगाकर बैठने के बाद शक्ति पूर्ण, धूये के रंग के वायु के बीजाक्षर "यं" पर ध्यान कीजिये। बायें नथुने से वायु खींचते हुये १६ बार इस मंत्र का जप कीजिये। ऐसा करना ही पूरक है। ६४ बार इस मंत्र का जप करने तक वायु को रोकिये। यही कुम्भक है। इसके बाद ३२ बार इस मंत्र का जप करने के समय तक वायु को दाँय नथुने से निकाले, यही रेचक है।

अग्नि तत्त्व का स्थान नाभि है। वहाँ से अग्नि को उठाते हुये पृथ्वी तत्त्व से मिलाकर दोनों के मिश्रित तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करे। दाहिने नथुने से वायु खींचते हुये अग्नि बीज मंत्र "रं" का १६ बार जप करे। ६४ बार बीज मंत्र के जप तक वायु को रोके तथा ३२ बार जप करते हुये रेचक करे।

नासिका के अग्रभाग पर चन्द्रमा के प्रकाश पर ध्यान केन्द्रित करते हुये १६ बार बीज मंत्र "ठं" का जप करते हुये, बाँये नथुने से वायु को खींचे, ६४ बीज मंत्र "ठं" का जप करने तक रोकते हुये चन्द्रमा से सभी नाड़ियों पर अमृत वास कर उनकी शुद्धि होने की कल्पना करे तथा ३२ बार पृथ्वी बीज मंत्र "लं" का जप करते हुये दाहिने नथुनें से रेचक करे।

---

१. घेरण्ड संहिता—५।३३ से ४४ तक; दर्शनोपनिषत्—५।१ से १२ तक; त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्—मंत्र भाग ९५ से १०४ तक; योग चूडामण्युपनिषत्—९३, ९४, ९८, ९९; शाण्डिल्योपनिषत्—४।१४, ५।३, ४।

२. घेरण्ड संहिता—१।१२, १३, १४ से ६० तक में देखने का कष्ट करें। हठयोग संहिता—षटकर्मो के भेद—१ से ५० तक।

उपर्युक्त तीनों प्राणायामों के द्वारा नाड़ी शुद्धि होती है जिसके बाद नियमित प्राणायाम प्रारम्भ किया जा सकता है। कपालभाति जो षटकर्मों में से एक है जिसका विवेचन प्राणायाम में भी किया जा चुका है, के द्वारा नाड़ी शोधन किया जाता है। इसके अतिरिक्त बाँये नथुने से वायु को फेंक कर फिर बाँये नथुने से वायु खींच दाहिने नथुने से वायु फेंके तथा फिर दाहिने नथुने से वायु खींचकर बाँये नथुने से फेंके। इसी प्रकार बहुत बार करने से नाड़ी शोधन होता है।

**चौथा प्राणायाम** :—अब तक जिन प्राणायामों का वर्णन किया गया है। वे सब तीन प्राणायामों के भीतर ही आ जाते हैं। इन तीनों प्राणायामों की देश, काल तथा संख्या के द्वारा साधक परीक्षा करता चलता है। प्राणायाम अभ्यास के बढ़ने के साथ-साथ दीर्घ सूक्ष्म होता चलता है। प्रथम बाह्य वृत्ति प्राणायाम ( रेचक सहित कुम्भक वा बाह्य कुम्भक ) में प्राण वायु को वाहर निकाल कर उसे जितनी देर तक सुख पूर्वक बाहर रोका जा सके रोक कर यह जाँच करनी होती है कि वह बाहर कितनी दूर पर ठहरा है किस काल तक रुका है तथा उतने काल में कितनी मात्रायें होती हैं। अभ्यास के द्वारा यह दीर्घ सूक्ष्म हो जाता है। दूसरे आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम में श्वास को भीतर खींचकर सुख पूर्वक रोका जाता है। इसमें भी श्वास भीतर कहां तक जाकर रुका कितने समय तक सुख पूर्वक रुका तथा उतने काल में कितनी मात्रायें हुई की परीक्षा की जाती है। प्राण को भीतर रोकने के कारण इसे पूरक सहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक भी कहते हैं। अभ्यास के द्वारा यह भी दीर्घ-सूक्ष्म होता जाता है। तीसरी स्तम्भ वृत्ति, जिसमें प्राणवायु को जहां का तहां एक दम प्रयत्न से रोक देना होता है, को केवल कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इसमें बिना रेचक और पूरक किये स्वाभाविक रूप से प्राणवायु अन्दर गया हो वा बाहर निकला हो, कहीं भी किसी भी स्थिति में हो, उसी जगह उसे रोक कर साधक यह परीक्षा करता है कि प्राण किस देश मे स्थिर हुआ है, कब तक सुख पूर्वक स्थिर रहता है तथा उतने समय में कितनी मात्रायें हो जाती हैं। यह भी अभ्यास के द्वारा दीर्घ-सूक्ष्म होता है।

इन उपर्युक्त तीनों प्राणायामों का विशद विवेचन पहिले ही किया जा चुका है। यहाँ केवल चौथे प्राणायाम का इनसे भेद दिखलाने के लिये, इनका वर्णन सूक्ष्म रूप से किया गया है। बहुत से विद्वानों ने केवल कुम्भक को ही चतुर्थ प्राणायाम माना है लेकिन बहुत से टीकाकार तीसरे प्राणायाम को ही केवल-कुम्भक कहते हैं। हमारे मत से भी केवल कुम्भक और चतुर्थ के प्राणायाम मे

अन्तर है। पहिला अन्तर तो यह है कि केवल कुम्भक में प्रयत्न पूर्वक प्राण को रोका जाता है। किन्तु चौथे प्राणायाम में इस प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें तो मन के निश्चल होने के कारण स्वतः ही प्राण की गति रुक जाती है। अन्य सभी प्राणायामों में प्राणों की गति को रोकने का अभ्यास प्रयत्न द्वारा करने पर ही उसका निरोध हो पाता है। यह प्राणायाम बाह्याभ्यन्तर समस्त विषयों का चिन्तन छोड़ देने से होता है। इसमें चित्त इष्ट चिन्तन में लगा रहता है। जिससे उसे प्राण के बाहर निकलने, भीतर जाने, चलने वा अवरुद्ध होने, किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। इसमें तो देश काल संख्या के ज्ञान के बिना ही प्राणों की गति किसी भी देश में रुक जाती है। इस प्रकार से यह अन्य सब प्राणायामों से भिन्न है। प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ता पूर्वक बहुत दिनों तक करने के उपरान्त चतुर्थ प्राणायाम साधा जाता है। इसमें गुरु की आवश्यकता पड़ती है।

प्राणायाम में पहिले चित्त को आध्यात्मिक देश पर ध्यान के अभ्यास के द्वारा शून्यवत कर लेना चाहिये। प्राणावरोध ही केवल प्राणायाम नहीं है। प्राणायाम में तो प्राणावरोध के साथ चित्त को एकाग्र करना चाहिये। जब तक चित्त में एकाग्रता नहीं आवेगी, तब तक प्राणायाम से योग सिद्ध नहीं होता।

प्राण का अधिष्ठान भौतिक शरीर अर्थात् अन्नमय कोश न होकर प्राणमय कोश है, जो कि अन्नमय कोश से सूक्ष्म है और उसके (अन्नमय कोश के) भीतर स्थित रहकर उसके साथ समस्त कार्य सम्पादन करता है। इस प्राणमय कोश के द्वारा ही प्राण-धारायें समस्त शरीर के अंगों में होकर बहती हैं और उन्हें अनेक प्रकार से शक्ति प्रदान करती है। ये प्राण एक शक्ति हैं जो कि अलग अलग अंगों में अवस्थित रहकर कार्य का सम्पादन करते हुये अलग अलग नामों से पुकारी जाती है। प्राणायाम के द्वारा इस प्राण शक्ति का नियंत्रण होता है। यह केवल वायु का ही नियंत्रण नहीं है जो कि शरीर में एक शक्ति का प्रकार मात्र है। प्राण और श्वास में अन्तर है। जैसे कि बिजली और बिजली के द्वारा उत्पन्न गति में अन्तर है, उसी प्रकार से श्वास और प्राण में अन्तर है। किन्तु इस श्वास के द्वारा ही प्राण की भी क्रिया सम्बन्धित है। अतः दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। प्राणायाम श्वास की गति को नियमित करके प्राण शक्ति के ऊपर नियन्त्रण पाना है।

प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है।[1]

१. पा० यो० सू०—५२

अविद्या आदि क्लेशों से ज्ञान आवरित रहता है। प्राणायाम का अभ्यास उसे क्षीण कर देता है, जिससे ज्ञान का प्रकाश होने लगता है। इस प्रकार से प्राणायाम के द्वारा मल-निवृत्ति होकर स्थिरता प्राप्त होती है। प्राणायाम के द्वारा संचित कर्मों, संस्कारों, पंचक्लेषादि मलों का नाश होता है। तप से मल नष्ट होने का विवेचन पूर्व मे किया जा चुका है। प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं माना जाता है। जिस प्रकार से अग्नि के द्वारा धातुओं का मल नष्ट होता है, उसी प्रकार से इन्द्रियों का मल प्राणायाम के द्वारा होता है। प्रणायाम के द्वारा चित्त शुद्ध होता है। ज्ञानावरण हट जाने से प्रकाश प्राप्त होता है। अविद्याजन्य समस्त पाप दूर होते हैं। प्राणायाम से रजोगुण और तमोगुण रूपी सात्त्विक चित्त के आवरण दूर होकर आत्मा के वास्तविक रूप का प्रकाशन होता है। बुद्धि को विकृत करनेवाले कर्मसंस्कार नष्ट होते हैं। शास्त्रों मे प्राणायाम से मलों को भस्म करने का आदेश है। प्राणायाम के अभ्यास से मलों के निवृत्त होने पर स्थिरता रूपी मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है। प्राणायाम मन को स्थिर करके धारणा शक्ति प्रदान करता है। प्राणायाम के अभ्यास से योगी के सब पाप और दुख नष्ट हो जाते हैं।[१] उसको आकाश गमन शक्ति प्राप्त होती है। जब प्राणायाम के अभ्यास से आसन से ऊपर उठ जावे तो उसे वायु सिद्धि हो जाती है। प्राणायाम के अभ्यास से निद्रा, मल और मूत्र की मात्रा घट जाती है। साधक का तेज और सौन्दर्य बढ़ जाता है।[२] प्राणायाम के द्वारा दिव्य दृष्टि तथा दिव्य श्रवण शक्ति, कामचार शक्ति (इच्छा से कहीं भी पहुंचना) वाक्सिद्धि, सूक्ष्म-दृष्टि, परकाय प्रवेशण, आदि शक्तियां प्राप्त होती है।[३] सदा युवक सम बना रहता है। समस्त रोगों से साधक मुक्त हो जाता है। प्राणायाम का अभ्यासी साधक प्राण के द्वारा प्राणियों के असाध्य रोगों को अच्छा कर सकता है। अपनी प्राणधारा को रोगी के भीतर प्रवाहित करके रोगी को रोग मुक्त किया जा सकता है। हर प्रकार के दर्द, शूल, तिल्ली, जिगर तथा अन्य समस्त रोग इस प्राण शक्ति को प्रवाहित करके दूर किये जा सकते हैं। रोगी चाहे पास हो या दूर संकल्प शक्ति से साधक उसमें अपने प्राण को प्रवाहित कर सकता है तथा उसको निरोगता प्रदान कर सकता है। प्राणायाम के द्वारा चित्त को चक्रों पर केन्द्रित करके कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया जा सकता

१. शि० सं० अ० ३।३०।
२. शि० सं० ३।२९।
३. शि० सं० अ० ३।५४।

है। साधक वीर्य के दृढ़ तथा स्थिर होने से ब्रह्मचारी होता है। वह काम को जीत लेता है। प्राणायाम के अभ्यास से योगी के चित्त का व्यापार बन्द हो जाने से इन्द्रियों का भी व्यापार बन्द हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा ही प्रत्याहार की स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्याहार प्राणायाम का परिणाम है।

**प्रत्याहार**[1] :––याग के पाँच बहिरंग साधनों में से प्रत्याहार अन्तिम अर्थात् पाँचवा साधन है। यम नियम तथा आसन का अभ्यास हो जाने के बाद साधक प्राणायाम के अभ्यास के योग्य होता है। प्राणायाम के अभ्यास का परिणाम प्रत्याहार है। प्राणायाम का उपर्युक्त रूप से अभ्यास करते-करते मन के समस्त मल जल जाने से मन शुद्ध हो जाता है। चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है। उसका व्यापार बन्द हो जाता है। जिससे इन्द्रियाँ भी फिर बाह्य तथा अभ्यान्तर विषयों में प्रवृत्त नहीं होती हैं। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त न होकर चित्त में लीन होना प्रत्याहार है। इन्द्रियों का विषय विमुख होना भी प्रत्याहार है। साधक इन्द्रियों को समस्त विपयों से हटाकर चित्त को जब ध्येय में लगाता है तब इन्द्रियाँ चित्त ही में लीन सी हो जाती हैं। ऐसा होना ही प्रत्याहार है। जब तक इन्द्रियाँ मन में विलीन नहीं होती तब तक प्रत्याहार की सिद्धि नहीं समझी जा सकती। प्रत्याहार में इन्द्रियों का बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होना होता है। प्रत्याहार शब्द का अर्थ ही पीछे जाना या वापस होना है। इन्द्रियों का विपयों की तरफ न जाकर, बुद्धि तत्त्व की तरफ को वापस जाना प्रत्याहार है। प्रत्याहार में तो चित्त की इच्छा ही सब कुछ है। चित्त के साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी चलती हैं। चित्त के विषयों से हटने पर वे स्वतः ही हट जाती हैं। जैसे रानी मक्खी के पीछे-पीछे ही सब मधुमक्खियाँ चलतो हैं ठीक उसी प्रकार से चित्त के पीछे-पीछे हीं सब इन्द्रियाँ चलती हैं। अतः चित्त के निरुद्ध होते ही इन्द्रियों का निरुद्ध होना प्रत्याहार है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ पूर्ण-रूप से मन के आधीन हो जाती हैं। सामान्य व्यक्ति इन्द्रियों का दास है। जिधर उसकी इन्द्रियाँ जाती हैं उधर ही मन को भी जाना पड़ता है। मन के संयोग के बिना तो किसी भी विपय का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। बहुत से शब्द, श्रवणेन्द्रिय से टकराने पर भी, सुनाई नहीं देते, बहुत से दृश्य चक्षु इन्द्रिय से टकराते हुये भी

१. पा० यो० सू० भा०—२।५४, ५५; क्षुरिकोपनिपत्—६ से १० तक दर्शनोपनिषत्—७।१ से १४ तक; शाण्डिल्योपनिपत्—खण्ड ८ कठोपनिषत्—२।१।१; घेरण्ड संहिता—४।१ से ५ तक ( चतुर्थोपदेश )

दिखाई नहीं देते, क्योंकि मन इनसे संयुक्त नहीं होता हैं। सभी इन्द्रियों से टकराने वाले विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है फिर भी कुछ विषय ऐसे हैं जिनमे मन भी विवश हो जाता है। वह जितना उनसे हटना चाहता है उतना ही फँसता है। मन के न चाहते हुये भी ध्यान उनकी तरफ़ जाता है। वह सम्वेदना से रहित नहीं रह पाता। किन्तु योगी के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर सके। इसीलिये यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों का ऐसा नियंत्रण हो जाता है कि वे मन के अनुसार चलने लगती है। मन के न चाहने पर, चक्षु-विषय सन्निकर्ष होने पर भी, चक्षु रूप का ज्ञान नहीं दे सकते। आँखें खुली होने तथा विषय के उनके सम्मुख रहने पर भी, अगर मन नहीं चाहता, तो उस बाह्य विषय का उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। यही प्रत्याहार है। इसमें बिना मन के चाहे सम्वेदना भी नहीं होती। अगर मन आवाज़ नहीं सुनना चाहता तो कोई भी बाह्य शब्द कानों को प्रभावित नहीं कर सकता है। अगर मन किसी वस्तु को स्पर्श नहीं करना चाहता तो त्वक् इन्द्रिय की सम्वेदना शक्ति का रोध हो जाता है। मन अगर गंध नहीं चाहता तो घ्राणेन्द्रिय की घ्राण शक्ति का रोध हो जाता है तथा उग्र से उग्र गन्ध भी गन्ध सम्वेदन प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार से अगर मन की इच्छा स्वाद लेने की नहीं है तो रसनेन्द्रिय स्वाद प्रदान नहीं कर सकेगी। उसकी शक्ति का रोध हो जावेगा। यही प्रत्याहार है। प्रत्याहार में इतना ही नहीं होता बल्कि मन का इन्द्रियों पर क़ाबू होता है और मन जिस दृश्य को देखना चाहता वा जिस शब्द को सुनना चाहता है चक्षु तथा श्रवणेन्द्रिय उसी दृश्य तथा शब्द को वस्तु जगत में दिखा वा सुना देती है। जैसे जब कछुवा क्रिया नहीं करना चाहता तब वह अपने हाथ पैरों को अपने शरीर के भीतर ही सिकोड़े रहता है किन्तु जब चलना चाहता है तब उन्हें निकाल कर बाहर कर लेता है। ठीक इसी प्रकार जब मन चाहता है तभी इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं अन्यथा नहीं। इन्द्रियों को विषयों से समेटकर ( हटाकर ) चित्त के शुद्ध स्वरूप की ओर ले चलना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार की अवस्था में चित्त, बाह्य विषयों से विमुख हो चेतन अभिमुख होता है किन्तु इन्द्रियाँ मन के साथ-साथ बाह्य विषयों से तो विमुख हो जाती हैं किन्तु चेतन तत्त्व की तरफ अभिमुख नहीं होती। इसीलिये प्रत्याहार को इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के न ग्रहण करने पर चित्त के स्वरूप की नकल जैसा करना कहा है।

पुरुष चित्त को विषयों से हटाकर अन्तर्मुख कर आत्मदर्शन की तरफ़ प्रयत्नशील होता है। ऐसी स्थिति मे इन्द्रियाँ भी विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख होती है तथा चित्त का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती हैं।

साधारण पुरुष इन्द्रियों का गुलाम होता है किन्तु प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ मन की गुलाम हो जाती हैं। इन्द्रियाँ स्वतन्त्र नहीं रह जाती। मन के शासन का साधन प्रत्याहार है। इसमें मन के सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त विषयों से विमुख होने पर इन्द्रियाँ भी अपने-अपने सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त विषयों से विमुख होकर मन में लीन होकर स्थिर हो जाती है। जब चित्त को आध्यात्मिक देश में निरुद्ध किया जाता है तब इन्द्रियाँ किसी विषय को भी ग्रहण नहीं करती इसके अतिरिक्त चित्त को जब किसी एक विषय विशेष पर स्थिर किया जाता है तो केवल उस विषय से सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रिय ही अपने व्यापार को करती हैं, अन्य विषयों से सम्बन्धित इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते। इन्द्रियाँ तो, अगर यथार्थ रूप से देखा जाये, मन के साधन मात्र है जिन्हे पूर्ण रूप से, मन के नियन्त्रण में रहना ही चाहिये। किन्तु सामान्य व्यक्ति के यहाँ तो अराजकता ही है। इसीलिये यम, नियम आसन तथा प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों की इस अराजकता को समाप्त करके प्रत्याहार की अवस्था प्राप्त करनी पड़ती है। यही स्वाभाविक है। योगी के लिये प्रत्याहार का सिद्ध होना अति आवश्यक है। योग के आठों अंग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अगर यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के द्वारा स्थूल शरीर को पूर्णरूप से नियमित नहीं किया गया है तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं हो सकता। उसमें सफलता नहीं प्राप्त हो मकती है।

प्रत्याहार मन के द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण प्रतीत होता है किन्तु सचमुच में यह चित्त का बाह्य विषयों से अपने आप को खींच कर अपने में ही लीन होना है। जब चित्त अपने में ही लीन हो जावेगा तो इन्द्रियाँ तो बेकार हो ही जावेंगी क्योंकि मन के बिना तो इन्द्रियाँ ज्ञान प्रदान कर ही नहीं सकती। मन के अपने में पूर्ण रूप से लीन होने से इन्द्रियों के समस्त व्यापार स्वतः ही बन्द हो जायेंगे।

अन्वेषक जब अपने अन्वेपण में लीन रहता वा इसी प्रकार से जब किसी व्यक्ति का ध्यान किसी एक तरफ़ लगा होता है तब वह अन्वेपक वा व्यक्ति वाह्य जगत् के विरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार की विमुखता, भले ही वह कितनी ही उच्च प्रकार की क्यों न हो, अनैच्छिक होती है तथा वाह्य जगत् मे उसके

ध्यान केन्द्रित होने का कोई न कोई विषय अवश्य रहता है किन्तु प्रत्याहार मे विमुखता ऐच्छिक होती है और वाह्य जगत् मे मन का कोई विषय नहीं होता है। उसका तो सारा व्यापार अपने ही भीतर रहता है। अपनी इच्छा से ही वह समस्त बाह्य जगत् से विमुख रहता है वा आध्यात्मिक देश मे निरुद्ध रहता है।

प्रत्याहार के विवेचन से बहुत से व्यक्तियों को यह भ्रम हो जावेगा कि उन्माद तथा हिस्टीरिया आदि भी एक प्रकार के प्रत्याहार ही हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, दोनों मे महान् अन्तर है। ये तो मानसिक रोग है किन्तु प्रत्याहार मानसिक स्वास्थ्य की उच्च अवस्था है। एक मे तो शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण रूप से अनियंत्रण रहता है, दूसरे में पूर्ण नियंत्रण। उन्माद आदि में बाह्य विषयों से विमुखता तथा मानस भाव में रहने की स्थिति बाध्यता के कारण होती है किन्तु प्रत्याहार मे यह पूर्ण रूप से स्वेच्छाधीन होती है। चाहने पर प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति सूक्ष्म विषयों का भी प्रत्यक्ष करने मे समर्थ होता है। उसकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती वल्कि वे तो पूर्ण स्वस्थ होने के कारण पूर्ण सामर्थ्यवान् हो जाती हैं। यह वात अवश्य है कि वे सच्चे आज्ञाकारी सेवक की तरह पूर्ण रूप से मन के नियंत्रण में रहती है। मन की इच्छा के बिना वे किसी विपय की तरफ़ आकृष्ट नहीं हो सकती।

सम्मोहित व्यक्ति सम्मोहित अवस्था मे सम्मोहित करने वाले व्यक्ति के संकेतों को पूर्ण रूप से मानता है। उस अवस्था में उसे भी प्रत्याहार होता है। संकेतानुसार इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। बाह्य वस्तु जगत् से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता। वह सम्मोहित करने वाले के संकेतों को पूरी तरह से मानता है। समानता प्रतीत होते हुये भी इन दोनों में महान् अन्तर है। सम्मोहित व्यक्ति का चित्त सम्मोहित करने वाले व्यक्ति के आधीन होता है। उसी व्यक्ति के नियंत्रण में सम्मोहित व्यक्ति की इन्द्रियाँ रहती है। उसका चित्त स्वनियंत्रित नहीं रहता। प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति के चित्त के व्यापार अपने स्वयं के आधीन होकर होते हैं। वह दूसरे के हाथ की कठपुतली नहीं होता। यह अवश्य है कि जिस प्रकार सम्मोहित करने वाले व्यक्ति सम्मोहित व्यक्ति को जो चाहे उसी दृश्य, शब्द, गंध, रस तथा त्वक् सम्वेदना को दिखा, सुना, सुंघा, चखा तथा अनुभव करवा सकता है उसी प्रकार प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति का भी अपनी इन्द्रियों पर पूरा क़ाबू होने के कारण जिन विपयों को वह देखना, सुनना, सूँघना, चखना तथा अनुभव करना चाहे कर सकता है। जब तक सम्मोहित करने वाला नहीं

चाहता है तब तक सम्मोहित व्यक्ति महान् प्रकाश को भी नहीं देखता, तोप की आवाज को भी नहीं सुनता, तीव्रतम गंध को भी नहीं सूँघता, तीक्ष्ण से तीक्ष्ण वा कटु से कटु वस्तु के स्वाद से भी प्रभावित नहीं होता, तथा तीव्र से तीव्र सम्वेदना का भी अनुभव नहीं करता। प्रत्याहार सिद्ध योगी का भी यही हाल है कि बिना उसकी इच्छा के इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण कर ही नहीं सकती हैं। दोनों में इतना अन्तर स्पष्ट ही है कि एक में दूसरे व्यक्ति के शासन में शरीर, इन्द्रियाँ आदि रहते हैं, किन्तु दूसरे में शरीर, इन्द्रियाँ आदि अपने स्वयं के शासन में रहते हैं। क्लोरोफार्म आदि औषधियो द्वारा भी व्यक्ति सम्वेदना रहित हो जाता है। किन्तु इन सब में पूर्ण स्वेच्छा की कमी होने से इनके द्वारा प्रदान की गई स्थिति प्रत्याहार से बिलकुल भिन्न है।

योग उपनिषदों में पाँच प्रकार का प्रत्याहार बताया है।[1]

प्रथम प्रकार का प्रत्याहार ज्ञान इन्द्रियों को, उनके विषयों की तरफ जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को, शक्ति पूर्वक रोकना है।

दूसरे प्रकार का प्रत्याहार मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य जगत् में ब्रह्म के ही दर्शन करना वा उनको आत्मरूप समझना है।

तीसरे प्रकार का प्रत्याहार समस्त दैनिक कर्मों के फलों का त्याग वा समस्त जीवन के कर्मों को ब्रह्मार्पित करना है।

चौथे प्रकार का प्रत्याहार समस्त इन्द्रिय सुखों से मुख मोड़ना है।

पाँचवे प्रकार का प्रत्याहार १८ मर्मस्थानों पर प्राण वायु का एक निश्चित क्रम से स्थापना करते चलना है।

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक पूर्ण रूप से जितेन्द्रिय हो जाता है। चित्त के निरुद्ध होते ही इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। प्रत्याहार से होने वाली इन्द्रिय जय ही सर्वोत्तम है। क्योंकि इसके सिद्ध होने पर इन्द्रिय जय के लिये किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं होती है। प्राणायाम के सिद्ध होने से चित्त के आवरण हट जाने पर साधक को शुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होता है, जिसमें उसे इतना आनन्द आता है कि वह बाह्य विषयों से विमुख हो जाता है। यही प्रत्याहार की सिद्धि उसे इन्द्रियों का स्वामी बना देती है। इसके अभ्यासी के समस्त सांसारिक रोग तथा पाप पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं।[2] उनके नष्ट होने से, तप बढ़ता है तथा मन निर्मल होता है।

---

१. शाण्डिल्योपनिषत्—१।८ खण्ड; दर्शनोपनिषत्—७।१ से ९ तक।

२. दर्शनोपनिषत्—७।९, १०

यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं जिनके द्वारा मन का शरीर पर पूरा २ शासन हो जाता है तथा साधक धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास योग्य हो जाता हैं।

**धारणा**[1]:—चित्त वृत्तियों का निरोध योग है। चित्त वृत्तियों का निरोध शनैः शनैः होता है। धीरे-धीरे ही समस्त विकर्षणों को दूर कर चित्त को निरोध की तरफ़ ले जाया जाता है। सर्व प्रथम तो बाह्य विक्षेपों को दूर करना अति आवश्यक हो जाता है। बाह्य विकर्षणों से निवृत्ति के लिये ही योग के पंच बहिरंग साधन है, जिनका विवेचन किया जा चुका है। बाह्य विक्षेपों में प्रमुख विक्षेप अनियमित उद्वेगों तथा इच्छावों के द्वारा होते हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि निश्चित रूप से चित्त को विक्षिप्त करते हैं। इन विक्षेपों के निवारणार्थ ही योग में यम ( अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ) नियम ( शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ) का पालन अति आवश्यक माना गया है। इन दोनों का विपद विवेचन पूर्व मे हो चुका है। इसके बाद स्थूल शरीर से होने वाले विकर्षण आसन तथा प्राणायाम से दूर होते हैं। आसन तथा प्राणायाम का भी विवेचन हो चुका है। जब सब प्रकार से बाह्य विकर्षणों से साधक मुक्त हो जाता है तब वह इस योग्य हो जाता है कि मन को इन्द्रियों से हटा सके। यही प्रत्याहार है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक का बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है जिससे उसे बाह्य जगत् जन्य कोई बाधा नहीं होती है। अतः वह विना किसी बाह्य बाधा के चित्त को निरोध करने का अभ्यास करने योग्य हो जाता है। विना योग के इन पाचों अंगों का अभ्यास दृढ़ हुये धारणा, ध्यान एवं समाधि का सफलता पूर्वक अभ्यास सम्भव नहीं है। योग के इन अंगों का अभ्यास दृढ़ हुये बिना ही जो योगाभ्यास करना चाहते हैं वे महान् भूल करते हैं। इनके विना ध्यान समाधि की तो कौन कहे धारणा का साधारण अभ्यास भी बहुत कठिन है। कल्पना तथा तथ्यों में बड़ा भेद है। अगर साधक विना इसके सिद्ध हुये ध्यान करने लगता है तो उसका थोड़ी दूर चल कर मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आखीर तक तो, सब

---

१.—पा० यो० सू० भा०—३।१; अमृतनादोपनिषत्—१५; त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् मंत्र भाग। १३३, । १३४,
दर्शनोपनिषत्—८।१ से ९ तक; योगतत्वोपनिषत्—६९ से ८०
शाण्डिल्योपनिषत्—७।४३, ४४; ९ खण्ड; शिवसंहिता—५।४३ से १५७

योगाङ्गों का सिलसिलेवार अभ्यास करने वाला ही पहुंच सकता है। पूर्व जन्मका अभ्यास भी काम करता है। वहुत से विरक्त पैदा होते हैं। कतिपय व्यक्ति तो योग की उच्च अवस्था के अभ्यास को लेकर जन्मते हैं। उनके लिये नीचे से चलना आवश्यक नहीं होता, क्योंकि वे उतना मार्ग चल चुके हैं। एक जन्म में तो योग सिद्धि साधारणतः होता नहीं। कुछ भी हो धारणा के अभ्यास के लिये उससे पूर्व के पाँचों योगाङ्गों का दृढ़ अभ्यास अनिवार्य सा है चाहे वह इस जन्म में किया गया हो वा पिछले जन्मों में। साधक इन उपर्युक्त साधनों द्वारा जव बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् मे प्रवेश करता है तभी वह वहाँ विचरण कर सकता है। अभ्यास द्वारा इस स्थिति में पहुँचने पर ही साधक इस योग्य होता है कि वह चित्त को समस्त विषयों से हटाकर कहीं भी इच्छानुसार ठहरा सके। यह, चित्त को अन्य समस्त विषयों से हटाकर किसी एक स्थान विशेष ( शरीर के भीतर वा बाहर कहीं भी ) में वृत्ति मात्र से ठहरना ही "धारणा" है[1]। बाह्य तथा आभ्यान्तर विषय ( स्थूल वा सूक्ष्म ) मे चित्त को अन्य विषयों से हटाकर ठहराना "धारणा" है। चित्त को अनुभव के द्वारा आध्यात्मिक देश में बाँधा जाता है तथा इन्द्रिय वृत्ति के द्वारा बाह्य देश मे ठहराया जाता है। नाभिचक्र, हृदय कमल, मस्तिष्क स्थित ज्योति, नासिका का अग्रभाग, भ्रकुटी, जिह्वा का अग्रभाग, पट्चक्र वा द्वादश चक्र आदि आध्यात्मिक देश हैं। धारणा का मुख्य स्थान प्राचीन काल में हृदय कमल तथा सौषुम्न ज्योति थी। बाद में धारणा का विषय षट्चक्र (मूलाधार चक्र, स्वाधिष्टान चक्र; मणिपूर चक्र; अनाहत चक्र; विशुद्ध चक्र; आज्ञा चक्र) या द्वादश चक्र ( मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिह्वामूल, भ्रू, निर्वाण, ब्रह्मरंध्र के ऊपर अष्टदल कमल, समिष्ट कार्य अहंकार, कारण महत्तत्त्व तथा निष्कल ) हुये। वाह्य विषय सूर्य, चन्द्र, देवमूर्त्ति आदि हैं।

वाह्य विषयों को चित्त, वृत्ति मात्र से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करता है। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर भी चित्त ध्येय-विषय को वृत्तिमात्र से ही ग्रहण करता है। यह वृत्ति स्थिर रूप से ध्येय विषय के स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। इसी प्रकार से आध्यात्मिक देश का ध्येय विषय, जिस पर चित्त को ठहराया जाता है, प्रकाशित होने लगता है। इस तरह से जिस विषय पर चित्त को ठहराया जाता है उसी विषय का ज्ञान होता है, इन्द्रियाँ अपने २ अन्य

---

१. पा० यो० सू० ३।१;

विषयों को ग्रहण ही नहीं करती, क्योंकि प्रत्याहार के द्वारा वे पूर्ण रूप से चित्त के अधीन हो जाती हैं जिससे चित्त की इच्छा के विरुद्ध विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसीलिये धारणा के पूर्व प्रत्याहार की सिद्धि अति आवश्यक है।

इस धारणा अवस्था में विषयाकार वृत्ति समान रूप से प्रवाहित नहीं होती है। इसके बीच २ में अन्य वृत्तियाँ भी आती रहती है। जब ऐसा होता है तभी फिर ध्येय विषय की वृत्ति पर चित्त पहुँच जाता है। धारणा का अभ्यास करने में साधक को चित्त को निरन्तर विषय विशेष के चिन्तन में लगाये रखना चाहिये तथा बहकते ही फिर वहीं ले आना चाहिये। वह बहकने को जितना हो सके कम करता चले तथा प्रयत्न के द्वारा इस बहकने को बिलकुल बन्द कर दे। इसके साथ २ विषय पर पूर्ण रूप से प्रयत्न द्वारा चित्त को केन्द्रित करे। विषय के धुन्धलेपन से स्पष्टतम प्रकाशन की ओर प्रयत्न बढ़ता चलना चाहिये।

विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न रूप से धारणा का अभ्यास प्रतिपादित है। सांख्यमतावलम्बी ज्ञानयोगियों की तो तत्त्वज्ञानमयी धारणा होती है। इसका मुख्य विषय तत्त्वज्ञान है, भले ही उन्हें इन्द्रिय आदि आभ्यान्तर विषयों पर धारणा करते चलना पड़ता है। विषयों की धारणा करनेवालों के मुख्य विषय शब्द तथा ज्योति हैं। शब्द धारणा में अनाहत नाद की धारणा प्रधान रूप से की जाती है। जिसका अभ्यास शान्त स्थान में किया जाता है। अनेक नाद भीतर भिन्न २ समस्त शरीर स्थानों पर सुने जाते हैं। धारणा द्वारा ही षट्चक्रभेदन होता है। इसमें कुन्डलिनी की धारणा करनी पड़ती है तब योगी एक २ चक्र का भेदन करते हुये उसी ज्योतिर्मयी ऊर्ध्वगामिनी धारा की धारणा के द्वारा आज्ञा चक्र तक तथा वहाँ से सहस्रार तक पहुंच जाता है।

योग-उपनिषदों में भी धारणा का विवेचन किया गया है। अमृतनादोपनिषत् के अनुसार संकल्प पूर्ण मन को आत्मा में लीन करके परमात्मचिन्तन में लगाना धारणा है।[1] योग तत्त्वोपनिषत् के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूँघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सब में आत्म विचार करना धारणा है।[2] तीन घंटे तक इस धारणा का बिना आलस्य के अभ्यास करने से दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवण शक्ति, दिव्य गमन शक्ति,

---

१. अमृतनादोपनिषत्—१५

२. योगतत्त्वोपनिषत्—६९, ७०, ७१;

शरीर परिवर्तन शक्ति, अदृश्य होने की शक्ति, लोहे ताँबे जैसी साधारण धातुओं को पेशाब द्वारा स्वर्ण में परिवर्तित करने की शक्ति, आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती हैं। योग मार्ग में ये सिद्धियाँ बाधक होती है। इस बात का ध्यान रखते हुये योगी को अपने योगाभ्यास में लगा रहना चाहिये।[1]

शाण्डिल्योपनिषत् में भी धारणा विशेष से, सब प्रकार के रोगों से निवृत्ति बताई है।[2] इस उपनिषद् में पाँच प्रकार की धारणा का विवेचन है।[3] मन को आत्मा में स्थिर करना; बाह्य आकाश को हृदय आकाश में स्थिर करना तथा पंचब्रह्म ( ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव ) को पंचभूतों ( पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ) में स्थिर करना ही पाँच प्रकार की धारणा है। बाह्य पंच धारणा निम्न प्रकार से हैं :—

१—किसी भी स्थूल पदार्थ ( फूल, चित्र, किसी भी धातु, पाषाण वा मिट्टी की मूर्त्ति ) में मन को ठहराना।

२—जलाशय, नदी, समुद्र आदि के शान्त जल में मन को ठहराना।

३—अग्नि, दीपक, मोमबत्ती आदि की लौ पर मन को ठहराना।

४—निरन्तर स्पर्श के ऊपर मन को ठहराना।

५—किसी भी शब्द पर मन को ठहराना।

यही पंच भूतों की धारणा है।

उपर्युक्त धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधि की यह पहली अवस्था है। यह समाधि का अति आवश्यक अंग है। इसे समाधि से अलग नहीं किया जा सकता है। यह समाधि का प्रवेश द्वार है। धारणा की अवस्था में योगी के समाधि पथ में कोई भी बाह्य विषय बाधक नहीं हो सकता है।

**ध्यान**[4]—धारणा के विषय में चित्त का व्यवधान रहित निरन्तर प्रवाहित होते रहना ध्यान है।

---

१. योगतत्त्वोपनिषत्—७२ से ८१ तक

२. शाण्डिल्योपनिषत्—७।४३, ४४

३. शाण्डिल्योपनिषत्—९ खण्ड

४. पा० यो० सू०—३।२; घेरण्ड संहिता—६।१ से २२ तक ( षष्ठोपदेश ) दर्शनोपनिषत्—९।१ से ६; ध्यानबिन्दूपनिषत्—१४ से ३७ तक योगकुण्डल्युपनिषत्—३।२५ से ३२ तक; योगतत्त्वोपनिषत्—१०४ से १०६ तक शाण्डिल्योपनिषत् १।६।३, ४; शाण्डिल्योपनिषत्—१।१०

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।। पा० यो० सू० ३।२ ।।

जिसमें चित्त को ठहराया जाय उसी ध्येय विशेप में चित्त वृत्ति का निरन्तर दीप शिखावत् प्रवाहित होते रहना ध्यान है। ध्यान में चित्त ध्येय वस्तु मे पूर्णरूप से एकाग्र हो जाता है, इसमे दूसरी वृत्ति का विलकुल ही उदय नहीं होता है। धारणा में बीच बीच में दूसरी वृत्तियाँ उठ जाया करती है, किन्तु ध्यान में केवल ध्येय वस्तु रुपी वृत्ति ही निरन्तर चलती रहती है। वही वृत्ति धारा रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इस रूप से ध्यान में केवल ध्येय विषय की चित्तवृत्ति ही निरन्तर उदय होती रहती है। धारणा के अभ्यास के दृढ़ होने के बाद ही जब ध्येय वस्तु से चित्त का बहकना बिलकुल बन्द हो जाता है तब ध्यान की अवस्था आती है। ध्यान में त्रिपुटी (धातृ, ध्यान, ध्येय) की विपयाकार वृत्ति व्यवधान रहित नहीं होती है किन्तु खण्ड रूप से धारावाहिक क्रम से चलती रहती है। धारणा तथा ध्यान में यही अन्तर है कि धारणा में कभी २ विकर्षण होते रहते है किन्तु ध्यान में ऐसा नहीं होता है, उसमें तो बारम्बार एक ही वृत्ति उदय होती रहती है जिसमें विक्षेप नहीं आता है। अभ्यास से ध्यान शक्ति पैदा हो जाती है जो किसी भी ध्येय विपय पर लगाई जा सकती है।

उपर्युक्त सूत्र के एक-एक शब्द का विवेचन करने से ध्यान ठीक-ठीक समझ मे आ जावेगा।

सूत्र का पहला शब्द "तत्र" है। तत्र का अर्थ "वहाँ" "उस देश में" "उस जगह" होता है। यहाँ इसका अर्थ चित्त के उस केन्द्र से है जिस पर वह लगा है वा जिससे उसका सम्बन्ध है। धारणा द्वारा जिस देश में चित्त वृत्ति को ठहराया जाये उसी ध्येय के आधार भूत देश को यहाँ "तत्र" शब्द व्यक्त कर रहा है। यह देश नाभिचक्र, आदि कुछ भी हो सकता है जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। अतः यहाँ "तत्र" शब्द, बाह्य, आभ्यान्तर, स्थूल वा सूक्ष्म ध्येय धातु विपयक देश को व्यक्त करता है, जिसमें चित्त को बाँधा जाता है।

सूत्र का दूसरा शब्द "प्रत्यय" है। प्रत्यय का यहाँ अर्थ है ध्येयकार चित्त वृत्ति। जिस विषय मे चित्त को लगाया जाता है चित्त उसी विपय के आकार वाला हो जाता है। चित्त के इस विपयकार होने को ही चित्त वृत्ति कहते हैं। साधारण रूप से एक चित्त वृत्ति के बाद दूसरी भिन्न चित्त वृत्ति आती रहती है। इस प्रकार से चित्त वृत्तियों की धारा बहती रहती है। इन चित्त वृत्तियों

का निरोध करना ही योग है। पंच बहिरंग साधन के अभ्यास के बाद साधक की ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह किसी भी जगह चित्त को ठहरा सकता है। ऐसा करने से बहुत सी चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह चित्त का किसी ध्येय विशेष में ठहराना ही धारणा है। इसमें ध्येय विशेष के ही आकार वाला चित्त हो जाता है। इस ध्येयविषयाकार चित्त वृत्ति को ही यहाँ "प्रत्यय" कहा है जोकि धारणा में ध्येय के तदाकार होकर, उसके स्वरूप से भासती है।

सूत्र का तीसरा शब्द है "एकतानता"। "एकतानता" शब्द का अर्थ "निरन्तरता" होता है। इसमे धारा रूप से एक ही ध्येयाकार चित्त वृत्ति प्रवाहित होती रहती है। अर्थात अखण्ड धारा प्रवाह एक ही वृत्ति का बराबर जारी रहता है तथा धारणा के समान रुक-रुक चलने वाला धारा प्रवाह नहीं होता है। धारणा तथा ध्यान का भेद इस एकतानता के कारण ही है। धारणा मे एकतानता नहीं होती, उसमे व्यवधान रहता है किन्तु ध्यान मे नदी के जल के प्रवाह वा तेल की धारा के समान एक ही ध्येयाकार चित्त वृत्ति व्यवधान रहित रूप से प्रवाहित होती रहती है। धारणा का प्रत्यय सर्वदा एक सा नहीं रहता है। प्रत्यय की निरन्तरता ही के कारण ध्यान धारणा से भिन्न होता है। धारणा को अभ्यास करके दृढ़ करते-करते, धारणा ही कुछ काल बाद ध्यान मे परिणत हो जाती है जिसमें साधक को ध्येय के अलावा देश, काल आदि का बोध तक भी नहीं होता है। जितने समय तक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उस समय तक की स्थिति को ध्यान कहते हैं। ध्यान के दृढ़ हुये विना समाधि सम्भव नहीं है। ध्येय से बहकने का अर्थ चित्त का चंचल होना, अन्य चित्त वृत्तियों का बीच-बीच में उदय होना होता है। जिसके होते रहने से समाधि सम्भव नहीं है, क्योंकि समाधि चित्त-वृत्तियों की निरोध अवस्था को कहते हैं। अतः ध्यान समाधि का पूर्व रूप है जो समाधि के लिये परमावश्यक है।

धारणा के अभ्यास के बढ़ते रहने से मन पर नियन्त्रण भी बढ़ता जाता है तथा ध्यानावस्था आने पर ही मन समाधि अभ्यास मे पहुँचने की तैयारी करने योग्य होता है। धारणा समाधि का प्रवेश द्वारा तथा ध्यान समाधि मे पहुँचने का दूसरा द्वार है।

ध्यान अनेक प्रकार का होता है। जिस ध्येय पर साधक रुचि तथा उत्साह के साथ अपने चित्त को टिका सके वही उसके ध्यान का विषय होता है। सब की रुचियों मे व्यक्तिगत भेद है अतः सबके ध्यान का विषय एक ही ध्येय

वस्तु नहीं हो सकती है। भेद होते हुये भी सभी ध्यान अन्त में एकही मूल ध्येय में लीन हो जाते हैं। शास्त्रों में अनेक प्रकार के ध्यान का निरूपण है[1]। योग उपनिषदों में सविशेष ब्रह्म, निर्विशेष ब्रह्म, प्रणव, त्रिमूर्ति, हृदय, सगुण तथा निर्गुण ध्यान का वर्णन है[2]। घेरण्ड संहिता में स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म त्रिविध ध्यान का वर्णन है[3]। किसी देवमूर्त्ति वा गुरु में चित्त की एकाग्रता स्थूल ध्यान है। ज्योतिरूप ब्रह्म वा प्रकृति में चित्त की एकाग्रता ज्योतिर्ध्यान होता है। विन्दुरूप ब्रह्म तथा कुण्डलिनी शक्ति में चित्त की एकाग्रता सूक्ष्म ध्यान होता है। स्थूल ध्यान में अपने इष्ट देव की स्थूल मूर्ति के ऊपर चित्त को लगाकर उस मूर्तिरूपी ध्येय के आकार वाला चित्त हो जाता है। जब निरन्तर व्यवधान रहित ध्येयाकार चित्तवृत्ति ( इष्टदेव की ) उत्पन्न होती रहती है तो उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से गुरु के स्थूल मूर्त रूप की चित्तवृत्ति का धारा रूप मे निरन्तर प्रवाहित होते रहना भी स्थूल ध्यान के अन्तर्गत आता है। स्थूल ध्यान के ध्येय विषय के अन्तर्गत, साधक के मनोनीत कोई भी स्थूल विषय जिसको मूर्तिरूप से धारण किया जा सके, आता है। मूलाधार चक्रमे सर्पाकार कुंडलिनी शक्ति विराजमान है। जहाँ ज्योतिरूप जीवात्मा स्थित है। इसे ज्योतिरूप ब्रह्म समझकर चित्त को इस पर ठहराना चाहिये। जब निरन्तर व्यवधान रहित यही चित्त वृत्ति प्रवाहित होती रहती है, तो इसे ज्योर्तिध्यान कहते हैं। इसी प्रकार से दोनों भोंहों के मध्य में ॐ रूप ज्योति है, साधक का इस ज्योति पर चित्त को एकाग्र करना भी जिससे इम ध्येयाकार चित्तवृत्ति का निरन्तर प्रवाह जारी रहता है, ज्योर्तिध्यान कहलाता है। ज्योर्तिध्यान मे तेजोमय कल्पना के द्वारा ब्रह्म ध्यान किया जाता है। यह ध्यान नाद, हृदय, भ्रूमध्य, तीनों ही स्थानों पर किया जा सकता है। कुण्डलिनी, जागृत होने पर आत्मा से मिलकर स्थूल शरीर को छोड़ नेत्रों के छिद्रों को छोड़ कर एस्ट्रल ज्योति मे घूमती है। सूक्ष्मता तथा चंचलता के कारण यह किसी को दिखाई नहीं देती है। ऐसी स्थिति में योगी को शाम्भवी मुद्रा के द्वारा ध्यान को सिद्ध करना चाहिये।

---

१—विशेष विवेचन के लिये कल्याण योगांक के पृष्ठ ४३७ मे ४६७ तक देखने का कष्ट करें।

२—दर्शनोपनिषत्—९।१ से ६ तक; ध्यानविन्दूपनिषत्—१४ से ३७ तक; योगकुण्डल्योपनिषत्—३।२५ से ३२ तक; योगतत्त्वोपनिषत्—१०४ से १०६ तक; शाण्डिल्योपनिषत् १।१०

३—घेरण्ड संहिता—६।१ से २० तक

स्थूल ध्यान से ज्योतिध्यान सौ गुना उत्तम माना गया है और ज्योतिध्यान से लाख गुना उत्तम सूक्ष्म ध्यान माना गया है।[1]

योग में ध्यान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बिना ध्यान के चित्त के शुद्ध-सात्विक रूप का तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान असम्भव है। योग में ध्यान शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार ध्यान निरन्तर परिवर्तनशील अर्थात् चंचल है। वह प्रतिक्षण एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है। सामान्य मानव के ध्यान के विषय मे इस तथ्यात्मक सत्य के अतिरिक्त ध्यान की अन्य किसी स्थिति का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान मे प्राप्त नहीं होता किन्तु योग मे ध्यान चित्त की स्थिरता का द्योतक है। चित्त का स्थायी रूप से निरन्तर एक ही ध्येय के आकार वाला होते रहना ध्यान है। अतः ध्यान का योग और आधुनिक मनोविज्ञान में भिन्न २ अर्थ निकलता है। वैसे तो आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान मे ध्यान चित्त को एकाग्र करके किसी विषय विशेष पर लगाने को ही कहते हैं, किन्तु उनके अनुसार चित्त एक क्षण से अधिक उस विषय पर स्थिर नहीं रह सकता। साधारण रूप से यह कथन यथार्थ ही है तथा इसी कारण से योगाभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यम, नियम, आसन प्राणायाम तथा प्रत्याहार के क्रम से अभ्यास के द्वारा साधक चित्त की दासता को हटाकर उसे अन्तर्मुख कर इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर पाता है। इसके बाद ही उसमें चित्त को ध्येय पर ठहराने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसका विवेचत पूर्व में किया जा चुका है। इस धारणावस्था की परिपक्वता ही ध्यान है। इस प्रकार से योग में ध्यान का अभ्यास से प्राप्त होने वाली परमावस्था का विवेचन है। अभ्यास के द्वारा ध्यान की आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसके द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त कर समस्त ज्ञान सरल हो जाता है। अभ्यास द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है। वह भी तथ्यात्मक होने से विज्ञान के अध्ययन का विषय है। अतः आधुनिक मनोविज्ञान का इस विषय में अधूरा ज्ञान है।

**समाधि**[2] :—ध्यान की पराकाष्टा समाधि है। ध्यान के अभ्यास करते

---

१. घेरण्ड संहिता—६।२१

२. पा० यो० सू०—३।३; घेरण्ड संहिता—७।१ से २३ तक; शुरिकोपनिषत्—२२,२३, २४ तेजोबिन्दुपनिषत्—४३ से ५१ तक ; दर्शनोपनिषत्—९।१ से ५ तक, योगकुण्डल्युपनिषत्—१।७७ से ८७ तक ; वराहोपनिषत्—२।७५ से ८३ तक ; शाण्डिल्योपनिषत्—१।१०।

करते जब ध्यान करने वाला, ध्यान करने की शक्ति तथा ध्येय ( जिसका ध्यान किया जाता है ) इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता समाप्त सी हो जाय तब वही समाधि अवस्था कहलाती है। ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित चित्त वृत्ति समान रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, अर्थात् इसमें ध्याता, ध्यान ये दोनों भी ध्येय के साथ २ बने रहते हैं, जिसके कारण से विषय पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो पाता। ध्यान की अभ्यास के द्वारा जब प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है, और ऐसी अवस्था आ जाती है कि जिसमें ध्याता और ध्यान दोनों ही ध्येयाकार वृत्ति से अभिभूत हो जाते हैं तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। इसमें ध्यान करते करते आत्म विस्मृति की स्थिति पहुंच जाती है तथा ध्येय से भिन्न अपना पृथकत्वज्ञात नहीं होता। ध्येय विषय की सत्ता के अतिरिक्त किसी की भी पृथक उपलब्धि नहीं होती। चित्त की स्थिरता की यह सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। समाधि अवस्था में ध्यान ध्येय से अभिन्न रूप होकर भासने लगता है। इसीलिये उसके स्वरूप का अस्तित्त्व समाप्त सा प्रतीत होने लगता है, किन्तु वास्तव में ध्यान का सर्वदा अभाव नहीं होता। यह नीचे दिये सूत्र से स्पष्ट हो जाता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशुन्यमिव समाधिः ।। पा० यो० सू० ३।३ ।।

"ध्यान में केवल ध्येय मात्र से भासना तथा ध्यान का अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा होना समाधि है।"

इस प्रकार से समाधि में त्रिपुटी ( ध्याता, ध्यान, ध्येय ) का भान नहीं होता है। इसमें जल में घुली हुई मिश्री की डली के समान ध्यान भी ध्येय रूप से ही भासता है। समाधि अवस्था में ध्यान नहीं रहता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर ध्येय का प्रकाश ही असम्भव हो जावेगा। ध्येय का प्रकाशक ध्यान ही होता है। यह अवश्य हैं कि समाधि अवस्था में ध्यान के विद्यमान होते हुये भी उसकी प्रतीति नहीं होती है। ध्यान में तो त्रिपुटी का भान होता है किन्तु समाधि में सब ध्येयाकार हो जाता है अर्थात ध्यान भी ध्येय रूप से ही निरन्तर भासता रहता है। ध्येय के अतिरिक्त समाधि में किसी का भी भान नहीं होता है।

जब ध्येय वस्तु को मन, विकर्पण रहित होकर ग्रहण करता है, तब ध्येय का सामान्य विचारणा के द्वारा प्राप्त ज्ञान से, कहीं स्पष्ट तथा अधिक ज्ञान प्राप्त होता है; किन्तु फिर भी ध्येय का वास्तविक तथा सूक्ष्म ज्ञान नहीं प्राप्त होता। स्वचेतनता, तथा ध्यान चेतना ध्येय के पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान में वाधक है।

इन दोनों के ध्येय विषय में लीन होकर एक रूप होने पर ही ध्येय पूर्ण रूप मे प्रकाशित होता है। सूत्र मे "स्वरूपशून्यम् इव" इस उपर्युक्त कथन को ही व्यक्त करता है। जब ध्याता तथा ध्यान दोनों ही ध्येयाकार हो जाते हैं अर्थात ध्येय में लीन होकर अपने स्वरूप को ही मानो खो चुके हों, तब ही ध्येय की यथार्थता का ज्ञान होता है। ध्यान की वह परिपक्व अवस्था ही समाधि है। धारणा की विकसित अवस्था ध्यान, तथा ध्यान की विकसित अवस्था समाधि है। समाधि अवस्था विकर्षणों, स्वचेतना तथा ध्यान चेतना तीनों से पूर्ण रूप से मुक्त है। केवल ध्येयाकार वृत्ति ही निरन्तर प्रवाहित रहती है। चेतना क्षेत्र में उसके अतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठों अंग, सम्प्रज्ञात समाधि के अंग हैं।

उपर्युक्त अष्टांग योग की समाधि, अंग समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि अंगी समाधि है। इस प्रकार से तो अंग समाधि सम्प्रज्ञात समाधि, तथा असम्प्रज्ञात समाधि ये तीन समाधियाँ हुई। किन्तु अंग समाधि ध्यान की ही अवस्था विशेष तथा सम्प्रज्ञात समाधि का अंग होने से स्वयं समाधि नहीं कही जा सकती है, अतः समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दो ही मानी गयी है[१]। अंग समाधि के अभ्यास के बाद ही साधक अग्रिम समाधियों में पहुँचता है। अंग समाधि ध्यानात्मक समाधि है किन्तु सम्प्रज्ञात ज्ञानात्मक प्रकाश रूप समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त विषयों का ज्ञान हो जाता है किन्तु अंग समाधि में ध्येय पदार्थ के सिवाय कुछ भी नहीं भासता है। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है। समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध तो असम्प्रज्ञात समाधि में ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों एक ही अवस्था के उत्तरोत्तर विकसित रूप हैं। तीनों में एकाग्रता की भिन्नता के कारण भेद है। एकाग्रता की निम्नतम अवस्था धारणा से प्रारम्भ होती है, तथा ध्यान की अवस्था को पार करती हुई समाधि की अवस्था तक पहुँच जाती है। यह एक अविच्छिन्न प्रक्रिया है जोकि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलती चली जाती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का धारणा से प्रारम्भ होकर समाधि में अन्त हो जाता है। योग में इस सम्पूर्ण प्रक्रिया जो संयम कहते हैं।[२] धारणा,

---

१. इनका विवेचन इसी पुस्तक के २०वें अध्याय में किया गया है।

२. पा० यो० सू० ३।४

ध्यान तथा समाधि तीनों का एक विषय में होना ही संयम है। संयम ध्येय विषय के ज्ञान का साधन है। किसी भी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये उसके समस्त पहलुवों पर समस्त दृष्टिकोणों से धारणा, ध्यान, समाधि करनी पड़ेगी। अतः एक संयम में अनेक बार की धारणा, ध्यान, समाधि सम्मलित हो सकती है। इसीलिये धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों साधनों को ही योग में संयम कहते हैं।

संयम-जय होने से अर्थात धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों के दृढ़ अभ्यास के द्वारा साधक को संशय, विपर्यय आदि रहित यथार्थ ज्ञान (सम्यक ज्ञान) प्राप्त होता है। संयमजय से भ्रमहीन, शुद्ध, सात्विक, योग सिद्धियों को प्रदान करने वाली समाधिजन्य दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती है, जिससे ध्येय वस्तु का अपरोक्ष प्रमा-ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे जैसे संयम में दृढ़ता होती जाती है, वैसे वैसे ही यह समाधि-प्रज्ञा निर्मल होती जाती है। प्रज्ञा समाधि की अवस्था में ही उत्पन्न होती है। इसको समाधि जन्य बुद्धि कहा जा सकता है। संयम के दृढ़ होने पर ही सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था आती है। सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत (जिसका कि अग्रिम अध्याय में विशिष्ट विवेचन किया जायगा) समाधि की कई अवस्थाएँ आती है, उन सब अवस्थाओं में यह समाधि जन्य बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा विद्यमान रहती है। इस प्रज्ञा का कार्य विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होने तक चलता रहता है। विवेक ख्याति पूर्ण ज्ञान की अवस्था है, जिससे पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से संयम के जय से प्राप्त समाधि-प्रज्ञा के द्वारा ध्येय का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त होकर अन्त में विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होती है।

संयम के द्वारा ही विश्व-ज्ञान-भण्डार का द्वार खोला जाता है। आधुनिक विज्ञान भी उस गहरे ज्ञान भण्डार के निम्नतम भाग को प्राप्त करने में अभी तक सफल नहीं हो पाया है जिसका पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान क्रमशः निम्न भूमि से उच्चतर भूमि में संयम के करते चलने से होता है। जिस प्रकार से निशाना लगाने का अभ्यास करने वाला पहले स्थूल लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास कर सूक्ष्म लक्ष्य भेदन की तरफ़ चलता है, ठीक उसी प्रकार से संयम भी स्थूल विषय से सूक्ष्मतर विषय की तरफ़ चलता है। संयम से प्रथम भूमि को जीत लेने पर ही दूसरी भूमि में संयम किया जा सकता है; दूसरी भूमि को संयम अभ्यास से जीतकर तीसरी भूमि में संयम किया जा सकता है; तीसरी को जीतकर ही चौथी भूमि में संयम किया जा सकता है। बिना इस अन्तिम

भूमि को जीते समाधि-प्रज्ञा नहीं प्राप्त होती है। अतः संयम की एक विशिष्ट प्रयोग-विधि है। प्रारम्भ में किसी स्थूल पदार्थ पर संयम किया जाता है। स्थूल विषय पर संयम का अभ्यास दृढ़ हो जाने से वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है,जिसमें पूर्व में न देखे,न सुने,न अनुमान किये संशय विपर्यय रहित उस स्थूल विषय के साथ समस्त स्थूल विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इस भूमिपर विजय प्राप्त होने के बाद सूक्ष्मतर विषयों ( पञ्चतन्मात्राओं तथा इन्द्रियों ) पर संयम कर लेने से विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, जिससे इन सूक्ष्मतर विषयों का संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इस भूमि के विजय कर लेने के बाद इनसे भी सूक्ष्मतर विषय अहंकार के ऊपर संयम दृढ़ करके आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में साधक पहुँचता है। इस भूमि को भी विजय कर लेने के बाद साधक को पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त, जिसे अस्मिता कहते हैं, के ऊपर संयम के अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार से इन चारों भूमियों पर संयम के द्वारा विजय करने पर ही समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इन भूमियों में अग्रिम भूमि के जय होने पर पूर्व की भूमि का समस्त ज्ञान स्वतः ही हो जाता है, किन्तु जिसने पूर्व की भूमि को विजय नहीं किया है, वह आगे की भूमि को जय नहीं कर सकता, अर्थात् वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो सकती है, तथा इस आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर ही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि पूर्व पुण्य, महात्माओं की कृपा तथा ईश्वर भक्ति आदि के द्वारा पूर्व की भूमियों के जय किये बिना ही अन्तिम भूमि सिद्ध हो जाय। ईश्वर कृपा से अन्तिम भूमि सिद्ध होने से पूर्व भूमियों की सिद्धि का फल स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अतः उनमें संयम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सम्प्रज्ञात समाधि के यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये पाँच वहिरंग साधन है, और धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन उसके अन्तरंग साधन हैं। धारणा, ध्यान तथा समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि के तो अन्तरंग साधन हैं किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि के ये वहिरंग साधन ही होते है। उसका अन्तरंग साधन तो पर-वैराग्य है। साधन के विना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। धारणा, ध्यान, समाधि के विना भी असम्प्रज्ञात समाधि पर-वैराग्य द्वारा सिद्ध होती है। इसलिये पर-वैराग्य ही इसका अन्तरंग साधन हुआ,धारणा, ध्यान, समाधि नहीं।

# अध्याय २०

## समाधि[1]

समाधि का विवेचन योग उपनिषदों तथा पातञ्जल योगदर्शन, घेरण्ड संहिता आदि में किया गया है। अमृतनादोपनिषद् में समाधि उस स्थिति को कहा गया है जिसमें व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त कर अपने आपको भी उसी के समान जान लेता है।[2] क्षुरिकोपनिषद् में समाधि के द्वारा साधक जन्म मरण से छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त करता है और कभी फिर संसार चक्र में नहीं पड़ता।[3] तेजबिन्दूपनिषद् में समाधि के द्वारा विशुद्ध ब्रह्मत्व की प्राप्ति बताई है।[4] दर्शनोपनिषद् में समाधि के स्वरूप का विवेचन किया गया है।[5] समाधि के द्वारा सांसारिक जीवन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। समाधि के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सचमुच में आत्मा और ब्रह्म का भेद भ्रान्ति पूर्ण है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार के ज्ञान की अवस्था समाधि है। योगकुण्डल्युपनिषद् में भी समाधि का वर्णन है तथा समाधि के द्वारा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होना बताया गया है।[6] योगतत्वोपनिषद् के अनुसार समाधि में जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था की स्थिति हो जाती है।[7] शाण्डिल्योपनिषद् में भी समाधि को जीवात्मा और परमात्मा की एकता की अवस्था बताया गया है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं रह जाती है।[8] यह असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है।

---

१. पा० यो० सू०—१।१; १८, ४१ से ५१ तक; ३।१ से १२ तक; ४।२६ से २९ तक; अमृतनादोपनिषद्—१६ से २४ तक; क्षुरिकोपनिषद्—२२ से २४ तक; तेजोबिन्दूपनिषद्—१।४३ से ५१ तक; दर्शनोपनिषद् १०।१ से ५ तक; योगकुण्डल्युपनिषद्—१।७७ से ८७ तक; योगतत्त्वोपनिषद्—१०५, १०६, १०७; वराहोपनिषद्—२।७५-८३; शाण्डियोपनिषद्—११ खण्ड।

२. अमृतनादोपनिषद्—१६

३. क्षुरिकोपनिषद्–२२ से २४ तक

४. तेजबिन्दूपनिषद्—४३ से ५१ तक

५. दर्शनोपनिषद् १०।१ से ५ तक

६. योगकुण्डल्युपनिषद्—७७ से ८७ तक

७. योगतत्वोनिषद्—१०५ से १०७ तक

८. शाण्डिल्योपनिषद्—११ खण्ड

घेरण्ड संहिता में समाधि योग का विवेचन किया गया है जिसमें गुरु की कृपा के द्वारा उसकी प्राप्ति बताई गई है। जिसको आत्मविश्वास, ज्ञान और गुरु मे श्रद्धा होगी उसे समाधि शीघ्र प्राप्त हो जाती है। चित्त को शरीर इन्द्रियादि से हटाकर परमात्मा मे लीन करना समाधि है।[1] घेरण्ड संहिता के अनुसार यह समाधि ध्यानसमाधि, नादसमाधि, रसानन्दसमाधि तथा लयसमाधि के भेद से चार प्रकार की होती है। ध्यानसमाधि शाम्भवीमुद्रा, नादसमाधि खेचरी मुद्रा, तथा लयसमाधि योनि मुद्रा के द्वारा सिद्ध होती है। पाँचवीं भक्ति-योग समाधि है, और छठी राजयोग समाधि है, जो कि मनोमूर्च्छा कुम्भक के द्वारा प्राप्त होती है। समाधि के द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है और समस्त इच्छाओं से निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। समाधि के पूर्णरूप से प्राप्त होने पर स्त्री, पुत्र धन आदि किसी के प्रति राग नहीं रह जाता। समाधि के जानने पर फिर जन्म नहीं होता है।

हठयोग संहिता में भी समाधि का वर्णन किया गया है। हठयोग की समाधि प्राणायाम के द्वारा सिद्ध होती है। वायु के निरोध के द्वारा मन निरुद्ध होता है।[2] अतः वायु के निरोध से समाधि अवस्था प्राप्त होती है। प्राणायाम और ध्यान इसमें दोनों की सिद्धि साथ-साथ होकर समाधि सिद्ध होती है। योग साधन का अन्तिम फल समाधि है। इससे मन को शरीर से हटाकर लय करके स्वरूप को प्राप्त किया जाता है। साधक इस स्थिति में अद्वितीय, नित्य, मुक्त, सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप होने का अनुभव करता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही योगाभ्यास किया जाता है।

महादेवानन्द सरस्वती जी ने समाधि को जीवात्मा और परमात्मा की तादात्म्य अवस्था बताई है। इस अवस्था में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा आत्मा का अज्ञान के कारण, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से जो सम्बन्ध स्थापित हुआ है वह समाप्त हो जाता है। पूर्णरूप से आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य प्राप्त होना ही जीवन मुक्त अवस्था है। जिसमें अविद्या पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाती है।

हठयोग प्रदीपिका में समाधि को मृत्यु का निवारण कर्ता अर्थात् अपनी इच्छा से देह त्याग करने की सामर्थ्य प्रदान करने वाला कहा गया है[3]। इसके द्वारा

---

१. घेरण्ड संहिता, सप्तमोपदेश १ से २३ तक।

२. हठयोग संहिता, समाधि वर्णन १ से ९ तक।

३. हठयोग प्रदीपिका ४।२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९;

निर्विकार स्वरूप में स्थिति होती है। समाधि के वाचक शब्दों का वर्णन भी हठयोग प्रदीपिका में किया गया है। राजयोग समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्त, सहजा तथा तुर्या ये सब शब्द समाधि के ही द्योतक हैं।

वास्तव में समाधि चित्त की एक विशिष्ट सूक्ष्म अवस्था है जिसके द्वारा ध्येय विषय का विश्लेषण होकर उसके सूक्ष्म अज्ञात स्वरूप का सन्देह, संशय, विकल्प आदि रहित स्पष्ट यथार्थ साक्षात्कार होता है। समाधि के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्काररूपी विशेष ज्ञान मोक्ष का साधन होता है।

इसमें ( समाधि में ) तम रूपी मल का आवरण हट जाता है, तथा चित्त निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। चित्त के निर्मल होने पर ध्येय विषय का यथार्थ ज्ञान होना स्वाभाविक ही है। चित्त की इस अवस्था के प्राप्त हुए बिना यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों की पात्रता के अनुसार अनेकों मार्ग बताए गये है जिनका योगग्रन्थों में वर्णन मिलता है। पातञ्जल योग दर्शन में समाधि के विषय मे पूर्णरूप से विवेचन किया गया है। इस मे अभ्यास और वैराग्य, क्रियायोग ( तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ) तथा अष्टाङ्ग योग के द्वारा समाधि सिद्ध होना बताया गया है।

पातञ्जल योग सूत्र में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं ( योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: पा० यो० सू०—१।२ )। चित्त तथा चित्त वृत्तियों के विषय में पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। योग, समाधि का पर्यायवाची शब्द है। योग ( समाधि ) सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार का होता है। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। अत: असम्प्रज्ञात समाधि ही वास्तविक समाधि है जिसकी प्राप्ति के लिए ही सम्प्रज्ञात समाधि का निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है। असम्प्रज्ञात समाधि ही स्वरूपा-स्थिति है जिसको प्राप्त करना ही योगी का अन्तिम लक्ष्य है। क्योंकि सर्वदु:खों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने के लिए ही साधक योग मार्ग को अपनाता है जिसकी निवृत्ति असम्प्रज्ञात समाधि में आत्मसाक्षात्कार प्राप्त हो जाने से होती है। इस रूप से असम्प्रज्ञात समाधि तो निर्विवाद योग है ही, किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि भी योग के अन्तर्गत ही आ जाती है, क्योंकि उसमे रजस् और तमस् की निवृत्ति होकर सात्त्विक एकाग्र वृत्ति बनी रहती है। इस अवस्था में तमस् रूपी आवरण तथा रजस् रूपी चञ्चलता नहीं रह जाती।

इसमें सत्त्व के प्रकाश मे केवल ध्येय विषयक एकाग्र वृत्ति रहती है। इसलिए इस सम्प्रज्ञात समाधि निष्ठ चित्त को एकाग्र कहते हैं।

समाधि अवस्था के प्राप्त करने में अनेक विघ्न हैं। मानव के चित्त का बहाव मूलप्रवृत्त्यात्मक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष आदि चित्त को चलाते रहते हैं। भोग इच्छायें चित्त को निरन्तर प्रेरित करती रहती तथा चञ्चल बनाये रखती हैं। तृष्णा के कारण मन स्थिर नहीं हो पाता है। अतः इन सबसे चित्त को मुक्त करने के लिए ही यम, नियम तथा वैराग्य का पालन करना पड़ता है। इसी प्रकार से इन्द्रियों के बाह्य जगत् के सम्पर्क के द्वारा चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। ये व्युत्थान संस्कार चित्त को कभी भी समाधिस्थ नहीं होने देते हैं। अतः इससे मुक्ति पाने के लिए आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार का अभ्यास करना पड़ता है। जिसका विवेचन पूर्व मे किया जा चुका है। स्मृति के अनन्त विकल्पों से चित्त फिर भी भरा रहता है। इनको दूर करके केवल एक ध्येय विशेष पर लगाने के लिए धारणा तथा ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। इससे चित्त में ध्येय मात्र ही रह जाता है उसके अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं जाता। धारणा तथा ध्यान के अभ्यास तक भी चित्त की विषय से भिन्न प्रतीति होती रहती है। यह चित्त का अलग भासते रहना ही ध्येय विषय के पूर्ण यथार्थ ज्ञान में बाधक रहता है। जब तक यह चित्त का भासना नहीं समाप्त होता तब तक ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त नहीं होती अर्थात् ध्याता तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूप से रहित होकर नहीं भासते हैं। समाधि के लिए त्रिपुटी का समाप्त होना आवश्यक है। समाधि में मन लीन हो जाता है। मन को लीन करके जब यह अंग समाधि सिद्ध होती है तभी सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का मार्ग खुलता है।

जब साधक के संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि ) का अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब वह किसी भी ध्येय विषय को लेकर उसके विषय में अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म, आंतरिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस पर संयम कर सकता है। यह ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त होता है, उसको तो संयम की उस अवस्था में पहुंचकर ही समझा जा सकता है। योग सूत्र में भी उसको खोलकर नहीं समझाया गया है। संयम के द्वारा प्राप्त समाधिस्थ अवस्था मे जिसके निम्नतम से उच्चतम तक भिन्न-भिन्न स्तर है, साधारण बुद्धि मे उच्चकोटि की बुद्धि उत्पन्न होती है जिसे प्रज्ञा कहा जाता है। अलग-अलग समाधि को प्रज्ञा भी अलग-अलग होती हैं जिसके कारण उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान की सीमायें भी अलग-अलग होती हैं। जब साधक संयम को दृढ़ कर लेता है तभी उसको समाधि की प्रथम अवस्था

पर पहुंचने का मार्ग प्राप्त होता है, तथा तत्सम्बन्धी प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इस प्रज्ञा के प्रकाश मे अग्रिम सम्प्रज्ञात समाधि का मार्ग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, जिस पर चलने से उस दूसरी सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में पहुंचकर तत्सम्बन्धी प्रज्ञा प्राप्त होकर आगे का मार्ग भी प्रकाशित होता है। इसी प्रकार से प्रज्ञाओं के प्रकाश से प्रदर्शित मार्ग पर चलकर योगी चारों सम्प्रज्ञात समाधियों को पारकर विवेक ज्ञान प्राप्त करता है, जिसके द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है और अन्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाश से असम्प्रज्ञात समाधि का मार्ग प्रकाशित हो जाता है, तथा योगी उस मार्ग पर चलकर असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त कर कैवल्य प्राप्त करता है।

सम्प्रज्ञात समाधि चित्त की एकाग्र अवस्था है जिसमें चित्त किसी एक ही विषय में लगा रहता है। इसमें चित्त किसी विषय विशेष के साथ एकाकार वृत्ति धारण कर लेता है। इसमें ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह अवस्था सत्वगुण प्रधान होती है। इसमें रजोगुण और तमोगुण तो केवल वृत्तिमात्र होते हैं। इस अवस्था में चित्त बाह्य विषयों के रज और तम से प्रभावित नहीं होता जिससे कि वह सुख-दुःख चञ्चलता आदि से तटस्थ रहता है। इसीलिये इस अवस्था में चित्त अत्यधिक निर्मल और स्वच्छ होता है। निर्मल और स्वच्छ होने के कारण ध्येय विषय का यथार्थ ज्ञान साधक को होता है। अन्य समस्त विषयों से चित्त हटकर केवल ध्येय विषय पर ही स्थित रहने से सत्व के प्रकाश मे ध्येय वस्तु के स्वरूप का संशय विपर्यय रहित यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। जिस भावना विशेष से यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है उस भावना विशेष को ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। समस्त विषयों को छोड़कर केवल ध्येय विषय को ही चित्त में निरन्तर रखते रहने का नाम भावना है।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के भेद से सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है।[१]

योग मे ईश्वर, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूत ये छब्बीस तत्त्व माने गये है जो कि ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता इन तीन विभागों में विभक्त है। स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते है। पञ्चमहाभूत स्थूल विषय होने के कारण स्थूल

---

१. पा० यो० सू०—१।१७

ग्राह्य है। स्थूल इन्द्रियाँ, शरीर, सूर्य, चन्द्र तथा अन्य समस्त भौतिक पदार्थ इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। पञ्चतन्मात्राएँ सूक्ष्म ग्राह्य है क्योंकि ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पञ्चतन्मात्राएँ सूक्ष्म विषय हैं। सूक्ष्म एकादश इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है, अतः ये एकादश सूक्ष्म इन्द्रियाँ ग्रहण कही जाती है। अहंकार जो कि एकादश इन्द्रियों का कारण है, सूक्ष्म ग्राह्य विषय है। अस्मिता ( पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त ) को ग्रहीता कहते है। एकाग्रता स्थूल से सूक्ष्म विषय की तरफ को अभ्यास के द्वारा चलती है। योगाभ्यासी ठीक निशाना लगाने का अभ्यास करने वाले के समान स्थूल विषय से सूक्ष्म विषय की तरफ़ योगाभ्यास को बढ़ाता चलता है। जिस प्रकार से निशाना मारने वाला स्थूल लक्ष्य के भेदन का अभ्यास करके सूक्ष्म लक्ष्य के भेदन का अभ्यास करता है ठीक उसी प्रकार से साधक प्रथम स्थूल ध्येय की भावना का अभ्यास करता है, जिसके परिपक्व होने पर ही वह सूक्ष्म ध्येय विषयक भावना के अभ्यास में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। इस अभ्यासक्रम के अनुसार ही सम्प्रज्ञात समाधि के उपर्युक्त चार विभाग हो जाते है।

सब व्यक्तियों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती है। हर विषय में चित्त नहीं लगता है। अतः व्यक्ति को अपनी श्रद्धा तथा रुचि के अनुसार अपने इष्ट में चित्त को लगाना चाहिये। उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त का ऐसा स्वभाव है कि अगर वह एक विषय पर स्थिर हो जाता है तो वह अन्य विषयों पर भी स्थिर हो जाता है। अतः अपने इष्ट पर ध्यान करने से मन में स्थैर्य शक्ति पैदा हो जाती है। अभ्यास के द्वारा जब साधक के चित्त मे स्थिति की योग्यता प्राप्त हो जाती है तब वह जहाँ चाहे वहीं चित्त को स्थिर कर सकता है। साधक का चित्त के ऊपर पूर्ण अधिकार हो जाता है अर्थात् उसका चित्त पूर्ण रूप से उसके वश में हो जाता है और वह उसे बिना किसी अन्य साधन के और सभी विषयों पर भी बिना किसी अड़चन के स्थिर कर सकता है।

सूर्य, चन्द्रमा, हनुमान, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश आदि-आदि देवताओं के मनोहर दिव्य स्वरूपों मे से किसी एक स्वरूप मे, जिसमे उसकी विशेष रुचि हो चित्त लगाना चाहिए। इन तदाकार देवमूर्तियों के ऊपर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करने से जब चित्त में स्थिरता प्राप्त हो जाती है तब वह चित्त निर्गुण, निराकार, विशुद्ध, अखण्ड परमेश्वर मे भी स्थिर किया जा सकता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय परमाणु होता है, तथा बड़े से बड़े विषय में आकाश आदि आते हैं। जब इन दोनों में चित्त की स्थिरता का अभ्यास दृढ़ हो जाता है

अर्थात् इन दोनों में से जिस पर भी इच्छा की जाय उसी पर चित्त को स्थिर कर सकने की शक्ति पैदा हो जाती है तब ही चित्त को कहीं भी स्थिर करने की शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार से बार-बार इन दोनों में चित्त को स्थिर करने का निरन्तर अनुष्ठान करते रहने पर चित्त को सूक्ष्म तथा स्थूल किसी भी ध्येय विषय पर स्थित करने की सामर्थ्य साधक को प्राप्त हो जाती है। यही चित्त का परम वशीकार है।

इस प्रकार से जब साधक का चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है तव चित्त स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है। उपर्युक्त उपायों से स्वच्छ चित्त की तुलना स्फटिक मणि से की गई है अर्थात् चित्त अभ्यास के द्वारा स्फटिक मणि के समान अति निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। चित्त की अभ्यास से रजस् ओर तमस् की चञ्चल तथा आवरण रूप वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और चित्त सत्व के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। वह सात्विकता के कारण इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है कि जिस प्रकार से स्फटिक मणि के सान्निध्य मे लाल, पीली, नीली जिस रंग की भी वस्तु आती है उसी तरह से वह स्वयं भी प्रतीत होने लगती है, ठीक उसी प्रकार से स्थूल विषय, सूक्ष्म विषय, एकादश इन्द्रियाँ, अहंकार अथवा अस्मिता किसी पर भी चित्त को लगाने से चित्त उस ध्येय विषय में स्थित होकर उस विषय के आकार वाला हो जाता है, अर्थात् चित्त उस विषय के स्वरूप को धारण करके उस विषय का साक्षात्कार करा देता है। इस प्रकार के ज्ञान में संशय, भ्रम आदि की सम्भावना भी नहीं रह जाती है। चित्त के इस प्रकार से विषयाकार होकर उस विषय के स्वरूप को धारण करने की इस अवस्था को ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

इस प्रकार से निर्मल चित्त पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाञ्च स्थूल भूतों में से किसी एक के सन्निधान से उसी स्थूल भूत के आकार का होकर भासने लगता है तथा उसका संशय, विपर्यय रहित यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है। चित्त किसी भी स्थूल, भौतिक, ध्येय विषय के सन्निधान से उसी ध्येय विषय के आकारवाला होकर उसका ज्ञान प्रदान करता है। यह इस प्रकार से सात्त्विक चित्त का स्थूल विषयाकार होकर भासना वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। इसमें स्थूल पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का संशय, विपर्यय रहित समस्त स्थूल विषयों सहित साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार से पञ्चतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) में चित्त के तदाकार हो जाने पर चित्त उन्हीं तन्मात्राओं के आकार का होकर भासने लगता है। चित्त इस प्रकार से तन्मात्राओं तथा

इन्द्रियों के आकार वाला होकर समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म ग्राह्य, विषयों का संशय विपर्यय रहित ज्ञान प्रदान करता है। चित्त की इस तन्मात्राओं तथा शक्तिरूप इन्द्रियों के आकार के होनेवाली अवस्था को ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। शुद्ध, सात्त्विक, निर्मल चित्त जब अहंकार के आकार वाला होकर भासता है तो उस अवस्था को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसमें साधक समस्त विषयों सहित अहंकार का संशय विपर्यय रहित साक्षात्कार कर लेता है। जब चित्त अस्मिता ( पुरुष प्रतिविम्बित चित्त ) के आकार वाला होकर भासने लगता है तो चित्त की उस अवस्था को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में अस्मिता के यथार्थ रूप का भी साक्षात्कार होता है।

इस समाधि को नीचे दिये एक वृत्ताकार चित्र से समझाया जाता है :—
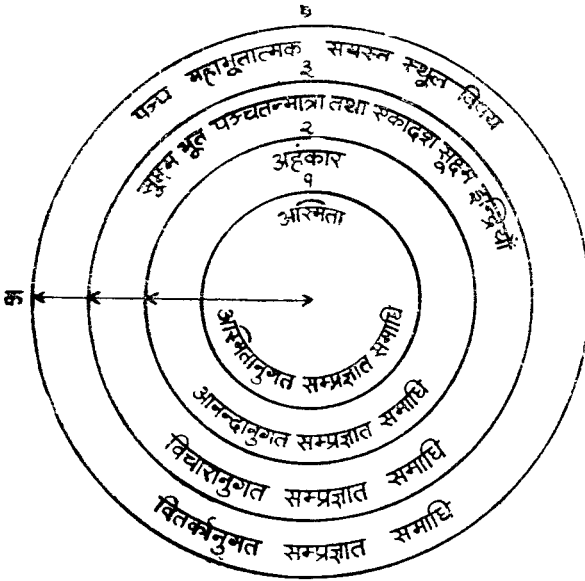
चित्र नम्बर १

१. पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त वा अस्मिता ( अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि )

२. अहंकार ( आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि )।

३. सूक्ष्मभूत, पञ्चतन्मात्राएँ तथा एकादश सूक्ष्म इन्द्रियाँ ( विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि )।

४. पञ्चमहाभूतात्मक समस्त स्थूल विषय (वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि)।

उपर्युक्त चित्र में बाह्य वृत्त अनन्त स्थूल विषयों को व्यक्त करता है जिन अनन्त स्थूल विषयों में से किसी एक विषय 'क' पर संयम का अभ्यास प्राप्त साधक जब समाधि अवस्था प्राप्त करता है तो उस साधक को उस विशिष्ट ध्येय विषय के साथ-साथ समस्त अन्य स्थूल विषयों का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समस्त स्थूल विषय पञ्चमहाभूतों के ही मिश्रित स्थूल रूप हैं। जब समाधि के द्वारा स्थूल पञ्चमहाभूतों का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है तब इस समाधि अवस्था को ही वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते है। इन स्थूल पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति पञ्चतन्मात्राओं ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध ) अर्थात् सूक्ष्म विषयों से होती हैं। एकादश इन्द्रियाँ भी जो कि स्थूल विषयों को ग्रहण करती हैं, सूक्ष्म हैं। समाधि का अभ्यास निरन्तर चलते रहने पर साधक का प्रवेश सूक्ष्मतर जगत में होने लगता है। अर्थात् साधक की ऐसी अवस्था पहुंच जाती है जिसमें उसे सूक्ष्म, ग्राह्य विषयों तथा सूक्ष्म एकादश इन्द्रियों का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। कार्य से कारण के ज्ञान पर पहुंचना तो हो ही जाता है क्योंकि कार्य और कारण का सम्बन्ध ही इस प्रकार का है। इस समाधि की अवस्था को जिसमें पञ्चतन्मात्राओं तथा एकादश सूक्ष्म इन्द्रियों का यथार्थज्ञान प्राप्त होता है, विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि कहते है। इसके बाद अभ्यास करते रहने पर साधक सूक्ष्म विषयों तथा एकादश इन्द्रियों से भी सूक्ष्म, अहंकार का साक्षात्कार करता है। जब साधक भेदन करता हुआ अहंकार के सूक्ष्म स्तर पर पहुंच जाता है तो उस अवस्था को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था कहते है। इस आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की प्रज्ञा के प्रकाश में अभ्यास पथ पर चलते रहने से साधक अस्मिता का साक्षात्कार करता है। पुरुष प्रति-विम्बित चित्त जिसे अस्मिता कहते हैं में अविद्या बीजरूप से विद्यमान रहती है। यह अस्मिता के साक्षात्कार की अवस्था, जोकि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है, सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था है।

स्थूल विषय "क" का सम्बन्ध जिसको अनन्त स्थूल विषयों में से अपनी रुचि के अनुसार चुनकर साधक ने ध्येय बनाया है, अस्मिता से भी है। प्रथम तो वह सीधे रूप से सूक्ष्म भूतों से सम्बन्धित है फिर उन सूक्ष्म भूतों के द्वारा वह पंचतन्मात्राओं से, पंचतन्मात्राओं के द्वारा अहंकार से तथा अहंकार के द्वारा अस्मिता से सम्बन्धित है। इस प्रकार से "क" स्थूल विषय पर ही समाधिस्थ होने से साधक अभ्यास वृद्धि करते-करते अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की

रूपक द्वारा समाधि चित्रण
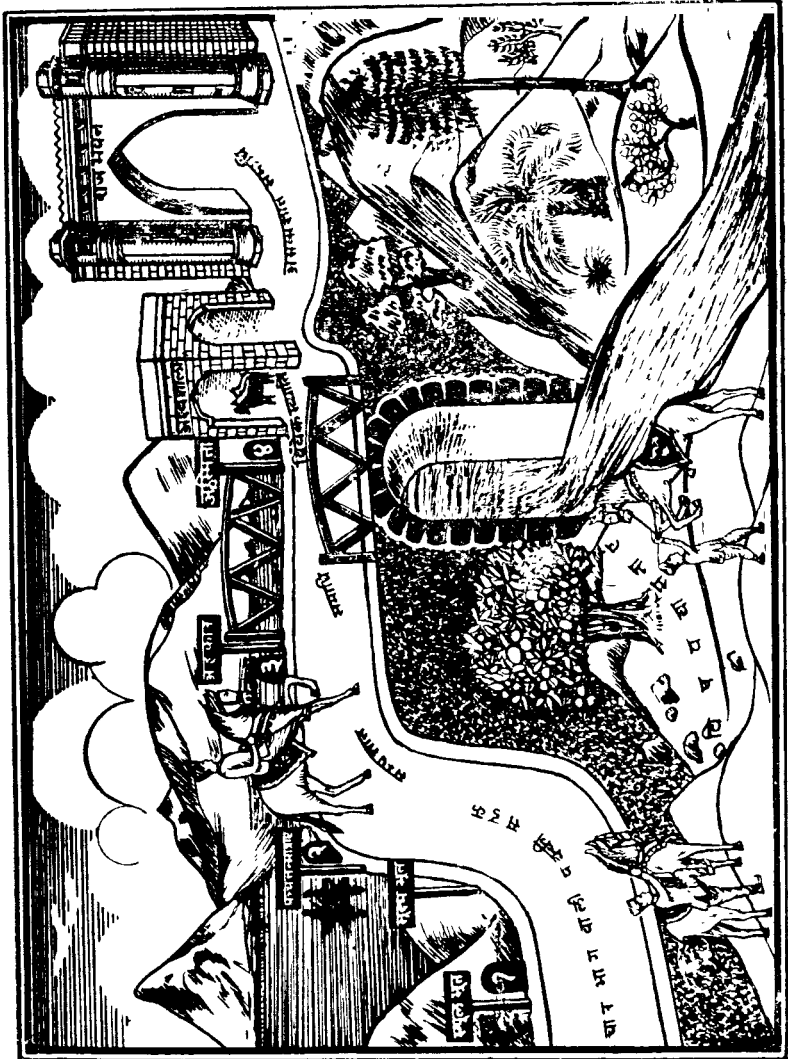
पातञ्जल योग प्रदीप के लेखक स्वर्गीय श्री ओमानन्द तीर्थ जी की कृपा से प्राप्त

## श्री श्री भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द स्वामी जी के चित्र द्वारा व्यक्त समाधि की अवस्थायें

चित्र १

सवितर्क तथा सविचार समाधि की अवस्था

चित्र २

सानन्द तथा सस्मित समाधि की अवस्था

चित्र ३

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था का द्योतक है।

चित्र ४
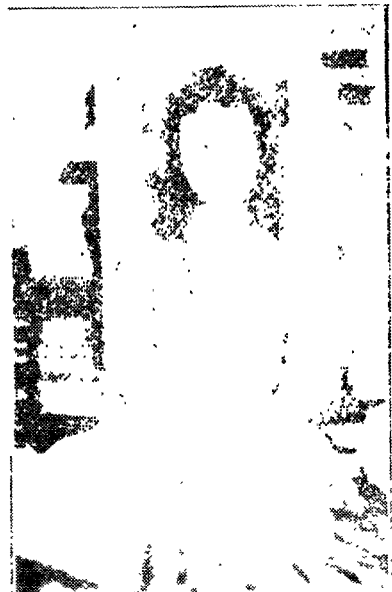
सस्मितावस्था से असम्प्रज्ञात अवस्था मे जा रहे है। शरीर से ज्योति निकल रही है। रात्री मे चित्र लिया गया है।

**कल्याण के सौजन्य से प्राप्त**

अवस्था को पारकर विवेक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा उसके बाद ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त कर कैवल्य प्राप्त करता है। इसे नीचे दिये चित्र से भी समझाया जा सकता है।
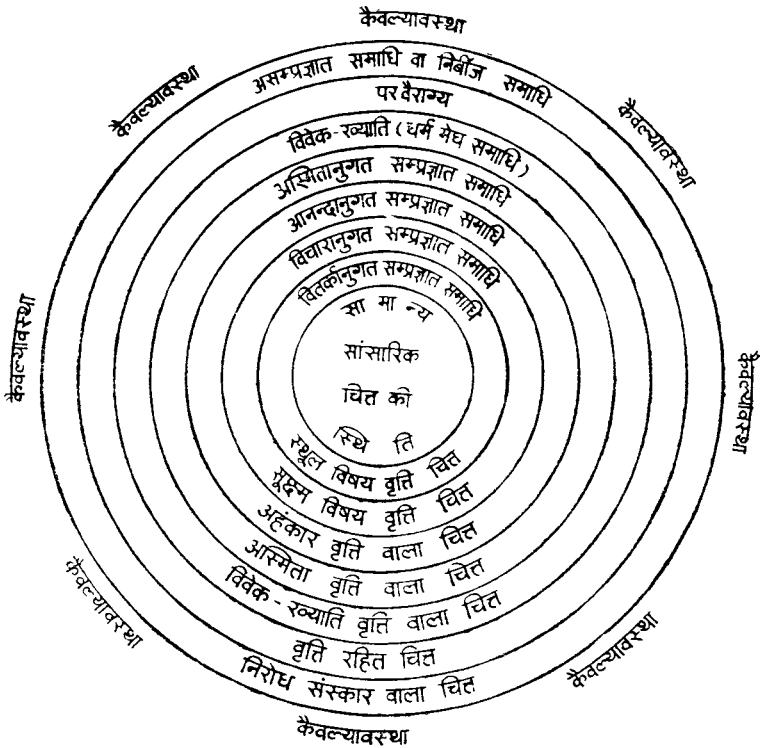
चित्र नं० २

इस चित्र में साधक मानों एक विशेष प्रकार के कारागार में है जो इस प्रकार से निर्मित है कि कारागार से मुक्त होने के लिए उसे आठ कारागारों से मुक्त होना पड़ता है। जब यम, नियम आदि अष्टांगों के अभ्यास से साधक प्रथम कारागार को समाप्त करने में समर्थ होता है तथा दूसरे कारागार की सीमा में पहुंचता है तो उसको प्रज्ञा का प्रकाश मिलता है जिससे वह दूसरे कारागार को समाप्त करने योग्य हो जाता है। इस प्रकार से वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में पहुंच जाता है। इसी प्रकार से दूसरे कारागार के प्रकाश में तीसरे कारागार को समाप्त करने योग्य हो जाता है और चौथे अधिक प्रकाशित कारागार के

बड़े दायरे में पहुंच जाता है। इस तरह से साधक एक एक कारागार के दायरे को पार करता हुआ अन्त में पूर्णरूप से कारागार से सदैव के लिए मुक्त हो जाता हैं। यही कैवल्य अवस्था है जिसको चित्र नं० २ में स्पष्ट किया गया है।

उपनिषदों में इसी को पंच कोषों के द्वारा समझाया गया है। अन्नमय कोष से आत्माध्यास हटाकर प्राणमय कोष में प्रवेश करना; प्राणमय कोष से आत्माध्यास हटाकर मनोमय कोष में प्रवेश करना; मनोमय कोष से आत्माध्यास हटाकर विज्ञानमय कोष में पहुंचना; विज्ञानमय कोष से आत्माध्यास हटाकर आनन्दमय कोष में पहुँचना तथा इस आनन्दमय कोष से भी आत्माध्यास हटाकर साधक मुक्त हो जाता है। इनमें प्रथम चार अवस्थायें तो सम्प्रज्ञात समाधि की हैं तथा अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की है।

इसको दूसरे प्रकार से भी समझाया जा सकता है। शुद्ध आत्मा अनेक आवरणों से आवृत है और जब तक एक-एक करके वे आवरण नहीं हटाये जायेंगे तब तक वह शुद्ध चेतन तत्त्व अपने स्वरूप में पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं हो सकता। आत्मा पर सबसे पहला खोल वा आवरण त्रिगुणात्मक चित्त का है। उस चित्त के खोल वा चिमनी के रंग के अनुसार ही आत्मा का प्रकाश प्रस्फुटित होता है। आत्मा इस चित्त मे प्रतिबिम्बित होकर अस्मि रूप से भासता है। इसी को उपनिषत् और वेदान्त में आनन्दमय कोष के नाम से पुकारा गया है। इस आनन्दमय कोष रूपी अज्ञान के आवरण को ही कारण शरीर कहा जाता है। इसके सहित आत्मा को वेदान्त और उपनिषदों में प्राज्ञ कहते हैं। योग में यही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। इस पहले खोल के ऊपर दूसरा खोल वा आवरण अहंकार का है। अहंकार के दूसरे आवरण से आवृत इस अवस्था को योग में आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था कहा जाता है। इसे ही उपनिषद् में विज्ञानमय कोष कहा गया है। इसके बाद तीसरा आवरण एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ हैं। आत्मा को इस तीसरे आवरण से आवृत अवस्था के ज्ञान को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते है। उपनिषदों में यह मनोमय और प्राणमय कोष के अन्तर्गत आ जाता है। आत्मा के ऊपर चौथा आवरण पञ्चमहाभूतात्मक समस्त पदार्थों का है। इनके पूर्ण यथार्थज्ञान की अवस्था को ही वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह अवस्था, जिसमें कि समस्त स्थूल विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है अष्टांगों के अभ्यास के द्वारा प्राप्त की जाती है। इस तरह से आत्मो-

पलब्धि योगाभ्यास से आत्मा के ऊपर के ज्ञान आवरणों को एक-एक करके हटाने से प्राप्त होती है।

पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान अभी तक मन की चेतन और अचेतन अवस्थाओं का भी पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान अपनी वैज्ञानिक पद्धति द्वारा नहीं प्राप्त कर पाया है। यह अवश्य है कि उसमे इसमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ली है किन्तु संयम और समाधि के द्वारा प्राप्त मन की अतिचेतन अवस्था का ज्ञान तो उसके लिए कल्पनातीत ही है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक पद्धति से उस स्तर तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णन की गई चित्त की सब अवस्थायें सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत आ जाती हैं। इन सब में ही किसी न किसी ध्येय विषय का आधार होता है, चाहे वह स्थूल हो वा सूक्ष्म। इसीलिए सम्प्रज्ञात समाधि को सालम्ब समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में भिन्न-भिन्न स्तर हैं। एक स्तर से दूसरे स्तर पर अभ्यास के द्वारा ही पहुंचा जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्थायें ध्येय विषय के ऊपर आधारित होती हैं।

**१—वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि** :—सम्प्रज्ञात समाधि की पहली अवस्था वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त स्थिर होकर स्थूल ध्येय विषयाकार होता है। किसी भी स्थूल ध्येय में चित्त के एकाग्र होने से उस ध्येय को प्रकाशित करने वाली ज्योति उत्पन्न होती है। यह ज्योति सदैव योगी के साथ रहती है। योगी ने जब जिस विषय को जानना चाहा तभी उस विषय को इस ज्योति के द्वारा जान लिया। यही प्रज्ञा कही जाती है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि स्थूल विषय के द्वारा प्राप्त होती है। स्थूल विषय ही इसका आधार है। इसमे स्थूल रूप की साक्षात्कारिणी प्रज्ञा होती है। वितर्कान्वयी वृत्ति इस प्रथम प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि में होती है। साधारण रूप से पन्चज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का साक्षात्कार होता है, वे सब स्थूल विषय कहलाते हैं। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, देव मूर्ति, शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ तथा गौ, घट, पट आदि सभी स्थूल विषय के अन्तर्गत आ जाते हैं। अपनी रुचि अथवा रुझान के अनुसार इन उपर्युक्त किसी भी स्थूल विषयों मे चित्त को एकाग्र करके जो ग्राह्य विषयक प्रज्ञारूप भावना विशेष उत्पन्न होती है उसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय विशेष ( जिसके ऊपर चित्त को एकाग्र किया जाता है ) के यथार्थ स्वरूप का समस्त स्थूल विषयों सहित जो पूर्व में कभी भी न देखे, न सुने, न अनुमान किये गये

थे, संशय विपर्यय रहित साक्षात्कार प्राप्त होता है। प्रज्ञा के प्रकाश में जिस स्थूल विषय को योगी जब जानना चाहता है तब ही जान लेता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की प्रथम अवस्था है। अभी तक पाश्चात्य विज्ञान पूर्णरूप से प्रयत्नशील होने के बाद भी अपनी वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी प्रदान नहीं कर पाया है। इसके ज्ञान का क्षेत्र स्थूल जगत् ही है। अभी तक विज्ञान अपने इस स्थूल भौतिक जगत् के सम्पूर्ण ज्ञान को अन्वेषणों के द्वारा नहीं प्राप्त कर पाया है और न इस आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा उसके प्राप्त होने की आशा ही है। वैज्ञानिक अन्वेषणों में भी जो कुछ किसी ने प्राप्त किया है वह सब किसी न किसी प्रकार की समाधिस्थ अवस्था में पहुंच कर ही किया है। वह सारा वैज्ञानिक ज्ञान भी एकाग्रता की ही देन है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है, सवितर्क और निर्वितर्क।

**क—सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि**[1] :—सम्प्रज्ञात समाधि की इस अवस्था मे शब्द, अर्थ तथा ज्ञान रूप अलग-अलग पदार्थों की अभिन्न रूप में प्रतीति होती है। अर्थात् इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प सम्मिलित रहते हैं। तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हुये भी उनका इस अवस्था में अभेद रूप से भान होता है। शब्द उसे कहते हैं जिसे श्रोत्रेन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं, जैसे घोड़ा एक शब्द है जो कि श्रोत्रेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। अर्थ से तात्पर्य उसका है जो शब्द सुनने पर हमे विशिष्ट जाति आदि का बोध कराता है जैसे 'घोड़ा' ( चार पैर, दो कान तथा पूँछ वाला एक विशिष्ट पशु )। ज्ञान वह सत्व प्रधान बुद्धि वृत्ति है जो शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाश करती है जैसे 'घोड़ा' शब्द और उसके अर्थ 'घोड़ा' दोनों को सम्मिलित रूप से बतलाती है कि 'घोड़ा' शब्द का ही 'घोड़ा' रूपी विशिष्ट पशु अर्थ है। 'घोड़ा' शब्द, 'घोड़ा' व्यक्ति विशेष तथा 'घोड़े' व्यक्ति विशेष का ज्ञान, ये तीनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न होकर भासते हैं। शब्द, अर्थ और ज्ञान का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि इन तीनों के अलग-अलग होने पर भी इन तीनों में से किसी एक की उपस्थिति में, अन्य दो की उपस्थिति अवश्य ही हो जाती है। इस प्रकार मे तीनों में अभेद न होते हुए भी अभेद भासना ही इस स्थल पर परस्पर मिश्रण है। यह ज्ञान विकल्प रूप हुआ। इसमें समाधिरूप चित्त तीनों के मिश्रित आकार वाला हो जाता है। इस प्रकार से अगर विचार किया जाय तो 'घोड़ा'

---

१. पा० यो० सू०—१।४२ ;

शब्द कण्ठ के द्वारा उच्चारित होता है; 'घोड़ा' शब्द का तात्पर्य अर्थ विशिष्ट व्यक्ति से जो कि कान, पैर, पूँछ वाला मूर्त पदार्थ है, होता है। और घोड़े का ज्ञान चित्त स्थित प्रकाशत्व है। इस प्रकार से यह तीनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न भासने के कारण विकल्परूप ही हैं। प्रारम्भ में जब योगी उपर्युक्त किसी स्थूल पदार्थ में अपना चित्त उस स्थूल विषय के स्वरूप को जानने के लिए उस स्थूल ध्येय विशेष पर ही स्थित करता है तो सर्व प्रथम उसे उस ध्येय विशेष के नाम रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित अनुभव प्राप्त होता है। उसके स्वरूप के अलावा उसके नाम और ज्ञान के आकार वाला भी चित्त हो जाता है। इसीलिए इस समाधि को सवितर्क समाधि कहा गया है। हर समाधि में समाधिप्रज्ञा निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। समाधि और प्रज्ञा अविनाभावी हैं। एक के बिना दूसरा नहीं रहता। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में समाधि प्रज्ञा विकल्प वाली होती है। इसीलिए इस प्रकार की प्रज्ञा उच्चकोटि की योगज प्रज्ञा नहीं है। किन्तु अभ्यास के प्रारम्भ मे तो सर्वप्रथम यही योगज प्रज्ञा प्राप्त होती है और इस प्रकार की योगज प्रज्ञा को ही सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते है। इस समाधि प्रज्ञा में जो उपर्युक्त पदार्थों की प्रतीति होती है वह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में अपर प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। पर प्रत्यक्ष प्रतीति तो निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि मे ही होती है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि मे विकल्प का प्रत्यक्ष होने के नाते अपर प्रत्यक्ष कहलाता है, किन्तु निर्वितर्क समाधि मे विषय का यथार्थ भान होने से उसे पर प्रत्यक्ष प्रतीति कहा जाता है।

समाधि की प्रथम अवस्था में जो सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसके प्रकाश के द्वारा ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान समाप्त होकर नाम रूप मिश्रित स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। साधारण व्यक्तियों का किसी भी पदार्थ का ज्ञान छिछला तथा अनेक सम्बन्धों से मिश्रित अस्पष्ट बाह्यरूप का ज्ञान होता है। साधारण ज्ञान में विषय मे अन्तःप्रवेश प्राप्त नहीं होता। उसके वास्तविक स्वरूप का व्यक्त होना समाधि अवस्था में ही प्रारम्भ होता है। समस्त विषयों का अन्तिम कारण मूल प्रकृति ही है जो कि सूक्ष्मतम है इसलिए स्थूल ध्येय विषयक प्रथम सवितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त कर उस ध्येय विषय के अन्य समस्त स्थूल विषयों सहित यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर अभ्यास के द्वारा सूक्ष्मतम अन्तिम विषय प्रकृति का भी साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। सम्प्रज्ञात समाधि की इस प्रथम अवस्था के प्राप्त हुए बिना सम्प्रज्ञात समाधि की

अन्य सूक्ष्मतर अवस्थाएँ प्राप्त नहीं हो सकती है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा से चित्त विशुद्ध हो जाता है जिसके बाद वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की निर्वितर्कावस्था प्राप्त होती है।

**ख—निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि**[1] :—सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के निरन्तर अभ्यास करते रहने पर निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में शब्द और ज्ञान की स्मृति लुप्त हो जाती है अर्थात् चित्त में ध्येय विषय के नाम तथा उस विषय से विषयाकार होनेवाली चित्त वृत्ति दोनों की ही स्मृति नहीं रहती। इस स्थिति में चित्त के अपने स्वरूप को प्रतीति न होने के कारण उसके अभाव की सी स्थिति उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार की अवस्था में चित्त समस्त विकल्पों से रहित होकर केवल ध्येयाकार होकर ध्येयमात्र को ही प्रकाशित करता है।

सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में तो चित्त में शब्द, अर्थ, और ज्ञान तीनों का भान होता है अर्थात् चित्त तीनों के आकार वाला होता है किन्तु निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि शब्द और ज्ञान की स्मृति भी नहीं रह जाती। उसमें योगी केवल ध्येय मात्र स्वरूप का साक्षात् करता है। इस निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे चित्त ध्येय विषयाकार होकर केवल ध्येय मात्र का साक्षात्कार समस्त विकल्पों रहित करवाता है किन्तु इसे यह नहीं समझना चाहिए कि चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से बिल्कुल रहित हो जाता हैं क्योंकि ऐसा होने पर तो वह अपने ग्राह्य ध्येय के स्वरूप की धारणा भी नहीं कर सकेगा।

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥"

पा० यो० सू०—१।४३;

इस उपर्युक्त सूत्र से तो इतना ही कहा जा सकता है कि चित्त ध्येय विषय मे इतना लीन हो जाता है कि वह अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य सा होकर भासता है। सचमुच में वह शून्य नहीं होता। ध्येय विषय से तदाकारता प्राप्त होने के कारण शून्य सा प्रतीत होता है किन्तु होता नहीं। जैसा कि उपर्युक्त सूत्र के "स्वरूपशून्या इव" से स्पष्ट हो जाता है। इव शब्द से यह व्यक्त होता है कि चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से एकदम शून्य नही होता है। निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में केवल ध्येय विषय का ज्ञान ही यथार्थ रूप से प्राप्त होता

---

१. पा० यो० सू०—१।४३

है। एकाग्रता की वह अवस्था पहुंच जाती है जिसमें ध्येय के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। इस निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि का आधार सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि ही है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में शब्द और ज्ञान के साथ में ही अर्थ की स्मृति होती है, और अर्थ और ज्ञान के साथ नाम की स्मृति होती है। इस अवस्था मे शब्द और अर्थ की पृथक्-पृथक् सत्ता होते हुए भी दोनों का चिन्तन परस्पर अविनाभाव रूप से होता है। दोनों की मिश्रित स्मृति व्यवहार के पड़े हुए संस्कारों के कारण ही होती है। अभ्यास के द्वारा यह मिश्रित स्मृति समाप्त की जा सकती है, और केवल ध्येय मात्र से चित्त को ध्येयाकार करते रहने का अभ्यास करके निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे साधक पहुंच जाता है। इस निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि मे शब्द के आधार के बिना ही ज्ञान प्राप्त होता है और ऐसा ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। विकल्प रहित ज्ञान ही सत्य ज्ञान है।

चित्त ध्येयाकार होकर अभ्यास के द्वारा उस अवस्था पर पहुँच जाता है जहाँ 'मै ज्ञाता हूँ' ऐसी स्मृति की समाप्ति हो जाती है। वहीं पर चित्त केवल ध्येयाकार होकर भासता है। इस अवस्था में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह स्वरूप शून्य सी प्रज्ञा कही जाती है।

निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि मे स्थूल विषय का परम सत्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह स्थूल विषय को ग्रहण करने वाली ज्ञान शक्ति की उच्चतम स्वच्छ और स्थिर अवस्था है। इसीलिए इस अवस्था मे स्थूल विषय का परम सत्य ज्ञान प्राप्त होता है। निर्वितर्क समाधि प्रज्ञा के प्रकाश मे स्थूल विषय पूर्णरूप से प्रकाशित हो जाते है जिसमे सन्देह, संशय और विपर्यय बिल्कुल नहीं रह जाता। स्थूल विषय के सम्बन्ध मे यह प्रज्ञा सूक्ष्मतम ज्ञान प्रदान करती है। इसीलिए इस ज्ञान का अन्य ज्ञान के द्वारा बाध नहीं हो सकता। अतः यह स्थूल विषयक ज्ञान जो इस समाधि प्रज्ञा से प्राप्त होता है परम सत्य ज्ञान है।

सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि में तो समाधि प्रज्ञा मे ग्राह्य ध्येय वस्तु तथा उस ध्येय वस्तु का वाचक शब्द और ध्येय वस्तु के ज्ञान ये तीनों चित्त मे विद्यमान होकर प्रकाशित होते है; किन्तु सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की तरह यह तीनों विषय निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त मे नहीं रहते। इस अवस्था मे तो केवल ध्येय विषयक चित्त ही विद्यमान रहता है। शब्द और ज्ञान विषयक चित्त को इस अवस्था मे अभाव ही भासता है। ग्रहण करने वाली

ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति के रहते हुए भी उसका भाव नहीं होता। वह भी ध्येय रूप ही हो जाता है। अतः यह स्थूल विषय के सूक्ष्मतम ज्ञान को प्रदान करने वाली अवस्था है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि मे कुछ ज्ञान आवरण समाप्त हो जाते है जिससे कि ऐसा स्थूल ध्येय विषयक ज्ञान प्राप्त होता है जिसमे शब्द, अर्थ और ज्ञान की भावना बनी रहती है। निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में यह ज्ञान आवरण अधिक क्षीण हो जाने के कारण स्थूल ध्येय विषयक परम विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से योगी वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त करके सार्वदेशिक और सार्वकालिक समस्त स्थूल विषयों का सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

इस समाधि अवस्था में साधक जिस स्थूल विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसकी ही ओर वृत्ति जाने के कारण समाधि प्रज्ञा के प्रकाश मे उसके यथार्थ रूप का साक्षात्कार करता है। इस समाधि अवस्था मे भी न्यूनाधिक के अनुपात से सात्त्विकता और सूक्ष्मता की अनेक श्रेणियाँ हो सकती है जिनमें विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त होते है। इसमें स्थूल ध्येय विषय के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है और पूर्व के संस्कार भी वृत्ति रूप मे उदय होते है। जिस प्रकार के संस्कार उदय होते हैं चित्त भी उसी प्रकार की वृत्तिवाला हो जाता है। तामस संस्कार के द्वारा कल्पित भयंकर, विचित्र, भयानक, डरावनी आकारवाली वृत्ति में चित्त परिणित हो जाता है। तमस् के कारण प्रकाश धुँधला सा होता है। सात्त्विक संस्कारों के उदय होने पर चित्त सात्त्विक वस्तुओं के आकारवाला हो जाता है। इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे प्राणों के अन्तर्मुख होने की अवस्था के कारण उन विशिष्ट स्थानों में जिनमें से प्राण अन्तर्मुख होते हैं, पकड़ने व बाँधने रूपी भय की प्रतीति होती है। इसमें बहुत से ऐसे विचित्र अनुभव प्राप्त होते हैं जो कि सर्वसाधारण व्यक्तियों को नहीं प्राप्त हो सकते। दूर के पदार्थों, स्थानों, व्यक्तियों और सन्त महात्माओं के दर्शन इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि मे होते हैं। कोई भी व्यवधान उनको इनके साक्षात्कार से वञ्चित नहीं कर सकता। विना इच्छा के ही योगी को इस अवस्था पर पहुंचने से अनेक उच्च कोटि के भोग तथा विभूतियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। योगी के लिये यही परीक्षा स्थान है। योगी को न तो शक्तियों की प्राप्ति से अभिमान ही होना चाहिये और न उन्हे भोगने के ही चक्कर में पड़ना चाहिये। साधक को इन अनुभवों के कारण विचलित नहीं होना चाहिए। उसे तो केवल दृष्टा बनकर रहना

तथा अपने अभ्यास को निरन्तर जारी रखना चाहिये। इस अवस्था में ही उलझ कर रह जाने पर साधक बन्धन में पड़ जाता है। यह बन्धन वैकारिक बन्धन कहलाता है। यह बन्धन पञ्चस्थूलभूत तथा उनसे निर्मित समस्त पदार्थ और एकादश इन्द्रियों में आसक्ति हो जाने के कारण होता है। जिन साधकों को वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाती है तथा उसी अवस्था में आसक्ति रहते हुए उनकी मृत्यु हो जाती है, वे उच्चकुल में जन्म लेते हैं या मनुष्य योनि से उत्तम योनि प्राप्त करते हैं। ऐसे साधक उच्च, सात्विक संस्कारों को लेकर जन्म लेते हैं जो कि बहुत से बालकों की प्रतिभा तथा विचित्र ज्ञान अनुभव देखने से सिद्ध हो जाता है ; वे विलक्षण बुद्धि और विलक्षण अनुभव लेकर पैदा होते हैं। उन्हें बिना अभ्यास के ही वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि-प्रज्ञा का प्रकाश प्रारम्भ से ही प्राप्त रहता है। पूर्व जन्म के अभ्यास के द्वारा प्राप्त अवस्था की प्रज्ञा उन्हें वर्त्तमान जन्म में भी प्रकाशित करती रहती है।

२—**विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :**—वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर साधक की एकाग्रता का प्रवेश सूक्ष्म विषयों तथा सूक्ष्म शक्तिरूप इन्द्रियों तक पहुंच जाता है और साधक पञ्चतन्मात्राओं ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ) तथा शक्ति मात्र इन्द्रियों के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करता है। इस अवस्था विशेष का नाम विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। इस अवस्था विशेष में पञ्चतन्मात्राओं तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का संशय विपर्यय रहित समस्त विषयों सहित साक्षात्कार होता है। कारण का यथार्थ ज्ञान होने पर कार्य का यथार्थ ज्ञान स्वतः हो जाता है क्योंकि कारण में कार्य निश्चित रूप से विद्यमान रहता है। सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं तथा सूक्ष्म शक्तिमात्र इन्द्रियों के यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर उनके कार्य का स्थूल पञ्च-महाभूतात्मक समस्त विषयों का ज्ञान निश्चित ही है। इस कारण से विचारानु-गत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का ज्ञान भी निहित है किन्तु बिना वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को पार किए विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था तक नहीं पहुँचा जा सकता। जिस प्रकार से निशाने का अभ्यास करने वाला प्रथम स्थूल लक्ष्य के भेदन का अभ्यास करके सूक्ष्म भेदन की तरफ़ चलता है। जैसे सूक्ष्म भेदन का अभ्यास हो जाने पर स्थूल भेदन तो निश्चित रूप से हो ही जाता है क्योंकि वह उसमें निहित है, ठीक उसी प्रकार से एकाग्रता जब सूक्ष्म विषयों तथा सूक्ष्म इन्द्रियों

तक पहुंच जाती है तब स्थूल विषयों के ज्ञान में तो कोई संशय रह ही नहीं जाती। इस प्रकार से जब योगी को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है तब वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि तो फिर स्वतः ही सिद्ध है। जैसे जिसे १०० गज़ तक दिखलाई देता है उसे ५० गज़ तक तो निश्चित ही दिखलाई देगा। इस विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से ज्ञान की परिधि अपेक्षाकृत विस्तृत हो जाती है। साधक का सूक्ष्मतर जगत् में प्रवेश हो जाता है। उसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में प्राप्त स्थूल विषयक ज्ञान का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञान तो इसमे निहित ही है। इस प्रकार से यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि उत्तर की समाधियों में पूर्व की समाधियों का सम्पूर्ण ज्ञान निहित होता है।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सविचार और निर्विचार दो भेद हो जाते हैं। जिस प्रकार से वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सवितर्क और निर्वितर्क भेद से निरूपित की गई है उसी प्रकार से विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि भी जो कि सूक्ष्म विषयक समाधि है, सविचार और निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधियों के भेद से निरूपित की गई है।

**क—सविचार सम्प्रज्ञात समाधि** :—चित्त जब किसी सूक्ष्म ध्येय विषय के देश काल और निमित्त के विचार से मिश्रित हुआ तदाकार होकर उसका साक्षात्कार कराकर यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है तो चित्त की उस अवस्था विशेष को ही सविचार सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। किसी भी स्थूल विषय को लेकर जब उसके ऊपर चित्त को एकाग्र कर वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को योगी प्राप्त कर लेता तब निरन्तर अभ्यास के द्वारा उस स्थूल ध्येय विषय के कारण सूक्ष्म भूत की उपलब्धि देश विशेष मे होती है। उस सूक्ष्म भूत की उपलब्धि वर्तमान काल में ही होती है, अतीत और अनागत काल में नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस काल में तन्मात्रा से सूक्ष्मभूत की उत्पत्ति हुई थी तथा जिस काल हो सकती है उस काल से यह ज्ञान सम्बन्धित नहीं होता। सूक्ष्म भूतों (परमाणु अवस्था में भूत) की उत्पत्ति तन्मात्राओं से होती है। पृथ्वी के परमाणु अर्थात् सूक्ष्म भूत पृथ्वी का कारण गन्ध तन्मात्रा-प्रधान पञ्च तन्मात्राएँ है। सूक्ष्मभूत जल का कारण गन्ध तन्मात्रा को छोड़ कर रस तन्मात्रा-प्रधान चार तन्मात्राएँ है। सूक्ष्म भूत अग्नि का कारण गन्ध तथा रस तन्मात्रा को छोड़कर रूप तन्मात्रा-प्रधान तीन तन्मात्राएँ है। वायु परमाणु

का कारण गन्ध, रस तथा रूप तन्मात्रा को छोड़कर स्पर्श तन्मात्रा-प्रधान दो तन्मात्राएँ हैं। आकाश परमाणु का कारण केवल शब्द तन्मात्रा ही है। इस उपर्युक्त ज्ञान को ही कार्य-कारण ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार से सूक्ष्म तन्मात्राओं मे देश काल और कार्य-कारण ज्ञान से, पूर्व कथित सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के समान, शब्द अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिली हुई सम्प्रज्ञात समाधि ही सविचार सम्प्रज्ञात समाधि है। सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के विवेचन में इसको अच्छी तरह से समझाया जा चुका है। यहाँ पर स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण के द्वारा सविचार सम्प्रज्ञात समाधि को समझाया जा सकता है।

साधक समाधि का अभ्यास किसी भी स्थूल विषय पर चित्त को स्थिर करके ही प्रारम्भ करता है। प्रथम तो यह ज्ञान शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित रहता है, फिर अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर यही विकल्प शून्य ज्ञान मे परिणित हो जाता है। जैसे हम किसी भी स्थूल पदार्थ, जैसे सूर्य, को अगर लेते हैं तो उसके ऊपर चित्त को ठहराने मे उसका प्रथम तो शब्द, अर्थ ज्ञान के विकल्प सहित साक्षात्कार होता है, फिर निरन्तर अभ्यास के चलते रहने पर सूर्य रूप का विकल्पशून्य साक्षात्कार होता है। इस निर्वितर्कावस्था के आने पर सूर्यरूप की सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त करने के लिए अभ्यास को विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा बढ़ाया जाता है। इसमें चित्त को सूक्ष्मतर अंश में लगाकर परमाणु पर पहुँचाया जाता है। इन्द्रियों को स्थिर करते-करते ऐसी स्थिति आजाती है जब कि बाह्यज्ञान लुप्त होकर सूक्ष्म रूप से सूक्ष्मतम विषय परमाणु का ज्ञान होता है। इसके बाद रूप तन्मात्रा का साक्षात्कार होता है। पहले तो शास्त्रों के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर तन्मात्रा को भूत का कारण जानते हुए विचार द्वारा चित्त को उसके ऊपर स्थित कर अग्नि परमाणु का साक्षात्कार किया जाता है। इसी कारण से यह समाधि शब्द, अर्थ, और ज्ञान के विकल्प से मिश्रित होती है, और यह सविचार सम्प्रज्ञात समाधि जो कि सूर्य ध्येय विषय को लेकर प्रारम्भ मे चली थी देश, काल और निमित्त के विशेषण से युक्त प्रज्ञा को उत्पन्न करती है। उस प्रज्ञा के प्रकाश में रूप तन्मात्रा का साक्षात्कार प्राप्त होता है। इसमें स्थूल विषयक सुख-दुःख, मोह नहीं होते। इसमे शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्प से मिश्रित प्रज्ञा के द्वारा चित्त प्रकाशित रहता है।

**ख—निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि :**—जब चित्त अपने स्वरूप से शून्य सा होकर देश-काल, कार्य-कारण रूप विशेषणों के ज्ञान से रहित तथा शब्द और

ज्ञान के विकल्पों से शून्य केवल सूक्ष्मभूत ( परमाणु ) ध्येय विषयाकार होकर ही प्रकाशित होता रहता है, तब उस अवस्था विशेष को ही निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसमें शब्द आदि से मिश्रित स्मृति नहीं रह जाती है। इसमें केवल सूक्ष्म ध्येय विषय ही प्रकाशित होता रहता है। यह निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के समान ही विकल्प रहित अवस्था है। इसमें चित्त विकल्प रहित समाधि भावों से परिपूर्ण रहता है। इस निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त देश, काल तथा निमित्त के विशेषणों से युक्त नही होता है। इस अवस्था में ध्येय विषय का सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सर्वधर्मयुक्त ज्ञान प्राप्त होता है। सविचार सम्प्रज्ञात समाधि में ऐसा नहीं होता है। क्योंकि उसमे समाधि प्रज्ञा देश, काल तथा निमित्त विशेषण से युक्त होती है।

सविचार सम्प्रज्ञात समाधि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा उत्पन्न होती है जो सूक्ष्म विषय को किसी देश विशेष, काल विशेष, तथा धर्म विशेष के रूप से प्रकाशित नहीं करती; बल्कि उस सूक्ष्म विषय का सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा समस्त धर्मो सहित ज्ञान प्रदान करती है। इस स्थिति मे सूक्ष्म विषय का ज्ञान, शब्द और ज्ञान के विकल्पों से रहित होता है। इसमे स्वयं चित्त के स्वरूप का भी विस्मरण हो जाता है। वह विद्यमान रहते हुए भी अविद्यमान सा होकर केवल सूक्ष्म ध्येय विषयाकार ही भासता है। अर्थात् इस अवस्था विशेष में केवल ध्येय विषय का ही देश काल निमित्त से रहित यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

इस अवस्था मे भी सूक्ष्मभूतों की सूक्ष्मता का न्यूनाधिक अनुपात तन्मात्राओं तक चला जाता है। इसके अन्तर्गत अनेक सूक्ष्म अवस्थाएँ आ जाती है जो कि सत्वप्रधान होने के कारण संकल्पमयी और आनन्दमयी अवस्थाएँ है। सात्त्विकता और सूक्ष्मता के अनुपात के अनुसार ही इन सूक्ष्म अवस्थाओं के संकल्पों और आनन्दों के अनुपात मे भी विभिन्नता आती है। सूक्ष्म अवस्थाएँ ही सूक्ष्म लोक है जिसमे इस समाधि अवस्था के द्वारा प्रवेश होता है। चित्त इस अवस्था में सत्त्व के द्वारा अपेक्षाकृत स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। इसी कारण से उसके समस्त व्यवहार शुद्ध और सत्य होते है। उसको अनेक विचित्र दृश्य दिखलाई देते है। देवताओं आदि के दर्शन तथा विलक्षण प्रकाश साधक को प्राप्त होते है। इस अवस्था के द्वारा सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश होने के कारण अनेक विस्मित करने वाले, आश्चर्यजनक पूर्व मे न देखे और न सुने अद्भुत दृश्यों का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह अवस्था बहुत सम्भाल कर ले चलने वाली होती है। इस

अवस्था में ही अपने को भुलाकर आगे के उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध नहीं करना चाहिए। जो साधक इस विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के आनन्द से ही सन्तुष्ट होकर आगे बढ़ने का यत्न छोड़ देते हैं और इस अवस्था से आसक्त हो जाते हैं वे बहुत काल तक दिव्य सूक्ष्म लोकों में आनन्द भोगते रहते हैं। इन सूक्ष्म लोकों में भी सूक्ष्मता और आनन्द के अनुपातानुसार भिन्नता पाई जाती हैं। इस अवस्था में अज्ञान पूर्णरूप से नष्ट न होने के कारण साधक वास्तविक रूप में मुक्त नहीं होता। वह बन्धन में ही पड़ा रहता है। इस बन्धन को जो कि सूक्ष्म शरीर और तन्मात्राओं में आसक्ति के कारण प्राप्त होता है, दाक्षणिक बन्धन कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त व्यक्ति बहुत काल तक इन सूक्ष्म लोकों के भोगों को भोगता रहता है। इनकी अवधि समाप्त होने तक वह योगी अपनी अभ्यास द्वारा प्राप्त अवस्था की योग्यता को लेकर मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। उच्च श्रेणी के योगियों में जन्म लेता है; अर्थात् उच्च कुलमें उत्पन्न होता है जिससे कि उसे योगाभ्यास के लिए भूमि पहले से ही तैयार मिलती है और वह अभ्यास के द्वारा कैवल्य प्राप्त करने में सफल हो सकता है। उसको अभ्यास निम्न श्रेणी से नहीं शुरू करना पड़ता। वह पूर्व में अभ्यास के द्वारा जिस स्तर तक पहुँच चुका था, वर्त्तमान काल मे उसे अभ्यास उस स्तर विशेष से ही प्रारम्भ करना पड़ता है, क्योंकि कैवल्य के पथ पर उसने वहाँ तक का रास्ता चलकर तय कर लिया है जिसके आगे इस वर्त्तमान जीवन मे उसे चलना है।

३—**आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :**—विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि निरन्तर अभ्यास के द्वारा साधक की एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि वह पञ्चतन्मात्रा आदि के कारण अहंकार का जो कि इनके अपेक्षाकृत सूक्ष्म है, समस्त पूर्व समाधियों का ज्ञात विषयों सहित संशय विपर्ययरहित साक्षात्कार कर लेता है। साधक की इस अवस्थाविशेष को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते है। समस्त प्रपञ्चात्मक जगत् का मूल कारण अस्मिता है। चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष जिसे अस्मिता कहते हैं, उसमें ही सूक्ष्म रूप से अज्ञान विद्यमान रहता है। महत् तत्त्व से समस्त सृष्टि का उदय होता है। विकारों की श्रेणी में महत् सूक्ष्मतम है। इसलिए महत् को छोड़कर के अहंकार अन्य सबसे सूक्ष्म है। इस आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में अहंकार का साक्षात्कार होता है। कार्य-कारण सम्बन्ध के नियम से साधक अपनी रुचि के अनुकूल किसी भी स्थूल विषय पर चित्त को लगाकर धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा कुछ काल

पश्चात् अहंकार तक जो कि अतिसूक्ष्म है, पहुंच जाता है। अहंकार एकादश इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं तक समस्त सूक्ष्म विषयों का उपादान कारण है। इसमें सत्व की प्रधानता है, क्योंकि यह सत्व प्रधान महत् तत्व का कार्य है। इस प्रकार से सत्व गुण सुखरूप होने के कारण इस अहंकार को साक्षात्कार कराने वाली अवस्था है। इसीलिए अहंकार का साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों के साक्षात्कार से भिन्न है। इस अवस्था का परमसुख केवल बुद्धि ग्राह्य है। इस अवस्था में पहुंचकर योगी को अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है जिसको प्राप्त कर वह और किसी की भी अभिलाषा नहीं रखता। यह ऐसी विचित्र अवस्था है कि इसमें पहुंचकर इसी को स्वरूपस्थिति समझने की सम्भावना हो सकती है। बहुत से साधक इसीलिए इसको कैवल्य पद समझ बैठते है, यह महान् भूल है। यह कैवल्यावस्था नहीं है। साधक को इसमें आसक्त होकर आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। जो इस अवस्था में पहुंच कर इसी में आसक्त होकर रहते है तथा आत्मोपलब्धि के लिए प्रयत्न करना छोड़ देते है, वे मृत्यु के उपरान्त विदेह अवस्था मोक्ष के समान आनन्द भोगते रहते हैं। इसमे भले ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के दाक्षणिक बन्धन की अवधि से अधिक अवधि होती है, तथा उसकी अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म लोकों मे स्थिति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु यह विदेहावस्था ऐसा होने पर भी मुक्तावस्था नहीं कही जा सकती है। सुख की प्राप्ति तो सत्वगुण के कारण होती है। अतः यह उत्तम सुखावस्था मुक्तावस्था नहीं है। सुख आत्मा का धर्म नहीं है। वह तो आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सत्वगुण की प्रधानता के कारण प्राप्त होता है। वह अन्तःकरण का धर्म है। जिन योगियों की वितर्कानुगत तथा विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो चुकी है उनका शरीर इन्द्रियादि से आत्माध्यास समाप्त हो जाता है। जिसके बाद वे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते है। देहाध्यास छूट जाने के कारण उन्हें विदेह कहा जाता है। जब योगी इस आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दमयी अवस्था को मुक्तावस्था समझकर उससे सन्तुष्ट हो आगे बढ़ने का प्रयत्न करना छोड़ देता है तब वह मृत्यूपरान्त अत्यधिक काल तक सूक्ष्म लोकों में आनन्द और ऐश्वर्य भोगता हुआ फिर मनुष्य योनि में जन्म लेकर अपनी पूर्व प्राप्त भूमि से ही मुक्ति के लिए अभ्यास आरम्भ करता है। वह उच्चकुल वा योगियों के कुल मे जन्म लेता है जिससे कि उसको योग की अग्रिम श्रेणियों पर पहुंचने के साधन उपलब्ध रहते हैं। गीता में श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन का संशय निवारण करते हुए यह बतलाया

है कि कर्मों का कहीं लोप नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। न तो इस लोक में, न परलोक में, कहीं भी उसके कर्मों का विनाश नहीं होता।[1] गीता में ऐसे पुरुषों को योगभ्रष्ट कहा गया है। ऐसे योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य लोकों के भोगों को भोगकर बहुत काल बाद उच्च आचरण और विचारवान् पुरुषों के यहाँ जन्म लेते है तथा उसके प्रभाव से आत्मोपलब्धि की ओर अग्रसर होते है।[2] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह विदेहावस्था कैवल्य प्रदान करने वाली नहीं है क्योंकि इसमे अनात्म मे आत्मबुद्धिरूप अज्ञान विद्यमान है। इसीलिए इसे हेय कहा गया है। इस अवस्था मे समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध न होने के कारण इसे असम्प्रज्ञात समाधि भी नहीं कह सकते है। यह अवश्य है कि उन्हे कैवल्य के लिए साधारण व्यक्तियों की तरह प्रारम्भ से योगाभ्यास नहीं करना पड़ता है।

४—**अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि** :—सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दानुगत अवस्था मे न रुक कर जब योगी आत्मोपलब्धि के लिए अभ्यास में निरन्तर रत रहता है, तब कुछ काल बाद वह, पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त अर्थात् अस्मिता का साक्षात्कार कर लेता है। अस्मिता अहंकार का कारण है अस्मिता अहंकार की अपेक्षा सूक्ष्म है। इसलिए यह त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति का पहला विषय परिणाम है जो कि पुरुष के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। इसमें रजस् और तमस् तो केवल वृत्ति मात्र से ही रहते है। यह स्वयं एक प्रकार से सत्व ही सत्व है। इसलिए इसका साक्षात्कार अहंकार के साक्षात्कार से भिन्न है। इसमे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि से कहीं अधिक आनन्द का अनुभव होता है। यह सुख वा आनन्द की उच्चतम अवस्था है क्योंकि इस अवस्था मे सत्व अपने उच्चतम अनुपात में रहता है। रजस् केवल क्रियामात्र तथा तमस् केवल उस क्रिया के अवरोधक मात्र से रहता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था तक साधक का अस्मिता मे आत्माध्यास बना रहता है। इस अवस्था में अहंकार रहित केवल अस्मि-वृत्ति होती है। गुणों का प्रसार केवल इस अवस्था तक ही है। इस अवस्था तक पहुँचना स्थूल ध्येय से प्रारम्भ करके निरन्तर अभ्यास मे बढ़ते चलने से होता है, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। गुणों की साम्यवस्था का प्रत्यक्ष तो होता नहीं। क्योंकि पुरुष का सम्बन्ध तो महत् तक

१. श्रीमद्भगवद्गीता—६।४० ;

२. श्रीमद्भगवद्गीता—६।४१, ४२, ४३ ;

ही है। और सचमुच में अगर देखा जाय तो महत् तत्व जो कि गुणों का प्रथम विषय परिणाम है, वही प्रकृति है। उसका ही साक्षात्कार सम्भव है। गुणों की साम्यावस्था तो अनुमान और शब्द प्रमाण के द्वारा ही जानी जा सकती है। सच तो यह है कि पुरुष के लिए वह गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति निरर्थक है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की यह अवस्था असीम सुख प्रदान करने वाली होने के कारण बहुत से साधक इसको ही कैवल्य मानकर आगे बढने के लिए प्रयत्न करना बन्द कर देते है। यह एक महान् भूल है। कैवल्य की अवस्था सुख और आनन्द की अवस्था नहीं होती। सुख और आनन्द तो सत्व गुण के द्वारा प्राप्त होते है। इस अवस्था मे सत्वगुण की पराकाष्ठा होने के कारण यह सुख तथा आनन्द को उच्चतम अवस्था है। इस सुख को असीमता के कारण ही साधक से इसे कैवल्य पद समझने की भूल होने की सम्भावना रहती हैं। जिन साधकों की आसक्ति इस असीम आनन्द मे हो जाती है वे मृत्यूपरान्त इस अस्मिता अवस्था को अत्यधिक काल तक प्राप्त किये रहते है तथा उच्चकोटि के आनन्द को भोगते रहते है। इस अवस्था का आनन्द तथा अवधि विदेह अवस्था की अपेक्षाकृत अत्यधिक होती है। वास्तविक प्रकृति अस्मिता ही होने के कारण इसको प्राप्त किये हुए योगियों को प्रकृतिलीन कहा जाता है। यह प्रकृतिलय की अवस्था विदेहलय की अवस्था की अपेक्षा सूक्ष्म आनन्दपूर्ण तथा अधिक अवधि वाली होती है, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, यह भी बन्धन रूप ही है। यहाँ तक गुणों का क्षेत्र होने के कारण इसमें अज्ञान सूक्ष्म रूपमें विद्यमान रहता है। इसमें अस्मिता की प्रतीति, अस्मिता क्लेश विद्यमान हैं। जब तक गुणों के क्षेत्र से साधक बाहर नहीं निकल जाता तबतक वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। प्रकृतिलीनों की आसक्ति अस्मिता में बनी रहती है जिसके कारण प्रकृति के बन्धन से मुक्ति प्राप्त नहीं होती, अर्थात् प्रकृति का बन्धन बना ही रहता है। अस्मिता मे आसक्ति रखने वाला तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को ही परमावस्था समझनेवाला साधक आत्मोपलब्धि के लिए प्रयत्न करना छोड़ देता है, और मृत्यूपरान्त अत्यधिक काल तक कैवल्य-सम सुख भोगते रह कर पुनः मनुष्य योनि मे जन्म लेता है। वह पूर्वजन्म में जिस भूमि को प्राप्त कर चुका है वहाँ तक तो बिना अभ्यास के ही अनायास पहुँच जाता है और कैवल्य के लिए उस प्राप्त अवस्था से आगे की अवस्था के लिए निरन्तर प्रयत्न करके आत्मसाक्षात्कार अन्य साधारण व्यक्तियों

से बहुत पहले प्राप्त कर लेता है। वह, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है योगियों के घरों में जन्म लेता है जिससे कि आगे के योग मार्ग में विघ्न न पड़ने पावें। वह जिस अवस्था तक अभ्यास पूर्व जन्म में कर चुका है, उसके बाद की अवस्थाओं को अभ्यास के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जब तक अस्मिता में आत्माध्यास बना है, तब तक आत्म साक्षात्कार प्राप्त नहीं हो सकता है। विदेहों तथा प्रकृतिलयों दोनों की ही आसक्ति क्रमशः अहंकार और अस्मिता में बनी रहती है। इसीलिए प्रकृति के बन्धन से इन अवस्थाओं में भी साधक मुक्त नहीं होता। इन दोनों उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओं को प्राकृतिक बन्धन कहते हैं। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में पञ्चमहाभूतों, एकादश इन्द्रियों, पञ्चतन्मात्राओं तथा अहंकार से तो छुटकारा मिल जाता है, किन्तु अस्मिता से छुटकारा नहीं प्राप्त होता। इसलिए यह प्राकृतिक बन्धन कहा जाता है। उसी प्रकार से आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सोलह विकृतियों तथा पञ्चतन्मात्राओं से छुटकारा प्राप्त हो जाने पर भी अहंकार में आसक्ति बनी रहती है, जिसके कारण विदेह प्रकृति के प्रपञ्च से बाहर नहीं निकल पाता है।

उपर्युक्त चारों सम्प्रज्ञात समाधियाँ प्रकृति के किसी न किसी रूप से बँधी रहती हैं। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में स्थूल विषयों से साधक बँधा रहता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में स्थूल विषयों से तो मुक्ति प्राप्त हो जाती है किन्तु सूक्ष्म विषयों का बन्धन बना रहता है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में स्थूल तथा सूक्ष्म समस्त विषयों से मुक्ति प्राप्त हो जाने पर भी अहंकार में आसक्ति बनी रहती है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में केवल अस्मिता में ही आसक्ति रह जाती है। इस प्रकार से इन चारों सम्प्रज्ञात समाधियों में किसी न किसी प्रकार से गुणों का बन्धन विद्यमान रहता है। उससे छुटकारा प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक समाधि में कोई न कोई आधार होने के कारण ये समाधियाँ सालम्ब समाधियाँ कहलाती हैं।

इन गुणों में आसक्ति अज्ञान के कारण होती है। अज्ञान प्रकाश का आवरण है। यह बीज रूप से अस्मिता के वृत्तिमात्र तमस् में भी विद्यमान रहता है। अतः अज्ञान का बीज अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा भी विद्यमान रहता है, अन्य तीनों समाधियों की तो बात ही क्या है? इस प्रकार से इन चारों समाधियों में अज्ञान का बीज विद्यमान रहता है। गुणों की परिधि से जब तक योगी बाहर नहीं निकल जाता तब तक वह मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं करता। अज्ञान का

बीज इन चारों समाधियों में विद्यमान रहने के कारण तथा सम्पूर्ण वृत्तियों का पूर्णतया निरोध न होने से ये चारों समाधियाँ सबीज समाधियाँ हैं। इन चारों समाधियों मे कोई न कोई ध्येय विषय विद्यमान रहता है। समस्त ध्येय विषय, वे चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्मतम, निश्चित रूप से त्रिगुणात्मक होते हैं। गुणों का अनुपात चाहे कुछ भी हो किन्तु तीनों गुण साथ-साथ ही रहते हैं। इसलिए तमस् में विद्यमान अज्ञान भी निश्चित रूप से इन समस्त ध्येयों में विद्यमान रहता है।

इन चारों सम्प्रज्ञात समाधियों मे जो समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है वे सभी अविद्या से मिश्रित होती है। किसी भी सम्प्रज्ञात समाधि-प्रज्ञा मे अविद्या का नितान्त अभाव असम्भव है। क्योंकि ये प्रज्ञा गुणों के क्षेत्र की प्रज्ञा है। अतः इनके प्रकाश मे भी अविद्या का आवरण किसी न किसी रूप मे तथा किसी न किसी मात्रा मे सदैव ही बना रहता है। उस अविद्या के आधार के बिना ये प्रज्ञा प्रकाशित नहीं होतीं। इन सब सम्प्रज्ञात समाधियों मे किसी न किसी ध्येय विषय का आलम्बन होने से तथा हर अवस्था मे बीज रूप से अविद्या के विद्यमान रहने के कारण इन सम्प्रज्ञात समाधियों को सालम्ब तथा सबीज समाधियाँ कहते हैं। जब तक इस अविद्यादि का, जो कि सृष्टि का आधार है, नाश नहीं हो जाता तब तक जन्म मरण के चक्र से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त नहीं होती। जहाँ तक गुणों का क्षेत्र है वहाँ तक अविद्या निश्चित रूपसे विद्यमान रहती है, तथा किसी न किसी प्रकार का बन्धन भी अवश्य ही रहता है। गुणों की सीमा से बाहर निकलने पर ही वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक तीनों बन्धनों से साधक मुक्त होता है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे वैकारिक बन्धन, विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में दाक्षिणिक बन्धन तथा आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधियों में प्राकृतिक बन्धन विद्यमान रहता है। जिनकी सोलह विकारों में आसक्ति रह जाती है, अर्थात् वे वैकारिक बन्धन वाले जिन्हें आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं हुआ है, मनुष्ययोनि मे जन्म लेकर उसी भूमि को प्राप्त करते है। इस वैकारिक बन्धन की अवस्था वाले व्यक्ति की स्थूल विषयों में आसक्ति रहती है तथा वह राजस तामस वासनाओं वाला होता है। इस आसक्ति से मुक्त होना ही वैकारिक बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना है। यह, वैकारिक बन्धन से मुक्ति की अवस्था, विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। इसमें योगी सूक्ष्म विषयों में आसक्त रहता है। इसी को दाक्षिणिक बन्धन कहते हैं, जिसमें आत्म साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता है। ऐसे योगी को भी जन्म

से ही पूर्व भूमि की योग्यता प्राप्त रहती है। उनका आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न इस अवस्था से बाद का ही रहता है और जब उनकी सूक्ष्म विषयों से आसक्ति हट जाती है तब उन्हें दाक्षिणिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार से आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जो अहंकार और अस्मिता में क्रमशः आशक्ति बनी रहती है पर वैराग्य द्वारा उसके छुट जाने पर प्राकृतिक बन्धन से भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

मोटे रूप से सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा, निर्वितर्क समाधि प्रज्ञा, सविचार समाधि प्रज्ञा, निर्विचार समाधि प्रज्ञा, आनन्दानुगत समाधि प्रज्ञा, और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा के रूप से छः प्रकार की होती है। इन छहों प्रकार की प्रज्ञा मे गुणों के कारण अविद्या का आवरण विद्यमान रहता है। प्रत्येक सम्प्रज्ञात समाधि मे अभ्यास की बृद्धि के साथ-साथ जैसे-जैसे योगी कैवल्य मार्ग पर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही उस विशिष्ट समाधि में भी उत्तरोत्तर प्रकाश वृद्धि वाली प्रज्ञाएं उत्पन्न होती चली जाती है, जिनके प्रकाश में योगी उस समाधि की निम्न अवस्था से समाधि की उच्च अवस्था की तरफ़ निरन्तर चलता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाधि अभ्यास के द्वारा योगी को निरन्तर उच्चतर प्रकाश प्राप्त होना चलता है। जिस प्रकाश में वह निरन्तर बढ़ता चला जाता है और एक दिन सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। इसी अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि तक योगी बन्धन मुक्त नहीं हो पाता।

योगाभ्यास का मुख्य प्रयोजन दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्ति ही है। अब प्रश्न उठता है कि इस दुःख का वास्तविक कारण क्या है? यह सारा का सारा दुःख द्रष्टा और दृश्य के संयोग से है[1]। पुरुष द्रष्टामात्र है। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। उसका त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा उसके विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुरुष में सुख दुःख, मोह, नहीं होते हैं, क्योंकि वह अत्रिगुणात्मक है। इसलिए पुरुष का दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुःख तो द्रष्टा पुरुष के दृश्य त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होता है। जब पुरुष अत्यधिक निर्मल और स्वच्छ सात्त्विक बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि को चेतन के समान बना देता है। उस समय जड़ चेतन की ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसमे पुरुष और चित्त का इस प्रकार का संयोग हो जाता है जिसमें निर्गुण

---

१. पा० यो० सू०—२, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३;

पुरुष अपने में चित्त के सब धर्मों को आरोपित कर लेता है। इसी कारण वह सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होता है। यह सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होना ही पुरुष के भोग है। जब तक यह संयोग समाप्त नहीं होता तब तक दुःख से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि तक यह संयोग समाप्त नहीं होता, क्योंकि इस अवस्था मे चित्त से प्रतिबिम्बित पुरुष का साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में पुरुष और चित्त का संयोग बना रहता है। इस कारण से ही सम्प्रज्ञात समाधि वास्तविक समाधि नहीं है, क्योंकि इसमें योगी पूर्ण रूपेण बन्धन मुक्त नहीं हो पाता है तथा इस सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता, और चित्त से सम्बन्ध बना रहता है। इस पुरुष और चित्त के सम्बन्ध का कारण अविद्या है। यह वास्तविक सम्बन्ध न होते हुए भी अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक इस सम्बन्ध की प्रतीति भी समाप्त नहीं हो सकती[1]। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में इस सम्बन्ध की प्रतीति नष्ट नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि सम्प्रज्ञात समाधि की इस अन्तिम अवस्था तक भी वह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता जिससे अविद्या का नाश होकर यह पुरुष-प्रकृति के संयोग की प्रतीति नष्ट हो जाए। अविद्या मिथ्याज्ञान की वासना को कहते हैं जो कि प्रलय काल में भी विद्यमान रहती है। इसी कारण से प्रलयोपरान्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा इसी कारण विदेह और प्रकृतिलीन दीर्घकाल तक उच्चकोटि का सुख और आनन्द भोगने के बाद पुनः मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। अतः अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चत्तम अवस्था होते हुए भी वास्तविक समाधि नहीं है।

**ऋतम्भरा प्रज्ञा** :—जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, प्रत्येक अवस्था में उस अवस्था विशेष की प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसके प्रकाश में योगी आगे बढ़ता है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की प्रवीणता प्राप्त होने पर योगी को अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है, जिसमें योगी एक ही काल में सबका साक्षात्कार कर लेता है। अन्तिम निर्विचार समाधि के निरन्तर अभ्यास के बाद बुद्धि अत्यधिक निर्मल हो जाती है। रज-तम रूप मलावरण समाप्त होने पर विशुद्ध सत्त्व गुण, चित्त का स्वच्छ स्थिरता रूप एकाग्र प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है। चित्त की चञ्चलता एक दम समाप्त हो जाती है। चित्त की ऐसी स्थिति में

---

१. पा० यो० सू० २।४७;

बिना किसी क्रम के प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात्कार एक ही काल में हो जाता है। इसको ही अध्यात्म प्रसाद कहा गया है।[1] इस स्फुटप्रज्ञालोक अध्यात्म प्रसाद से ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा का अर्थ ही सत्य को धारण करने वाली अर्थात् मिथ्या ज्ञान से रहित होना है। तो इस प्रकार से अध्यात्म प्रसाद प्राप्त कर लेने पर अविद्यादि से रहित सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। यह अन्य सबसे श्रेष्ठ है। इसके द्वारा ही परम प्रत्यक्ष प्रज्ञा प्राप्त होती है। यह विवेक ख्याति के समान होती है। इसके नाम से ही प्रकट होता है कि यह प्रज्ञा सत्य के अतिरिक्त और किसी को धारण करने वाली नहीं है। 'ऋत' साक्षात् अनुभूत सत्य को कहते हैं, इसलिए यह सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाश में भ्रान्ति तथा विपर्यय ज्ञान लुप्त हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा तीनों प्रमाणों से प्राप्त प्रज्ञा से श्रेष्ठ है। शब्द और अनुमान प्रज्ञा सामान्य रूप से ही वस्तु का ज्ञान प्रदान करती है। इनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रज्ञा ही केवल विशेष रूप का ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होती है, किन्तु इसके द्वारा भी वर्त्तमान और भविष्य की पहुंच तक के स्थूल विषयों का ही विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। योगजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा त्रैकालिक प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों के विशेष रूप का ज्ञान एक काल में ही प्राप्त हो जाता है। अतः ऋतम्भरा प्रज्ञा इन तीनों प्रज्ञाओं से श्रेष्ठ है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा पैदा होने वाले संस्कार अन्य सब व्युत्थान संस्कारों को रोक देते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा निरोध संस्कार तथा निरोध संस्कारों से ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय का चक्र चलते रहने से व्युत्थान संस्कार सर्वथा रुक जाते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को कर्तव्य से शून्य कर देते हैं। ये संस्कार अविद्यादि क्लेशों को नष्ट करने वाले होते हैं। इस प्रज्ञा के निर्मल प्रकाश में विवेक ख्याति उदय होती है, जिससे कि चित्त का भोगाधिकार समाप्त हो जाता है। विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त न होने तक ही चित्त चेष्टावान् रहता है, किन्तु विवेक ख्याति के बाद चित्त चेष्टा शून्य हो जाता है।

**विवेक-ख्याति :—**अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का व्यवधान रहित अभ्यास करते रहने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होकर उसके समस्त आवरणों से रहित प्रकाश में योगी को प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान का साक्षात्कार

१. पा० यो० सू०—१।४७ ;

होने लगता है। पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त के साक्षात्कार हो जाने पर जब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास निरन्तर चलता रहता है तो एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें चित्त तथा पुरुष-प्रतिबिम्ब दोनों का अलग-अलग साक्षात्कार होता है। जैसे निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित व्यक्ति का दर्पण से भिन्न रूप में ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार से इस अवस्था विशेष में चित्त और पुरुष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान प्राप्त होता है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में अत्रिगुणात्मक चैतन्य पुरुष तथा त्रिगुणात्मक जड़ चित्त भिन्नता की प्रतीति नहीं होती। इसीलिए वह अस्मिता की प्रतीति ही अस्मिता क्लेश है। अस्मिता में अत्रिगुणात्मक पुरुष में त्रिगुण आरोपित होते है। निर्लिप्त तथा असंग पुरुष मे आसक्ति और संग का दोष आरोपित हो जाता हैं। इस अस्मिता के द्वारा ही सृष्टि का उदय होता है। राग, द्वेष, अभिनिवेश, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि का यही कारण है। इस अस्मिता क्लेश का कारण अविद्या है जो कि सत्त्व चित्त के वृत्ति मात्र तमस् में बीज रूप से विद्यमान रहती है। अस्मिता क्लेश की निवृत्ति चित्त और आत्मा के भेद ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर हो जाती हैं। इस भेद ज्ञान के प्राप्त होने पर अविद्या क्लेश अन्य समस्त क्लेशों सहित दग्ध बीज के समान अवस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था विशेष में यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा चित्त अपने से भिन्न हैं। इनमें योगी का आत्माध्यास नहीं रहता। विवेक ख्याति की अवस्था में चित्त से भी आत्माध्यास समाप्त हो जाता है। विवेक ख्याति की ही अवस्था ऐसी अवस्था है जिससे योगी उस अवस्था विशेष पर पहुंच जाता है जो कि संसार चक्र से निकाल कर कैवल्य की तरफ़ ले जाती है। यह बड़े महत्वपूर्ण की अवस्था है। इस विवेक-ज्ञान का उदय शास्त्र आदि के द्वारा भी होता है किन्तु वह परोक्ष ज्ञान होने के कारण अविद्या को नहीं मिटा पाता। मिथ्या ज्ञान के संस्कार चित्त में नहीं मिटते राजस, तामस वृत्तियों का निरोध नहीं हो पाता। इस प्रकार के भेद ज्ञान के द्वारा दुःखों की ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो क्रमशः योगाभ्यास के द्वारा तथा बताये हुए उपायों के पालन करने से प्राप्त होती है। इस प्रकार अभ्यास के द्वारा ही अपरोक्ष रूप से भेद ज्ञान का साक्षात्कार होता है। इसके द्वारा योगी समस्त अभिमान रहित हो जाता है। अविद्या नष्ट हो जाती है। राजस, तामस वृत्तियाँ समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में सत्त्व गुण के प्रकाश के कारण चित्त अत्यधिक निर्मल और स्वच्छ

दर्पण के सदृश होकर चेतन को प्रतिबिम्बित करता है। जिस प्रकार दीपक के दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेपर दर्पण भी प्रकाशवान प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार पुरुष के चित्त में प्रतिबिम्बित होने पर उसमें ( चित्त में ) भी चेतना का बोध होने लगता है। चित्त की निर्मलता के उच्चतम अवस्था तक पहुंच जाने के कारण उस चेतन प्रतिबिम्ब का चित्त से भिन्न साक्षात्कार होने लगता है। इस साक्षात्कार का माध्यम भी चित्त ही है। अतः विवेक ख्याति भी चित्त की ही एक सात्त्विक वृत्ति है। किन्तु यह चित्त की एक सात्त्विक वृत्ति होते हुए भी इसके निरन्तर अभ्यास से समस्त क्लेशों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। इसलिए योगी को विवेक ख्याति के अभ्यास में ढील नहीं डालनी चाहिए। आरम्भ में हुए भेद ज्ञान का साक्षात्कार स्थायी नहीं होता। उससे सन्तुष्ट होकर अभ्यास छोड़ बैठना भूल है, क्योंकि जब तक मिथ्या ज्ञान के संस्कार किसी भी रूप में शेष रह जाते हैं तबतक चित्त से उसकी पूर्ण रूप से निवृत्ति नहीं समझनी चाहिए। विवेक ख्याति के अभ्यास को व्यवधान रहित चलाते रहने पर ऐसी अवस्था उपस्थित होती है जिसमें योगी गुणों से तृष्णारहित हो जाता है। यह गुणों से तृष्णारहित होना ही पर वैराग्य कहलाता है। जब तक गुणों की परिधि से योगी बाहर नहीं हो जाता तब तक वह कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकता।

**धर्ममेघ समाधि**[1] :—पूर्व वर्णित अपर वैराग्य के द्वारा योगी अन्य समस्त विषयों से राग रहित होकर ध्येय विशेष पर चित्त को एकाग्र करता है। यह एकाग्रावस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है, जिसकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है। इस विवेकख्याति रूपी सात्त्विक चित्त वृत्ति में भी राग के अभाव को पर वैराग्य कहते हैं। जब विवेकख्याति का अभ्यास दृढ़ हो जाता है अर्थात् विवेक ख्याति की अवस्था स्थायित्व को प्राप्त कर लेती है तो वह अवस्था धर्ममेघ समाधि की अवस्था कहलाती है। विवेक ज्ञान के द्वारा भी जो योगी किसी फल की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता ऐसे वैराग्यवान् साधक की विवेकज्ञान की अवस्था निरन्तर बनी रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विवेकज्ञान की वृत्ति ही चित्त में निरन्तर उदय होती रहती है। उसी का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। उसके बीच में कभी भी व्युत्थान वृत्तियों का उदय नहीं होता। इस रूप से व्युत्थान संस्कारों के बीज जलकर फिर से उदय होने मे असमर्थ

१. पा० यो० सू०—४।२९, ३० ;

हो जाते हैं। यह परिपक्व विवेकज्ञानावस्था ही धर्ममेघ समाधि कही जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा विवेक ख्याति है और इस विवेक ख्याति की परिपक्वावस्था ही धर्ममेघ समाधि है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा समस्त क्लेशों तथा कर्मों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। अविद्यादि पञ्च क्लेश विनष्ट होने पर दुःखों से सर्वदा के लिए निवृत्ति हो जाती है। क्लेशों के संस्कार समाप्त हो जाने के कारण कभी भी क्लेशोत्पत्ति की सम्भावना नहीं रह जाती। तीनों प्रकार के सकाम कर्म ( शुक्ल, कृष्ण, तथा शुक्ल-कृष्ण ) वासनाओं सहित समूल नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु से पूर्व जिन योगियों की धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेश तथा कर्मों से निवृत्ति हो जाती है, वे योगी ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं। उनके कोई भी कर्म पूर्वसंस्कारों के वशीभूत होकर नहीं होते। वे मृत्यूपरान्त पुनः जन्म धारण नहीं करते, क्योंकि उनकी अविद्या वा अज्ञान, जो कि संसार का कारण है, नष्ट हो चुका है। क्लेश और कर्मों से निवृत्ति होने के उपरान्त समस्त मलरूप आवरण हटने के कारण चित्त अपने सत्व प्रकाश से प्रकाशित होता है। उस प्रकाश में कुछ भी अप्रकाशित नहीं रह जाता। सात्त्विक चित्त पर रजस्-तमस् के क्लेश तथा कर्म की वासनाओं का आवरण रहने के कारण सीमित ज्ञान प्राप्त होता है। जब धर्ममेघ समाधि के द्वारा मलावरण हट जाता है तब असीमित ज्ञान के प्रकाश मे कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता।[1] धर्ममेघ समाधि की अवस्था में गुणों के परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है। गुण उसके लिए क्रियाशील नहीं होते। धर्ममेघ समाधि प्राप्त योगी के लिए अपना कोई कार्य नहीं रह जाता।[2]

विवेक ख्याति की यह परिपक्व अवस्था, धर्ममेघ समाधि, आत्मसाक्षात् कराने-वाली चित्त की उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। यह शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, अविद्या, विद्यमान लेशमात्र तमस् के द्वारा स्थिर रहती है। इस सात्त्विक वृत्ति के द्वारा ही चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष तथा चित्त दोनों का अलग-अलग साक्षात् होता है। यह साक्षात्कार चित्त के द्वारा ही होता है। अतः चित्त का क्षेत्र विवेक ख्याति तक है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा चित्त स्वच्छतम तथा निर्मलतम हो जाता है जिससे विवेक ख्याति स्वयं भी गुणों के परिणाम रूप चित्त की सात्त्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है। ऐसा होने पर इससे भी वैराग्य उत्पन्न हो

१. पा० यो० सू०—४।३१ ;
२. पा० यो० सू०—४।३२ ;

जाता है। इससे उत्पन्न हुए वैराग्य को ही पर वैराग्य कहते हैं। सत्वगुणात्मक विवेक-ख्याति भी चित्त का ही कार्य है। इसीलिए उसका त्याग भी आवश्यक ही हो जाता है। इसका त्याग अर्थात् इससे राग रहित होना ही पर वैराग्य है। इस अवस्था में गुणों में आसक्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। वह योगी गुणों से तृष्णारहित हो जाता है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जिसमें योगी विवेक-ख्याति से भी तृष्णारहित हो जाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से उसका सम्बन्ध बिलकुल समाप्त हो जाता है। गुणों से सम्बन्ध समाप्त होने के कारण इसे ज्ञानप्रसाद मात्र कहा जाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसमें विवेक ख्याति की वास्तविकता प्रकट हो जाती है। विवेकख्याति में वास्तविक रूप से आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं होता। उसमें तो चित्त में पड़े हुए केवल आत्मा के प्रतिबिम्ब का ही साक्षात्कार होता है। इसे आत्मसाक्षात्कार समझना या स्वरूप अवस्थिति समझना भूल है। जिस प्रकार से दर्पण में दीखने वाला स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं है, केवल प्रतिबिम्ब मात्र है ठीक उसी प्रकार विवेक ख्याति में यह आत्मसाक्षात्कार भी वास्तविक आत्मसाक्षात्कार नहीं है, केवल आत्मा के प्रतिबिम्ब मात्र का साक्षात्कार है। इस प्रकार का जो ज्ञान प्राप्त होता है, और योगी को धर्ममेघ समाधि की अवस्था में जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह आत्मा का साक्षात्कार न होकर चित्त में आत्मा के प्रतिबिम्ब का साक्षात्कार है, तो उसकी आसक्ति इस निरन्तर प्रवाहित होने वाली विवेक-ज्ञानरूपी सात्विक वृत्ति से भी हट जाती है। इसे ही सर्वोच्च ज्ञान कहा जा सकता है। इसमें वास्तविक रूप से गुणों के क्षेत्र से योगी मुक्त हो जाता है। यही पर वैराग्य है। इसमें विवेक-ख्याति रूपी शुद्ध सात्विक वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है जिससे कि आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में अवस्थित होती है तथा स्वयं प्रकाशित हो उठती है। वैसे तो आत्मा स्वयं प्रकाशित है ही और सदैव अपने स्वरूप में अवस्थित रहती है किन्तु अविवेक के कारण विपरीत रूपसे भासती है। यह पर वैराग्य ही, अपनी पूर्ण अवस्था में, ज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। चित्त वैराग्य और अभ्यास के द्वारा रजस्-तमस् रहित होकर केवल ज्ञान प्रसाद मात्र से विद्यमान रहता है। धर्ममेघ समाधि सूक्ष्म रूप से विद्यमान मिथ्याज्ञान को समाप्त कर देती है, मिथ्याज्ञान का क्षेत्र धर्ममेघ समाधि तक ही है। वह ( अज्ञान ) इस अवस्था में दग्धबीज हो जाता है जिससे पुनः उत्पत्ति योग्य नहीं रह जाता। इस समाधि में अज्ञान का पूर्ण रूपेण विनाश हो जाने के कारण विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसीलिए पर वैराग्य ज्ञान की उच्चतम अवस्था कही जाती है।

विवेक ख्याति अथवा धर्ममेघ समाधि के द्वारा अविद्या समूल नष्ट हो जाती है और इस अविद्या की निवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिए धर्ममेघ समाधि मोक्ष का कारण है। इस धर्ममेघ समाधि की अवस्था के निरन्तर चलते रहने पर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस सर्वोच्च सात्विक वृत्ति में स्वरूपा स्थिति के अभाव को बताने वाली 'नेति-नेति' ( यह आत्मस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है ) रूपी परवैराग्य की वृत्ति उत्पन्न होती है। जिसके द्वारा विवेक ख्याति रूपी वृत्ति का निरोध हो जाता है और इस स्थिति में उच्चत्तम अवस्था वाली प्रज्ञा उदय होती है। यह प्रज्ञा की चरम अवस्था है। इस प्रज्ञा के बाद और कोई तद्विपयक प्रज्ञा नहीं हो सकती। इससे ही तद्विषयक प्रज्ञा की निवृत्ति हो जाती है। ये सातों प्रज्ञाएँ निम्नलिखित है :—

१—यह सारा संसार परिणाम, ताप और संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोध से दुःख रूप होने के कारण हेय है जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है[1]। इसको मैंने अच्छी तरह जान लिया है, अब इसमें कुछ भी जानना शेष नहीं रहा है। इस प्रथम प्रज्ञामें संसार के समस्त विषयो के दुःख पूर्ण होने का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे योगी का चित्त विषयाभिमुख नहीं होता।

२—दूसरी प्रज्ञा मे समस्त अविद्यादि क्लेशों की समाप्ति हो जाती है। उसको ऐसी ख्याति प्राप्त होती है कि मेरे समस्त क्लेश क्षीण हो चुके है अर्थात् जो मुझे दूर करना था उसको मै दूर कर चुका हूँ। इस हेय संसार का कारण द्रष्टा दृश्य संयोग है, जो दूर हो चुका है। अब दूर करने के लिए कुछ भी शेष नहीं है। मेरा उस विषय मे कोई कर्तव्य नहीं रहा। इस प्रकार से सम्यक् चेष्टा की निवृत्ति होती है।

३—तीसरी प्रज्ञा द्वारा परम गति विषयक जिज्ञासा भी नहीं रह जाती है। योगी की इस प्रज्ञा मे साक्षात् विषयक जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। जिसका प्रत्यक्ष करना था, उसका प्रत्यक्ष कर लिया। अब कुछ भी प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं रह गया है।

४—चौथी प्रज्ञा में योगी उस अवस्था में पहुँच जाता है कि उसको उसके प्रकाश में यह प्रकाशित होता है कि मोक्ष के लिए विवेक-ख्याति रूपी जो उपाय करना था, वह सिद्ध कर लिया। अब कुछ करने योग्य नहीं बचा है।

---

१. पा० यो० सू० २।१५, १८, १९; इसी पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय देखने का कष्ट करें।

ये उपर्युक्त चारों प्रज्ञाएँ कार्य विमुक्ति की द्योतक होने से कार्य विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती हैं। ये कार्य से विमुक्ति करने वाली प्रज्ञाएँ हैं जो कि प्रयत्न साध्य हैं। अग्रिम शेष तीन प्रकार की प्रज्ञाएँ स्वतः सिद्ध होने वाली चित्त से विमुक्ति करने वाली चित्त-विमुक्त प्रज्ञाएँ हैं। प्रयत्न साध्य चारों प्रज्ञाओं के प्राप्त होने पर, ये तीन प्रकार की प्रज्ञाएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

५—चित्त का अव कोई कर्तव्य नहीं रह गया। उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं है, क्योंकि उसने अपना भोग और अपवर्ग देने का अधिकार पूरा कर दिया है। मोक्ष प्राप्त होने पर भोग से निवृत्ति हो जाती है। भोग की समाप्ति ही मोक्ष है। अब चित्त का कोई कार्य शेष नहीं रह गया।

६—चित्त का कार्य शेष न रह जाने के कारण चित्त अपने कारण रूप गुणों में लीन हो जाता है, और फिर उसका उदय नहीं होता। चित्त का पूर्ण रूपेण निरोध हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत से नीचे गिरे हुए पत्थर फिर अपने स्थान पर नहीं पहुंचते, उसी प्रकार से सुख-दुःख मोह रूप बुद्धि के गुण समूह भी पुरुष से अलग होने पर प्रयोजनाभाव के कारण फिर संयुक्त नहीं होते हैं।

७—इस प्रज्ञा अवस्था में पुरुष सर्वदा गुण के संयोग से रहित होकर अपने स्वरूप में स्थायी भाव से स्थित होता है। यह अवस्था वह अवस्था है जिसमें पुरुष आत्मस्थिति को प्राप्त कर लेता है। उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। वह स्वप्रकाश, निर्मल, केवली तथा जीवन्मुक्त कहा जाता है।

उपर्युक्त सात प्रकार की प्रज्ञाएँ प्राप्त करने वाला योगी जीवित रहता हुआ भी कुशल तथा मुक्त कहा जाता है। इस अवस्था को कैवल्यावस्था नहीं कहते किन्तु यह कैवल्य प्रदान करने वाली उच्चतम प्रज्ञा की अवस्था है। कैवल्य प्राप्त होने पर चित्त अपने कारण प्रकृति मे लीन हो जाता है जिसके लीन होने पर यह प्रज्ञा भी लीन हो जाती है। प्रज्ञा का अनुभव करने वाला योगी जीवन्मुक्त, और चित्त के कारण में लीन होने पर विदेह मुक्त कहलाता है।

**असम्प्रज्ञात समाधि :**—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो पाता। इतना ही नहीं अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था पार कर लेने के बाद भी जो विवेक ख्याति की अवस्था योगी को प्राप्त होती है वह विवेक ख्याति स्वयं भी एक उच्चतम

सात्विक वृत्ति है। अतः विवेकख्याति की परिपक्वावस्था धर्ममेघ समाधि में भी भेद ज्ञान रूपी उच्चतम सात्विक वृत्ति विद्यमान रहती है। सम्प्रज्ञात समाधिकालिक वृत्तियों तथा विवेक ख्याति रूपी सात्विक वृत्ति के भी पूर्ण रूप से निरोध हो जाने पर उस निरोध के कारण पर वैराग्य का निरन्तर अनुष्ठान रूप अभ्यास करने से जो संस्कार-शेष अवस्था प्राप्त होती है, उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जिस प्रकार से भुना हुआ बीज फिर अंकुरित नहीं होता, केवल स्वरूप मात्र से शेष रह जाता है। वैसे ही असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था वाला निरूद्ध चित्त, वृत्तियों को उदय करने में असमर्थ होता है तथा वह केवल स्वरूप मात्र शेष रह जाता है। चित्त की यह स्वरूप मात्र शेष अर्थात् संस्कार शेष अवस्था निरन्तर पर वैराग्य के अभ्यास से प्राप्त होती है। इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध होकर चित्त, वृत्ति रहित अवस्था को प्राप्त होता है। विवेक ख्याति चित्त की वृत्ति होने के कारण गुणों का ही परिणाम है जिनसे तृष्णारहित हो जाना पर वैराग्य है। इस पर वैराग्य से विवेक ख्याति रूपी इस अन्तिम वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसी कारण से पर वैराग्य को समस्त वृत्तियों के निरोध का कारण बतलाया गया है।[1] विवेक ख्याति अवस्था के परिपक्व हो जाने पर प्रज्ञा के प्रकाश में योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह अवस्था स्वरूपावस्थिति नहीं है। जब योगी इस प्रकार की भावना का निरन्तर अनुष्ठान करके इस विवेक ख्याति रूपी वृत्ति को भी प्रयत्न पूर्वक हटाता रहता है तब उसे ही पर वैराग्य का अभ्यास कहते हैं। जब इसके अभ्यास से इस वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब उस अवस्था को ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस असम्प्रज्ञात समाधि का साधन पर वैराग्य है। पर वैराग्य निर्वस्तुविषयक होता है। यह असम्प्रज्ञात समाधि भी निर्वस्तुविषयक समाधि है। इस समाधि में किसी प्रकार की भी वृत्ति चित्त में नहीं रह जाती। इसीलिए इसको निरालम्ब समाधि कहते हैं। वृत्ति और संस्कार यही चित्त के दो घटक हैं। चित्त का सारा कार्य ही इन वृत्तियों और संस्कारों का कार्य है। चित्त के बिना शान्त हुए उसमें आत्मा के प्रतिबिम्ब का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार नहीं हो सकता। जिस प्रकार से जलाशयों में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब हवा के द्वारा उत्पन्न लहरों के कारण स्थिरता को प्राप्त नही होता तथा स्थिरता को प्राप्त न होने के कारण उसके वास्तविक स्थिर स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, वह लहरों के कारण स्थिर होते हुए भी चञ्चल प्रतीत

---

१. पा० यो० सू०—१।१८;

होता है, ठीक उसी प्रकार से जब चित्त वृत्तियों के कारण निरन्तर चञ्चल बना रहता है तब इस चञ्चल परिणामी चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष अत्रिगुणात्मक तथा अपरिणामी होते हुए भी त्रिगुणात्मक और परिणामी प्रतीत होता रहता है। जैसे लहरों के शान्त होने पर चन्द्रमा अपने वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार से चित्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर पुरुष भी अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिबिम्बित होने लगता है। इस अवस्था को भी स्वरूपावस्थिति नहीं कह सकते, क्योंकि इस अवस्था में चित्त में पुरुष के प्रतिबिम्ब को ही वास्तविक पुरुष समझा जाता है। इस वृत्ति का भी पर वैराग्य द्वारा जब निरोध हो जाता है, तब ही समस्त वृत्तियों का निरोध होता है; उससे पूर्व नहीं। इस असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है किन्तु समस्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर भी संस्कारों का निरोध नहीं होता। निरोध समाधि मे केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार से इस काल में व्युत्थान और निरोध दोनों प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं।

निरोध समाधि में व्युत्थान संस्कारों से तात्पर्य सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों से है, क्योंकि निरोध समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था व्युत्थान ही कही जायगी। जिस प्रकार से क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, सम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा व्युत्थान अवस्था है, उसी प्रकार से असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से सम्प्रज्ञात समाधि भी व्युत्थान रूप ही होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था के प्रारम्भ मे सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था के संस्कारों का रहना निश्चित ही है। उन संस्कारों को ही यहाँ पर व्युत्थान संस्कार से व्यक्त किया गया है[1]। इस प्रकार से निरोधावस्था मे भी निरोध काल में चित्त मे दोनों प्रकार के संस्कार रहते हैं। निरोध संस्कार व्यक्त तथा व्युत्थान संस्कार दबे रहते हैं।

पूर्व मे यह बताया जा चुका है कि वृत्तियों के द्वारा संस्कारों को तथा संस्कारों के द्वारा वृत्तियों की उत्पत्ति का चक्र चलता रहता। ऐसी अवस्था में जब वृत्तियाँ ही संस्कारों का कारण है तब प्रश्न उपस्थित होता है कि असम्प्रज्ञात समाधि मे जब समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तो फिर संस्कार किस प्रकार से शेष रह जाते है? यहाँ इसके उत्तर मे यह कहना पर्याप्त होगा कि कार्य का निरोध उपादान कारण के निरोध से ही होता है। संस्कारो का

---

१. पा० यो० सू०—३।९;

उपादन कारण वृत्तियाँ नहीं हैं। वृत्तियाँ तो संस्कारों का निमित्त कारण हैं। संस्कारों का उपादान कारण तो चित्त है। वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर भी संस्कारों के उपादान कारण चित्त के विद्यमान रहने के कारण संस्कारों का रहना भी निश्चित ही है। चित्त धर्मी है और संस्कार उसके धर्म हैं। चित्तसे वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर भी संस्कारों का नाश नहीं होता है। संस्कार वृत्तिरूप न होकर चित्त रूप है। इसी कारण से वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी संस्कारों का निरोध नहीं होता। वे तो चित्त में वने ही रहते हैं। विवेकख्याति रूपी सात्विक वृत्ति का पर वैराग्य द्वारा निरोध हो जाने पर भी व्युत्थान संस्कार ( सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार ) वर्तमान रह ही जाते है। यही नहीं पर वैराग्य की वृत्ति का निरोध काल मे अभाव हो जाने पर भी उसके निरोध संस्कार शेष रह जाते है।

जव योगी अभ्यास के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था को प्राप्त करता है तो उस काल में ध्येय विषय की वृत्ति के अतिरिक्त अन्य समस्त वृत्तियों का निरोध समाधि के परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाने पर हो जाता है, किन्तु व्युत्थान संस्कारों का निरोध नहीं होता। वे समाधि काल में तो दबे रहते हैं किन्तु अन्य काल में उदय हो जाते है। एकाग्रता के संस्कारों के निरन्तर चित्त में प्रवाहित रहने पर व्युत्थान संस्कार समाप्त हो जाते हैं। इसके वाद ये एकाग्रता के संस्कार भी जो कि निरोध काल में दवे रहते है तथा अन्य काल में उदय हो जाते हैं, असम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था में अर्थात् निरन्तर निरोध संस्कारों के प्रवाहित रहने पर नष्ट हो जाते है। उस अवस्था में केवल निरोध संस्कार ही शेष रह जाते है। इस प्रकार से व्युत्थान संस्कारों को एकाग्रता के संस्कार नष्ट करते है तथा एकाग्रता के संस्कारों को निरोध संस्कार नष्ट करते है। असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाने पर उसमें केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं। इस काल में चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती। केवल वृत्तियों को समाप्त करने वाले निरोध संस्कार शेप रह जाते है। यह असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णावस्था ही निर्बीज समाधि कही जाती है।[1] इसमें पर वैराग्य के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्य संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। उसके निरोध होने पर पुराने और नये समस्त संस्कारों का निरोध हो जाता है। यह पर-वैराग्य के वाद की अवस्था ही जिसमें समस्त वृत्तियों तथा संस्कारों के प्रवाह का निरोध हो जाता है, निर्बीज समाधि कहलाती है।

---

१. पा० यो० सू०—१।५१ ;

बलवान् के द्वारा निर्बल का बाध होना सदा से ही देखा जाता है, इसी कारण से व्युत्थान संस्कारों का बाध निरोध संस्कारों के द्वारा होता है, क्योंकि निरोध संस्कार व्युत्थान संस्कारों से बलवान् होते हैं। योगी का चित्त समाधि अवस्था से पूर्व केवल व्युत्थान संस्कारों से ही युक्त होता है। उसके बाद समाधि अवस्था प्राप्त होने पर उसमें समाधि अवस्था के संस्कार भी पड़ते हैं। व्युत्थान प्रज्ञा से समाधि प्रज्ञा के अधिक निर्मल तथा प्रकाशकारिणी होने के कारण समाधि अवस्था के संस्कार व्युत्थान अवस्था के संस्कारों से बलवान् होते हैं। अतः वे व्युत्थान संस्कारों को दबा देते हैं। इस प्रकार से उन व्युत्थान संस्कारों के दब जाने से वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है, जिससे समाधि प्रज्ञा का प्रकाश प्रस्फुटित होता है।

जिस प्रकार से समाधि संस्कारों के द्वारा व्युत्थान संस्कार समाप्त हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से निरोध संस्कारों के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधिगत संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं क्योंकि निरोध संस्कार सम्प्रज्ञात समाधिगत संस्कारों से बलवान् होते है। इस प्रकार से पूर्ण निरोधावस्था में निरोध संस्कारों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

प्रारम्भ में निरोधावस्था अल्पकालिक होती है किन्तु ज्यों ज्यों अभ्यास बढता जाता है, त्यों त्यों व्युत्थान-संस्कार निरोध-संस्कारों के द्वारा समाप्त होते जाते हैं और निरोधावस्था का काल बढ़ता जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था अधिक काल तक रहती है। इस प्रकार से अभ्यास के द्वारा यह अवस्था परिपक्व होती चली जाती है। इस अवस्था के पूर्ण रूप से परिपक्व होने पर व्युत्थान तथा सम्प्रज्ञात समाधि जन्य समस्त संस्कार सदा के लिए नष्ट हो जाते है। केवल निरोध संस्कारों का ही प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। इसको ही निरोध परिणाम कहते हैं।[1]

निरोध संस्कारों के अत्यधिक प्रबल होते हुए भी अगर योगी अभ्यास में प्रमाद करेगा, और उसका अभ्यास शिथिल पड़ जायेगा तो निश्चित रूप से निरुद्ध संस्कारों मे भी कमी आ जायेगी। ऐसी अवस्था में व्युत्थान संस्कारों के द्वारा निरुद्ध संस्कार दब जाते हैं। जिस प्रकार से बलवान् से बलवान् व्यक्ति भी अगर असावधान और निश्चित हो जाता है तो निर्बल व्यक्ति भी उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी प्रकार से अभ्यास में शिथिलता के कारण

---

१. पा० यो० सू०—३।९, १० ;

व्युत्थान संस्कार भी निरोध संस्कारों को दबा देते हैं। अतः अभ्यास में कभी भी शिथिलता नहीं आने देना चाहिए।

निरोधावस्था दो प्रकार की होती है। एक तो वह जो कि साधक साधनों के अभ्यास के द्वारा प्राप्त करता है। इस असम्प्रज्ञात समाधि को उपाय प्रत्यय कहते हैं। दूसरी, विदेह मुक्त और प्रकृतिलीनों के द्वारा प्राप्त अवस्था। विदेह और प्रकृतिलीनों के द्वारा प्राप्त अवस्था तथा योगियों के अभ्यास के द्वारा प्राप्त निरोधावस्था में स्थायित्व का भेद है। विदेह मुक्त और प्रकृतिलीन योगी भी, जिनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है निरोधावस्था को प्राप्त होते है, किन्तु उनकी वह निरुद्ध अवस्था एक काल विशेप तक ही रह पाती है, उसके बाद पुनः समाप्त हो जाती है। इन विदेह और प्रकृतिलीनों की यह असम्प्रज्ञात समाधि भव प्रत्यय कहलाती है, क्योंकि वह उपाधि जन्य समाधि से भिन्न है। उपाय प्रत्यय समाधि भव प्रत्यय समाधि से श्रेष्ठ है। भव प्रत्यय समाधि तो कैवल्य इच्छुक योगियों के लिए हेय है। क्योंकि उसके द्वारा कैवल्य प्राप्त नहीं होता, अर्थात् सदा के लिए उनकी वह अवस्था नहीं बनी रहती। उस अवस्था में चित्त में अधिकार सहित संस्कार शेप रह जाते हैं। इसलिए उनकी वह कैवल्यसम प्रतीत होने वाली अवस्था भी कैवल्यावस्था नहीं है। बिना धर्ममेघ समाधि के चित्त की साधिकारिता (जन्म-मरण आदि दुःख देने की योग्यता) समाप्त नहीं होती। अतः उन विदेह और प्रकृतिलीनों की अवधि समाप्त होने पर उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है। जिस अवस्था को वे पूर्व मे प्राप्त कर चुके है उनका अभ्यास जन्म लेने पर उस अवस्था के बाद प्रारम्भ होता है। सच तो यह है कि ये अवस्थायें नहीं है क्योंकि वास्तविक रूप में असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद कैवल्यावस्था के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता। असम्प्रज्ञात समाधि को अवस्था परिपक्व हो जाने के बाद निरोध संस्कार के अतिरिक्त अन्य कोई संस्कार शेष नहीं रह जाते। असम्प्रज्ञात समाधि में सर्ववृत्तिनिरोध हो जाता है। इसलिए विदेह और प्रकृतिलीनों की वह अवस्था साधनों के अभ्यास द्वारा प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से अपेक्षाकृत निम्न है। यह सब कुछ होते हुए भी विदेह और प्रकृतिलीनों की अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतर और उच्चतम अवस्था होने के कारण हेय नहीं कही जा सकती, किन्तु कैवल्य इच्छुक योगियों के लिए सन्तुष्ट होकर इन अवस्थाओं पर रुक जाना उचित नहीं। अतः उनके लिए उस कैवल्यावस्था की अपेक्षा यह अवस्था निम्न और हेय ही हुई। वास्तविक असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा सिद्ध होती

है।[1] इन उपायों के द्वारा प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि, स्थाई असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इसी को उपायप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इन उपायों में मन्दता, मध्यता तथा तीव्रता के भेद से तीन उपाय भेद हुए तथा वैराग्य के भी मृदु, मध्य और तीव्र तीन भेद हुए। इस प्रकार से उपाय प्रत्यय योगियों के नौ भेद हो जाते हैं:—

१—मृदु-उपाय मृदु संवेगवान्।
२—मृदु-उपाय मध्य संवेगवान्।
३—मृदु-उपाय तीव्र संवेगवान्।
४—मध्य-उपाय मृदु संवेगवान्।
५—मध्य-उपाय मध्य संवेगवान्।
६—मध्य-उपाय तीव्र संवेगवान्।
७—अधिमात्र-उपाय मृदु-संवेगवान्।
८—अधिमात्र-उपाय मध्य संवेगवान्।
९—अधिमात्र-उपाय तीव्र संवेगवान्।

इन नौ प्रकार के योगियों में अधिमात्रोपाय तीव्र संवेगवान् योगी को अन्य की अपेक्षा शीघ्र ही असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि के प्राप्त करने के उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा तथा समाधि हैं। समाधि के अन्तर्गत सम्पूर्ण अष्टांग योग आ जाता है, क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ साधनों के द्वारा ही सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।[2] इन पाँचों उपायों में तीव्रता तथा वैराग्य में भी तीव्रता होने से असम्प्रज्ञात समाधि शीघ्र प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त योगियों को तीव्रता के अनुपात से ही समाधि लाभ होता है। इन उपायों के अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी अत्यधिक शीघ्र असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।[3] क्योंकि ईश्वर प्रणिधान के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने में उपस्थित होने वाले चित्त के समस्त विघ्न दूर होते है तथा जीवात्मा का साक्षात्कार होता है।[4] ईश्वर प्रणिधान से असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था तक अति शीघ्र इसलिए

---

१. पा० यो० सू०—१।२०;

२. पा० यो० सू०—१।२०, २१, २२;

३. पा० यो० सू०—१।२३, इसी पुस्तक का १७ वाँ अध्याय देखने का कष्ट करें।

४. पा० यो० सू०—१।२९, ३०, ३१;

पहुँचा जा सकता है, कि ईश्वर योग के साधन में उपस्थित होने वाले समस्त विक्षेपों तथा उपविक्षेपों को समाप्त कर देते हैं।

इस प्रकार से प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में समस्त वृत्ति तथा संस्कारों की धारा का निरोध हो जाता है। यह समाधि पर वैराग्य के अभ्यास द्वारा समस्त सम्प्रज्ञात समाधि-प्रज्ञा जन्य वृत्तियों तथा तत्सम्बन्धी समस्त संस्कारों के निरोध होने पर प्राप्त होती है। निर्बीज समाधि जन्य प्रत्यय से सम्प्रज्ञात समाधि जन्य समस्त प्रत्ययों का निरोध तथा पर वैराग्य के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न नवीन संस्कारों के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों का बाध हो जाता है। इस अवस्था में निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं। निरोध संस्कार समस्त संस्कारों का विरोधी है। वह तो समस्त संस्कारों को नष्ट करके ही उत्पन्न होता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सर्व वृत्ति निरोध का तो प्रत्यक्ष होना ही असम्भव है तथा समस्त वृत्तियों के निरोध होने के कारण स्मृति भी उत्पन्न नहीं हो सकती। स्मृति के उत्पन्न न होने से उनका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। तो फिर किस प्रकार से निरोध संस्कारों का ज्ञान होता है ? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि ज्यों-ज्यों पर वैराग्य का अभ्यास क्रमशः बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वृत्तियों और संस्कारों का निरोध होता जाता है। अर्थात् पर वैराग्य के अभ्यास की वृद्धि से सम्प्रज्ञात समाधि जन्य संस्कार कम होते जाते हैं। उनकी न्यूनता के आधार पर ही निरोध संस्कारों का अनुमान किया जाता है क्योंकि निरोध संस्कारों की उपस्थिति के बिना सम्प्रज्ञात समाधि-प्रज्ञा जन्य संस्कारों मे कमी नहीं आ सकती। एक स्थिति ऐसी आ जाती है जिस मे समस्त संस्कार समाप्त हो करके केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। यही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इन निरोध संस्कारों के द्वारा चित्त भोगाधिकार तथा विवेक-ख्याति अधिकार दोनों से निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था मे चित्त समाप्त-अधिकार वाला हो जाता है अर्थात् वह साधिकार नहीं रह जाता। चित्त मे केवल वृत्ति तथा वृत्तिके संस्कारों को रोकने वाले संस्कारों के अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं जाता है। जिसके कारण निरोध परिणाम चलता रहता है।

असम्प्रज्ञात, समाधि की परिपक्व अवस्था है जिसमें निरोध संस्कार के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता। उसके बाद ये निरोध संस्कार स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण के मल को जलाने के लिए शीशे ( धातु विशेष ) का प्रयोग होता है ठीक उसी प्रकार से चित्त के समस्त संस्कारों को भस्म करने

के लिए निरोध संस्कारों का उपयोग होता है। जिस प्रकार स्वर्ण के मल को जला कर शीशा स्वयं भी जलकर समाप्त हो जाता है उसी प्रकार से चित्त की समस्त वृत्तियों तथा संस्कारों को नष्ट करके निरोध संस्कार स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं। उस स्थिति में योगी का चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है तथा पुरुष अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कैवल्य प्राप्त करता है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था वाले योगी, जिनके चित्त में निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं, अर्थात् जिनका चित्त संस्कार रहित होकर निरुद्ध होता है, जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाते है। ये योगी जीवन्मुक्त वा स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं। इसके विपरीत विदेह तथा प्रकृतिलीन योगियो के चित्त सस्कार रहित होकर निरुद्ध नहीं होते; बल्कि उनमें आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार सहित निरुद्ध होते है, जो कि अवधि समाप्त होने पर पुन: संसार चक्र में लाते हैं अर्थात् मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं कराते। संस्कार रहित निरुद्ध चित्त योगी मृत्योपरान्त पुन: जन्म नहीं लेते। उनके समस्त साँसारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं।

संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण रूप से कर्म तीन प्रकार के है। संचित कर्म केवल संस्कार रूप से विद्यमान रहते है जो कि अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे हैं किन्तु उनके फल भोगने की अवधि नहीं आयी। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनको भोगने के लिए हमें वर्त्तमान जाति और आयु प्राप्त हुई है। क्रियमाण कर्म वे हैं जिन्हें वर्त्तमान जीवन में हम स्वेच्छा से सँग्रह करते हैं। इन नवीन कर्मों के द्वारा नवीन संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्रियमाण कर्मों में से कुछ कर्म तो संचित कर्मों के साथ मिलकर सुप्त अवस्था को प्राप्त होते हैं जिनका फल कभी अगले जन्मों में उनके उदय होने पर मिलता है। कुछ प्रारब्ध कर्मों से भी मिलकर तुरन्त फल प्रदान करते है। जिन योगियों को धर्ममेघ समाधि के पश्चात पर वैराग्य के द्वारा समस्त वृत्तियों और संस्कारों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है उनके संचित कर्मों के संस्कार तो विवेकख्याति के द्वारा दग्धबीज हो जाते हैं तथा क्रियमाण कर्म संस्कार तो उत्पन्न ही नहीं होते। अत: पुन: जन्म की सम्भावना उनको नहीं रह जाती। यही जीवनमुक्तावस्था है।

निद्रावस्था से समाधि भिन्न है। दोनों अवस्थाओं में मन लीन रहता है किन्तु सुषुप्ति में वह तमस में लीन होता है। जो कि मोक्ष प्रदान करने वाली अवस्था नहीं है। समाधि अवस्था में सब चित्त सत्व में लीन होता है। दूसरे समाधि मोक्ष प्रदान करने वाली अवस्था है अर्थात् मोक्ष का साधन

है[1]। निद्रा को योग में पञ्च वृत्तियों में से एक वृत्ति कहा गया है[2]। असम्प्रज्ञात समाधि वृत्ति रहित अवस्था है। निद्रा में अज्ञानरूपी तमोगुण को विषय करने वाली तम प्रधान वृत्ति रहती है जो कि वृत्ति का अभाव नहीं है। तमोगुण का आवरण अन्य विषयों को तो प्रकाशित नहीं होने देता किन्तु स्वयं प्रकाशित रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त वृत्तियों का अभाव हो जाता है। निद्रा के बाद की स्मृति से यह निश्चित हो जाता है कि निद्रा वृत्ति का अभाव नहीं है। यह तमोगुण प्रधान वृत्ति है। निद्रा वृत्ति से ज्ञान आवृत रहता है। किन्तु अज्ञान का नाश होकर ही समाधि अवस्था प्राप्त होती है। इस सबसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है किन्तु इसे सम्प्रज्ञात समाधि के समान प्रतीत होने के कारण, सम्प्रज्ञात समाधि क्यों न मान लिया जावे। जिस प्रकार से निद्रा में समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता उसी प्रकार से सम्प्रज्ञात समाधि मे भी सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि निद्रा अवस्था में क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्थाओं का अभाव होते हुए भी योग विरुद्ध मूढ़ अवस्था विद्यमान रहती है जिससे चित्त वृत्तियों के निरोध होने का भान होता है। निद्रा समाप्त होने पर क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्था पुनः आ जाती हैं। ये तीनों अवस्थायें ही योग विरुद्ध है। इसलिए निद्रा समाधि नहीं कही जा सकती। यह तामस वृत्ति होने के कारण सात्त्विक वृत्ति की विरोधिनी वृत्ति है। सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध भले ही न हो किन्तु चित्त विशुद्ध सत्व प्रधान होता है। निद्रा तामसी होने के कारण ही एकाग्र सी प्रतीत होती हुई भी सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों से भिन्न है। सुषुप्ति व्यष्टि चित्तों की अवस्था तथा प्रलय समष्टि चित्त ( महत्तत्त्व ) की ( सुषुप्ति ) अवस्था है। इन दोनों अवस्थाओं में ही चित्त तमस् में लीन होता है। जिससे इन दोनों अवस्था से जागने पर चित्त की पूर्ववत् अवस्था हो जाती है। इन दोनों का निरोध आत्यन्तिक नहीं है। अतः ये दोनों ही समाधि अवस्था से भिन्न अवस्थायें हैं। योग को सब वृत्तियों का निरोध कहा है। निद्रा भी एक वृत्ति होने से योग में इसका भी निरोध होना चाहिए। स्वप्न भावित स्मृतव्य स्मृति की कोटि में आता है। स्मृति पञ्चवृत्तियों में से एक वृत्ति है। अतः स्वप्न भी एक वृत्ति हुई। जिसमें अयथार्थ पदार्थ का स्मरण होता है। समाधि

---

१. मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्—२।३।३, ४,

२. पा० यो० सू०—१।१०; योग मनोविज्ञान का ११वाँ अध्याय देखें।

वृत्तियों के निरोध को कहते है। अत: स्वप्न को समाधि नहीं कहा जा सकता[1]। स्वप्न में वृत्तियाँ तथा उनके संस्कार बने रहते हैं किन्तु समाधि में वे नष्ट हो जाते हैं। समाधि अवस्था मे वृत्तियों तथा संस्कारों का विरोध होता है। स्वप्न त्रिगुणात्मक अवस्था है। समाधि गुणों से परे की अवस्था है।

मृत्यु अवस्था जीवकी वह अवस्था है जिसमें सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर सहित जीव स्थूल शरीर को छोड़ कर जब तक अन्य नवीन स्थूल शरीर प्राप्त नहीं कर लेता तब तक इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। यह अवस्था चित्त-वृत्तियों के निरोध की अवस्था नहीं है। समस्त कर्माशय जीव से सम्बन्धित रहते है अर्थात् समस्त अनन्त जन्म जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कार चित्त में विद्यमान रहते है। केवल अन्नमय कोष अर्थात् वर्त्तमान स्थूल शरीर ही समाप्त हो जाता है। इसके दूसरा शरीर प्राप्त करने तक शरीर की समस्त क्रियाएँ स्थगित रहती है। अपने प्रारब्ध कर्मानुसार जीव पुन: जन्म धारण करता है। मृत्यु अवस्था में जीव का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर से बना ही रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में इन सब से आत्मा का लगाव अर्थात् सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इसके बाद जन्म का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसमें पञ्चक्लेश संस्कारों सहित नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु अवस्था में ऐसा नहीं होता। प्रारब्ध कर्मो को भोग लेने के बाद यह मृत्यु अवस्था आती है। जिसके पूर्व अगले जन्मों में भोगे जाने वाले प्रारब्ध कर्मों का उदय होता है। निरुद्धावस्था में समस्त संस्कारों का निरोध हो जाता है किन्तु मृत्यु अवस्था मे समस्त पूर्व की वृत्तियों के संस्कार विद्यमान रहते हैं। निद्रावस्था मे शरीर चेष्टा हीन अर्थात निष्क्रिय नहीं होता किन्तु मृत्यु अवस्था मे शरीर चेष्टाहीन हो जाता है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु निद्रा, स्वप्न, प्रलय आदि समस्त अवस्थाओं से समाधि भिन्न है।

---

१. पा० यो० सू०—१।११; इसी पुस्तक के अध्याय १२ को देखने का कष्ट कीजिए।

२. विशेष विवेचन के लिए हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

# अध्याय २१

## चार अवस्थायें

### जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, [1]तुर्या*

मानव चित्त की चार अवस्थायें होती हैं जिनका वर्णन उपनिषदों, योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन चार अवस्थाओं को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्या नाम से पुकारा जाता है। सामान्य सांसारिक मानव का चित्त जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं वाला होता है। चौथी तुर्या अवस्था कतिपय योगियों के चित्त की ही होती है। अद्वैत वेदान्त में इन चारों अवस्थाओं का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म को चार पादों वाला बताया गया है।[2] उपनिषदों में इन चार अवस्थाओं के विवेचन के द्वारा बड़े सुन्दर और सरल ढंग से ब्रह्म और विश्व की धारणा को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मोपनिषद् में भी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्या अवस्थाओं का वर्णन किया है। इसी प्रकार से यही चार अवस्थायें अथर्व शिखोपनिषद् में भी वर्णित है। प्रपञ्चसारतन्त्र में तो इनके अतिरिक्त तुर्यातीत अवस्था का भी विवेचन है। इन चारों अवस्थाओं का विवेचन अद्वैत वेदान्त मे किया गया है जिसके द्वारा आत्मा के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा इन सब अवस्थाओं से भिन्न है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये आत्मा की अवस्थायें नहीं हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं से परे है। योगवाशिष्ठ मे चित्त की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के क्रमशः घोर, शान्त और मूढ़ नाम भी बताये गये हैं। इन तीनों अवस्थाओं से स्वतन्त्र होने पर चित्त शान्त, सत्वरूप

---

१. माण्डूक्योपनिषद्—आगम प्रकरण; योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त—पृष्ट २७४—१२ मैं क्या हूँ ? त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्—मन्त्रभाग। १० से १८ तक मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्—४।१; छा० उ०—५—१८।२; यो० वा०—४।१९।१५, १६, १७, १८;

* विशद विवेचन के लिए हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

२. माण्डूक्यउपनिषद् का आगमप्रकरण—२

सर्वत्र एक और समान रूप से स्थित रहता है।[1] इन चारों अवस्थाओं को हम एक एक करके वर्णन करते हैं:—

**१—जाग्रत्-अवस्था:**—जाग्रत् अवस्था वाले ब्रह्म को वैश्वानर कहा गया है। यहाँ ब्रह्म की धारणा ठीक स्पिनोजा के द्रव्य की धारणा के समान है। वैश्वानर बहुत कुछ नेचुरा-नेचुराटा ( Natura Naturata ) से मिलता-जुलता है। जाग्रत् अवस्था वाला ब्रह्म स्थूल शरीर के रूप से समझाया गया है। जाग्रत् अवस्था में यह समस्त विश्व के स्थूल शरीर के रूप में रहता है। इसको सात अंगों वाला बताया गया है। वैश्वानर की सूर्य आँख है, वायु प्राण है, आकाश शरीर का मध्य स्थान है और जल मूत्र स्थान है, पृथ्वी पैर तथा अग्नि मुख है। यह ब्रह्म के एक रूप का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। सब कुछ ब्रह्म है और ब्रह्म ही सब कुछ है। स्पिनोजा के द्रव्य की धारणा के समान ही उपनिषदों के ब्रह्म की धारणा है। ब्रह्म से बाहर कुछ है ही नहीं। स्थूल शरीर के रूप से वह वैश्वानर कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में इस वैश्वानर का वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार इस व्यापक वैश्वानर आत्मा का सिर द्युलोक है, आँख सूर्य है, प्राण वायु है, आकाश देह का मध्य भाग है, जल मूत्र स्थान है, पृथ्वी दोनों पैर है, वक्षस्थल वेदी है तथा शरीर के बाल वेदी पर बिछे हुए कुश हैं। वेदी पर बिछे कुशों के समान ही वक्षस्थल पर बाल बिछे हुए हैं। हृदय गार्हपत्य अग्नि हैं और उसका मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है और मुख आहवनीय अग्नि है[2]।

माण्डूक्य उपनिषद् में वैश्वानर को विश्व के स्थूल विषयों का भोग १९ मुखों से करने वाला बताया है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त, ये उन्नीस मुख है जिनके द्वारा वैश्वानर विश्व के स्थूल विषयों को भोगता है[3]।

जाग्रत् अवस्था में अनुभव कर्ता आत्मा का सम्बन्ध भौतिक जगत् में कार्य करने वाले स्थूल शरीर से रहता है। इसमें समस्त स्थूल विषय अलग-अलग सत्तावान् प्रतीत होते हैं और वह स्वयं भी अपने को अलग सत्तावान् समझता है। दिक् और काल में कार्य करने वाले समस्त प्राकृतिक नियमों से वह शासित

---

१—यो० वा०—६।१२४।३६, ३७, ३८;

२. छा० उ०—५।१८।२;

३. मा० उ०—आ० प्र० ३;

रहता है। जाग्रत् अवस्था में आत्मा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, तथा कारण शरीर से सीमित रहता है। योगवाशिष्ठ के अनुसार स्थूल शरीर के भीतर जीव धातु नामक तत्व के रहने से जिसे तेज और वीर्य भी कहा गया है, शरीर जीवित रहता है। शरीर की किसी भी प्रकार की क्रिया होने पर वह प्राणों के द्वारा क्रिया करने वाले अंगों की ओर प्रवाहित होती है। उसी के द्वारा चेतना का भी अनुभव होता है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जब वह बाहर की तरफ प्रवृत्त होती है तो अपने भीतर बाह्य जगत् का अनुभव करती है। इस तरह से जब इसको ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में स्थित रहकर बाह्य जगत् का अनुभव प्राप्त होता है तो उस अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते हैं।[1]

वेदान्त के अनुसार जाग्रत् अवस्था मन की निम्न अवस्था वाले व्यक्तियों की है, जिनका स्थूल दृष्टिकोण होता है। जाग्रत् अवस्था में चौदह इन्द्रियों, उनके चौदह देवतावों तथा चौदह विषयों, इन बयालिस तत्त्वों का व्यापार चलता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चौदह इन्द्रियाँ अध्यात्म कही गयी है। जिनके अलग-अलग चौदह देवता हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का देवता दिशा, स्पर्शेन्द्रिय का वायु, चक्षुन्द्रिय का सूर्य, रसनेन्द्रिय का वरुण, घ्राणेन्द्रिय का अश्विनी कुमार, वाक् का अग्नि, हाथ का इन्द्र, पैरों का वामन, गुदा का यम, उपस्थ का प्रजापति, मन का चन्द्रमा, बुद्धि का ब्रह्मा, चित्त का वासुदेव, तथा अहंकार का रुद्र है। इन चौदह देवताओं को अधिदेव कहा है। इन चौदहों इन्द्रियों के चौदह विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, गमन, मलत्याग, रतिविलास तथा मूत्र विसर्जन, संकल्प-विकल्प, निश्चय, चिन्तन तथा अभिमान अधिभूत कहे गये है। ये अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत तीनों मिलकर त्रिपुटी कहे जाते हैं। इस प्रकार से ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, तथा अन्तःकरण की, सब मिलकर, चौदह त्रिपुटियाँ हुई। तीन-तीन पदार्थों की एक-एक त्रिपुटी होती है। इन तीनों पदार्थों में से किसी एक के अभाव में भी व्यवहार नहीं चल सकता। अतः जाग्रत् अवस्था के समस्त व्यवहारो के लिये इन्द्रिय, देवता, तथा विषय इन तीनों का विद्यमान रहना नितान्त आवश्यक है। जिस अवस्था में इन त्रिपुटी का व्यवहार चलता रहता है उसे ही जाग्रत् अवस्था कहते हे। आत्मा इस जाग्रत् अवस्था का साक्षी है। यह आत्मा की अवस्था न होकर स्थूल देह की अवस्था है, जिसे उपनिषद् और वेदान्त में अन्नमय कोष कहा

---

१—यो० वा०—४।१९।१५, १६, १७, १९;

गया है। यह अन्नमय कोष आत्मा के ऊपर अन्तिम आवरण है। जिसका विवेचन तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।[1]

सांख्य-योग के अनुसार इस अवस्था में आत्मा (पुरुष) अज्ञान के कारण अपने को स्थूल शरीर, मन, इन्द्रिय आदि समझ बैठता है तथा अपने को बाह्य विषयों से सम्बन्धित कर लेता है। इस अज्ञान के कारण ही जाग्रत् अवस्था का सारा व्यवहार चलता है। वस्तुतः आत्मा इस अवस्था से परे है।

२—**स्वप्नावस्थाः**—माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्म के द्वितीय पाद का वर्णन किया गया है। इस ब्रह्म के रहने का स्थान सूक्ष्म जगत् है। वह सात अंगों तथा उन्नीस मुखों के द्वारा सूक्ष्म विषयों को भोगता है। उसका ज्ञान सूक्ष्म विषयों का ज्ञान है। सूक्ष्मरूप में सात लोक उसके अंग हैं और दस इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण तथा चार अन्तःकरण उसके मुख हैं, जिनके द्वारा वह सूक्ष्म जगत् में स्थित है। इस अवस्था वाले ब्रह्म को हिरण्यगर्भ कहा गया है। हिरण्यगर्भ के भीतर समस्त जड़ और चेतन विद्यमान रहते हैं। वह ज्ञाता, भोक्ता तथा नियन्त्रण कर्ता है। यह पूर्ण ब्रह्म का द्वितीय पाद है। सूक्ष्म जगत् का स्वामी हिरण्यगर्भ है। समष्टि रूप में यह हिरण्यगर्भ है। व्यष्टि रूप से अलग-अलग सूक्ष्म शरीरों से सम्बन्धित आत्मा वा ब्रह्म तैजस कहा गया है। स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर के व्यापार बन्द हो जाते हैं। इसमें अग्नि सिर, सूर्य और चन्द्र नेत्र, वायु प्राण, वेद जिह्वा, दिशा श्रोत्रेन्द्रिय, आकाश शरीर का मध्य भाग, पृथ्वी पैर हैं। सात अंगों तथा उन्नीस सूक्ष्म मुखों के द्वारा सूक्ष्म विषयों के भोग करने वाले को ही तैजस कहा है। इस स्वप्नावस्था में बाह्य जगत् से इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए यह जाग्रत् अवस्था से भिन्न है। यह जाग्रत् अवस्था की स्मृति कही जा सकती है।

पातञ्जल योग-दर्शन में स्वप्न एक वृत्ति है जिसमें जाग्रत् अवस्था के अभाव में अचेतन मन क्रियाशील रहता है। ये मन की रचना है। इसे भावित स्मृतव्य स्मृति कहा है[2]। जाग्रत् अवस्था के अनुभवों के ऊपर ही स्मृति आधारित है। किन्तु स्वप्न के विषय सीधे सीधे अनुभव की स्मृति नहीं होते। उसके विषय

१. इसके विशद् विवेचन के लिए हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।
तैत्तिरीयोपनिषद—२।१;

२. इसी "योग मनोविज्ञान" पुस्तक के १२ वें अध्याय को देखने का कष्ट करें।

तो बहुत तोड़-मोड़ के साथ उपस्थित होते हैं। स्वप्न के विषय कल्पित होते हैं। स्वप्न स्मृति की स्मृति होती है। स्वप्न में हमें स्मरण करने का ज्ञान नहीं होता। चित्त के त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वप्न भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। सात्विक स्वप्न सर्वोत्तम स्वप्न होते हैं। स्वप्नों की इस अवस्था में सत्व तत्व की प्रधानता होती है। सामान्य रूप से यह (सात्विक) स्वप्नावस्था साधारण जनों की नहीं होती, अचानक भले ही कभी प्राप्त हो जाये। राजसिक स्वप्न में रजोगुण की प्रधानता रहती है। इसके विषय जाग्रत् अवस्था से भिन्न अर्थात् कुछ बदले हुए होते हैं। तामसिक स्वप्नावस्था निकृष्ट-तम होती है जिसमें हर विषय क्षणिक होता है तथा जागने पर उसकी स्मृति नहीं रह जाती। स्वप्न के विषय वास्तविक और अवास्तविक दोनों ही हो सकते हैं। योगवाशिष्ठ में स्वप्नावस्था के विवरण में बताया गया है कि जब जीव धातु सुषुप्ति अवस्था में प्राणों के द्वारा क्षुब्ध होकर चित्त का आकार धारण कर लेती है तथा जिस प्रकार बीज के अपने भीतर वृक्ष का अनुभव करने की कल्पना की जा सकती है जो कि अव्यक्त रूप से उसमें विद्यमान है, उसी प्रकार वह अपने भीतर ही सारे जगत् को विस्तृत रूप से अनुभव करती है। इसके वायु के द्वारा क्षुब्ध होने पर व्यक्ति आकाश मे उड़ने का, जल से क्षुब्ध होने पर जल सम्बन्धी तथा पित्त से क्षुब्ध होने पर उष्णता सम्बन्धी स्वप्नों का अनुभव करता है। इस अवस्था में जीव को उसकी वासनाओं के अनुकूल स्वप्न दीखते हैं। बाह्य इन्द्रियों की क्रिया के बिना जो ज्ञान अन्दर के क्षुब्ध होने पर ही प्राप्त होता है, उसे स्वप्न कहते हैं।[1]

स्वप्नो में ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार बन्द रहता है। स्वप्नावस्था में भी जाग्रत् अवस्था के समान विषय रहते है। घोड़े, गाड़ी, रथ, तालाब, कुएँ, नदियाँ आदि बाह्य विषय विद्यमान न होते हुए भी व्यक्ति स्वतः इन सब विषयों का निर्माण कर लेता है। सुख-दुःख न होते हुए भी सुख-दुःख का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार से वही स्वयं समस्त विषयों का निर्माता है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।[2] जाग्रत अवस्था मे इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है। जाग्रत् अवस्था के समान ही उसको स्वप्न अवस्था में भी बिना वास्तविक विषयों तथा इन्द्रिय व्यापार के अनुभव प्राप्त होते है। यह आत्मा की अवस्था नहीं है। यह सूक्ष्म शरीर की अवस्था

---

१. यो० वा०—४।१९।२६ से ३३ तक।

२. बृ० उ०—४।३।१०, ११, १२, १३, १४

जाग्रत अवस्था चित्रण

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

स्वप्नावस्था चित्रण

सुषुप्ति अवस्था चित्रण

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

है। आत्मा तो इसका साक्षी है। मनुष्य थककर जब सोता है तो उसे जाग्रत् अवस्था का कोई अनुभव नहीं होता तथा वह स्वप्न जगत् में प्रवेश करता है जो कि जाग्रत् जगत से बिलकुल भिन्न है। इसमें स्थूल शरीर का व्यापार नहीं होता। स्वप्नावस्था मे उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि स्वप्नावस्था की सामग्री तथा स्वप्न जगत् का ज्ञान जाग्रन् अवस्था के समान नहीं है। यह तो प्रत्ययों की दुनिया है। इस अवस्था मे दिक् काल की व्यवस्था भी जाग्रत अवस्था के समान नहीं होती। स्वप्नावस्था मे दिक्, काल अतिशीघ्र परिवर्तित होते रहते है। अति अल्प काल में कार्य-कारण के बड़े से बड़े परिवर्तन उपस्थित हो जाते है। स्वप्न के व्यक्ति, विषय तथा सम्बन्ध भी अतिशीघ्र परिवर्तित होते रहते हैं। स्वप्न मे सूक्ष्म शरीर का ही व्यापार चलता रहता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार यह स्वप्नावस्था मानव की वासनाओं की तृप्ति कराने वाली अवस्था है। जाग्रत् अवस्था की बहुत-सी अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति इस स्वप्नावस्था मे हो जाती है। इस प्रकार से उनके अनुसार यह अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति का एक साधन है।

यह अवस्था सुषुप्ति अवस्था से भिन्न है। सुषुप्ति अवस्था मे तो चित्त तमस् रूपी अज्ञान मे लीन हो जाता है तथा उसमे अन्य किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रह जाता, किन्तु स्वप्न मे ऐसा नहीं होता। इसमे तो स्वतः निर्मित विषयों का ज्ञान होता है इस अवस्था मे जीवात्मा कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर से सीमित रहता है।

३—**सुषुप्ति :**—मानव चित्त की तृतीय अवस्था स्वप्नरहित गहरी निद्रा की अवस्था है। यह स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्था दोनों के विषयों से शून्य अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था मे कोई अनुभव नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। यह अवश्य है कि इसमे अनुभव, विषय रहित होता है। जागने पर हमे निद्रा की स्मृति होती है। इससे यह विदित होता है कि इस अवस्था मे भी कोई अनुभव कर्त्ता विद्यमान रहता है। निद्रा की स्मृति मे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अनुभव रहित अवस्था नहीं है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार निद्रा ज्ञान रहित अवस्था है। इसमें वृत्ति का अभाव होता है। क्योंकि इसमें मनस् और ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं रहती। इस सुषुप्ति अवस्था मे मन के पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करने के कारण उसका ज्ञानेन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता इसलिये यह अवस्था अनुभवरहित अवस्था हो जाती है। मन और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना ज्ञान सम्भव नहीं। अतः

इस अवस्था को न्याय-वैशेषिक ने वृत्तियों के अभाव की अवस्था माना है किन्तु योग इसको ज्ञानाभाव की अवस्था नहीं मानता।

योग के अनुसार निद्रा एक वृत्ति है। जिसमें अभाव का अनुभव प्राप्त होता है। योग तो स्वरूपावस्थिति को छोड़ कर सभी अवस्थाओं को वृत्ति मानता है। त्रिगुणात्मक चित्त जब तमोगुण प्रधान होता है तब सत्व और रजस् को अभिभूत कर सबको तमरूप अज्ञान से आवृत कर लेता है। ऐसी स्थिति में चित्त विषयाकार नहीं होता किन्तु अज्ञान रूपी तमोगुण की विषय करने वाली तमःप्रधान वृत्ति विद्यमान रहती है। इस तमःप्रधान वृत्ति को निद्रा कहते हैं।[1] इस अवस्था में रजोगुण के न्यूनमात्रा में रहने से अभाव की प्रतीति बनी रहती है। निद्रा की स्मृति "मैं बहुत सुख पूर्वक सोया" से स्पष्ट हो जाता है कि निद्रा एक वृत्ति है, वृत्ति का अभाव नहीं है। यह निश्चित है कि इसमें तमस् सत्व और रजस् को दबाकर स्वयं ही निरन्तर प्रवाहित रहता है। योग में निद्रा भी सात्विक, राजसिक और तामसिक रूप से तीन प्रकार की कही गई है। सात्विक निद्रा से उठने के उपरान्त सुख पूर्वक सोने की स्मृति होती है। राजसिक निद्रा से उठने के उपरान्त दुःख पूर्वक सोने को स्मृति होती है तथा तामसिक निद्रा से उठने के उपरान्त मूढ़ता पूर्वक सोने की स्मृति होती है। शरीर के अंग थके हुए तथा भारी प्रतीत होते हैं। निद्रा वृत्ति का प्रत्यक्ष न होकर स्मृति के द्वारा उसका ज्ञान होता है। निद्रा में निद्रा के अतिरिक्त और कोई वृत्ति न होते हुए भी इसे समाधि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह तामसिक है और समाधि सात्विक है। निद्रा चित्त की मूढ़ावस्था है। सुषुप्ति व्यष्टि चित्तों की अवस्था को कहते हैं। प्रलय समष्टि चित्त की सुषुप्ति अवस्था है। निद्रा तथा प्रलय दोनों में ही चित्त तमस् में लीन रहता है। दोनों अवस्थाओं के समाप्त होने पर जाग्रत् अवस्था पुनः पूर्ववत् उपस्थित हो जाती है।

श्री शंकराचार्यजी के अनुसार सुषुप्ति ज्ञान रहित अवस्था है। बुद्धि अपने कारण अविद्या में लीन हो जाती है। इसमे कोई भी वृत्ति वा परिणाम नहीं होता। इस अवस्था में स्थूल वा सूक्ष्म किसी भी शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं भासता है। जब तक चित्त अविद्या में लीन रहता है, उस काल तक धर्म-अधर्म सुख-दुःख प्रदान नहीं करते। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था की समस्त क्रियाएँ रुक जाती है। इस अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों की क्रियायें रुक जाती है। सुषुप्ति और कैवल्य दोनों में बहुत अन्तर है। मोक्ष तो पूर्ण रूपेण

१—हमारे इसी ग्रन्थ के ११ वें अध्याय को देखने का कष्ट करें।

अविद्या की समाप्ति से प्राप्त होता है किन्तु निद्रावस्था में उसका नाश नहीं होता। निद्रा समाप्त होने पर फिर उसी प्रकार से सब कार्य होने लगते हैं। वेदान्त के अनुसार सुषुप्ति अवस्था निर्विकल्प समाधि से भी भिन्न है। निर्विकल्प समाधि में चित्त निरन्तर ब्रह्म के आकारवाला होता रहता है, किन्तु निद्रा वृत्ति रहित अवस्था है। निद्रावस्था में अन्तःकरण अविद्या में लीन होने के कारण व्यापार रहित होता है। इस अवस्था में बाह्येन्द्रियाँ और अन्तःकरण जो कि जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में क्रियाशील रहते है, अविद्या में लीन हो जाते हैं; किन्तु अविद्या सुषुप्ति अवस्था में भी विद्यमान रहती है। उसका साक्षी आत्मा है। ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत करने पर भी वह आत्माको छुपा नहीं पाती। जिसके द्वारा इस का ( अविद्या ) ज्ञान प्राप्त होता है। साक्षी के बिना अविद्या, और आनन्द की भी स्मृति न हो सकती। अविद्या कारण शरीर है, जिसके द्वारा सुषुप्ति अवस्था में मन के अविद्या में लीन होने पर भी आत्मा को अनुभव प्राप्त होता है।

सुषुप्ति अवस्था को वेदान्त में बड़े सुन्दर दृष्टान्तों के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिनमें से एक दृष्टान्त यह है। बच्चा अपने साथियों के साथ खेलते-खेलते जब बहुत अधिक थक जाता है तो वह माता की गोद में सोकर सुख का अनुभव करता है। उसके बाद जब उसके साथी बच्चे उसे खेलने के लिए बाहर बुलाते है तो वह पुनः उनके साथ बाहर जाकर खेलता है। यहाँ पर इस दृष्टांत को सुषुप्ति अवस्था पर घटाया जा सकता है। बुद्धि रूपी बच्चा जब कर्मरूपी साथियों के साथ जाग्रत् स्वप्न रूप बाह्य अवस्थाओं मे व्यवहार रूप खेल खेलता है, उस समय विक्षेप रूप थकावट उपस्थित होने पर कारण शरीर ( अज्ञान ) रूप माता मे लीन होकर सुषुप्ति अवस्था रूप घर में ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। किन्तु जब कर्म रूप उसके साथी उसे बुलाते है तो फिर वह बाहर जाकर जाग्रत् स्वप्न रूप अवस्थाओं मे व्यवहाररूप खेल करने लगता है।

योगवाशिष्ठ में भी सुषुप्ति अवस्था को शरीर और मन के क्रिया रहित होने, हृदय-स्थित जीवधातु के क्षोभ रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित रहने, तथा प्राणों की क्रिया में समता आने को कहा गया है। वायु रहित स्थान में दीपक के शान्त रहने के समान सुषुप्ति अवस्था में जीव धातु भी शान्त रहती है। इस अवस्था मे जीव धातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर प्रवृत्त न होने से उसमे चेतना का अभाव रहता है तथा इसी कारण से वह बाहर की

ओर क्रियाशील नहीं होतीं। उस समय चेतना जीव में अव्यक्त रूपसे विद्यमान रहती है जिस प्रकार से तिलों में तेल, बरफ में शीतलता और घी में स्निग्धता विद्यमान रहती है। प्राणों की साम्य अवस्था तथा बाह्यज्ञान की उत्पत्ति के नष्ट होने पर जीव सुषुप्ति अवस्था का अनुभव करता है[१]।

माण्डुक्य उपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था को पूर्ण ब्रह्म के तृतीय पाद के रूप से वर्णित किया गया है। सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त पुरुष न तो किसी भोग की इच्छा ही करता है और न कोई स्वप्न ही देखता है। सुषुप्ति अवस्था के समान ही विश्व की प्रलय अवस्था है। विश्व की यह प्रलय अवस्था ही उसकी कारण अवस्था है जिसमें अव्यक्त रूप में समस्त विश्व विद्यमान है। इस कारण अवस्था में स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं का अभाव हो जाता है। यह कारण अवस्था पूर्ण ब्रह्म के तृतीय पाद प्राज्ञ का शरीर है। जो एक रूप है। ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता तथा चेतना रूप मुख वाला है[२]।

विश्व की इस कारण अवस्था (प्रलय-अवस्था) में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यह ब्रह्म का शरीर है। वेदान्तसार में इस कारण शरीर की आत्मा को जो कि प्रलय अवस्था में आनन्दमय कोष से आवृत है, ईश्वर कहा है और व्यक्ति को प्राज्ञ कहा गया है। ईश्वर चेतना से अविद्या का सम्बन्ध प्रलय अवस्था में होता है। इस प्रलय अवस्था को ही जो कि कारण शरीर कहा जाता है आनन्द मय कोष कहा गया है। यह कारण शरीर स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से रहित होता है। सुषुप्ति अवस्था का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् में भी किया गया है।

विभिन्न उपनिषदों में सुषुप्ति अवस्था के विभिन्न सिद्धांत बताये गये हैं बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि आकाश में उड़ने से बाज के थक जाने पर पंखों को फैलाकर घोंसले की ओर जाने के समान ही यह पुरुष सुषुप्तिस्थान की ओर दौड़ता है। जहाँ पर न तो कोई भोग की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न ही देखता है[३]। इस सुषुप्ति अवस्था में वह किसी विषय में कुछ नहीं जानता। यह सुषुप्ति अवस्था उसके पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करने पर उत्पन्न होती है। हृदय से निकल कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने

---

१. यो० वा०—४।१९।२० से २८ तक;

२. मा० उ०—आ० प्र० ५:

३. बृ० उ० ४।३।१९:

वाली हिता नाम की बहत्तर हजार नाड़ियाँ है। बुद्धि के साथ इन नाड़ियों मे से होकर पुरीतत् मे प्रवेश कर वह शरीर में बहुत आनन्द पूर्ण अवस्था मे बालक, महाराजा वा महान् ब्राह्मण के समान अवस्था को प्राप्त कर शयन करता है[1]। उपनिषदों के अनुसार गाढ़ निद्रा मे आत्मा ब्रह्म के आलिगन पाश मे पहुंचने के कारण सब प्रकार के ज्ञान से चेतना रहित हो जाती है।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार इन्द्रियों के मनमें लीन होने पर व्यक्ति सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त करता है। जिस प्रकार से सूर्यास्त के समय सूर्य की समस्त किरणें सूर्य मे लौटकर सूर्य के साथ एक रूप हो जाती है, ठीक उसी प्रकार से समस्त इन्द्रियाँ मनमें प्रवेश कर उसके साथ एक रूप हो जाती हैं। जिसके कारण इस अवस्थामें आत्मा न सुनता, न देखता, न सूँघता, न चखता, न स्पर्श करता, न बोलता, न ग्रहण करता, न चलता, न चेष्टा करता, न मलमूत्र विसर्जन करता तथा न सम्भोग करता है। अर्थात् इस अवस्था में इन्द्रियों के समस्त व्यापार रुक जाते है। यही सुप्तावस्था है। जागने पर क्रमशः समस्त इन्द्रियाँ मन से अलग होकर अपने-अपने कार्यो मे प्रवृत्त होती है जैसे सूर्य के निकलने पर उसकी किरणे पुनः सर्वत्र फैल जाती है[2]। जब मन ब्रह्मतेज से आक्रान्त हो जाता है तब वह कोई स्वप्न नहीं देखता है तथा उस समय वह गाढ निद्रा वा आनन्द पूर्ण अवस्था को प्राप्त करता है[3]।

छान्दोग्य उपनिषद मे भी सुषुप्ति अवस्था का कारण, आत्मा का नाड़ी मे प्रविष्ट होना बताया गया है। इस अवस्था में वह सुखी होता तथा कोई भी स्वप्न नहीं देखता। दूसरे स्थल पर मन के प्राण मे लीन होने से सुषुप्ति अवस्था के प्राप्त होने का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थल पर सुषुप्ति अवस्था को आत्मा के ब्रह्म से मिलने का कारण बताया गया है। इस प्रकार से उपनिषदों मे सुषुप्ति अवस्था के विषय मे अनेक सिद्धांत है।

यह अवस्था आत्मा की नहीं है। आत्मा तो इस सुषुप्ति वा प्रलय अवस्था का साक्षी है।

**४—तुर्या अवस्था** :—उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं के अनुभवों से इस चौथी अवस्था का अनुभव नितान्त भिन्न है। यह अवस्था इन तीनों अवस्थाओं से अति उत्कृष्ट अवस्था है। जिसको प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त नहीं करता। अन्य

---

१. बृ० उ० २।१।१९;
२. प्र० उ० ४।२;
३. प्र० उ० ४।६;

तीनों अवस्थायें तो सर्व-साधारण व्यक्तियों की अवस्थायें हैं। उच्च समाधि अवस्था में बिना विषय तथा विचार के परमानन्द प्राप्त होता है। यह विषय तथा विचार रहित अवस्था है। यह दिक्, काल, एकत्व, बहुत्व, द्वैत आदि सब से परे की अवस्था है। यह शुद्ध चेतन अवस्था है जो स्वयं आनन्दपूर्ण अवस्था में प्रकाशित होती रहती है। यह अनन्तता, पूर्णता, पूर्ण सन्तोष तथा अनिर्वचनीय सुख की अवस्था है। इस अवस्था में जीव ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करता है। उसका लगाव स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरों से नहीं रह जाता। इसमें आत्मा अपने विशुद्ध रूप में रहती है। वह स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करती है जो कि उसका अन्तिम लक्ष्य है। इस अवस्था में जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह सार्वभौमिक आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। इस अवस्था में उसका तादात्म्य जाग्रत् अवस्था के समान स्थूल शरीर से नहीं रह जाता और न स्वप्नावस्था की तरह सूक्ष्म शरीर से ही रहता है। यही नहीं उसका तादात्म्य सुषुप्ति अवस्था के समान कारण शरीर से भी नहीं रह जाता। ये सब तीनों अवस्थाओं में होने वाले तादात्म्य अज्ञान के कारण होते हैं। तुर्या अवस्था मे अहंकार और अस्मिता दोनों ही समाप्त हो जाती हैं। यह अवस्था विशुद्ध असीमित चेतन अवस्था है। इसमे इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष न होने के कारण यह विषय ज्ञान रहित अवस्था है। न तो यह निद्रा के समान अचेतनता की अवस्था है और न इसमे किसी कल्पना का ही उदय होता है। इसमें बाह्य भौतिक जगत् का कोई अनुभव नहीं होता। इस अवस्था मे मन मे कोई चाञ्चल्य नहीं रह जाता अर्थात् मन संकल्प-विकल्प रहित हो जाता है। योगवासिष्ठ में इस अवस्था का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन मिलता है। अहंभाव तथा अनहंभाव, सत्ता तथा असत्ता इन दोनों से रहित असक्त, सम और शुद्ध स्थिति को तुर्या अवस्था कहते हैं। अहंकार का त्याग, समता की प्राप्ति तथा चित्त की शान्ति होने पर ही तुर्या अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था में जगत् का अनुभव शान्त और लीन हो जाता है[१]।

पातञ्जल-योग दर्शन में समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार की होती है। सम्प्रज्ञात समाधि स्वयं भी वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार की होती है, जिसका विशद विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रथम अवस्था वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि मे, अपनी रुचि के स्थूल विषय पर चित्त को एकाग्र करने से

---

१. यो० वा०—६। १२४।२३, २४, २५, २६, २७ और ३६।

## तुरीय अवस्था चित्रण

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त
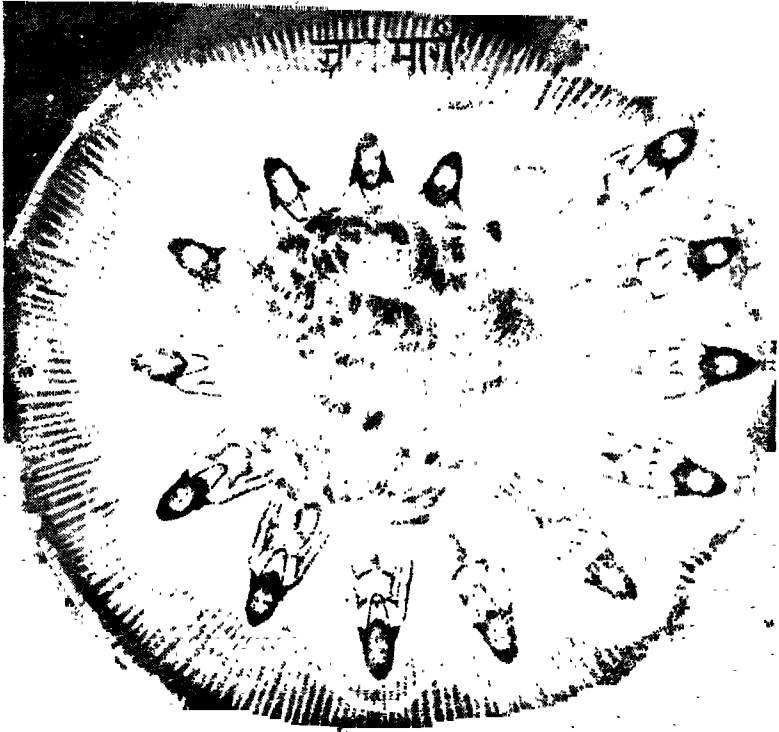
प्राप्त होती है। एकाग्रता का अभ्यास बढ़ने पर जब चित्त सूक्ष्म विषयों तथा सूक्ष्म इन्द्रियों पर पहुँच जाता है तो वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में साधक को सूक्ष्म विषय तथा सूक्ष्म इन्द्रियों का संशय विपर्यय रहित प्रत्यक्ष होता है। अभ्यास चलते रहने पर साधक सात्विक अहंकार का साक्षात्कार करता है। इस अवस्था को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके बाद अभ्यास के द्वारा पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त का संशय, विपर्यय रहित साक्षात्कार प्राप्त होता है। इस अवस्था को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था कहते है। इस अवस्था के बाद अभ्यास के द्वारा विवेक ज्ञान प्राप्त होता है जिसके दृढ होने पर धर्ममेघ समाधि की अवस्था आती है। इस अवस्था की निवृत्ति भी पर वैराग्य के द्वारा हो जाती है। तब वास्तविक समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इसे योग में असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। इस अवस्था मे समस्त चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

वेदान्त के अनुसार निर्विकल्प समाधि अवस्था मे परम सत्ता, परब्रह्म ही केवल विद्यमान रहता है। सब कुछ विशुद्ध चेतना मात्र में परिवर्तित हो जाता है। इस समाधि अवस्था मे मुक्तावस्था के समान अविद्या और संस्कारों का पूर्ण रूप से नाश नहीं होता। इस समाधि अवस्था में स्थायित्व न होने के कारण यह मुक्तावस्था से भिन्न है। समाधि अवस्था से व्यक्ति फिर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में आ जाता है। जीवन्मुक्तावस्था से भी यह भिन्न है क्योंकि जीवनमुक्तावस्था में व्यक्ति के प्रपञ्चात्मक जगत् मे रहते हुए भी ब्रह्म से तादात्म्य वा एकता निरन्तर बनी रहती है। सविकल्प समाधि में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इनका भेद विद्यमान रहता है जो कि निर्विकल्प समाधि मे नहीं रह जाता। निर्विकल्प समाधि के निरन्तर अभ्यास मे साधक स्वरूपावस्थिति प्राप्त कर लेता है। माण्डूक्य उपनिषद् मे भी ब्रह्म के इस चतुर्थ अवस्था का वर्णन किया गया है। इस चतुर्थ अवस्था मे निर्गुण आकार रहित ब्रह्म को परब्रह्म का चतुर्थ पाद कहा गया है। इसके स्वरूप के विषय मे बताते हुए ये कहा गया है कि न तो यह अन्दर से जाना जा सकता है न यह बाहर से जाना जा सकता है, तथा यह अन्दर और बाहर दोनों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। यह ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञेय-अज्ञेय दोनों नहीं है। यह न देखा जा सकता है, न इसका व्यवहार किया जा सकता है, न यह ग्राह्य है। यह अचिन्त्य है तथा अवर्णनीय है। इसकी सिद्धि केवल आत्म साक्षात्कार के द्वारा होती है। इसकी

प्रपञ्चात्मक सत्ता नहीं है। यह शान्त, शिव, तथा अद्वैत रूप है। यह परब्रह्म का चतुर्थ पाद है, जिसका साक्षात्कार करना चाहिए।[1]

तुरीय आत्मा समस्त दुःखों के निवारण करने की शक्ति रखती है। यह अद्वैत, व्यापक, परिवर्तन रहित है। ब्रह्म के विश्व और तैजस रूप कार्य-कारण नियमों से बद्ध हैं। प्राज्ञ कारण अवस्था मे सीमित है। तुरीय अवस्था में इन दोनों का अभाव है। तुरीय आत्मा स्वतन्त्र है। प्राज्ञ और तुरीय दोनों ही अद्वैत होते हुए भी प्राज्ञ मे अविद्या बीज रूप से विद्यमान रहती है किन्तु वह (अविद्या) तुरीय मे विद्यमान नहीं रहती। विश्व और तैजस में स्वप्न रहित सुषुप्ति है। तुरीय आत्मा स्वप्न और सुषुप्ति दोनों से रहित है। स्वप्न का कारण भ्रान्तिपूर्ण लगाव तथा निद्रा का कारण अज्ञान है। इन दोनों के परे की अवस्था तुरीय अवस्था है जिसमें जीव अनादि माया की परिधि से निकलकर अद्वैत रूप अजन्मा, सुषुप्ति रहित, स्वप्न रहित आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। यही आत्म-साक्षात्कार की उच्चतम अवस्था तुरीय अवस्था है जिसमें ब्रह्म निर्गुण तथा आनन्दरूप से विद्यमान रहता है। सच तो यह है कि ब्रह्म के ये विभाग केवल समझाने के लिए किये गये है। ब्रह्म का कोई विभाजन नहीं हो सकता वह तो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण जगत् मे व्याप्त है तथा इन तीनों जगत् का नियन्त्रण कर्त्ता है। वह सर्वशक्तिमान, निर्गुण और सगुण दोनों है। वह बुद्धि के परे हैं। वेदान्त के अनुसार इस समाधि अवस्था मे जीव की ब्रह्म से एकता स्थापित होती है तथा निर्गुण ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। तुरीय अवस्था मे आत्मा अपने विशुद्ध रूप मे रहती है। समस्त जगत् का कारण आत्मा या ब्रह्म ही है। यह तुरीय अवस्था भेद रहित अवस्था है। इस अवस्था मे सब कुछ चेतन में ही लीन हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है।

**मूर्च्छा तथा मृत्यु अवस्था**—इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त मूर्च्छा और मृत्यु ये दो अवस्थायें भी हैं। मूर्च्छा स्वप्न और जाग्रत् अवस्था से भिन्न है, क्योंकि मूर्च्छावस्था ज्ञान शून्य अवस्था है। मूर्च्छावस्था सुषुप्ति अवस्था से भी भिन्न है। क्योंकि मूर्च्छावस्था मे अनियमित श्वास-प्रश्वास क्रिया का चलना तथा आँखों का डरावना रूप हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था इन सबसे रहित है। सुषुप्ति अवस्था से व्यक्ति को जाग्रत् अवस्था मे लाया जा सकता है किन्तु मूर्च्छावाले व्यक्ति को प्रयत्न करके भी चेतन अवस्था में नहीं लाया जा सकता। निद्रा थकान के द्वारा आती है किन्तु मूर्च्छा कठोर आघात आदि से उत्पन्न होती

---

१—मा० उ०—आ० प्र०।७ ( तुरीय का स्वरूप )

है। अतः मूर्च्छावस्था निद्रा अवस्था से भिन्न है। योग का, इसको निद्रा अवस्था के अन्तर्गत मानना उचित प्रतीत नहीं होता। मूर्च्छा अवस्था में मृत्यु की तरह से पूर्ण रूप से शरीर के समस्त व्यापार भी समाप्त नहीं होते अतः यह मृत्यु अवस्था भी नहीं है। मृत्यु अवस्था जीव की वह अवस्था है जिसमें जब तक जीव अन्य नवीन स्थूल शरीर को धारण नहीं करता तब तक स्थूल शरीर के समस्त व्यापार बन्द रहते है।

इन सब अवस्थाओं का ज्ञान आत्मा को रहता है। आत्मा ज्ञाता के रूप मे इन सब अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। वह इन सब अवस्थाओं से परे है। वह सुख-दुःख जरा मृत्यु सब से परे है।

# अध्याय २२

## व्यक्तित्व[1]

व्यक्तित्व शब्द सामान्यरूप से विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक ढाँचे के ऊपर व्यक्तित्व का विभाजन किया है। कुछ ने स्वभाव तथा व्यवहार के ऊपर व्यक्तित्व का विभाजन किया है। जुंग साहब ने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के ऊपर व्यक्तित्व का विभाजन किया है। व्यक्तित्व एक ऐसा विषय है कि जिस विषय में अनन्त दृष्टिकोण हो सकते है तथा हर दृष्टिकोण से कुछ न कुछ कहा जा सकता है, किन्तु व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करनेवाली परिभाषा मनोवैज्ञानिकों के द्वारा इसके अध्ययन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अभी तक नहीं दी जा सकी हैं। क्योंकि व्यक्तित्व शब्द के अन्तर्गत अनन्त विशिष्ट गुणों, व्यवहारों आदि का अनन्त प्रकार से समन्वय निहित है। इसका कोई एक विशिष्ठ स्थायी रूप नहीं हो सकता क्योंकि इसमें अनन्त प्रकार के परिवर्तन निरन्तर उदय होते रहते हैं। इस शब्द का सम्बन्ध व्यक्ति के वाह्य जगत् से अनन्त प्रकार के समायोजन से भी है। बिना वाह्य जगत् के समायोजन के व्यक्तित्व का ज्ञान ही असम्भव हो जाता है। इसके अन्तर्गत आध्यात्मिक, मानसिक तथा दैहिक गुणों के समन्वय का परिवर्तन शील रूप उपस्थित हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान अभी तक व्यक्तित्व को इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये इतने अथक परिश्रम के उपरान्त भी पूर्ण रूप से ठीक ठीक नहीं समझा पाया है। इतना ही नहीं इसके विषय में मनोवैज्ञानिकों का पारस्परिक मतभेद भी है। व्यक्तित्व के विषय में बड़ी विचित्रता यह है कि निरन्तर परिवर्तनशील होते हुए भी इसमें साथ-साथ स्थायित्व भी है। व्यक्ति में अनेक परिवर्तन होते रहने पर भी वह बदलता नहीं हम उसे अन्य नहीं समझते। पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान का आधार ठीक न होने के कारण उसका यह ज्ञान भी अन्य ज्ञानों के समान ही अधूरा है। आधुनिक मनोविज्ञान ठीक-ठीक यह नहीं बता सकता कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न क्यों है? वह अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व क्यों रखता है? भौतिकवाद के ऊपर आधारित

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए हमारा 'भारतीय मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

मनोविज्ञान व्यक्तित्व के विषय मे बहुत से प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता। उसके अनुसार तो मृत्यु के साथ-साथ व्यक्ति और व्यक्तित्व दोनों समाप्त हो जाते हैं। किन्तु अनेक ऐसे तथ्य तथा अनुभव प्राप्त हुये है जिनसे यह कथन असत्य सिद्ध होता है। मृत्यु व्यक्तित्व का अन्त नहीं कर पाती। स्थूल शरीर समाप्त हो जाता है किन्तु समस्त संस्कारों और वासनाओं सहित सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है जो मरने के उपरान्त भी दूसरों को प्रभावित करता रहता है। इसके अतिरिक्त वैसे भी यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि बहुत से महान् पुरुषों के मरने के बाद आज भी संसार उनसे प्रभावित है। राम, कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद साहब, गुरुनानक आदि अनेक महान व्यक्ति मर चुके है किन्तु उनका व्यक्तित्व आज भी विद्यमान है। उनके व्यक्तित्व से समाज आज भी प्रभावित हो रहा है। इस प्रकार इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व मरने पर भी समाप्त नहीं होता। इस रूप से व्यक्तित्व को हम किसी विशिष्ट परिभाषा की परिधि मे बाँधना उचित नहीं समझते। तथ्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती। आज पर-मनोविज्ञान के अन्तर्गत अनुसन्धानो के द्वारा जो प्राप्त हुआ है उससे यह निश्चित हो जाता है कि मृत आत्मा किस प्रकार से इस संसार के व्यक्तियों पर अपना अनुभव डालती है।[1] हेरवार्ड कैरिंगटन (Hereward Carrington) ने जिसने कि इस अध्ययन मे अपना सारा जीवन लगाया, मृत्यूपरान्त व्यक्तित्व को विद्यमान सिद्ध किया है।[2] मृत्यु के उपरान्त अगर आप व्यक्तित्व को समाप्त मानते है तो फिर व्यक्तित्व शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तथा इन्द्रिय जन्य विषयों की ही सत्ता है। इस भौतिकवाद के आधार पर इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही ज्ञान है, इसके अनुसार जब हम स्थूल शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाते तो शरीर से अलग व्यक्तित्व है ही नहीं। इन लोगों की यह धारणा है कि व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले अन्य तत्व जो कि भौतिक शरीर से अलग प्रतीत होते है मस्तिष्क के द्वारा पैदा होते है जो कि शरीर का अङ्ग है। स्थूल शरीर को ही व्यक्तित्व मानना तथा यह कहना कि स्थूल शरीर के नष्ट होने पर व्यक्तित्व भी समाप्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से यह कथन कि बिजली के बल्ब फूट जाने वा फ्यूज हो जाने पर बिजली ही नहीं रह जाती तथा उस बल्ब के स्थल पर कोई भी बल्ब नहीं जल सकता। व्यक्तित्व की इस प्रकार की धारणा मूर्खता पूर्ण धारणा है। इस मूर्खता

1. *Para Psychology* by Dr. Atreya, Chapter VI

2. *The Story of Psychic Science;* Page No. 323, 324,282,425.

पूर्ण धारणा का आधार भौतिकवाद है, जिसके अनुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थों के अतिरिक्त किसी और पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। यही भारतीय मनोविज्ञान का पाश्चात्य मनोविज्ञान से पार्थक्य है। जिन सत्ताओं का इन्द्रियों के द्वारा साक्षात्कार नहीं हो पाता उनकी सत्ता अपेक्षाकृत अधिक स्थाई है। सत्ता और अनुभव का क्षेत्र इन्द्रिय जन्य ज्ञान के क्षेत्र से कहीं अधिक है: मृत्यु के उपरान्त व्यक्तित्व विद्यमान रहता है इसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती इसको आधुनिक वैज्ञानिक भी मानने लगे है।[१]

सांख्य योग के अनुसार आत्मा समस्त वासनाओं सहित सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर मिलकर व्यक्ति कहलाता है। अतः व्यक्ति से केवल स्थूल शरीर का ही सम्बन्ध नहीं है बल्कि सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा का भी सम्बन्ध है। साँख्य मे आत्मा मुक्त और बद्ध के भेद से दो प्रकार की होती है। मुक्त आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप है। जिसका अन्य किसी तत्व से सम्बन्ध नहीं है। बद्ध जीव शरीर से बँधा हुआ प्रतीत होता है। शरीर भी सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो प्रकार के होते हैं। स्थूल शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच तत्वों से निर्मित है। जिसमें पृथ्वी तत्व मुख्य है। यह स्थूल शरीर मृत्यु काल तक रहता है किन्तु सूक्ष्म शरीर जीव के साथ तब तक सम्बन्धित रहता है तब तक कि उसको मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता। सांख्य के अनुसार लिङ्ग, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा निर्मित है। सांख्य अधिष्ठान शरीर को भी मानता है जो कि पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न सूक्ष्म तत्वों से निर्मित है। यह अधिष्ठान लिंग शरीर का आधार है। विज्ञानभिक्षु ने इकतालिसवीं कारिका के आधार पर इसे सिद्ध किया है। लिंग शरीर बिना आधार के जब नहीं रह सकता तो स्थूल शरीर के न रहने पर भी अधिष्ठान शरीर ही लिंग शरीर का आधार रूप होता है। कारिका के अनुसार जिस प्रकार से बिना आधार के चित्त नहीं रह सकता या बिना किसी पदार्थ के छाया नहीं रह सकती ठीक उसी प्रकार से लिंग शरीर भी बिना विशेष के नहीं रह सकता। पंचभूतों को ही विशेष कहा गया है। पंचतन्मात्राएँ प्रविशेष है।[२] सूक्ष्म भूत भी विशेष ही है।

---

1. *Lodge—The Survival of Man* Page No. 221 ; Osborn :—The *Superphysical*, 1958 Page 250 ; Sir A. Conon Doyle : *Survival* Page. 104.

२. सां० का०—३९;

इन उपर्युक्त शरीरों में से स्थूल शरीर तो मृत्यु के समय समाप्त हो जाता है; उसके पाँचों तत्व विश्व के पाँचों तत्वों में मिल जाते हैं। किन्तु सूक्ष्म शरीर मृत्यु पर समाप्त नहीं होता। स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा लिंग तथा अधिष्ठान शरीर सहित स्थूल शरीर को छोड़ देती है। इसलिये सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर की अपेक्षा स्थाई है किन्तु नित्य नहीं है क्योंकि मोक्ष के उपरान्त नहीं रह जाता है। अगर यह नित्य हो तो आत्मा मुक्त नहीं हो सकती। लिंग शरीर तथा अधिष्ठान शरीर के साथ आत्मा स्थूल शरीर के नष्ट होने पर उसे छोड़कर दूसरी दुनिया में विचरण करती है। इसीलिये इसे आतिवाहिक शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर का कारण सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के साथ संस्कार रुप से अनेक जन्मों के कर्माशय विद्यमान रहते हैं।[1] ये धर्म-अधर्म रुप कर्माशय, मन, बुद्धि, अहंकार ( अन्तःकरण ) से जिन्हें योग में चित्त कहा गया है, सम्बन्धित हैं। सूक्ष्म शरीर की गति में कोई भी रुकावट उपस्थित नहीं हो सकती। सूक्ष्म शरीर कहीं भी प्रवेश कर सकता है, तथा वह समस्त स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है।[2] सूक्ष्म शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति की अभिव्यक्ति के प्रारम्भ में ही उत्पन्न हो जाता है तथा महाप्रलय अवस्था तक स्थाई रुप से परिवर्तनशील जगत् के साथ विद्यमान रहता है। महाप्रलय काल में भी यह बीज रुप से प्रकृति में विद्यमान रहता है तथा सृष्टि काल में पुनः आत्मा से सम्बन्धित होकर धर्म अधर्म रुपी कर्मों का भोग भोगता रहता है। भोगों को भोगने के लिये इसे स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये यह कर्मों का फल भोगने के लिये एक शरीर से दूसरे शरीर को बदलता रहता है। कर्मों का फल भोगने के लिये ही आत्मा सहित सूक्ष्म शरीर उपयुक्त स्थूल शरीरों को धारण करता रहता है।

निष्क्रिय अपरिणामी पुरुष का प्रकृति के इस विकार से कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह अज्ञान के कारण इनसे संबन्धित रहता है। पुरुप के बद्ध होने का कारण अज्ञान ही है अतः व्यक्तित्व से अज्ञान को अलग नहीं किया जा सकता। जब तक अज्ञान समाप्त नहीं होता तब तक आत्मा सन्निकर्ष दोप के कारण अपने को त्रिगुणात्मक आदि समझता हुआ बद्ध बना रहता है। योग के अनुसार अनन्त आत्मायें हैं और उन अनन्त आत्माओं के साथ वासनाओं सहित अनन्त सूक्ष्म शरीर लगे हुये हैं। इस रुप से व्यक्तित्व की समाप्ति मोक्ष से पूर्व हो ही नहीं सकती। क्योंकि प्रलय कालीन अवस्था में भी व्यक्तित्व अव्यक्त रूप से अर्थात् सुप्तावस्था

---

१. इसी ग्रन्थ, "योग मनोविज्ञान", के सोलहवें अध्याय को देखने का कष्ट करें।

२. सां का०—४०;

योग० १९

को प्राप्त होकर विद्यमान रहता है जो कि सृष्टि काल में पुनः जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है। जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होकर वह गत्यात्मक रूप धारण कर लेता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त बद्ध जीव त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्बन्धित होने तथा इन तीनों गुणों के विषम अनुपात के कारण भिन्न भिन्न व्यक्तित्व वाले होते है। यही नहीं बल्कि कर्माशयों की भिन्नता के कारण भी व्यक्तित्व में भिन्नता हो जाती है। कोई भी दो जीव समान व्यक्तित्व वाले नहीं हैं। उनकी वासनाओं तथा अनादि काल के अनन्त जन्मों के संस्कारों में भिन्नता होने के कारण वे सब ही भिन्न भिन्न व्यक्तित्व वाले होते हैं। उनका यह व्यक्तित्व निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण मुक्तावस्था काल तक स्थाई होते हुए भी गत्यात्मक हैं।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों मे व्यक्तित्व को वंशपरम्परा तथा वातावरण के द्वारा प्रभावित होने वाला बताया है। इसमें कुछ विद्वान् वंश-परम्परा को ही व्यक्तित्व का प्रधान निर्धारक मानते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियों में विभिन्नता वंशपरम्परा के कारण है। इसके अतिरिक्त वाट्सन ( Watson ) जैसे व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वातावरण को ही व्यक्तित्व का प्रधान निर्धारक मानते हैं। वर्तमान कालीन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वंशपरम्परा और वातावरण ये दोनों ही व्यक्तित्व के निर्धारक है।

साँख्य-योग के अनुसार व्यक्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है। उसमें कर्मानुसार परिवर्तन होता चलता है। उन कर्मों के अनुसार ही चित्त पर संस्कार अंकित होते है जो कि कुछ तो संस्कार रूप से पड़े रहते है तथा कुछ कर्म मृत्यु के समय प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं। उन प्रधानता प्राप्त प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति नवीन शरीर धारण करता है। इस प्रकार से प्रारब्ध कर्मानुसार व्यक्ति जन्म लेता है तथा विशिष्ट भोगों को भोगने के उपयुक्त शरीर को ही वह ग्रहण करता है। इस प्रकार से उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन पूर्व जन्मों से ही बहुत कुछ निर्धारित हो जाता है। व्यक्ति प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये ही विशिष्ट माता पिता के रजवीर्य के संयोग से एक विशिष्ट घर में जन्म लेता है। उसको कर्मों को भोगने के अनुरूप ही माता पिता, शरीर की बनावट, घर आदि प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से धर्म अधर्म रूप कर्माशय के द्वारा जाति आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है जिसके द्वारा वह अनेक प्रकार के कर्म स्वतन्त्र रूप से भी करता है। इन क्रियमाण कर्मों में से कुछ कर्म प्रारब्ध

कर्मों से मिश्रित होकर इसी जन्म में फल प्रदान करते हैं, तथा कुछ क्रियमाण कर्म अनेक पूर्व जन्मों के संचित कर्मों में मिल जाते है। इस रूप से हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का अपनी इच्छानुसार विकास कर सकता है। वह क्रियमाण कर्मों के द्वारा अपने व्यक्तित्व मे परिवर्तन लाताहै। शरीर का ढाँचा, रूप-रंग पारिवारिक परिस्थिति, सामाजिक सम्बन्ध तथा आर्थिक अवस्था आदि पाश्चात्य आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा कहे गये व्यक्तित्व के समस्त निर्धारिकों को व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से वदल सकता है। वर्तमान जीवन में ही उनमें व्यक्ति स्वयं बहुत कुछ परिवर्तन लाता है। अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की क्रियाशीलता तक में व्यक्ति अपनी इच्छा से परिवर्तन ला सकता है। इस तरह से उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व व्यक्ति के द्वारा ही अनन्त जन्मों के कर्मों के द्वारा परिवर्तित होता आ रहा है तथा इस परिवर्तन में इस जन्म के कर्मों का भी हाथ है।

सांख्य-योग के अनुसार व्यक्तित्व को विकसित करने के लिये विशिष्ट प्रकार के मार्ग है। विकास की चरम अवस्था कैवल्यावस्था है। पुरुषों की संख्या अनन्त होने के कारण अगर ठीक ठीक विचार किया जाय तो कैवल्य प्राप्त हो जाने पर भी उनके भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रह जाने चाहिए। एक बात अवश्य है कि कैवल्य अवस्था में प्रकृति का सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है किन्तु पुरुष की अनेकता के कारण हर पुरुष मुक्तावस्था में भी दूसरे पुरुषों से भिन्न ही होगा। वेदान्त के अनुसार मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने पर जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। उस स्थिति में उसका अलग अस्तित्व समाप्त हो जाता है जब कि सांख्य-योग में उसका अलग अस्तित्व बना रहता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व निरन्तर परिवर्तित होते रहने पर भी जब तक वह मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वेदान्त, सांख्य, योग सभी मतों से व्यक्ति का एक विशिष्ट स्थाई व्यक्तित्व बना रहता है। इसमें आत्मायें अलग अलग विशिष्ट सूक्ष्म शरीरों से सम्बन्धित रहती हैं जो सम्बन्ध मोक्ष प्राप्त होने पर ही समाप्त होता है। इन सूक्ष्म शरीरों के साथ धर्माधर्म रूपी कर्माशय भी रहते है। इस प्रकार से आत्मा, समस्त संस्कारों सहित सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर सब एक विशिष्ट प्रकार से मिलकर व्यक्तित्व कहलाते हैं। आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर का यह सम्बन्ध अज्ञान के कारण है। इस अज्ञान की समाप्ति के बिना इससे छुटकारा नहीं मिलता।

सूक्ष्म शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण त्रिगुणात्मक है। इन त्रिगुणों के विभिन्न अनुपातों के अनुसार ही विभिन्न व्यक्तित्व होते है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के विभाजन विभिन्न दृष्टि कोणों से विभिन्न प्रकार के किये हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने स्वभाव के आधार पर व्यक्तित्व को प्रफुल्ल, उदास, क्रोधी तथा चंचल भेद से चार प्रकार का बताया है। युँग साहब ने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो प्रकार के व्यक्तित्वों का विवेचन किया है। इस अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व के अध्ययन करने पर पता लगा है कि अधिकतर व्यक्ति न तो पूर्णतया अन्तर्मुखी ही होते हैं और न पूर्णतया बहिर्मुखी ही होते है। जिनमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों प्रकार की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं उन्हें उभयमुखी व्यक्तित्व वाला कहते हैं। क्रेस्मेर ( Kretschmer ) ने शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तियों के साइक्लोयड ( Cycloid ), सिजोयड (Schizoid) दो विभाग किये हैं। जिनमें से प्रथम मोटे, तथा दूसरे दुबले पतले और लम्बे होते हैं। पहले मिलनसार बहिर्मुखी प्रवृत्ति के प्रसन्न चित्त, दूसरे भावुक संकोचशील एकान्त प्रिय होते हैं। क्रेस्मर ( Kretschmer ) ने इनको एक दूसरे प्रकार से भी विभाजित किया है। जिनको अस्थेनिक ( Asthenic ) ऐथेलेटिक ( Athletic ) पिकनिक (Pyknic) तथा डिसप्लास्टिक (Dyeplastic) नास से सम्बोधित किया है। पहले दुबले पतले, दूसरे सुडौल सुगठित शरीर वाले, तीसरे मोटे तोंद वाले, तथा चौथे इन तीनों से भिन्न होते हैं। पहले भावुक, शान्त, एकान्त प्रिय और बौद्धिक होते हैं। दूसरे समाज में व्यवहार कुशल क्रियाशील व्यक्ति होते हैं। तीसरे प्रसन्न मन तथा मिलनसार होते है। शेल्डन (Sheldon) ने शारीरिक बनावट के आधार पर एन्डोमारफिक ( Endomorphic ), मेसोमारफिक ( Mesomorphic ) तथा ऐक्टोमारफिक (Ectomorphic) ये तीन भेद किये है। पहले मोटे, दूसरे कड़े और भारी शरीर के, तथा तीसरे लम्बी और कोमल हड्डियों वाले व्यक्ति होते हैं। कैटेल ( Cattell ) बर्नन (Vernon) आदि मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का लक्षणों (traits) के आधार पर विभजन किया है तथा कैटेल (Cattell) १६ मूल गुण (source traits) माने हैं।

भारतीय शास्त्रों में भी व्यक्तित्व के विभाजन बहुत प्रकार से किये गये हैं। आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ के आधार पर, वात प्रधान, पित्त प्रधान तथा कफ प्रधान तीन प्रकार के व्यक्ति बताये गये हैं। आयुर्वेद के हिसाब से भी व्यक्तियों को केवल इन तीन विभागों में ही विभक्त नहीं किया गया है बल्कि वात, पित्त, कफ के न्यूनाधिक अनुपात के अनुसार उनके अनेक भेद हो जाते हैं जिसके अनुसार उनका स्वास्थ्य, बनावट, स्वभाव तथा व्यवहार होता है।

योग में चित्त के आधार पर व्यक्तित्व का विभाजन प्राप्त होता है। क्षिप्त,

मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध के भेद से पाँच प्रकार के चित्त के अनुसार पाँच ही प्रकार के व्यक्ति भी बताये गये हैं। जिनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।[1]

व्यक्तित्व का विभाजन कर्मों के आधार पर भी किया गया है। शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण तथा अशुक्लअकृष्ण इन चार प्रकार के कर्मों के आधार पर चार प्रकार का व्यक्तित्व होता है जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।[2] बद्ध तथा मुक्त पुरुष के भेद से भी व्यक्तियों का विभाजन किया जा सकता है। बद्ध पुरुषों की तो विकास के अनुसार अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। मुक्त पुरुषों की दो श्रेणियाँ होती हैं, एक जीवन्मुक्त, दूसरा विदेहमुक्त, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। शास्त्रों में स्वभाव, प्रकृति और कर्म के भेद से व्यक्तियों का विभाजन जाति के रूप से किया गया है। यह जाति विभाजन सचमुच में व्यक्तित्व विभाजन है। एक विशिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व एक विशिष्ट जाति के सदस्यों का होता है। उस जाति विशेष के व्यक्तियों की प्रवृत्ति स्वभाव तथा कर्म सामान्यतः निश्चित प्रकार के होते हैं। इस बात को दृष्टि में रखने के कारण ही जाति विशेष में पैदा होने वाला व्यक्ति अपने स्वभाव, प्रकृति और कर्मों के अनुसार अन्य जाति का हो जाता था जिसके अनेक उदाहरण हमारे धर्म ग्रन्थों में मिलते हैं। वसिष्ठ, वाल्मीकि, पराशर, व्यास आदि अन्य जाति में जन्म लेकर भी ब्राह्मण हुए। इस प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के रूप से भी व्यक्तित्व के चार विभाजन हो जाते हैं जिनके स्वभाव, प्रकृति, कर्म उन्हे एक दूसरे से अलग करते है।[3] ब्राह्मण 'स्वभाव' से ही सात्विक होता है। सत्य, अहिंसा, क्षमा, सन्तोष, परोपकार, सुशीलता, तथा उदारता आदि उसकी प्रकृति में निहित है। क्षत्रिय राजसिक स्वभाव का होता है। उसमें प्रभुत्व की आकाँक्षा होती है। वह शासन करने का इच्छुक रहता है। युद्ध में उसकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये इस प्रकार के प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को शासन भार तथा समाज रक्षा का कार्य दिया जाता है। ब्राह्मण के स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप ही उन्हे कार्य भी सौंपा गया। वैश्य प्रवृत्ति के व्यक्तियों में धनोपार्जन तथा संग्रह की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। इनका भौतिकवादी दृष्टिकोण होता है। ये अधिक से अधिक विषय भोग के पदार्थों का संग्रह करने में रत रहते हैं। इसीलिये इन राजस तामस व्यक्तियों को समाज में धनोपार्जन,

---

१. इसी पुस्तक "योग मनोविज्ञान" के पन्दहवें अध्याय को देखने का कष्ट करें।

२. इसी पुस्तक "योग मनोविज्ञान" का १७ वाँ अध्याय देखने का कष्ट करें।

३. गीता—४।१३; १८।४१ से ४५ तक।

कृषि कार्य, व्यापार तथा पशुपालन आदि कार्य सोंपा गया। चौथे शूद्र जाति के तामस प्रधान व्यक्ति होते हैं जो आलस्य निद्रा, लोभ, भय, मोह आदि में प्रवृत्त रहते हैं। निम्न बौद्धिक स्तर होने के कारण ये स्वयं अपना मार्ग निश्चित नहीं कर सकते। उनमें उचित अनुचित विवेक नहीं होता अतः समाज में उनको सेवा कार्य सोंपा गया है।

व्यक्तित्व के इन उपर्युक्त विभाजनों के अतिरिक्त गीता में अन्य दो प्रकार के विभाजन भी किये गये हैं जिनमें से एक विभाजन तो गुणों के आधार पर किया गया है। इस विभाजन के अनुसार आसुरी और दैवी सम्पदावाले दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। दैवी सम्पदा वाले व्यक्तियों का अन्तःकरण शुद्ध होता है। वे भय रहित सात्विक वृत्ति वाले होते हैं। आत्मोपलब्धि के लिये वे पूर्ण रूप से दृढ़ निश्चय वाले होते हैं। वे सत्य भाषी, क्रोध तथा अभिमान रहित, अनपकारी, दयालु, मृदु, सरल, क्षमाशील, तेजोवान्, शास्त्रविरुद्ध अनुचित कर्मों के प्रति लज्जाशील तथा किसी के प्रति घृणा न करनेवाले होते हैं।[1] आसुरी व्यक्तित्व वाले पाखंडी, घमंडी, अभिमानी, क्रोधी, कटुभाषी तथा अज्ञानी होते हैं।[2] इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में दैवी सम्पदावाले कैवल्य की ओर गतिशील रहते हैं तथा आसुरी सम्पदा वाले बन्धन को ही प्राप्त करते रहते हैं।[3] आसुरी सम्पदा वालों को उचित और अनुचित का विवेक नहीं होता। उनमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को जानने की शक्ति नहीं होती। वे पवित्रता, उत्तम व्यवहार तथा सत्य रहित होते हैं। उनका भौतिक वादी दृष्टिकोण होता है। वे ईश्वर को नहीं मानते हैं। समस्त विश्व उनके लिये आधार रहित है। वे अपनी तुच्छ बुद्धि से सदैव विश्व के विनाश के लिये ही कार्य करते रहते हैं। उनकी क्रियाएँ इन्द्रिय सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये होती हैं। उनके सभी कार्य सामान्यतः भ्रम, मिथ्याभिमान, अज्ञान तथा दुष्ट विचारों से प्रभावित होते हैं। वे इन्द्रिय सुखों को ही स्थाई सुख मानकर उन्हें ग्रहण करते हैं। अपने इन सुखों के लिये वे दूसरों को दुख प्रदान करते, मारते तथा नष्ट करते हैं। वे सदैव उद्विग्न, चिन्तित व्यथित रहते हुए दुःख और मृत्यु की ओर अग्रसर रहते हैं। झूठे अभिमान तथा शक्ति आदि के भ्रम के कारण वे अनुचित मार्ग अपनाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो अन्य व्यक्तियों से द्वेष तथा अन्तर्यामी ईश्वर से घृणा करते हैं निम्नतर जीवन

---

१. भ० गी०—१६।१, २३ ;

२, भ० गी०—१६।४ ;

३. भ० गी०—१६।५ ;

की ओर चलते रहते हैं। उन्हें कभी भी आत्मज्ञान तथा कैवल्य नहीं प्राप्त होता। वे तो निरन्तर जन्म मरण के चक्र में घूमते रहते हैं।

इस उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त गीता मे सांख्य-योग प्रतिपादित त्रिगुणात्मक प्रकृति के आधार पर भी व्यक्तित्व का विभाजन किया गया है। सत्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों में से जिस गुण की प्रधानता अन्य दो गुणों की अपेक्षा होती है उसी के द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्धारित होता है। इन तीनों गुणों का अनुपात भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रकार का है। इसी कारण से हर व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है। गीता में इन गुणों को प्रधानता के आधार पर मोटे तौर से व्यक्तित्व को तीन प्रकार का बताया गया है। गीता में इन व्यक्तित्वों को जानने की विधियाँ भी बताई गई हैं। व्यक्ति की श्रद्धा के अनुसार उसके व्यक्तित्व का प्रकार निश्चित होता है। इसके अनुसार सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से व्यक्तित्व तीन प्रकार का होता है। इन व्यक्तित्वों का ज्ञान प्राप्त करने की विधि का वर्णन नीचे किया जाता है। एक-एक प्रकार के व्यक्तित्व को लेकर उसके निश्चित करने की प्रामाणिक प्रणाली बताई गई है।

१. **सात्विक**—सात्विक व्यक्तियों का सात्विक स्वभाव तथा सात्विक श्रद्धा होती है। वे आस्थावान् तथा ईश्वर भक्त होते हैं। उन्हें सात्विक भोजन प्रिय होता है जिसके द्वारा आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख आदि की वृद्धि होती है। यह भोजन मन को स्वभाव से ही प्रिय, रसीला, स्निग्ध, अपेक्षाकृत स्थाई अर्थात् स्थिर रहने वाला होता है। शरीर में इसका पाचन होने पर यह सात्विक स्वभाव प्रदान करता है। इस प्रकार से श्रद्धा के द्वारा तथा सात्विक प्रकार के भोजन में रुचि के द्वारा सात्विक व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को पहचाना जाता है। सात्विक व्यक्तियों को पहचानने की दूसरी विधि यज्ञ की है। सात्विक व्यक्ति बिना किसी फल की इच्छा के शास्त्रों के अनुसार यज्ञ करते है। वे केवल कर्त्तव्य भाव से ही यज्ञ करते हैं। वे बिना किसी इच्छा के ईश्वर में श्रद्धा रखते हुए मनसा, वाचा, कर्मणा तप करते हैं। सात्विक व्यक्ति उचित स्थान पर उचित समय में उचित व्यक्ति को बिना किसी फल की इच्छा के दान देता है। गीता के अनुसार बिना श्रद्धा के कोई भी कर्म पवित्र नहीं कहा जा सकता, तथा वह इस लोक तथा परलोक दोनों के लिये अच्छा नहीं होता। सात्विक व्यक्तियों के समस्त कर्म लगाव तथा कर्म फलाशा से रहित और शास्त्रों के अनुकूल होते है। वे फल की इच्छा को त्याग कर केवल कर्तव्य

के लिये ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। वे सफलता, असफलता का ध्यान न रखते हुए पूर्ण उत्साह और धैर्य के साथ अपने कार्य को करते हैं। उनको उचित अनुचित का ज्ञान होता है। वे शुभ और अशुभ कर्मों को पहचानते हैं। उन्हें बन्धन और मुक्ति का भेद ज्ञात होता है। वे सदैव विवेक-पूर्ण कार्य करते हैं तथा निरन्तर मुक्तावस्था की ओर अग्रसर रहते हैं।

२. **राजसिक** :—राजसिक व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों की राजसिक श्रद्धा होती है। वे यक्ष राक्षसादि को पूजते हैं। उनको राजसिक भोजन प्रिय होता है, जो कि अति उष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष, तिक्त, खट्टा, नमकीन, उत्तेजक तथा दाह, दुःख, चिन्ता और रोगों को पैदा करने वाला होता है। वे फल प्राप्ति के प्रलोभन से यज्ञादि करते हैं। उनके तप केवल मान, प्रतिष्ठा आदि के लिये होते हैं। उनका तप, पाखंडपूर्ण तथा दिखावटी होता है। वे बदले की भावना से, अपने सांसारिक कार्यों को सिद्ध करने, फल की इच्छा तथा क्लेशों से निवृत्ति प्राप्त करने के लिये दान देते हैं। सात्विक व्यक्ति की तरह से वे हर प्राणी में ईश्वर के दर्शन नहीं करते। इन राजसिक व्यक्तियों के सारे कर्म फल की इच्छा से किये जाते हैं। उनके सभी कार्य दम्भ तथा रागयुक्त होते हैं। वे सफलता और विफलता से सुखी और दुखी होते रहते हैं। वे लोलुप, अशुद्ध तथा दूसरों को कष्ट देने वाले होते हैं। वे उचित, अनुचित, धर्म-अधर्म, तथा कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद को विकृत बुद्धि होने के कारण ठीक-ठीक नहीं जान पाते।

३. **तामसिक** :—तामसिक व्यक्ति तो पूजा के वास्तविक स्वरूप से ही अनभिज्ञ होते हैं। वे भूत, प्रेत, पिशाच आदि दुष्ट आत्माओं का पूजन करते हैं। वे अधपका, अपवित्र, बासी, नीरस, दुर्गन्धपूर्ण तथा उच्छिष्ट भोजन करने वाले होते हैं। वे विधिविधान रहित यज्ञ करते हैं। उनका यज्ञ मन्त्रोच्चारण, दक्षिणा, अन्नदान, श्रद्धा आदि से रहित होता है। उनका तप अपने मन, वाणी और शरीर को पीड़ा पहुँचाकर दूसरों को कष्ट तथा हानि पहुँचाने के लिये होता है। वे तप के द्वारा अपने शरीर आदि को इसलिये कष्ट देते हैं कि उससे दूसरों का अनिष्ट हो। वे बिना श्रद्धा के कुपात्र को ही दान देते हैं। वे अज्ञान तथा भ्रम वश अपने कर्त्तव्य को छोड़ बैठते हैं। दूसरे के कष्टों को ध्यान में न रखते हुये उनके समस्त कार्य होते हैं। वे घमण्डी, अपकारी, अज्ञानी, मूर्ख, धोखादेनेवाले तथा विचारहीन होते हैं। उनकी बुद्धि विपरीत दिशा में ही कार्य करती है। वे सदैव उल्टा ही सोचते हैं। उनकी धारणा हर विषय के प्रति ग़लत होती है। वे दुष्ट बुद्धि तथा नीच प्रकृति के होते हैं[१]।

---

१. भ०गी०—१७।२–२८

इन तीन प्रकार के व्यक्तियों के अतिरिक्त, व्यक्ति की इन तीनों गुणों से परे की स्थिति भी होती है जिसे त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है किन्तु आत्मा इन तीनों गुणों से परे हैं। आत्मा का बन्धन अज्ञान के कारण है। अज्ञान के कारण आत्मा अपने को शरीर, मन, इन्द्रिय आदि समझ बैठती है। इस प्रकार प्रकृति की विकृतियों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध की प्रतीति के कारण आत्मा सुख-दुःख व मोह को प्राप्त होती है। सुख, दुःख एवं मोह क्रमशः सत्व, रजस् एवं तमस् के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। सत्व के कारण सुख, रजस के कारण दुःख, तमस के कारण मोह की उत्पत्ति होती है। जब व्यक्ति यह जान जाता है कि क्रियाशीलता त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण ही है और वह स्वयं इन गुणों से परे है तब उसको विवेक ज्ञान प्राप्त होकर वह त्रिगुणातीत हो जाता है। जन्म-मरण तो केवल अज्ञानी का ही होता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर वह जन्म-मरण तथा वृद्धावस्था के दुःखों से छुटकारा पा जाता है।

**त्रिगुणातीत** :—त्रिगुणातीत को त्रिगुण के कार्यों से न तो राग ही होता है, न घृणा ही। आत्म ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद उसको सांसारिक कार्यों में रत रहते हुए भी उनसे कोई राग नहीं होता। न तो वह किसी से घृणा करता है और न प्यार। गुण उसे विचलित नहीं कर सकते। उसके लिए सुख-दुःख दोनों समान हैं। उसके लिए प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र सब एक समान हैं। यह जानते हुए कि क्रियाएँ गुणों के द्वारा होती हैं, वह क्रियाओं के फल से उदासीन रहता है। उसे कोई भी क्रोधित तथा उद्विग्न नहीं कर सकता है। समस्त परिवर्तनों के मध्य में वह अप्रभावित रहता है। उसे कोई भी प्रभावित नहीं कर सकता। उसके लिये मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण एक समान हैं। उसकी सारी क्रियाएँ राग-रहित होती हैं। ऐसे व्यक्ति को ही त्रिगुणातीत कहा जाता है।

इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकलता है कि आत्मा का अज्ञान के कारण अनादि काल से अनेक जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों से सम्बन्धित विशिष्ट सूक्ष्म शरीर जो कि प्रारब्धानुसार नवीन-नवीन स्थूल शरीरों को धारण करता, नूतन-नूतन कर्मों तथा उनके संस्कारों के द्वारा निरन्तर परिवर्त्तित होता हुआ भी कैवल्यावस्था तक समन्वित तथा स्थाई रूप ग्रहण किये रहता है। उसको व्यक्तित्व कहते हैं।

# अध्याय २३

## विभूतियाँ[1]

मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय केवल साधारण मानव की मानसिक अवस्थाओं तथा व्यवहारों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है सामान्य मनुष्य का चित्त मलावरण के कारण सीमित होता है तथा उसके सम्बन्ध से प्राप्त ज्ञान भी उसी के समान सीमित होता है। चित्त आकाश के समान विभु होते हुये भी व्यक्तिगत रूप से वासनाओं के कारण सीमित हो जाता है। इस सीमित चित्तको ही कार्य चित्त कहते हैं जो कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में उनकी वासनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। योग के अभ्यास से चित्त की सीमा को बढ़ा कर उसे विभु रूप प्रदान किया जाता है जो कि उसका वास्तविक रूप है।

साधक कैवल्य प्राप्त करने के लिये योग मार्ग को साधन के रूप में अपनाता है। इन योग साधनों का अभ्यास करने से चित्त का मल धीरे-धीरे दूर होता चला जाता है। चित्त अभ्यास से ज्यों-ज्यों निर्मल होता जाता है त्यों-त्यों व्यक्ति को अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती चली जाती है। इन शक्तियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना भी मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। ये विभूतियाँ काल्पनिक न होकर वास्तविक तथ्य हैं। अतः इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। अभ्यास के काल में प्राप्त होने वाली इन विभूतियों के विषय में साधारण व्यक्ति तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

योगाभ्यास में सबसे पूर्व यम-नियम का पालन करना पड़ता है। उसके बिना योगाभ्यास होना कठिन है। यम-नियम[2] के पालन से ही साधक में योगाभ्यास करने की शक्ति उत्पन्न होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के भेद से यम पाँच हैं। नियम भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के भेद से पाँच हैं।

---

१. विशद विवेचन के लिये हमारा 'भारतीय मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

२. इसी ग्रन्थ "योगमनोविज्ञान" के १९ वें अध्याय ( अष्टांग योग ) को देखने का कष्ट करें।

अहिंसा के अभ्यास के दृढ़ होने पर संसर्ग में आनेवाले महाहिंसक प्रवृत्ति के प्राणी भी अपनी हिंसक प्रवृत्ति को छोड़कर वैर भाव रहित हो जाते हैं। अहिंसा-निष्ठ योगी जब अपने चित्त में यह भावना करता है कि उसके पास-पड़ोस में हिंसा न हो तो उसकी उस चित्त की अहिंसात्मक तीव्र धारा से सिंह, व्याघ्र, भेड़िये जैसे जीव भी अपनो हिंसात्मक वृत्ति को त्याग देते हैं। उसकी इच्छा मात्र से अहिंसा की भावना सर्वत्र फैल जातो हैं।[1] सत्य का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद साधक की वाणी अमोघ हो जाती है। वह मुख से जो वचन निकालता है वे सब सत्य होते हैं। उसके वचन त्रिकाल में सत्य होते हैं। होने वाली बात ही उसके मुखसे निकलती है। अस्त्तेय के दृढ़ होने पर उसको धन सम्पत्ति आदि स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। गुप्त से गुप्त धन भी उसके लिये गुप्त नहीं है। उसको किसी भी भोगसामग्री की कमी नहीं रह जाती है। ब्रह्मचर्य के दृढ़ अभ्यास होने पर साधक में अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके कारण उसके किसी कार्य में बाधा नहीं उपस्थित होती। अपरिग्रह अभ्यास के दृढ़ होने पर साधक को वर्तमान तथा पूर्व के समस्त जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। शौच अभ्यास के दृढ़ होने पर साधक का शरीर से राग तथा ममत्व छुट जाता है। आभ्यन्तर शौच के द्वारा मन स्वच्छ होकर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला हो जाता है जिससे कि एकाग्रता में वृद्धि होकर चित्त आत्म-दर्शन की योग्यता प्राप्त कर लेता है। सन्तोष के दृढ़ होने पर साधक तृष्णा रहित होकर परम सुख प्राप्त करता है। तप के द्वारा अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, वाशित्व, ईशित्व, सिद्धियाँ साधक को प्राप्त हो जाती हैं। इन्द्रियों में दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण तथा दूर श्रवण की अदभुत शक्ति प्राप्त हो जाती है। स्वाध्याय अभ्यासी को ऋषियों, देवताओं, सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। ईश्वर प्रणिधान से समस्त विघ्नों का नाश होकर शीघ्र समाधि लाभ होता है[2]।

आसन के सिद्ध होने पर साधक में कष्ट सहिष्णुता आ जाती है। गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास आदि द्वन्द्व उसको चंचल नहीं कर पाते। वह रोगों से मुक्त हो जाता है। समस्त शारीरिक विकार नष्ट हो जाते हैं[3]। आसन, प्राणायाम की सिद्धि का साधन है।

---

१. पा० यो० सू०—२।३५;
२. पा० यो० सू०—२।३६-४५;
३. पा० यो० सू०—२।४६, ४७, ४८ हठयोग प्र० १।२९, ३१, ४७; घे० स० २।८, १०, १९, ३०, ४३, यो० मी०—P. 248, 250, 251, 252; यो० मी०—Vol. I N0 2, Page. 62.; यो० मी Vol. II N0. 4, Page. 286.

प्राणायाम के द्वारा साधक रोग मुक्त हो जाता है। तथा उसमें चित्त को स्थिर करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। उसकी समस्त नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है[१]। प्राणायाम के द्वारा चित्त के मल जल कर भस्म हो जाते हैं[२]। प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है[३]।

धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को मिलाकर संयम कहते है।[४] पातंजल योग सूत्र के अनुसार संयम के द्वारा अनेक विचित्र शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। विषयों के धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम होते हैं।[५] इन तीनों परिणामों में संयम कर लेने से योगी उनका भूत, भविष्य का, साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेता है ( ३।१६ )। शब्द, अर्थ, ज्ञान की पृथकता में संयम करने से योगी को समस्त पशु, पक्षी आदि प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान हो जाता है (३।१७)। संस्कारों के ऊपर संयम करने से योगी को उन संस्कारों का साक्षात्कार होकर उनसे सम्बन्धित समस्त पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है (३।१८)। दूसरों के चित्त पर संयम करने से दूसरों के चित्त का साक्षात्कार प्राप्त कर योगी को संकल्प मात्र से उनके चित्त का ज्ञान प्राप्त हो जाता है (३।१९)। अपने शरीर के रूप में संयम कर लेने से योगी अन्तर्धान हो जाता है। क्योंकि जब योगी अपने शरीर के रूप में संयम करता है तब दूसरों के नेत्र प्रकाश से उसके शरीर का सन्निकर्ष न होने के कारण दूसरे को योगी का सक्षात्कार नहीं होता। इस स्थिति में निकटतम उपस्थित व्यक्तियों को भी योगी दिखाई नहीं पड़ता है (३।२१)। सोपक्रम तथा निरूपक्रम इन दो प्रकार के कर्मों में पहला शीघ्र फल प्रदान करने वाला तथा दूसरा विलम्ब से फल प्रदान करने वाला होता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी मृत्यु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है (३।२२)। मैत्री, करुणा और मुदिता इन तीन प्रकार की भावनाओं में संयम करने से योगी को मित्रता का बल, करुणाबल, तथा मुदिताबल प्राप्त होता है ( ३।२३)। जिस बल में योगी संयम करता है उसीके बल को वह प्राप्त कर लेता है। अगर हाथी के बल में

---

१. इसी ग्रन्थ "योग-मनोविज्ञान" का १९ वाँ अध्याय देखने का कष्ट करें।

२. पा० यो० सू०—२।४९—५३ ;

३. पा० यो० सू०—२।५४, ५५ ;

४. पा० यो० सू०—३।४ ;

५. पा० यो० सू०—३।१३ ;

संयम करता है तो उसको हाथी के सदृश्य बल प्राप्त होता है। वायु के बल में संयम करने से वायु के समान उसे बल प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार के बल में वह संयम करेगा उसी प्रकार का बल उसे प्राप्त हो जावेगा (३।२४)। जब योगी ज्योतिषमती प्रवृत्ति का प्रकाश सूक्ष्म व्यवधान युक्त दूर देश स्थित पदार्थों के ऊपर डालता है तो उस समय उसे उनका प्रत्यक्ष हो जाता है। मन, बुद्धि, अहंकार, परमाणु आदि इन्द्रियातीत विषय हैं। समुद्र के रत्न, खान के खनिज पदार्थ आदि सभी व्यवधान होने के कारण साधारण इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किये जाते हैं। इन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली होने से अति दूर देश की वस्तुओं को वे नहीं देख सकतीं, किन्तु योगी ज्योतिषमती प्रवृत्ति के प्रकाश को संयम के द्वारा इन पर डालकर इन सब का प्रत्यक्ष कर लेता है (३।२५)। सूर्य में संयम करने से योगी को चौदहों भुवनों का सविस्तार प्रत्यक्ष होता है[1] (३।२६)। चन्द्रमा में संयम करने से योगी को समस्त तारा गणों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है (३।२७)। ध्रुव तारे में संयम करने से समस्त तारा गणों की गति का ज्ञान हो जाता है (३।२८)। नाभिचक्र में जिससे कि नाड़ियों के द्वारा समस्त शारीरिक अंग सम्बन्धित है संयम करने से शरीर स्थित धातुओं ( त्वचा, रक्त, माँस, चर्बी, नाड़ी, हड्डी, वीर्य ) तथा दोषों ( वात, पित्त, कफ ) का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है (३।२९)। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख, प्यास से छुटकारा प्राप्त हो जाता है (३।३०)। कूर्म नाड़ि मे संयम करने से चित्त और शरीर में स्थिरता प्राप्त होती है (३।३१)। ब्रह्मरन्ध्र की प्रकाश वाली ज्योति में जिसे मुर्धा ज्योति कहते हैं संयम करने से सामान्य प्राणियों के द्वारा आकाश और पृथ्वी के मध्य में विचरने वाले अदृश्य सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं (३।३२)। अन्तिम ज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी बिना संयम के ही भूत, भविष्य; वर्तमान त्रिकाल-उपस्थित पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है (३।३३)। हृदय मे संयम करने से समस्त वृत्तियों सहित चित्त का साक्षात्कार होता है (३।३४)। चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष की द्रष्टा पुरुष स्वरूप विषयक वृत्ति अर्थात् पौरुषेय वृत्ति में संयम करने से योगी को पुरुष का ज्ञान प्राप्त होता है ( ३।३५ )। उपर्युक्त संयम के अभ्यास से पुरुष ज्ञान से पूर्व प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता ये छः सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अतीन्द्रिय, छिपी हुई दूरस्थ, भूत तथा भविष्य की

---

१. इसका विशद विवेचन हमारे "भारतीय-मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ में देखने का कष्ट करें।

वस्तुओं के प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रातिभ कहते हैं। दिव्य तथा दूर के शब्द सुनने की शक्ति श्रावण, दिव्य स्पर्श की शक्ति वेदना, दिव्य रूप देखने की योग्यता आदर्श, दिव्य रस का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आस्वाद तथा दिव्य गंध सूंघने की शक्ति को वार्ता कहते हैं। ये छःहों, सिद्धियाँ पुरुष ज्ञान के लिये स्वार्थ प्रत्यय में किये गये संयम से पुरुष ज्ञान के पूर्व उत्पन्न होती है (३।३६)। संयम के अभ्यास से जब योगी निष्काम कर्म करने लगता है तब शरीर से चित्त का बन्धन शिथिल पड़ जाता है और वह नाड़ियों में संयम करके उनमें विचरण करने के मार्ग का साक्षात्कार करके अपने शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकालकर अन्य के शरोर में प्रविष्ट करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है (३।३८)। उदान वायु में संयम करने से योगी का शरीर बहुत हल्का हो जाता है जिससे वह पानी पर पृथ्वी पर के समान चलने लगता है। कीचड़ तथा कांटों के द्वारा व्यथित नहीं होता और मरणोपरान्त उर्ध्वगति को प्राप्त होता है (३।३९)। समान वायु में संयम करके उसको जीतने से योगी का शरीर अग्नि के सदृश्य देदीप्यमान हो उठता है (३।४०)। श्रोत्रेन्द्रिय तथा आकाश के सम्बन्ध का संयम द्वारा प्रत्यक्ष कर लेने के बाद योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा दूरस्थ शब्दों को सुनने की शक्ति प्राप्त कर लेता है (३।४१)। जब योगी अभ्यास के द्वारा बिना कल्पना के ही मन को शरीर के बाहर यथार्थ रूप से स्थिर करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है (जिसे महा विदेह कहा गया है) तो चित्त के प्रकाश के आवरण अविद्यादि पंचक्लेशों का नाश हो जाता है तथा उसमें इच्छानुसार विचरण की शक्ति पैदा हो जाती है (३।४३)। शरीर तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है (३।४२)। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्व इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से योगी उनका प्रत्यक्ष कर पाँचों भूतों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा अणिमा ( लघु-रूप ), लघिमा ( हल्का शरीर होना ), महिमा ( शरीर को विशाल कर लेना ), गरिमा ( शरीर को भारी करने की शक्ति ), प्राप्ति ( मन चाहे पदार्थ को प्राप्त करने की शक्ति ), प्राकाम्य ( बिना किसी अड़चन के इच्छा पूर्ण होना ), वशित्व ( पाँचों भूतों तथा तत्सम्बन्धित पदार्थों का वश में होना ), ईशित्व ( समस्त भूतों तथा तत्सम्बन्धी पदार्थों के उत्पत्ति विनाश की सामर्थ्य ) सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं (३।४५)। एकादश इन्द्रियों की ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्व इन पांच अवस्थाओं में संयम करने से इन्द्रिय जय प्राप्त होता है जिससे मन के समान गति, स्थूल शरीर के बिना ही विषयों को ग्रहण करने

की शक्ति तथा प्रकृति के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है (३।४७, ४८)। बुद्धि और पुरुष के भिन्नता मात्र का ज्ञान प्राप्त होने से योगी सर्वज्ञ हो जाता है (३।४९)। विवेक ख्याति से वैराग्य होने पर समस्त दोषों का बीज नष्ट हो जाता है जिसके फलस्वरूप कैवल्य प्राप्त होता है (३।५०)। क्षण तथा उसके क्रम में संयम करने से विवेक ज्ञान उदय होता है जो कि संसार सागर से पार लगाने वाला है तथा जिसके द्वारा योगी समस्त विषयों को सब प्रकार से बिना क्रम के जान लेता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है (३।५२, ५३, ५४)।

शरीर, इन्द्रियों और चित्त में परिवर्तन के द्वारा विलक्षण शक्ति के उदय होने को ही सिद्धि कहते है। ये सिद्धियाँ जन्म औषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन पाँच तरह से प्राप्त होने के कारण पाँच प्रकार की होती हैं। जन्म से ही शक्ति लेकर पैदा होने वाले कपिल आदि महर्षि हुए हैं। वे पूर्व जन्म में प्राप्त स्थित के कारण इस जन्म में उस योग्यता को लेकर पैदा होते हैं। इनका चित्त पूर्व जन्मों के पुण्यों के प्रभाव के कारण जन्म से ही योग्यता लेकर पैदा होता है। औषधियों के द्वारा भी चित्त में विलक्षण परिणाम उत्पन्न होते हैं। औषधियों से स्थूल समाधि भी उत्पन्न हो जाती है तथा इन्द्रिय निरपेक्ष ज्ञान भी औषधियों के द्वारा प्राप्त होता है१। औषधियों के द्वारा चित्त में विलक्षण परिवर्तन देखने मे आये हैं। इसके अतिरिक्त मन्त्रों के द्वारा भी सिद्धि प्राप्त होती है। विधिवत् मन्त्र अनुष्ठान से चित्त में विलक्षण प्रकार की शक्ति उदय हो जाती है। तप के द्वारा भी शरीर इन्द्रिय तथा चित्त निर्मल होकर विलक्षण शक्ति प्राप्त करते है। समाधियों के द्वारा प्राप्त सिद्धियों का वर्णन तो पूर्व में किया ही जा चुका है। समाधि के द्वारा प्राप्त चित्त ही कैवल्य प्रदान करने वाला होता है। अन्य प्रकार से जो सिद्धियाँ प्राप्त होतीं है उनका कारण पूर्व जन्म का समाधि अभ्यास ही है। जन्म औषधि आदि तो केवल निमित्त मात्र है।

उपर्युक्त साधनों से जो भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे सब उन साधनों द्वारा चित्त के प्रभावित होने से ही होती हैं। चित्त के आवरण ज्यों ज्यों हटते जाते हैं त्यों-त्यों सिद्धियाँ प्राप्त होती जाती हैं। चाहे वह किसी भी साधन से हों। सृष्टि के ऊपर संयम करने से बहुत से व्यक्तित्व का उदय व्यक्ति करता है।

योगवासिष्ठ में भी मन की अदभुत शक्तियों का वर्णन किया गया है। मनको वसिष्ठ ने सर्वशक्ति सम्पन्न बताया है। वह सब कुछ कर सकता है। जिस प्रकार

१. Dr. J. B, Rhine. Extra Sensory Perception P· 222.

की भावना वह अपने भीतर करता है वैसा ही बन जाता है[१]। सिद्धियों का वर्णन तो पूर्व में किया ही जा चुका है। समाधि के द्वारा यह संसार को उत्पन्न करने वाला मन ही स्वतन्त्रता पूर्वक शरीर की रचना करता है। मन का ही रूपान्तर सब अवस्थायें हैं[२]। मन के अनुरूप ही विषय प्राप्त होते हैं। मन के दृढ़ निश्चय को कोई नहीं हटा सकता। मन के अनुकूल ही मनुष्य की गति होती है। दुःख-सुख, बन्धन और मुक्ति सब चित्त के ही आधीन हैं। मन के द्वारा जीव की परिस्थितियाँ रची जाती हैं। मन के द्वारा ही दुःख-सुख प्राप्त होते है। आधि-व्याधियों की उत्पत्ति का कारण मन ही है। मन के द्वारा ही इनसे निवृत्ति भी प्राप्त होती है। मन के शान्त होने पर सब तरफ़ शान्ति दिखाई देती है। मन के कारण ही जीव सांसारिक बन्धनों में फंसा हुआ है। मन की शुद्धि प्राप्त होने पर बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अशुद्ध मन शक्ति हीन होता है। शुद्ध मन के ही द्वारा दूसरों के मन का ज्ञान प्राप्त हो सकता है तथा सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार से अभ्यास के द्वारा साधक मन को शुद्ध करके उसकी विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है जिससे कि उपर्युक्त शक्तियाँ वा सिद्धियाँ जिन्हें विभूति कहा जाता है, प्राप्त होती हैं। ये विभूतियाँ योगी के लिये उत्तम नहीं कही गई है। क्योंकि इनके द्वारा साधक के पतन होने की सम्भावना रहती है बल्कि इनको प्राप्त करने पर व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने में बहुत बाधाएँ उपस्थित होती हैं। किन्तु साधारण व्यक्तियों के लिये ये सिद्धियाँ बहुत ही विलक्षण हैं। कुछ भी हो ये सब विभूतियाँ भी मन की शक्ति होने के कारण योग मनोविज्ञान के अध्यनन का विषय हैं। पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान इनके ज्ञानसे लगभग वंचित सा है। अतः योग-मनोविज्ञान का क्षेत्र आधुनिक मनोविज्ञान से अपेक्षाकृत अत्यधिक विस्तृत है जिसके अन्तर्गत इन समस्त विभूतियों का अध्ययन किया जाता है। आज आधुनिक मनोविज्ञान में पर-मनोविज्ञान के अन्वेषणों ने मनोविज्ञान के क्षेत्रों में बहुत बड़ी हलचल मचारक्खी है। परा-मनोविद्या ने पूर्वजन्म, मन की अलौकिक शक्ति तथा अभौतिक शक्ति का प्रतिपादन अपने अन्वेषणों के आधार पर किया है। हमें पूर्ण आशा होती है कि मनोवैज्ञानिक इन अन्वेषणों पर ध्यान देकर मनोविज्ञान के क्षेत्र तथा उसके अध्ययन में परिवर्तन लाकर उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति को अपनाकर उसका सही-सही ज्ञान प्राप्त करेंगे।

---

१. यो० वा०—३।९१।४, १६, १८, ५२, १७;
२. यो० वा०—६/२।११४।१७; ६/२।७।११; ६/२।१३९।१; ३।११०।४६; ३।१०३।१४; ३।४।७९; ३।४०।२९ ;

# अध्याय २४

## कैवल्य

अविद्या के कारण चित्त के साथ पुरुष का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है जिसके कारण पुरुष बुद्धि से अपना तादात्म्य स्थापित करके बन्धन को प्राप्त होता है। यह बन्धन ही समस्त दुःखों का कारण है। चित्त त्रिगुणात्मक है। उसके साथ पुरुष का संयोग होने से पुरुष अपने आप को कर्त्ता समझकर सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होता रहता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर यह सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है तो यह सम्बन्ध तथा उसके द्वारा उत्पन्न वासना आदि के अनादि तथा अनन्त होने तथा उनका उच्छेद असम्भव होने के कारण जन्म मरण आदि संसार की समाप्ति होना भी असम्भव ही है। वासनाओं का कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पंचक्लेश हैं। वासनाओं से ही जाति, आयु और भोग की उत्पत्ति होती है। अतः जाति, आयु और भोग ये वासनाओं के फल हैं। वासनायें चित्त के आश्रित रहती हैं। अतः चित्त वासनाओं का आश्रय कहलाता है। इन्द्रियों के विषय शब्दादि वासनाओं के आलम्बन हैं। अनादि और अनन्त वासनायें हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन पर आधारित हैं। जब तक ये चारों रहेंगे तब तक वासना भी रहेंगी, और जब तक वासनायें रहेंगी तब तक जन्म-मरण आदि से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता। इस रूप से वासनाओं का नाश उपर्युक्त अविद्यादि चारों के नाश होने से ही होगा जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण आदि संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त हो जायेगा। यह प्रवाह रूप से अनादि होने के कारण, उसके कारण हेतु आदि के नाश होने से उसका नाश होना भी निश्चित है। जो स्वरूप से ही अनादि हैं उसका नाश नहीं होता जैसे पुरूष स्वरूप से ही अनादि है अतः उसका नष्ट होना असम्भव है। किन्तु जो प्रवाह रूप से अनादि होता है उसका आविर्भाव किसी कारण से होता है। अतः उसके कारण का अभाव हो जाने से उसका भी अभाव हो जाता है।[1] अभाव होने का तात्पर्य यहाँ अत्यन्ताभाव से नहीं है, बल्कि कार्य का कारण में लीन होने से है।[2] विवेक ज्ञान

---

१. यो० सू०—४।११;

२. यो० सू०—४।१२;

द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर आत्मा और बुद्धि का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। चित्त अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहते है। अविवेक के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, जो कि विवेक-ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। विवेक के द्वारा अविवेक समाप्त हो जाता है और अविवेक के समाप्त होने पर जन्म-मरण रूप बन्धन की समाप्ति हो जाती है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। इस अवस्था मे गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं अर्थात् चितिशक्ति पुरुष अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य प्राप्ति है।[1] सत्य तो यह है कि पुरुष स्वभावतः ही नित्य मुक्त है। बन्धन की प्रतीति उसमें अविवेक के कारण होती है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब पुरुष निर्गुण, अपरिणामी, निष्क्रिय है तो फिर उसका मोक्ष किस प्रकार होगा ? क्योंकि 'मोक्ष' मुच् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ मोचना अर्थात् बन्धन-विच्छेद है। पुरुष तो कभी बन्धन को प्राप्त ही नहीं होता। बन्धन वासना, क्लेश कर्माशयों को कहा जाता है। वासना-संस्कार जन्मजन्मान्तर से चले आ रहे हैं। अविद्यादि पञ्चक्लेश, सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्म, इन सब से उत्पन्न होने वाले धर्माधर्म आशय को बन्धन कहते है। धर्माधर्म रूप बन्धन प्रकृति के धर्म है। अतः उस बन्धन का सम्बन्ध पुरुष से न होकर प्रकृति से है। अतः बन्धन से मुक्ति भी प्रकृति की ही होनी चाहिए, पुरुष की नहीं। पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति का क्रियाशील होना समझ में नहीं आता।

सांख्य-कारिका में ईश्वर कृष्ण ने भी कहा है कि सचमुच में संसरण, बन्धन तथा मोक्ष पुरुष का नहीं होता है। बन्धन, संसरण एवं मोक्ष तो अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही होता है[2]। प्रकृति के बन्धन, संसरण एवं मोक्ष को पुरुष में आरोपित कर पुरुष का बन्धन, संसरण और मोक्ष कहा जाता है। वस्तुतः पुरुष का बुद्धि के साथ तादात्म्य का अध्यास होने के कारण ही पुरुष, प्रकृति के बन्धन और मोक्ष का अपना बन्धन और मोक्ष समझता है। जब पुरुष का प्रतिबिम्ब प्रकृति में पड़ता है तो उस समय बिम्ब और प्रतिबिम्ब में तादात्म्य होने के कारण बन्धन, मोक्ष तथा संसार जो कि प्रकृति के धर्म हैं,

---

१. यो० सू०—४।३४;

२. सां० का०—६२;

वे सब पुरुष में भासने लगते हैं। इस प्रकार से प्रकृति के धर्मों का पुरुष में भासना ही पुरुष को बन्धन की प्रतीति प्रदान करता है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण उसमें ज्ञान को आवृत करने वाला तमस् भी विद्यमान रहता है। रजस् के द्वारा उसमें चञ्चलता भी विद्यमान रहती है जिसके कारण उसमें प्रतिविम्बित पुरुष भी चञ्चल प्रतीत होता है। वह इन तीनों गुणों के प्रभाव से सुख-दुःख और मोह को प्राप्त होता रहता है। चित्त के चञ्चलता रहित होने तथा तमस् के आवरण के अति सूक्ष्म हो जाने पर चित्त में पुरुष स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होने लगता है जिसके फलस्वरूप भेद ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। समस्त वासनाओं का कारण अज्ञान है। जब तक यह अविद्या नहीं समाप्त होती तब तक ये समस्त प्रकृति के कार्य पुरुष में प्रतीत होते रहते हैं। जब पञ्चक्लेश बीज-रूप वासना सहित विवेक ख्याति द्वारा भस्म हो जाते हैं तब उनमें अपने कार्य क्लेशों के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह जाती है। विवेक ख्याति का प्रवाह निरन्तर चलते रहने पर यह अवस्था प्राप्त हो जाती है। विभिन्न व्यक्तियों के चित्त में सत्व, रजस् और तमस् विभिन्न अनुपातों में विद्यमान रहते हैं। योग में चित्त को शुद्ध करने का मार्ग बताया गया है। उसका वर्णन पूर्व के अध्यायों में हो चुका है। जब चित्त पुरुष के समान शुद्ध हो जाता है तभी कैवल्य प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त से रजस् और तमस् का मैल इस हद तक हट जावे कि वह पुरुष और चित्त का भेद दिखाकर तथा गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान प्रदान कर पुरुष को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने योग्य बना दे। पुरुष चित्त में आत्माध्यास के कारण चित्त के परिणामों को अपने परिणाम समझकर दुःख-सुख और मोह को प्राप्त होता है। उसका पुरुष और चित्त के भेद ज्ञान से सर्वदा के लिए अभाव हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहते हैं[1]। जब त्रिगुणात्मक चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तथा आत्मा का उससे पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद होकर वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तो उसे ही पुरुष की मुक्ति कहा जाता है। इस अवस्था में पुरुष प्रकृति सम्बन्धी सभी व्यापारों से निवृत्त होकर दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेता है। जब आत्मा विवेक ज्ञान रूपी वृत्ति को भी चित्त की वृत्ति समझ कर परवैराग्य के द्वारा उसका निरोध कर देता है तो उसे कैवल्य प्राप्त होता है। जब तक समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता तब तक कैवल्य प्राप्त नहीं होता। इसका विशद विवेचन समाधि

---

१. यो० सू०—३।५५।

वाले अध्याय में किया जा चुका है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा योगी समस्त क्लेश कर्मों तथा कर्माशयों का जड़ सहित नाश करके पर-वैराग्य के द्वारा सर्ववृत्ति निरोध की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। ऐसा होने पर वह अपने जीवन काल में ही मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। धर्ममेघ समाधि से क्लेश तथा कर्मों की निवृत्ति होकर गुणों का आवरण हट जाने से अपरमित ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा पर-वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर उस पुरुष के लिए गुण प्रवृत्त नहीं होते[१]। जब पुरुष का भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब इन गुणों के लिए और कोई कार्य शेष नहीं रह जाता और ये गुण उस पुरुष के लिए अपना परिणाम क्रम समाप्त करके प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस स्थिति को ही विदेह कैवल्य कहते हैं। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न मार्गों का विवेचन योग के अनुसार किया जा चुका है।

अमृतविन्दूपनिषद् ने मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण माना है। जब वह विषयों में रत रहता है तो वह बन्धन प्रदान करता है और जब वह विषयों से प्रभावित नहीं होता तो वह मुक्ति की ओर ले चलता है। इसलिए अमृतविन्दूपनिषद् में मनोऽवरोध को ही मोक्ष का उपाय बताया है।[२]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में ज्ञान के द्वारा ही तुरन्त मुक्ति प्राप्त होना बताया है। योग के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा योगाभ्यास में विकास होता है। जो योगी, योग और ज्ञान दोनों को समान रूप से सदैव लेकर चलते हैं वे नष्ट नहीं होते।[३]

ध्यानविन्दूपनिषद् में कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर मोक्ष द्वार का भेदन होना बताया गया है।[४] पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में मोक्ष के लिए हंस आत्मविद्या ही को बताया गया है[५]। जो हंस को ही परमात्मा जानते हैं वे अमरत्व प्राप्त करते है। मोक्ष उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो अन्तर के हंस तथा प्रणव हंस दोनों को एक जानकर उस पर ध्यान करते हैं। ब्रह्मविद्योपनिषद् में बन्धन

१. यो० सू०—४। २९, ३०, ३१, ३२;
२. अमृतबिन्दूपनिषद्—१ से ५ तक;
३. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, मन्त्रभाग—१९;
४. ध्यानबिन्दूपनिषद्—६५ से ६९ तक;
५. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—पूर्व काण्ड—२५, २६।

और मोक्ष के कारण का निरूपण किया गया है[1]। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में ब्रह्म में अनुसन्धान करने से कैवल्य की प्राप्ति बताई गई है। ध्याता, ध्यान और ध्येय के अलग-अलग ज्ञान की समाप्ति जब ब्रह्म के जानने वाले को हो जाती है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है। वह बिना लहरों के शान्त समुद्र तथा बिना वायु के दीपक की स्थिर ज्योति के समान स्थिर हो जाता है[2]। समस्त इच्छाओं को त्याग कर ब्रह्म में ध्यान केन्द्रित करने से मुक्तावस्था का प्राप्त होना बताया गया है।[3] इस उपनिषद् में भी मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है।

योगचूड़ामण्युउपनिषद् मे कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार का भेदन बताया गया है।[4] योगशिखोपनिषद् में भी मुक्ति के विषय में विवेचन किया गया है।[5] इन्होंने योग को ही मोक्ष प्राप्ति का उत्तम मार्ग बताया है। आधार ब्रह्म में प्राण आदि के विलय करने से मोक्ष प्राप्ति बताई गई है[6]। वाराहोपनिषद् में भगवद्भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का होना बताया गया है।[7] आत्मा को शुद्ध चैतन्य रूप कहा गया है। वह न तो बद्ध है न मुक्त।[8] जन्म और मृत्यु के चक्र का कारण केवल चित्त है।[9]

कैवल्य का तात्पर्य सबसे अलग होकर एकाकी रूप से स्थिर रहने का नहीं है। यह तो प्रकृति से विमुख होने को ही प्रदर्शित करता है। यह प्रकृति से अलग होना, अविद्या के द्वारा प्रदान की गई समस्त सीमाओं को पार कर जाता है। ज्यों-ज्यों हम कैवल्य की ओर चलते है त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की सीमा बढ़ती जाती है तथा चेतना का आवरण घटता जाता है। इस प्रकार से अन्त में कैवल्य

---

१. ब्रह्मविद्योपनिषद्—१६ से २१ तक;
२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—२, ३, १;
३. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—२, ३, ६, ७;
४. योगचूड़ामण्युपनिषद्—३६—४४;
५. योगशिखोपनिषद्—१।१, २, ३, २४, से २७ तक; ५२ से ५८ तक; १३८–१४०; १४३, १४४;
६. योगशिखोपनिषद्—६।२२–३२; ५५–५८; ५९;
७. वाराहोपनिषद्—१।१५, १६; ३।११, १२, १३, १४;
८. वाराहोपनिषद्—२।२३ से ३१ तक;
९. वाराहोपनिषद्—३।२०–२३।

की अवस्था प्राप्त हो जाती है, जिसमें प्रकृति से पूर्णरूप से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। ज्ञान के द्वारा सब आवरण क्षीण हो जाते हैं। विवेक-ज्ञान के परिपक्व होने पर व्युत्थान संस्कार नष्ट होकर अन्य प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं करते।[1] जिस प्रकार से विवेक ज्ञान से जल जाने पर अविद्यादि क्लेश उस अवस्था में उत्पन्न होते हुए भी दूसरे संस्कारों को पैदा नहीं कर सकते ठीक उसी प्रकार से अभ्यास के द्वारा परिपक्व विवेक-ज्ञान से जले हुए व्युत्थान संस्कार उस अवस्था में उद्भूत होते हुए भी दूसरे प्रत्यय को पैदा नहीं कर सकते। ये विवेक-ज्ञान के संस्कार समस्त संस्कारों को समाप्त करके केवल चित्त की कार्य करने के सामर्थ्य तक ही विद्यमान रहते हैं। उसके बाद स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। ये क्लेश, कर्म, वासना, कर्माशय ही जाति, आयु और भोग को उत्पन्न करते हैं। अतः उनके नष्ट होने पर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। इस प्रकार से जन्म-मरण के चक्र से छूटने पर योगी जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है। क्लेश, कर्मो और वासनाओं के नष्ट होने पर चित्त समस्त मलावरणों से रहित हो जाता है। समस्त मलावरणों से रहित होने के कारण असीमित ज्ञान के प्रकाश में समस्त ज्ञेय-वस्तु का स्वतः ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्य के ऊपर से बादलों का आवरण हट जाने से समस्त विश्व के घट-पटादि विषय स्वतः प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार चित्त से मलावरण हट जाने पर कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता।[2] धर्ममेघ समाधि की अवस्था में योगी को प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्च-तन्मात्राओं, एकादशइन्द्रियों, पञ्चमहाभूतों, पुरुष, जीवात्मा और पुरुष विशेष ईश्वर इन सबका साक्षात्कार हो जाता है। ऐसे योगी का चित्त अनन्त चित्त कहा जाता है। इस योगी के अनन्त चित्त को ही कैवल्य चित्त कहते हैं। इस चित्त वाले योगी का पुर्नजन्म नहीं होता क्योंकि कारण के समूल नष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। अतः वह जीवन्मुक्त कहा जाता है, इसलिए धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेश, कर्म, वासना, कर्माशयों के नष्ट होने पर जन्म-मरण असम्भव है। धर्ममेघ समाधि के प्राप्त होने पर तीनों गुणों के द्वारा पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन समाप्त हो जाते हैं। वे फिर उसके लिए क्रियाशील नहीं होते। इसलिए ऐसे योगी को फिर शरीर धारण नहीं करना पड़ता। विवेक-ज्ञान के परिपक्व होने पर समस्त संचित कर्म दग्धबीज हो जाते हैं। अतः वे नवीन शरीर को भोगार्थ उत्पन्न नहीं कर सकते। योगी फलोत्पादक क्रियमाण कर्मो की

---

१. योग-मनोविज्ञान—अ० २० में देखने का कष्ट करें।
२. पातञ्जलयोग-सूत्र—४।३१।

तो उत्पत्ति ही नहीं होने देता। वह तो नितान्त निष्काम कर्म ही करता रहता है। अतः संचित तथा क्रियमाण दोनों कर्मो से अप्रभावित रहता है। ऐसे जीवन्मुक्त योगी के प्रारब्ध कर्म ज्ञानाग्नि से न जलने के कारण शेष रह जाते हैं, जिन्हें भोगे बिना उसको छुटकारा प्राप्त नहीं होता। इसलिए इन प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए उसका जीवन चलता रहता है। इन प्रारब्ध कर्मों के भोग समाप्त हो जाने पर पुरुष के भोग का कार्य समाप्त हो जाता है और त्रिगुण अपने कार्य को बन्द कर देते हैं। तब मृत्यूपरान्त उस योगी को विदेह मुक्ति प्राप्त होती है और वह पुरुष दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर कैवल्य पद प्राप्त करता है।[1] उसके सूक्ष्म, स्थूल तथा कारण तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं। यही उसकी कैवल्यावस्था है।

योगवासिष्ठ के अनुसार इच्छाओं के समाप्त होने पर जब चित्त क्षीण हो जाता है तो उस अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। वासना रहित होकर स्थित होने का नाम निर्वाण है। इस अवस्था में मन की समस्त क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं। संकल्प विकल्प रहित आत्मस्थिति का नाम मोक्ष है। जब मिथ्याज्ञान से उत्पन्न अहंभाव रूपी अज्ञान ग्रन्थि समाप्त हो जाती है तो मोक्ष का अनुभव होता है।[2]

मोक्ष दो प्रकार का माना गया है। एक सदेह और दूसरा विदेह। शरीर के नष्ट होने से पूर्व की अवस्था जिसमें केवल प्रारब्ध कर्मो का भोग ही शेष रह जाता है जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। जब शरीर के नष्ट होने पर पुनः जन्म होने की सम्भावना नहीं रह जाती तो उस स्थिति को विदेह मुक्त कहते हैं। यह स्थिति वासना के निर्बीज होने पर ही आती है। सुप्तावस्था में रहने वाली वासना भी अन्य जन्मों को उत्पन्न करती हैं। वासना लेश-मात्र से भी रहने पर दुःख को ही प्रदान करने वाली होती है। इसीलिए जड़ अवस्था जिसमें कि वासना सुप्तावस्था में रहती है, मुक्तावस्था से नितान्त भिन्न है। मुक्तावस्था तो वासनाओं के दग्धबीज होने पर ही प्राप्त होती है। योगवासिष्ठ ने तो बन्धन और मोक्ष दोनों को ही मिथ्या कहा है। बन्धन और मोक्ष का मोह अज्ञानियों को ही सताता है, ज्ञानियों को नहीं। ये तो दोनों ही अज्ञानियों के द्वारा की गई मिथ्या कल्पनायें है। वास्तव में न तो बन्धन है और न मोक्ष।[3]

---

१. सांख्य-कारिका—६६, ६७, ६८;

२. योगवासिष्ठ—५।७३।३६; ६।४२।५१; ६।३८।३२; ३।११२।८; ५।१३।८०; ६।३७।३३; ३।२१।११; ६।२०।१७;

३. योगवासिष्ठ —३।१००।३७, ३९, ४०, ४२।

अविद्या के नष्ट होने पर फिर उससे सम्बन्ध नहीं रह जाता। योगवासिष्ठ में बड़े सुन्दर ढंग से इसका वर्णन किया गया है। जिस प्रकार मृगतृष्णा का ज्ञान हो जाने पर प्यासा भी उसका शिकार नहीं होता, उसी प्रकार से अविद्या भी व्यक्त होने पर ज्ञानी को आकर्षित नहीं कर सकती।[1] उस मोक्षावस्था में पहुँच कर परमतृप्ति का अनुभव होता है। तब उसको समझ में आता है कि न तो मैं बद्ध हूँ और न मुझे मोक्ष की इच्छा ही है। अज्ञान के दूर होने पर न बन्धन है और न मोक्ष।

## जीवन्मुक्त

जीवन्मुक्त संसार के समस्त व्यवहारों को करते हुए भी शान्त रहता है। उसके सभी कार्य इच्छा एवं संकल्प रहित होते हैं। न उसके लिए कुछ हेय है और न उपादेय। वह वासनाओं से विषयों का भोग नहीं करता। वह बाह्यरूप से सभी कार्य उचित रूप से करते हुए दिखलाई देने पर भी भीतर से पूर्ण रूप से शान्त रहता है। उसे न तो जीवन की चाह है और न मौत का भय। वह प्राप्त वस्तु की अवहेलना नहीं करता और न अप्राप्त वस्तु की इच्छा ही करता है। उसे न तो उद्वेग होता है और न आनन्द। अवसर के अनुसार उसके समस्त व्यवहार अनासक्त भाव से होते रहते हैं। जवानों में जवान, दुःखियों में दुःखी, बालकों में बालक, बृद्धों में बृद्ध जैसे उसके व्यवहार चलते रहते हैं। उसके लिए भोग और त्याग दोनों समान हैं। वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। उसमें कभी अहंभाव का उदय नहीं होता। वह किसी भी कार्य में लिप्त न होते हुए भी अपने सब कार्यों का ठीक-ठीक सम्पादन करता रहता है। वह जीता हुआ भी मुरदे के समान रहता है। उसको न आपत्तियाँ दुःखी कर सकती हैं और न उसको महान् से महान् सुख प्रसन्न ही कर सकता है। उसके भीतर मैं और मेरे का भाव समाप्त हो जाता है। वह निस्संगत्व और निर्मोहत्व को प्राप्त कर लेता है। देखने मे सब कुछ चाहनेवाला होते हुए भी वह कुछ भी नहीं चाहता। हर काम में लिप्त दिखाई देता हुआ भी वह सभी कार्यों से विरक्त होता है। उसके लिए न तो कुछ त्याज्य ही है और न कुछ प्राप्त करने योग्य। निन्दास्तुति उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं रखती। उसको न तो किसी से राग है न किसी से द्वेष। वह समस्त कर्मों के बन्धनों से रहित है। संसार के समस्त व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ ही रहता है। जीवन्मुक्त अपने सारे व्यवहार प्राप्त अवस्था

१. योगवाशिष्ठ—५।७४।२०, ७५, ८३, ८४

के अनुसार करता है। बाह्य व्यवहार में उसको अज्ञानियों से भिन्न नहीं जाना जा सकता। वह समस्त त्रिलोकी को भी तृण के समान समझता है। उसको कोई आपत्ति विचलित नहीं कर सकती। संसार के किसी भी व्यवहार से वह अशान्त नहीं हो सकता। उसकी समस्त क्रियाएँ वासना रहित होती हैं। तेजोबिन्दूपनिषद् में जीवन्मुक्त के विषय में विवेचन किया गया है। जीवन्मुक्त अंहकार रहित हो जाता है। वह निरन्तर अपने चेतनवस्था में ही अवस्थित रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियादि को वह किसी भी काल में अपना नहीं समझता। काम, क्रोध, लोभ, भ्रम आदि उसको नहीं सताते।[1]

ध्यानविन्दूपनिषद् में भी जीवन्मुक्त के लक्षणों का वर्णन है।[2] योगकुण्डल्युपनिषद् में भी जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त के विषय में विवेचन किया गया है।[3] योगशिखोपनिषद् में जीवन्मुक्त को सिद्धियों से सम्वन्धित किया गया है।[4] वराहोपनिषद् में भी जीवन्मुक्त का विवेचन किया गया है। दुःख-सुख में जीवन्मुक्त एक समान ही रहता है। वह जागते हुए भी सोता रहता है। जो सांसरिक व्यक्ति की तरह राग, द्वेष, भय आदि से प्रेरित होकर कार्य करता हुआ भी उनसे अप्रभावित रहता है। अहंकार उसको नहीं सताता। उसके मन को कोई उद्विग्न नहीं कर सकता। समस्त भोगों को भोगते हुए भी वह अभोक्ता ही वना रहता है।[5]

जीवन्मुक्त सांसारिक समस्तभोगों को कर्मों के द्वारा बिना किसी आवश्यकता वा वासना के प्राप्त करता रहता है। वह कर्मों की फलाशा से कभी भी प्रभावित न होते हुवे सदैव प्रसन्न बना रहता है। उसका अपना कोई स्वार्थ रह ही नहीं जाता। सामाजिक हित ही उसका हित होता है। वह किसी के भी द्वारा शासित नहीं होता। वह स्वाभाविक रूप से ही नैतिक होता है। उससे उचित कार्य स्वाभाविक रूप से ही होते रहते हैं। उसके व्यवहार आदर्श होते हैं। वह अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी भीतर से शान्त बना रहता है। वह सबका मित्र है तथा सबके लिए समान रूप से प्रिय है। उसके लिए बृद्धावस्था,

---

१. तेजोविन्दूपनिषद् ४।१—३२ ;
२. ध्यानविन्दूपनिषद् ८६—९० ;
३. योगकुन्डल्युपनिषद् ३।३३—३५ ;
४. योगशिखोपनिषद् १५७—१६० ;
५ वाराहोनिपद् ४।१।२।२१—३०७।

मृत्यु, दु:ख, ग़रीबी, राज्य, धन तथा जवानी आदि सब एक समान है। मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उसी का जीवन वास्तविक जीवन है। उसी का वास्तविक रूप में सब से सुखी जीवन है। जीवन्मुक्त को ही पूर्णस्वस्थ कहा जा सकता है।[1]

## विदेहमुक्त

प्रारब्ध भोगों के समाप्त हो जाने पर तथा शरीर के अन्त हो जाने पर जीवन्मुक्त, विदेह मुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त का उदय और अन्त नहीं है। न वह सत् है, न असत् और न सदसत् तथा उभयात्मक। सब रूप उसी के हैं। वह संसार चक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। विदेह मुक्त के विषय में योगवासिष्ठकार ने भी बड़ा सुन्दर विवेचन किया है।[2] मुक्त पुरुष न कहीं जाता है न आता। वह पूर्ण स्वतन्त्र है। सचमुच में उसकी अवस्था अनिर्वचनीय है। तेजोविन्दूपनिषद् में विदेह मुक्त का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।[3] वह सदैव के लिए गुणों के घेरे से बाहर निकल जाता है। नादविन्दूपनिषद् में भी विदेह मुक्त का विवेचन मिलता है।[4] योग में विदेहमुक्ति वह परम अवस्था है जिसमें प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध का ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निरोध हो जाता है और पुरुष समस्त भ्रमों से रहित होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस विदेहावस्था में संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध किसी भी कर्म के संस्कार शेप नहीं रह जाते। योगी के समस्त प्रयत्न इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही हैं। यही परम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति योगाभ्यास के द्वारा पातञ्जल योग-दर्शन में बताई गई है। इस अवस्था में पहुँचने पर सब भोगों की निवृत्ति हो चुकती है। उसके लिए कुछ शेष रह ही नहीं जाता। यह विदेह मुक्ति की अवस्था अभ्यास के द्वारा समस्त वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि के दृढ़ हो जाने पर ही प्राप्त होती है। सम्पूर्ण योगशास्त्र का मार्ग केवल इस अवस्था तक पहुँचाने के लिए ही है।

---

1. Thesis—"Yoga as a system for Physical mental and Spiritual Health"—Chapter II ( Concept of Health )

२. योगवासिष्ठ ३।९।१४—२५ ;

३. तेजोविन्दूपनिषद् ४।३३—८९ ;

४. नादबिन्दूपनिषद् ५१—५६ ;

# अध्याय २५

## मनोविज्ञान का तुलनात्मक परिचय

बड़े खेद की बात है कि भारतीय मनोविज्ञान के ऊपर कोई व्यवस्थित अध्ययन अभी तक दार्शनिकों ने वा अन्य विद्वानों ने नहीं किया। अध्ययन का यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय होते हुए भी विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ। आज तो विश्व के कुछ मनोवैज्ञानिक इस बात को मानने लगे हैं कि भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रदान किये गये मनोवैज्ञानिक विचार, आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की कमी कें पूरक हैं। अतः भारतीय विद्वानों के लिये इधर ध्यान देना अति आवश्यक है। और भारतीय विचारकों द्वारा प्रदत्त मनोविज्ञान को पूर्णरूप से प्रकाश में लाने का प्रयत्न होना चाहिये।

पाश्चात्य मनोविज्ञान आज विकसित तथा प्रयोगात्मक रूप धारण कर चुका है, तथा प्रयोगात्मक पद्धति के द्वारा अत्यधिक उन्नत हो चुका है। ऐसी विकसित तथा विकासोन्मुख स्थिति में भी पाश्चात्य मनोविज्ञान के द्वारा हमको मन की पूरी शक्तियों का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ। आज मनोविज्ञान पूर्ण रूप से एक स्वतन्त्र विज्ञान हो गया है। वह वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर रहा है तथा उसका विकास भी वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर ही हो रहा है। विज्ञान अनुभव के ऊपर आधारित है, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान तक ही सीमित है। केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्पूर्ण मन के वास्तविक रूप को व्यक्त करने में सफल नहीं हो सकता। इस पद्धति से हमको अनेक बातों का पता भी नहीं लग सकता। यह निश्चित है कि आज विज्ञान के द्वारा ऐसे-ऐसे यंत्रों का निर्माण हो चुका है कि जिनसे हमारी इन्द्रियों की शक्ति हजारोंगुनी बढ़ चुकी है। साधारण इन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव हमे नहीं प्राप्त हो सकते थे, यंत्रों की सहायता से आज उनसे बहुत अधिक प्राप्त हो रहे हैं। हमारी सुनने, देखने तथा अन्य इन्द्रियों की शक्ति हज़ारोंगुनी बढ़ गई है, किन्तु विज्ञान के इस प्रकार से विकसित होने पर भी हम उस ज्ञान तक ही अपने को सीमित रखकर मन के वास्तविक रूप को नहीं जान सके। पाश्चात्य मनोविज्ञान के विकास तथा उसके अन्वेपणों पर सन्देह नहीं किया जा सकता। आज हमारे शरीर के ऊपर अन्त:स्रावी पिण्डों की रस-प्रक्रिया के प्रभाव का अध्ययन, मस्तिष्क के विभिन्न विभागों की क्रियाओं, बृहत्-मस्तिष्कीय-वल्क ( Cerebral cortex ) के

विभिन्न क्षेत्रों, ज्ञानवाही क्षेत्र (Sensory areas), गतिवाही क्षेत्र (Motor areas), साहचर्य क्षेत्र ( Association areas ) आदि की क्रियाओं के स्थान-निरूपण तथा मस्तिष्क को प्रभावित करके इच्छानुसार विचारों, उद्वेगों और अवस्थाओं में परिवर्तन करने का ज्ञान हमें आधुनिक मनोविज्ञान ने प्रदान किया है। इतना ही नहीं, इससे कहीं अधिक ज्ञान पाश्चात्य मनोविज्ञान ने प्राप्त किया है। किन्तु, फिर भी वह सब ज्ञान सीमित तथा अपूर्ण ही है। मन की सम्पूर्ण शक्तियों का ज्ञान केवल इन्द्रिय अनुभव के ही आधार पर नहीं हो सकता।

जिन अन्य विशेष साधनों द्वारा भारतीय मनोविज्ञान हमें मन तथा आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान प्रदान करता है, उन्हें अवैज्ञानिक कह कर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। योगाभ्यास से प्राप्त शक्तियां भ्रम नहीं हैं, वे तो अनुभव सिद्ध हैं। अतः योगाभ्यास से प्राप्त अनुभवों का तिरस्कार नहीं किया जा सकता है। योग में कोई रहस्य तथा विचित्रता नहीं है, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है। योग-मनोविज्ञान तथा अन्य भारतीय मनोविज्ञान भी निरीक्षण तथा परीक्षण की वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित हैं। ठीक अन्य विज्ञानों की तरह प्रयोगात्मक पद्धति का ही प्रयोग योग में भी होता है। किन्तु, वह केवल इन्द्रियजन्य अनुभव तक ही सीमित नहीं है। वह आत्मगत तथा अपरोक्ष अनुभूति का भी प्रयोग ज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में करता है। आत्मगत तथा अपरोक्ष अनुभूति को अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है। वह पूर्णतया वैज्ञानिक है। अपितु हम कह सकते है कि हमारे सभी भारतीय दर्शन पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और व्यवहारिक हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के इतिहास की ओर ध्यान देने से हमें ज्ञात होगा कि यह वैज्ञानिक रूप इसको बहुत ही थोड़े दिनों से प्राप्त हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी तक इसका कोई विशिष्ट रूप नहीं था। इसकी प्रगति तथा एक विशेष मार्गोन्मुख होना अन्य विज्ञानों में नवचेतना व प्रगति आने के साथ ही हुआ है। कुछ वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर इसमें प्रगति हुई। शरीर शास्त्र के अन्वेषणों का प्रभाव इसके ऊपर बहुत पड़ा क्योंकि इन दोनों का अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है, और दोनों की समस्यायें तथा पद्धतियाँ भी बहुत कुछ मिलती जुलती सी हैं। इसी कारण से शरीर विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति ( Experimental Method ) के प्रचलन से प्रेरणा प्राप्त कर मनोविज्ञान भी प्रयोगात्मक बना। सर्व प्रथम १८८९ में वुण्ड्ट ( Wundt ) ( १८३२-१९२० ) ने लीपजिग

विश्वविद्यालय ( जर्मनी ) में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की और मनोविज्ञान को एक स्वतन्त्र विज्ञान की ओर विकसित करने का श्रेय प्राप्त किया। इसीलिये इन्हें आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। १९ वीं शताब्दी के इस जर्मन मनोवैज्ञानिक द्वारा मनोविज्ञान का अत्यधिक विकास हुआ। इनके शिष्य-वर्ग ने विश्व के हर कोने मे प्रयोगशालायें स्थापित कीं। किन्तु वुण्ड्ट, टिचनर ( Titchener ) आदि के यहाँ मनकी केवल चेतन अवस्था का ही अध्ययन होता रहा। उस समय अनेकानेक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, और वे सभी किसी न किसी प्रकार से मन के केवल चेतन तत्वों के अध्ययन तक ही सीमित रहे। मन की अचेतन तथा अतिचेतन ( Superconscious ) अवस्थाओं से वे सर्वदा अनभिज्ञ रहे। उनके सारे निरीक्षण केवल चेतना तक ही सीमित थे। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन आदि ने अपने आपको केवल बाह्य व्यवहार तक ही सीमित रक्खा। चिकित्सा-शास्त्र में जब औषधियों के द्वारा बहुत से रोगों का निवारण चिकित्सक न कर सके तो उन रोगों का निवारण करने के लिये उनका कारण जानने का प्रयत्न किया गया। फ्रायड ( Freud ) ने इस अन्वेषण में अचेतन मन के विषय में बहुत ज्ञान प्राप्त किया। उनके अनुसार यदि मन का विभाजन किया जाय तो चेतन मन बहुत ही कम महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हमारी सारी क्रियाएँ तथा सारा जीवन ही फ्रायड के अनुसार अचेतन मन (Unconscious mind ) से शासित है।

इस प्रकार से आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र केवल अचेतन मन और चेतन मन तक ही सीमित है। लेकिन हमारे मन की कुछ ऐसी वास्तविक शक्तियाँ तथा तथ्य हैं, जिनको हम आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा नहीं समझा सकते। बीसवीं शताब्दी का विकसित मनोविज्ञान भी मन के सब पहलुओं का ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। उसका तो अध्ययन केवल मानव के अत्यन्त सीमित व्यवहारों वा मानसिक प्रक्रियाओं का है; मन के वास्तविक रूप का ज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं है। भले ही आज उसका क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका हो। उसके अन्तर्गत मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त, सामान्य प्रौढ़ मानव के सामान्य व्यवहार व मानसिक क्रियाएँ, असामान्य व्यवहार तथा असामान्य क्रियायें, बाल-व्यवहार तथा पशु-व्यवहार, सामाजिक-व्यवहार, व्यक्तिगत व्यवहारिक भिन्नतायें, शरीर-शास्त्रीय ज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, उद्योग-धन्धे, अपराध, सुरक्षा विभाग आदि आते हैं। फिर भी इसका क्षेत्र सीमित तथा अपूर्ण ही है।

इसका मुख्य कारण भौतिकवाद के ऊपर आधारित विज्ञानों की पद्धति का ही अपनाया जाना है। भौतिकवाद के द्वारा आज बहुत सी घटनायें तथा समस्यायें समझाई नहीं जा सकती। अनेकानेक ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका हल, भौतिकवाद के ऊपर आधारित होने के कारण, मनोविज्ञान नहीं दे सकता। भौतिकवाद, जिसके ऊपर आज सब विज्ञान आधारित है, स्वयं ही संतोषजनक नहीं है। उसकी स्वयं की अनेकानेक त्रुटियाँ है जो उसके खोखलेपन को प्रदर्शित करती है। वह संतोषजनक दार्शनिक सिद्धान्त कभी नहीं माना जा सकता। भौतिकवाद के प्रकृति नामक तत्व का अनुभव न होने के कारण, उसे काल्पनिक कहना ही उचित होगा। हमारा केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान हो सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य और भी ज्ञान ( मनोजन्य ज्ञान; प्रज्ञाजन्य ज्ञान; और समाधिजन्य ज्ञान ) हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में यही अन्तर है कि भारतीय मनोविज्ञान भौतिकवाद के ऊपर आधारित नहीं है। वह केवल प्रकृति तत्वों को ही नहीं बल्कि उसके अतिरिक्त अन्य चेतन जीवों (पुरुषों, आत्माओं ) तथा ईश्वर ( पुरुष विशेष, परमात्मा) को भी मानता है। अतः दोनों में महान् अन्तर पाया जाता है। इस भेद के कारण ही पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रारम्भ होने से भी बहुतकाल पूर्व ही, भारत ने मन के सम्पूर्ण पहलुओं का वैज्ञानिक और व्यवहारात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया था जिसकी आज का पाश्चात्य मनोविज्ञान अपने में कभी महसूस कर रहा है। भला उस भौतिकवाद के आधार पर जो केवल दृश्य पदार्थों का ही अध्ययन करता है और उन्हीं को वास्तविक समझ कर द्रष्टा के विषय में विचार न करके उसकी अवहेलना करता है, हम सम्पूर्ण मन के यथार्थ ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकते है ? द्रष्टा के बिना पदार्थ कैसे ? बहुत से उच्च कोटि के दार्शनिकों ने दृश्य पदार्थों की सत्ता को केवल मन की ही कृतियाँ माना है जैसे विज्ञानवादी ( बौद्ध ) तथा बर्कले आदि ने केवल मन और उसकी क्रियाग्रों की ही सत्ता को माना है तथा उसे अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है।

आधुनिक मनोविज्ञान संवेदना, उद्वेग, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना विचार स्मृति आदि मानसिक प्रक्रियाओं तथा उनको उत्पन्न करनेवाले भौतिक कारण तथा शारीरिक अवस्थाओं का ही अध्ययन करता है। आत्मा व मन का अध्ययन वह नहीं करता। वह मस्तिष्क के कार्य से भिन्न आत्मा व मन का अस्तित्व नहीं मानता। हमको जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह सब ज्ञानेन्द्रियों से

सम्बन्धित नाडियों द्वारा बाह्य जगत् की उत्तेजनाओं के प्रभावों के मस्तिष्क के विशिष्ट केन्द्रों में पहुँचने से प्राप्त होता है। वह मानसिक भावों और विचारों को मस्तिष्क के भौतिक तत्त्वों की गतियों, प्रगतियां, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के रूप में जानता है। वह संवेदनाओं को मस्तिष्क बल्क (Cerebral cortex) की क्रिया मानता है। उसके अनुसार दृष्टि संवेदना मे मस्तिष्क-वल्क का दृष्टि-क्षेत्र क्रियाशील होता है। श्रवण संवेदना में श्रवण-क्षेत्र क्रियाशील होता है। इसी प्रकार से अन्य विभिन्न संवेदनाओं मे विभिन्न मस्तिष्कीय-वल्क क्षेत्र क्रियाशील होते हैं। अतः हमारी सारी संवेदनायें तथा ज्ञान मस्तिष्क-बल्क की क्रियाशीलता पर ही आधारित है, जिसकी क्रियायें यांत्रिक रूप से चलती रहती हैं। इस प्रकार से मनोवैज्ञानिक ज्ञान के लिये, शरीर-विज्ञान का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। उसमें भी स्नायु-मण्डल के ज्ञान के बिना मनोविज्ञान का अध्ययन होना अति कठिन है। ऐसी स्थिति में आधुनिक मनोविज्ञान हमें चेतना तथा मन की शक्तियों के विषय में कुछ भी नहीं बता सकता। मस्तिष्क की यांत्रिक क्रियाओं के द्वारा चेतना की उत्पत्ति, जो कि आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा बताई गई है, किस प्रकार से मानी जा सकती है? आधुनिक मनोविज्ञान यह नहीं समझा पाता कि मानसिक अवस्थायें, भौतिक क्रियाओं तथा स्पंदनों से बिल्कुल ही अलग है। मन और शरीर एक नहीं माने जा सकते। शरीर का ही अंग होने के नाते मस्तिष्क मन से नितान्त भिन्न है। मन या आत्मा सबका द्रष्टा है। वह स्वयंप्रकाश है, शरीर और देश दोनों का द्रष्टा है। वह देश-कालातीत सत्तावान् है। मस्तिष्क शरीर का अंग है अतः जड़ तत्व है जिसमें वस्तुओं के पारस्परिक समझने की शक्ति तथा सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता है, जो कि मन व आत्मा के द्वारा होता है। चेतना और मस्तिष्क के भौतिक स्पंदन एक नहीं माने जा सकते, भले ही उनमे सम्बन्ध हो। शरीर और मस्तिष्क के विकार से मानसिक क्रियायें विकृत वा समाप्त हो सकती हैं, अथवा मस्तिष्क स्पंदनों से चेतना जाग्रत हो सकती है, किन्तु दोनों ( मन और शरीर को ) एक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य मनोविज्ञान का अध्ययन, व्यक्तियों को नाड़ियों तथा मस्तिष्क केन्द्रों आदि तक ही सीमित है। किन्तु क्या सचमुच मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र इन्हीं तक सीमित रहना चाहिये? मन तथा चेतन सत्ता के अध्ययन के बिना उसका ज्ञान अधूरा ही माना जायेगा।

अनेक विचित्र अद्भुत तथ्य और घटनाओं को हम मन की शक्ति के विषय मे ज्ञान प्राप्त किये बिना और आत्मा के स्वरूप को समझे बिना नहीं समझा सकते। मन, बुद्धि और आत्मा को देखने के लिये किसी नवीन यंत्र का निर्माण

नहीं हो पाया है। और न इस आधुनिक मनोवैज्ञाकि पद्धति के द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त ही होसकेगा। प्रथम तो पाश्चात्य मनोविज्ञान हमें, ज्ञान क्या है? यही नहीं बता सकता। ज्ञाता के विना ज्ञान हो ही नहीं सकता। किन्तु ज्ञाता को पाश्चात्य मनोविज्ञान मे अध्ययन का विषय ही नही माना जाता। भले ही साधारण व्यक्तियों को, साधारण इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा, ज्ञाता का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बिना ज्ञान ही निरर्थक हो जाता है। योगाभ्यास में योगी सम्पूर्ण अभ्यास आत्मसाक्षात्कार के लिये ही करता है। उसकी पद्धति बिल्कुल क्रियात्मक, तथा प्रयोगात्मक है। जिन सूक्ष्म विषयों को किसी भी यन्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष करने में वैज्ञानिक असफल रहे हैं, उनका प्रत्यक्ष योगी अपने अभ्यास के द्वारा करता है। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसको सूक्ष्मतर विषयों का प्रत्यक्ष होता चला जाता है। अभ्यास से वह मन की शक्तियों को विकसित करता है जिनका ज्ञान पाश्चात्य मनोविज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

सांख्य योग में चित्त (मन) का स्थान आत्मा से भिन्न है। चित्त (प्रकृति) का विकास चेतन सत्ता के संनिधान के बिना नहीं हो सकता। अचेतन तत्व बिना आत्मा के प्रकाश के प्रकाशित नहीं हो सकते। सूक्ष्म से स्थूल की ओर विकास होता है, अर्थात् अति सूक्ष्म प्रकृति से महत्तत्व की अभिव्यक्ति होती है। उस महत्तत्व वा बुद्धि से जिसे चित्त भी कहा जाता है, अहंकार की अभिव्यक्ति होती है। सत्व प्रधान अहंकार से मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। तमस् प्रधान अहंकार से पंच तन्मात्राओं, तथा इन पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। इन पंच महाभूतों की ही अभिव्यक्ति यह सम्पूर्ण दृश्य स्थूल जगत् है। इन पंच महाभूतों से, उनका कारण, पंचतन्मात्रायें सूक्ष्म हैं। साधारण व्यक्तियों को इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। उनके लिए ये अनुमान के विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो केवल योगियों को ही होता है। पंच तन्मात्रा, मन, इन्द्रिय आदि से अहंकार सूक्ष्म होता है। अहंकार से बुद्धि, और बुद्धि से प्रकृति अधिक सूक्ष्म है। अतः योग के अनुसार मस्तिष्क शरीर का अंग होने के कारण स्थूल है। मन बहुत सूक्ष्म है। चित्त ( बुद्धि ) अत्यधिक सूक्ष्म है। कहीं-कहीं योग में अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार और मन सबको चित्त कहा है। यह चित्त जड़ होते हुये भी चेतन सत्ता के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही ज्ञान प्रदान करता है। बिना चेतन सत्ता के ज्ञान हो ही नहीं सकता। भला जड़ पदार्थ में ज्ञान कहां? चेतन सत्ता ही सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है। उसको

भूलना, जिसके बिना ज्ञान ही असम्भव है, वास्तविक लक्ष्य से मनोविज्ञान को दूर हटा देना है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान तो केवल स्थूल शरीर (नाड़ियां, मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियां आदि) तक ही सीमित है। उसमें तो योग के अनुसार चित्त जैसे सूक्ष्म जड़ तत्व का भी विवेचन नहीं है। भला जिस चित्त के ऊपर मस्तिष्क की सब क्रियाओं का होना निर्भर है अगर उसी का विवेचन मनोविज्ञान नहीं करता तो वह यथार्थरूप में मानसिक क्रियाओं का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? बिना मन के मानसिक क्रियायें कैसी? केवल इतना ही नहीं बल्कि यह चित्त वा मन भी भारतीय विचार के अनुसार प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण जड़ तत्व है, जो स्वयं अचेतन होने के कारण बिना चेतन-सत्ता के प्रकाश के ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। पाश्चात्य मनोविज्ञान की सबसे बड़ी भूल मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन और आत्मा को अध्ययन का विषय न मानना है। मन और आत्मा का विवेचन किये बिना मनोविज्ञान का अध्ययन व्यर्थ सा है। इन्द्रियाँ भी मन के संयोग के बिना ज्ञान प्रदान नहीं कर सकतीं। विषय इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर भी अगर मन का संयोग नहीं होता तो हमें विषय-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मन ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री को अर्थ प्रदान करता है। चित्त जब तक विषयाकार नहीं होता, तब तक ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु चित्त के विषयाकार हो जाने पर भी अगर उस चित्त में चेतन सत्ता (आत्मा) प्रतिबिम्बित नहीं होती, तो ज्ञान प्राप्त नहीं होता। चेतन सत्ता के प्रकाश के बिना तो सब कुछ निरर्थक है, क्योंकि चित्त तो जड़ है। यह ठीक है कि बिना इन्द्रियों तथा मस्तिष्क के साधारण रूप से वाह्य विषयों का ज्ञान नहीं होता। किन्तु केवल इन्द्रियाँ और मस्तिष्क ज्ञान का साधारण कारण होते हुये भी हमें ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। क्या बिना चित्त के आत्मा से प्रकाशित हुये ज्ञान प्राप्त हो सकता है? योग मनोविज्ञान तो हमें यहाँ तक बताता है कि मन की शक्तियाँ इतनी अद्भुत है कि बिना इन्द्रियों के भी विषयज्ञान प्राप्त हो सकता है। भूत, भविष्य, वर्तमान के सब विषय और घटनायें मन की सीमा के अन्तर्गत हैं। उस मन (चित्त वा अन्त:करण) और चेतन सत्ता के अध्ययन की अवहेलना करके, केवल नाड़ियों, मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों तक ही मनोविज्ञान के अध्ययन को सीमित रखना महान् भूल है। वास्तविक शक्ति-केन्द्र तो चेतन ही है। चित्त भी उसी के द्वारा प्रकाशित होकर चेतनसम प्रतीत होता है, अन्यथा जड़ प्रकृति का परिणाम होने से वह जड़ ही है। यह तो ठीक ही है कि चित्त, ज्ञान का ऐसा

मुख्य साधन होने के कारण कि जिसके बिना ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता, मनोविज्ञान के अध्ययन का अति आवश्यक विषय है, किन्तु बिना चेतन सत्ता के केवल इसका अध्ययन कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः चित्त और आत्मा दोनों ही मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय हैं, जिन्हें आज के पश्चात्य मनोविज्ञान ने तत्व-दर्शन का विषय कहकर अपने अध्ययन का विषय नहीं माना है।

हमें बाह्य जगत् का ज्ञान इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष के द्वारा होता है। यह पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा भारतीय मनोविज्ञान दोनों को मान्य है। किन्तु अगर मन का संयोग नहीं होता तो इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष होने पर भी हमें विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। उस मन वा चित्त का भारत में उचित विवेचन किया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में मन को मस्तिष्क की क्रिया ही माना गया है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, मन मस्तिष्क की क्रिया मात्र नहीं है। मन वा चित्त विभु होने के कारण सर्वव्यापक है और समस्त जगत् मन का विषय है। मानसिक क्रियाओं को एक प्रकार की प्राकृतिक गति संचलन समझना महान् भूल है। चेतना और मस्तिष्क के भौतिक स्पंदनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी उन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। न उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध ही स्थापित किया जा सकता है। दोनों के परस्पर प्रभावित होने पर भी दोनों को एक कहना उचित नहीं। दूसरे, अपने व्यापार के लिये वस्तुयें एक दूसरे पर, विना उनमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध के भी आधारित रह सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि आधारित विषय अपने आधार विषय का कार्य हो, अथवा उससे उत्पन्न हो। ठीक इसी प्रकार का मन और शरीर का सम्बन्ध है। बिना शरीर ( मस्तिष्क, नाड़ियां, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ) के मन बाह्य जगत् में अगर कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकता, अर्थात् अपने सम्पूर्ण कार्य सम्पादन के लिये शरीर पर ही अवलम्बित रहता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह शरीर का कार्य है, अथवा उससे उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार का सोचना ठीक ऐसा ही है जैसे दीपक के प्रकाश से पदार्थों के दीखने पर उससे यह तात्पर्य निकालें कि दीपक के प्रकाश ने हमारे देखने की शक्ति को उत्पन्न किया है। ऐसी धारणा ठीक नहीं है। इस धारणा का मुख्य कारण मनोविज्ञान का प्राकृतिक विज्ञानों की नक़ल करना ही है। यह ठीक है कि साधारणतया सामान्य व्यक्तियों का मन मस्तिष्क तथा स्नायुमण्डल के द्वारा क्रियाशील होता है। किन्तु, जिस प्रकार से किसी स्थान में विद्युत सम्बन्धी प्रकाश आदि सब विषय, बिजली के तारों तथा अन्य बिजली सम्बन्धी सामग्रियों

के द्वारा प्राप्त होते हैं, किन्तु वह तार तथा अन्य तत्सम्बन्धी सामग्री विद्युत नहीं कहे जा सकते, ठीक उसी प्रकार से हम नाड़ियों और मस्तिष्क को मन नहीं कह सकते। वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। उनको एक मानना वा एक से दूसरे की उत्पत्ति बताना उचित नहीं है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान अपनी आज की ज्ञान की विकसित स्थिति में भी केवल चेतन और अचेतन मन तक ही सीमित है, जैसा पूर्व में बताया जा चुका है। कुछ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों (schools) को छोड़कर अन्य सभी मनोवैज्ञानिक यह मानने लगे हैं कि हमारी चेतनावस्था भी बहुत कुछ अचेतन मन से शासित है। यह अचेतन मन बहुत ही शक्तिशाली है। वह हमारी चेतन प्रवृत्तियों को निश्चित करता है। उसको शक्ति को हम सामान्य रूप से नहीं जान पाते हैं, किन्तु यह प्रमाणित है कि वह हमारे व्यवहारों को प्रभावित करता रहता है। आज इस अचेतन मन का अध्ययन आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रमुख विषय बन गया है। चिकित्सक चिकित्सा-क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक अध्ययन को अत्यधिक महत्व देने लगे हैं। इसके बिना चिकित्साशास्त्र का अध्ययन आज अपूर्ण माना जाने लगा है। हर शारीरिक रोग के मानसिक कारण बताये जाने लगे हैं। अर्थात् रोगों के मूल में मानसिक विकार समझे जाने लगे हैं। जिन्हें दूर किये बिना, रोग से छुटकारा नहीं मिल सकता। मनोविश्लेषणवाद के प्रमुख मनोवैज्ञानिक, फ्रायड, युंग, तथा एडलर आदि ने बताया है कि व्यक्ति के अचेतन मन में ऐसी भावना-ग्रन्थियाँ घर कर लेती हैं जिनके कारण व्यक्ति रोगी हो जाता है। रोग का बाह्य उपचार व्यक्ति को रोग से मुक्त नहीं कर पाता। उसके लिये तो अचेतन भावना-ग्रन्थियों का ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक हो जाता है। उसके समाप्त होने पर रोग स्वयं भी समाप्त हो जाता है। मानसिक संघर्ष, हताशा ( Frustration ), ग़लत समायोजन ( Mal-adjustment ), अथवा मानसिक संतुलन की कमी से व्यक्ति के स्नायुमण्डल में विकृति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसको बहुत से रोग घेर लेते हैं। स्नायुमण्डल हमारे जीवन तथा हमारी आरोग्यता में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्नायुमण्डल के ऊपर हमारी सम्पूर्ण शारीरिक क्रियायें आधारित हैं और यह स्नायुमण्डल ज़रा सी भी मानसिक विकृति से प्रभावित हो जाता है। अतः हमारे बहुत से रोगों के वास्तविक कारण अज्ञात मानसिक भावना-ग्रन्थियां होती हैं। जैसे पेट के रोग तथा पेट से सम्बन्धित बहुत से रोग, हृदय धड़कन, आदि। फ्रायड के कथानुसार सब मानसिक रोगों का मुख्य कारण

आन्तरिक संघर्ष ( Conflict ) तथा दमन ( Repression ) है। दमन की हुई इच्छायें अचेतन मन की सामग्री बन जाती हैं। दमन के कारण ही भावना-ग्रन्थियाँ बनती हैं जो कि मानसिक रोग का रूप ग्रहण कर लेती हैं। एडलर के अनुसार आत्मस्थापन ( Self-assertion ) की मूल प्रवृत्ति की संतुष्टि न होने के कारण हीनत्व-ग्रन्थि ( Inferiority complex ) बन जाती है जिससे जीवन का समायोजन बिगड़ जाता है। अन्ततोगत्वा उसके द्वारा मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। जाने ( Janet ) ने मानसिक विच्छेद ( Mental dissociation ) का कारण शक्ति की कमी को माना है। इसी के द्वारा कभी-कभी बहु-व्यक्तित्व ( Multiple-personality ) की उत्पत्ति होती है। युंग ( Jung ) के अनुसार हमारे मानसिक रोगों का कारण प्राकृतिक इच्छाओं की अपूर्त्ति है। वातावरण से असामंजस्य व्यक्तित्व में असंतुलन कर देता है जिसके कारण सभी भावना-ग्रन्थियाँ मन को दुर्बल और सम्पूर्ण विचार भाव व्यवहारों को असम्बद्ध कर देती हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अनेक रोगों से आक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि सभी मनो-विश्लेपणवादियों की खोजों से यह पता चलता है कि पागलपन, मनोदौर्बल्य ( Psycho-neurosis ), मनोविक्षेप (Psychoses) आदि का कारण मानसिक असंतुष्टि, संघर्ष, और हताशा हैं।

इस प्रकार से चिकित्सकों ने चिकित्सा-क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रयोग करना प्रारम्भ किया, जिससे (Psycho-sometic Medicine) नामक स्वतन्त्र विज्ञान का विकास हुआ जिसके द्वारा स्नायविक दुर्बलता (Neurasthenia), कल्पनाग्रह ( Obsession ), हठप्रवृत्ति ( Compulsion ), भीतिरोग ( Phobia ), चिन्ता रोग ( Anxiety-neurosis ), उन्माद ( Hysteria ), स्थिर-भ्रमरोग (Paranoia), असामयिक मनोह्रास (Dementia Præcox), आदि का उपचार होने लगा है।

फ्रायड, युंग आदि मनोविश्लेषणवादियों के इस अचेतन मन की धारणा से भारतीय मनोवैज्ञानिक बहुत कुछ सहमत है। अचेतन मन सचमुच में उस हिम-शिला-खण्ड (Ice-berg) के जल मे डूबे हुये भाग के समान है जो दृष्टिगोचर भाग से प्रायः नौगुना अधिक होता है और जिसका अनुमान हम दृष्ट हिम-शिलाभाग से नहीं लगा सकते। हम चेतन मन से अचेतन मन के विस्तार का अनुमान नहीं कर सकते। यह अचेतन मन हमारी बहुत सी क्रियाओं से प्रमाणित होता है, और हमें अदृश्यरूप से प्रभावित करता रहता है। व्यक्ति उन अदृष्ट

प्रभावों को भले ही न समझ पाये या उनके प्रति सामान्य व्यक्तियों का ध्यान भी न जा पाये, किन्तु उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारा प्रत्येक व्यवहार उससे प्रभावित होता रहता है। भारतीय मनोवैज्ञानिक इसे संस्कार-स्कन्ध कहते हैं। योग दर्शन में ज्ञानात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक तीन प्रकार के संस्कार (Dispositions) बताये गये हैं। संस्कार पूर्व जन्मों के भी होते हैं जिन्हें वासना ( Predisposition ) कहा जाता है। इनका विशेष विवरण आगे किया जायेगा।

व्यक्ति के कार्य कौनसी अभिप्रेरक शक्ति पर निर्भर हैं, इस बात का गहन अध्ययन मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है। फ्रायड (Freud) ने इस मानसिक शक्ति को जिसके द्वारा क्रियाओं को प्रेरणा और गति प्राप्त होती है Libido ( कामशक्ति ) कहा है। उनके अनुसार हमारी प्रत्येक मानसिक क्रिया लिबिडो के ही द्वारा संचालित होती है। हमारी प्रत्येक क्रिया की यही Libido उत्तरदायी है, जिसके दमन करने से अनेक मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। युंग ( Jung ) के अनुसार लिबिडो ( Libido ) एक मानसिक शक्ति है जो हमारी प्रत्येक मानसिक क्रिया का संचालन करती है। वह असाधारण शक्ति अनेक भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती है, जिसके प्रवाह की दिशा पर व्यक्ति का व्यक्तित्व परिस्फुटित होता है। एडलर ने इसे आत्मस्थापन की प्रवृत्ति ( Instinct of Self-assertion ) कहा है। व्यक्ति की समस्त क्रियायें इस आत्मस्थापन की प्रवृत्ति की संतुष्टि पर आधारित हैं। भारतीय मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि मनुष्य में बहुतसी मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं किन्तु वे फ्रायड के और एडलर के इस मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि वे न तो कामशक्ति को और न आत्म स्थापन की प्रवृत्ति को ही अत्यधिक महत्वपूर्ण मूल प्रवृत्ति मानते हैं। मनुष्य का व्यवहार और क्रियायें केवल इन्हीं के द्वारा नहीं समझाये जा सकते। और न वे इस बात को मानने के लिये तैयार हैं कि मानव में विनाश की मूलभूत प्रवृत्ति ( Death-instinct ) है जैसा कि बाद में फ्रायड ने माना है।

वीसवीं शताब्दी के प्रयोजनवादियों ने प्राणी के प्रयोजन को मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय माना है। विलियम मेकडूगल (१८७१-१९३८) इस सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। उनका कथन है कि मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार प्रयोजनपूर्ण है, और यह प्रयोजन मूल प्रवृत्तियों के द्वारा निश्चित होता है जो कि व्यक्ति को किसी एक ध्येय की पूर्ति के लिये क्रिया करने के लिये प्रेरित करता है।

अत: इनके अनुसार हमारे सब व्यवहार प्रयोजनपूर्ण हैं। डाक्टर विलियम मेकडूगल, मनोविश्लेषणवादी फ्रायड और एडलर की प्रेरक शक्ति के विषय में, भिन्न मत रखते हैं। वे मनुष्य की चेतन और अचेतन ( Sub-conscious ) क्रियाओं को निश्चितरूप से प्रयोजनपूर्ण मानते हुए भी काम-शक्ति (Libido) या आत्मस्थापन प्रवृत्ति ( Instinct of Self-assertion ) को ही पूर्ण प्रेरक नहीं मानते, उनके अनुसार हर चेतन क्रिया के पिछे कोई न कोई प्रयोजन है।

व्यवहारवादी सम्प्रदाय जिनके जन्मदाता अमेरिकन मनोवैज्ञानिक जे० बी० वाट्सन हैं, मानव को यन्त्रवत् मानते हैं। चेतन का अस्तित्व उनके यहाँ भ्रम मात्र है। उनके अनुसार मनोविज्ञान का विषय केवल प्राणी के व्यवहार का अध्ययन करना है। वाट्सन ने कहा है कि मनोविज्ञान को हम अन्तःप्रेक्षण पद्धति के आधार पर कभी भी वैज्ञानिक नहीं बना सकते। व्यवहारवादियों ने केवल मनोविश्लेषणवादियों के अचेतन मन के अध्ययन का ही खण्डन नहीं किया है, बल्कि उन्होंने चेतन सत्ता माननेवाले सभी मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का खण्डन किया है। वे अन्तःनिरीक्षणात्मक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानने के लिये तैयार नहीं होते। उनके अनुसार मनोविज्ञान व्यवहार के निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर ही वैज्ञानिक यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व अधिकांश वातावरण पर आधारित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय व्यवहार तक ही सीमित है।

बीसवीं शताब्दी में जर्मनी का अवयवीवाद सम्प्रदाय, जिसके मुख्य प्रवर्त्तकों में से डाक्टर मैक्स वरदीमर ( Max Wertheimer ), कर्ट कौफका ( Kurt Koffka ) बुल्फगैंग केहलर ( Wolfgang Kohler ), चेतना का पूर्णता के रूप में अध्ययन करता है। उनके अनुसार अलग-अलग अवयवों के मिलने से अवयवी का ज्ञान नहीं होता। चेतना सम्पूर्ण इकाई है, वह अलग अलग मूलप्रवृत्ति व प्रत्यक्षों के संयोग से प्राप्त नहीं होती। अवयवीवाद के इस प्रकार से समग्र मन अध्ययन का विषय होने पर भी वह हमें मन की सब अवस्थाओं के विषय में पूर्णरूप से समझा नहीं पाता है। चित्त की चार अवस्थाएँ होती हैं :—१—जाग्रत्, २—स्वप्न, ३—सुषुप्ति, तथा ४—तुर्या। स्वप्न तथा सुषुप्ति तो अचेतनावस्था के भीतर आ जाती हैं। अतः पाश्चात्य मनो-विज्ञान के शब्दों में हम इन चारों अवस्थाओं को तीन अवस्थाओं के रूप में कह

सकते हैं :—१—चेतन (Conscious), २—अचेतन (Unconscious) ३—अतिचेतन ( Supra-conscious ).

इन सब सम्प्रदायों के विषय में जानने से यह प्रतीत होता है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान का कोई भी सम्प्रदाय अभी तक मन के सम्पूर्ण रूप का, भारतीय मनोवैज्ञानिकों की तरह से विवेचन नहीं कर पाया है। इन सब सम्प्रदायों की वैज्ञानिक पद्धति भी, जिनके ऊपर ये आधारित हैं, हमको अधूरे निर्णयों तक ही ले जाकर छोड़ देती हैं। किसी भी निरीक्षण या प्रयोग के द्वारा अभी तक हम मन की अति-चेतनावस्था (Supra-Conscious State of Mind) तथा इन्द्रिय निरपेक्ष प्रत्यक्षीकरण (Extra Sensory Perception) को नहीं समझ पाये है। इसका मुख्य कारण मनोविज्ञान को अपने को शुद्ध विज्ञान बनाने के चक्कर में वास्तविक तथा अपनी विशिष्ट पद्धति को छोड़कर, दूसरों की पद्धति का सहारा लेकर चलना है। मनोविज्ञान स्वयं एक शास्त्र है, जिसको अपने पैरों पर खड़ा होकर, स्वतन्त्र मार्ग बनाकर, उसपर चलना चाहिये। दूसरे विज्ञानों के ऊपर आश्रित होकर उसके सहारे चलने का परिणाम आज हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसी कारण से आज के मनोविज्ञान के द्वारा हम बहुतसी घटनाओं को नहीं समझ पाये हैं।

हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय बिषय-सन्निकर्ष के आधार पर माना जाता है, किन्तु ज्ञान सम्बन्धी कुछ ऐसी विचित्र घटनाएँ हैं जो इन्द्रियातीत तथा देशकाल से भी परे की हैं। एक व्यक्ति के मानसिक विचार और भाव अत्यधिक दूरी पर रहनेवाले व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न देश काल में एक मानसिक घटना को ठीक उसी स्वरूप में अनुभव किया जा सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के द्वारा हम इन घटनाओं को नहीं समझ सकते। आधुनिक मनोविज्ञान तो इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये गये विषयों के ज्ञान को ही समझा सकता है। इसके अनुसार मन की सारी क्रियायें दिक् काल में इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनुभव पर आधारित हैं, अर्थात् हमारा सम्पूर्ण ज्ञान देश काल-सापेक्ष-इन्द्रिय-अनुभव तक ही सीमित है। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने दो प्रकार के अलग-अलग अनुभव माने है। एक तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष (Sensory-Perception) तथा दूसरा इन्द्रिय-निरपेक्ष-प्रत्यक्ष (Extra Sensory Perception)। पहिले के नियम दूसरे पर लागू नहीं होते। एक देश-काल सापेक्ष है तथा दूसरा देश-काल निरपेक्ष, जो सामान्य बुद्धि से परे होता है। चार्वाक और मीमांसकों को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दार्शनिक इन्द्रिय-

निरपेक्ष-प्रत्यक्ष को मानते हैं। पातंजल योग में ध्यान के निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस अभ्यास के द्वारा उसे सूक्ष्म अतिन्द्रय विषयों का प्रत्यक्ष होने लगता है। चित्त की वृत्तियों का भी प्रत्यक्ष होने लगता है। चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है, "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"। पातंजल योग के अनुसार हमारी सामान्य मानसिक क्रियाओं का निरोध किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है। योगाभ्यास से बहुत सी विचित्र शक्तियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं। मन की इन शक्तियों को सिद्धियाँ कहा गया है। ये सिद्धियाँ योग के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में बाधक मानी गई हैं। योग का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करना है। बिना विवेक ज्ञान के आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता। अतः विवेक ज्ञान के बिना दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती। उस विवेक ज्ञान की अवस्था तक पहुँचने में योगी को ये सिद्धियाँ बहुत विघ्नकारक होती हैं। सामान्य व्यक्ति के मन की स्थिति शुद्ध चित्त के स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकती। शुद्ध चित्त का ज्ञान संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि ) के द्वारा प्राप्त होता है। योगी को अति दूरस्थ वा किसी भी व्यक्ति के मानसिक विचारों का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् दूसरे के मन में प्रविष्ट होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

योग-दर्शन के अनुसार चित्त व्यापक है। वह आकाश के समान विभु है। इसी को 'कारण-चित्त' कहा गया है। जीव अनन्त हैं, अतः हर एक जीव से सम्बन्धित चित्त भी अनन्त हुये। हर एक जीव से सम्बन्धित चित्त को 'कार्य-चित्त' कहा है। इस प्रकार से चित्त के दो रूप हुए 'कारण-चित्त' और 'कार्य-चित्त'। 'कार्य-चित्त', 'कारण-चित्त' की तरह, विभु नहीं है। वह शरीरानुकूल फैलता और सिकुड़ता प्रतीत होता है। चित्त तो आकाश के समान विभु होते हुये भी, वासनाओं के कारण सीमित है। अज्ञान के कारण सीमित चित्त में विषयों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतः इस 'कार्य-चित्त' को 'कारण-चित्त' में ही परिवर्तित करना असली ध्येय है। उस अवस्था में चित्त स्वच्छ दर्पण के समान भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल तथा समस्त देशों के विषयों का एक साथ ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होता है। योगी को अभ्यास की अवस्था में इन्द्रियातीत-विषयों का ज्ञान इसी कारण से प्राप्त हो जाता है। जिन सूक्ष्म विषयों का साधारण व्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, उन सब विषयों का प्रत्यक्ष योगी को होता है। उसे तो देश-काल निरपेक्ष विषयों का भी

प्रत्यक्ष होता है। दूरस्थ दृश्यों को देखना, अपने विचारों को दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचाना, जिन शब्दों को साधारण इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं, उनको सुनना, संकल्प के द्वारा विश्व की भौतिक घटनाओं मे परिवर्तन पैदा करना, विचार मात्र से रोगी को रोग से निवृत्त करना, आदि आदि अद्भुत शक्तियां योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वतः अनन्त ज्ञानवाली होती है। उसके लिये देश-काल की कोई सीमा नहीं होती। भूत, वर्तमान और भविष्य, समीप और दूर सब समान हैं। कर्म-पुद्गल के आवरण के द्वारा उसकी यह अनन्त ज्ञान की शक्ति सीमित हो जाती है। इस कर्म पुद्गल के पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाने पर ही उसमें अनन्त ज्ञान की शक्ति प्रादुर्भूत होती है। ज्यों-ज्यों जीव का यह कर्म-पुद्गलरूपी आवरण हटता जाता है, त्यों-त्यों उसकी ज्ञान-शक्ति विकसित होती जाती है। और सामान्य व्यक्ति के ज्ञान से उसमें बहुत भेद आता चला जाता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गल से आच्छादित सामान्य-जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-मन सापेक्ष होता है, अर्थात् मन और इन्द्रियों के द्वारा हमें विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान आत्मा को बिना किसी बाह्य इन्द्रियादि साधनों के, स्वयं होता है। इसी कारण से जैन मनोविज्ञान ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के ज्ञान माने हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान आत्म-सापेक्ष ज्ञान है। परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय-मन सापेक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है। वह अन्य किसी साधन पर आधारित नहीं होता। परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय-मन के द्वारा होती है। अन्य दर्शनों से जैन-दर्शन की विचार-धारा भिन्न है। वैसे तो अपरोक्ष ज्ञान के भी इन्होंने दो भेद किये हैं। साम्व्यवहारिक-प्रत्यक्ष और पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान। इन्द्रिय और मन के द्वारा प्राप्त होने के कारण साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष को पूर्णतया अपरोक्ष नहीं माना जा सकता। पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं १–केवल ज्ञान और २–विकल ज्ञान। केवल ज्ञान तो केवल केवली को ही होता है अर्थात् जिनके ज्ञान के सम्पूर्ण बाधक कर्म आत्मा से दूर हो जाते हैं, उन मुक्त जीवों को ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। इस अवस्था में जीव सर्वज्ञ होता है, अनन्त-ज्ञानरूप हो जाता है। उस समय जीवात्मा पूर्णरूप से सब विषयों का विशुद्ध रूप में देश-काल-निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। विकल-ज्ञान के भी दो स्तर हैं—१—अवधि, २—मनःप्रयय ज्ञान। जब कर्म बन्धन का कुछ भाग नष्ट हो जाता है तो उस मनुष्य को सूक्ष्म अत्यन्त दूरस्थ और अस्पष्ट वस्तुओं को

ज्ञान लेने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसकी सीमा या अवधि होती है। इसीलिये इसे अवधि ज्ञान कहा जाता है। जो व्यक्ति राग-द्वेष आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है, और जिसके कर्म बन्धन का अधिक भाग नष्ट हो चुका होता है, उसको दूसरों के मन में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके कारण वह दूसरे व्यक्तियों के भूत एवं वर्तमान विचारों को जान सकता है। इसको मनःप्रयय ज्ञान कहते हैं।

इस तरह से भारतीय मनोविज्ञान में ज्ञान इन्द्रिय-निरपेक्ष तथा इन्द्रिय मनः-सापेक्ष दोनों ही प्रकार का माना गया है। किन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानों पर आधारित होने के कारण केवल इन्द्रिय सापेक्ष-ज्ञान को ही मानता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान की यह कमी उसकी वस्तुनिष्ठ पद्धति के कारण है। मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विशुद्ध वस्तुनिष्ठ पद्धति अनुपयुक्त है। इनके ( मानसिक अवस्थाओं के ) ज्ञान के लिए तो आत्मनिष्ठ तथा सहजज्ञानात्मक पद्धति ही उपयुक्त होती है। मन के आन्तरिक रूप को हमें बाह्यनिरीक्षणात्मक पद्धति तथा प्रयोगात्मक पद्धति ठीक-ठीक नहीं बताती। अगर वैज्ञानिक यह कहें कि भारतीय मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान यथार्थ नहीं माना जाना चाहिए, तो उनका यह कहना उचित नहीं है। भारतीय मनोविज्ञान को मन के अनुभवों के ज्ञान पर आधारित होने के कारण अनुभव-मूलक तो मानना ही पड़ेगा, भले ही वह पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह से प्रयोगात्मक न हो। यदि सच देखा जाय तो एक विशिष्ट प्रकार से योग तो पूर्ण रूप से प्रयोगात्मक ही है। हर व्यक्ति योगाभ्यास के द्वारा ठीक दूसरे अभ्यासी के अनुभवों के समान ही अनुभव प्राप्त कर सकता है तो भला उन अनुभवों को मानने से इनकार कैसे किया जा सकता है? भारतीय मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि व्यक्तिगत मानसिक विकास के द्वारा मनोवैज्ञानिक तथ्यों की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है। योग-मनोविज्ञान में केवल मानसिक प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं होता बल्कि मनकी शक्ति को विकसित करने का मार्ग भी बताया गया है जो पाश्चात्य मनोविज्ञान की सीमा के बाहर की बात है, क्योंकि यह तो अब तक मन के समग्र स्वरूप का वास्तविक ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सका। भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत विचारों, उद्वेगों और संकल्पों का नियन्त्रित शिक्षण भी आ जाता है। जब एक व्यक्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी प्राप्त करके सिद्ध की जा सकती

है तो वह वैज्ञानिक ही हुआ। भारतीय मनोवैज्ञानिक आत्मनिष्ठ तथा सहजज्ञान-वादी होते हुए भी वैज्ञानिक, व्यावहारिक और गतिशील है।

आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान को बहुत से मनोवैज्ञानिक स्थिर मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान नहीं कहते। वे तो उसे गत्यात्मक बताते हैं। भारतीय मनोविज्ञान तो उससे भी कहीं अधिक गत्यात्मक है, क्योंकि वह व्यक्ति के मन को नियन्त्रित शिक्षण देकर उसकी सब अव्यक्त शक्तियों को विकसित करके उनकी अभिव्यक्ति कराता है। वह मन को व्यवस्थित मानसिक अभ्यास के द्वारा इतना शक्तिशाली बना देता है कि जिससे वह दूसरे व्यक्तियों को मानसिक प्रक्रियाओं, उद्वेगों, विचारों तथा संकल्पों को भी समन्वित करने तथा उनके मन को विकसित करने में सहायक होता है।

सब मानसिक अवस्थायें आपस में सम्बद्ध हैं, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उनका अध्ययन तो समग्रता के समन्वित रूप में ही दिया जा सकता है। सच तो यह है कि उन्हें अलग-अलग करके ठीक-ठीक समझना कठिन ही नहीं, असंभव है। विज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति की यही सबसे बड़ी कमी है। इसी कारण से आधुनिक मनोविज्ञान हमें मन के वास्तविक रूप को प्रदान नहीं कर पाता है। भारतीय मनोवैज्ञानिक ने मन का अस्तित्व नाड़ियों तथा शरीर से भिन्न और स्वतन्त्र माना है। किन्तु उसके साथ साथ उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान है कि हमारे विचार, उद्वेगों को उत्पन्न करके क्रिया प्रदान करते हैं, अतः उन्हें हम अलग नहीं कर सकते ; न किसी क्रिया को ही विचार तथा भावना से अलग कर सकते हैं। इसी प्रकार से मानसिक उद्वेग तथा क्रिया को विचार से भिन्न नहीं किया जा सकता। इसी कारण भारतीय मनोवैज्ञानिक मन को समग्रता के रूप में अध्ययन करता है। उनके अनुसार मन का विकास होता है और वे उसको विकसित करने का मार्ग भी बतलाते हैं; और मन की अतिचेतन अवस्था ( Supra-Conscious State ) को ही मन का पूर्ण विकसित रूप बतलाते हैं। इसी विकास-प्रक्रिया में वे संस्कारों (Unconscious) का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अचेतन (संस्कारों) का चेतन से अलग अध्ययन नहीं हो सकता। भारतीय मनोविज्ञान प्रारम्भ से ही व्यावहारिक है। उपनिषदों, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, सांख्य, जैन-दर्शन, वेदान्त आदि सब में व्यावहारिक मनोविज्ञान है। मन को शक्तिशाली बनाने, विकसित करने के तरीक़े बौद्धों ने भी बताये हैं। पातंजल योगदर्शन ने, जो कि सांख्य की दार्शनिक विचारधारा पर आधारित है, एक व्यवस्थित व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक ज्ञान

प्रदान किया है। अतिमानस तथा असामान्य मन एक नहीं हैं, दोनों की क्रियायें नितान्त भिन्न हैं। असामान्य मन की क्रियाओं से सामान्य मन का ज्ञान भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, जैसा करने की भूल फ्रायड आदि विद्वानों ने की है। भारत में मनोविज्ञान का मुख्य ध्येय अतिमानस की अवस्था तक पहुंचना है। समाधि प्राप्त करना है। योग के अनुसार संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि ) के द्वारा अतिमानव स्थिति में पहुँचकर व्यक्ति आत्मसत्ता के दर्शन प्राप्त करता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान आध्यात्मिक अनुभूतियों को अवैज्ञानिक तथा ग़लत कहता है। किन्तु यह उसके समझने की भूल है। योग द्वारा मन के पूर्ण प्रकाशित होने पर विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्राप्त होता है। समाधि की अवस्था में योगी को मन का समग्रता के रूप में ज्ञान होता है। वह उसके पूर्णरूप को जान जाता है। उसकी वह अवस्था हो जाती है जिसमें मन स्नायुमण्डल से स्वतन्त्र होकर क्रियाशील होता है। हमें केवल स्नायु-मण्डल के द्वारा ही मन की अवस्थाओं का ज्ञान नहीं होता, मन स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है जिसमें त्रिकाल के सम्पूर्ण विषयों का स्पष्टतम प्रत्यक्ष होता है। अनेक ध्यान आदिक तरीक़ों से मन स्वच्छ तथा पूर्ण प्रकाशित होकर अन्य विषयों को भी प्रकाशित करता है। भारतीय मनोविज्ञान तो जीवन का विज्ञान है, वह पूर्णरूपेण व्यावहारिक है। योग-मनोविज्ञान की अपनी विशेषतायें हैं तथा भारतीय मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसका अपना अलग स्थान है।

बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की प्रगति उसे प्रकृतिवाद से दूर ले जा रही है। आज के भौतिक विज्ञान का अध्ययन स्वयं प्रकृतिवाद का विरोधी होता जा रहा है। सर ऑलीवर लाज, सर आर्थर एडिंगटन, सर जेम्सजीन्स, आदि अति उच्च कोटि के भौतिक वैज्ञानिकों की रचनाओं से उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। महान् उच्चकोटि के वैज्ञानिक भी, सृष्टि के पीछे किसी आध्यात्मिक सत्ता व सत्ताओं के मानने के लिये बाध्य हो गये हैं। जैसा कि सर आर्थर एडिंगटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऑन दि नेचर आफ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड' ( On the Nature of the Physical World ) में कहा है कि "किसी अज्ञात क्रिया कलाप में कोई अज्ञात कारण प्रवृत्त हो रहा है जिसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। हमें किसी ऐसे मूल तत्त्व का भौतिक जगत् में सामना करना पड़ रहा है, जो इसमे ( भौतिक जगत् से ) परे का पदार्थ है"। इसी प्रकार से ड्रीश ( जर्मनी ), हाल्डेन ( इंगलैंड ) आदि प्रमुख प्राणि-शास्त्रज्ञों का मत है कि भौतिक और रासायनिक नियमों से हम चेतन अवस्थाओं तथा जीवन की

क्रियाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा सकते। उनको समझने के लिए हमें आध्यात्मिक और जीवन-सम्बन्धी हो कतिपय नवीन नियमों की रचना करनी पड़ेगी। उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि आज वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि इस सारे भौतिक जगत् के पीछे कोई आध्यात्मिक चेतन सत्ता है। फिर भला मनोविज्ञान कहाँ तक भौतिकवाद के ऊपर आधारित रहकर सब मानसिक समस्याओं को सुलझा सकता ?

बहुत से अलौकिक तथ्यों तथा घटनाओं को समझने के लिये, जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुये बहुत से वैज्ञानिकों को उन अलौकिक तथ्यों तथा घटनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप एक नवीन प्रकार के विज्ञान की गवेषणा प्रारम्भ हुई। इस नवीन विज्ञान का नाम 'अलौकिक घटना विज्ञान' (Psychical Research) है। इसकी उत्पत्ति सन् १८८२ ई० में इंगलैंड में हुई। इसका उद्देश्य अलौकिक घटनाओं का अध्ययन था। इन घटनाओं के अन्तर्गत एक मन का दूसरे मन के ऊपर प्रभाव का अध्ययन, मरने के बाद मृत आत्माओं के स्थानों पर प्रभाव का अध्ययन आदि। इस संस्था (Society for Psychical Research) के द्वारा पूर्ण वैज्ञानिक रूप से खोज हो रही है। इस विज्ञान के साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार तथा मानव जीवन की बहुत सी ऐसी घटनायें हैं जिन्हें भौतिकवाद के द्वारा समझाया नहीं जा सकता है। इस विषय पर *Thirty Years of Psychical Research* by Richet, *Story of Psychic Science* by Carrington, *The Psychic World, and Laboratory Investigations in the Psychic Phenomena* by Carrington, *Science and Psychic Phenomena* by Tyrrell, *Personality of Man* by Tyrrell, *Extra Sensory Perception, New Frontiers of Mind, The Reach of Mind, by* Dr. J. B. Rhine, *Psychical Research* by Driesch, *An Introduction to Para Psychology* by Dr. B. L. Atreya आदि पुस्तकों का अध्ययन करने से इस अलौकिक घटना-विज्ञान के विषय में तथा उसकी गवेषणाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पेरिस विश्वविद्यालय के शरीरविज्ञान के प्रोफेसर रिशे ( Richet ) ने अपने ३० वर्ष के यथार्थ निरीक्षण और कठिन परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव में बहुत सी

ऐसी अद्भुत शक्तियाँ हैं जैसे क्रिप्टोस्थसिया ( Cryptaesthesia ) अर्थात् अदृष्ट पदार्थों को बिना चक्षु-इन्द्रिय के देखा जाना टेलीकाइनेसिस ( Telekinesis ) प्रत्यक्ष रूपसे स्थिर विषयों में गति उत्पन्न होना एक्टो-प्लास्म ( Ecto-plasm ) वाह्यजीव रस (वाह्य प्रोटो-प्लाज्म) शून्य में से भिन्न-भिन्न जीवित आकारों का ( जैसे हाथों, शरीर तथा अन्य विषयों का ) दिखाई देना, पूर्व-सूचनायें ( Promonitions ) आदि।

रिशे के उपर्युक्त वैज्ञानिक निर्णयों *( Thirty Years of Psychic Research* पृष्ठ ५९९ *)* के अतिरिक्त विलियम मैक्डूगल ने Telepathy (मनःप्रयय) और Clairvoyance (दिव्यदृष्टि) को प्रमाणिक रूप से माना है *( Religion and Science of Life* पृष्ठ ९० )। जर्मन प्राणि-शास्त्रज्ञ प्रो॰ हेंस ड्रीश (Hans Driesch) ने अलौकिक घटना विज्ञान (Psychical Research) के विषय में बताया है कि उसका(Psychical Research का) अध्ययन ठीक मार्ग पर चल रहा है। उन्होंने Telepathy, (मनःप्रयय) Psychometry (मनोमिति), भविष्यवाणी को स्वीकार किया है। डा॰ जे॰ बी॰ राइन ( Dr. J. B. Rhine ) ने इन्द्रिय-निरपेक्ष-प्रत्यक्ष ( Extra Sensory Perception ) को वास्तविक तथ्य के रूप में स्थापित कर दिया है, जो पूर्णरूपेण प्रयोगात्मक भी है, जिसके ऊपर बहुत से प्रयोग डा॰ राइन की प्रयोगशाला में किये जा रहे हैं। टेलीपेथी ( Telepathy ) और क्लैरवाएन्स ( Clairvoyance ) अर्थात् मनःप्रयय और दिव्य-दृष्टि के अत्यधिक उदाहरण प्राप्त होने से तथा इस अलौकिक-घटना-विज्ञान की खोजों से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि मन अद्भुत शक्तियों वाला है, और वह बिना किसी वाह्य साधन के भी अद्भुत प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। आज जो सूक्ष्मशरीर या एस्ट्रल बॉडी ( Astral Body ) के नाम से पुकारा जाता है, उसके विषय में बहुत सी महत्वपूर्ण खोजें हो रही हैं। पेरिस के डा॰ रोकस ( Dr. Rochas ) इस खोज के प्रमुख जन्मदाता हैं। एम॰ हेक्टर डरविल ( M. Hector Durville ), डा॰ बरडक ( Dr. Baraduc ), डा॰ ज़ालबर्ग फान ज़ेल्स्ट ( Dr. Zaalberg van Zelst ), ओलीवर फ़ोक्स ( Oliver Fox ) आदि लोगों ने भी इस विषय में महत्वपूर्ण खोजें की हैं। इस विषय पर भी बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं। इन विद्वानों की खोजों से यह निष्कर्ष निकला है कि बिना एस्ट्रल बॉडी ( Astral Body ) या सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व के

बहुत से तथ्यों को नहीं समझा जा सकता। कैरिंग्टन ( Carrington ) ने अपनी पुस्तक *Story of Psychic Science* के पृष्ठ २८२ पर लिखा है कि मानव स्थूल शरीर से भिन्न एक एस्ट्रल बॉडी ( सूक्ष्मशरीर ) भी होती है जो स्थूल शरीर से जीवित अवस्था में भी आवश्यकतानुसार अलग हो सकती है। मृत्यु के उपरान्त तो यह एस्ट्रल बॉडी ( Astral Body ) सदा के लिये अलग हो ही जाती है। किन्तु इस एस्ट्रल बॉडी ( Astral Body ) को आत्मा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह तो आत्मा का उसी प्रकार से आधार है जिस प्रकार से स्थूल शरीर। पाश्चात्य विद्वानों की एस्ट्रल बॉडी ( Astral Body ) सम्बन्धी धारणा भारतीय सूक्ष्म शरीर ( Subtle Body ) की धारणा से बहुत कुछ समानता रखती है।

डा० एमिल कू ( Dr. Emile Coue ) अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि निर्देशन से रक्त-नालियों के फट जाने से रक्त-स्राव तक रुक जाता है, कब्ज, लकवा, ट्यूमर आदि ठीक हो जाते हैं। डा० ई० ले० बैक ( Dr. E. Le. Bec. ) की *'Medical Proofs of the Miraculous'* में बताया गया है कि ऐसा रोग जिन्हें चिकित्सक और शल्य-चिकित्सक तक भी ठीक नहीं कर सके निर्देशन, प्रार्थना आदि से ठीक हो गये हैं। इस सम्बन्ध में इस प्रकार के अनेक वैज्ञानिक अध्ययन किये गये हैं।

अब यह विज्ञान ( परा मनोविद्या ) बड़ी तेज़ी से विकसित हो रहा है और मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में यह विकसित हो रहा है। बहुत दिनों तक इसको वैज्ञानिक मनोविज्ञान ने अवैज्ञानिक कह कर मान्यता प्रदान नहीं की, किन्तु आज प्रयोगशालाओं में इस पर अनेक प्रकार से, प्रयोगात्मक रूप से, ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न देशों में इस पर प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये जा रहे हैं। जिनके द्वारा अलौकिक घटनाओं के तथ्यों की यथार्थता सिद्ध की जा रही है। अमेरिका में डा० जे० बी० राइन के द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण खोजें हुई हैं, जिनकी अवहेलना आज का आधुनिक मनोविज्ञान भी नहीं कर पाता है। अतः अलौकिक घटना-विज्ञान को आज मनोविज्ञान की ही एक शाखा के रूप में माना जाने लगा है, जिसे परा-मनोविद्या ( Para Psychology ) कहते हैं। इसकी खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि सारा विश्व तथा मानव-जीवन आध्यात्मिक-शक्तिपूर्ण हैं। शरीरनिरपेक्ष मन के द्वारा अनेक अलौकिक क्रियाओं का सम्पादन होता है, मरने पर ही समाप्ति नहीं हो जाती, इन्द्रियों के बिना भी देश-काल निरपेक्ष ज्ञान होता है। इन खोजों के द्वारा सिद्ध तथ्यों ने

सब वैज्ञानिकों को जगा दिया है, और उन्हें इसके विषय में सोचने और विचारने के लिये बाध्य कर दिया है। मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र में भी परिवर्तन हो रहा है।

आज की वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा अत्यधिक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी हमें जो ज्ञान योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त हो सकता है, वह वैज्ञानिक ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक गहरा है। योगी को सारे विश्व का ज्ञान स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है, और साथ ही साथ अनेक अद्भुत शक्तियाँ भी योगी को प्राप्त हो जाती हैं। जिन-जिन विषयों पर योगी लोग अनुभव के आधार पर जो-जो लिख गये हैं वह आज के वैज्ञानिकों को चकित किये हुये हैं, क्योंकि उनमें से बहुत से तथ्यों की जानकारी वैज्ञानिकों को भी हो रही है। अभी तक अलौकिक घटना विज्ञान भी उन्हें ठीक-ठीक नहीं जान पा रहा है। अनेक यौगिक तथ्यों तथा घटनाओं से वह अनभिज्ञ है और शायद सदा ही रहे। फिर भी अलौकिक घटना-शास्त्र ने बड़ी महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजें की हैं।

आत्म-उपलब्धि प्राप्त करने के मार्ग को ही योग कहते हैं। उस मार्ग पर चलने से आत्मोपलब्धि प्राप्त होने से पूर्व ही, योगी को अनेक शक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं, जिनमें बहुतसी ऐसी शक्तियाँ हैं, जो अभी तक अलौकिक-घटना-विज्ञान को भी ज्ञात नहीं है। पातंजल योग-सूत्र के तीसरे अध्याय ( विभूति पाद ) के १६ से ४९ सूत्र तक इन शक्तियों का वर्णन किया गया है जो निम्नलिखित हैं :—

१–योगी को तीनों परिणामों ( धर्म-परिणाम, लक्ष्मण-परिणाम, अवस्था-परिणाम ) में संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि ) कर लेने से उनका प्रत्यक्ष होकर भूत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ( १६ वाँ सूत्र )

२—योगी को शब्द, अर्थ और ज्ञान, इनके विभाग को समझ कर उसमें संयम कर लेने से समस्त जीवों की वाणी को समझने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। ( १७ वाँ सूत्र )

३—योगी को संस्कारों में संयम कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त होता है। ( १८ वां सूत्र )

४—योगी को दूसरों के चित्त का ज्ञान ( Telepathy ) होता है। ( १९ वां सूत्र )

५—योगी को अन्तर्धान होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। (२१ वां सूत्र)

६—योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। ( २२ वाँ सूत्र )

७—जिन-जिन पशुओं के बलों में संयम किया जाता है, उन-उन पशुओं का बल प्राप्त हो जाता है। जैसे हाथी और सिंह आदि के समान बल की प्राप्ति होती है। ( २४ वाँ सूत्र )

८—योगी को सूक्ष्म, छिपे हुये, तथा दूर देश में स्थित विषयों का ज्ञान (Clairvoyance) होता है। ( २५ वां सूत्र )

९—सूर्य में संयम करने से चौदहों भुवनों का ज्ञान योगी को प्राप्त होता है। ( २६ वां सूत्र )

१०—चन्द्रमा में संयम करने से योगी को समस्त तारागणों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है ( २७ वां सूत्र )

११—ध्रुव तारे में संयम करने से योगी को समस्त तारों की गति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ( २८ वां सूत्र )

१२—नाभि-चक्र में संयम कर लेने से योगी को सम्पूर्ण शरीर संगठन का ज्ञान (X-Ray Clairvoyance) प्राप्त हो जाता है ( २९ वां सूत्र )

१३—कंठ-कूप में संयम कर लेने से योगी भूख, प्यास को जीत लेता है। ( ३० वां सूत्र )

१४—कूर्माकर-नाड़ी में संयम कर लेने से चित्त और शरीर स्थिरता को प्राप्त होते हैं। (३१ वां सूत्र)

१५—ब्रह्म-रंध्र की ज्योति में संयम कर लेने से योगी को सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। ( ३२ वां सूत्र )

१६—साधक को अदृष्ट, सूक्ष्म, दूरस्थ, भूत, वर्त्तमान, और भविष्य के पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। वह दिव्य शब्द सुनता है, दिव्य स्पर्श करता है, दिव्य रूप को देखता है, दिव्य रस का स्वाद लेता है, दिव्य गन्ध का अनुभव प्राप्त करता है। ( ३६ वां सूत्र )

१७—योगी को दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है। वह जीवित या मृत किसी भी शरीर में प्रवेश करने के लिए समर्थ होता है। ( ३८ वां सूत्र )

१८—उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने से योगी का शरीर अत्यन्त हल्का हो जाता है जिससे वह पानी और कीचड़ पर आसानी से चल सकता है तथा ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। ( ३९ वां सूत्र )

१९—समान वायु को जीतने से योगी अग्नि के समान दीप्तिमान् हो जाता है। ( ४० वां सूत्र )

२०—योगी को सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसकी श्रोत्र-इन्द्रिय अलौकिक हो जाने से वह हर स्थान के शब्द सुनने की शक्ति रखता है। ( ४१ वां सूत्र )

२१—शरीर आकाश और हल्की वस्तु में संयम कर लेने से योगी को आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। ( ४२ वां सूत्र )

२२—योगी को भूतों ( पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश) की पांचों प्रकार की अवस्थाओं ( स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत् ) में संयम कर लेने से इन पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। ( ४४ वाँ सूत्र )

२३—भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।( ४५ वां सूत्र )

२४—योगी को रूप-लावण्य और बल तथा वज्र के समान दृढ़ शरीर के समस्त अंगों का संगठन प्राप्त होता है। ( ४६ वां सूत्र )

२५—योगियों को मन सहित इन्द्रियों की पाँचों अवस्था में संयम कर लेने से मन तथा समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। ( ४७ वां सूत्र )

२६—मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने से योगी में मन के समान गति, विषयों का बिना शरीर साधन के अनुभव प्राप्त करने की शक्ति, तथा प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाने की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ( ४८ वाँ सूत्र )

२७—सबीज समाधिस्थ योगी सर्वज्ञ हो जाता है। ( ४९ वाँ सूत्र )

अलौकिक अवस्था तथा यौगिक प्रत्यक्ष को अन्य भारतीय दर्शनों ने भी माना है, जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं, जैन दर्शन में अवधि ज्ञान (Clairvoyance) मनः प्रयय ( Telepathy ) और सर्वज्ञत्व ( Omniscience ) का वर्णन किया गया है। योगवासिष्ठ में तो मन में सृष्टि-रचने तक की शक्ति बताई गई है। इस तरह से चित्त की अद्भुत शक्तियों का वर्णन समस्त भारतीय दर्शनों में मिलता है।

पातंजल-योग-दर्शन में आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये मन को प्रारम्भ में स्थूल विषयों पर इन्द्रियों द्वारा एकाग्र किया जाता है। ये स्थूल विषय सूर्य,

चन्द्र, शरीर, देव-मूर्ति आदि कोई भी हो सकते हैं। चित्त को स्थूल पदार्थों पर इस प्रकार एकाग्र करके निरन्तर अभ्यास द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप को सम्पूर्ण विषयों सहित, जिनको पूर्व में न तो कभी देखा, न सुना, और जिनका अनुमान ही किया, संशय विपर्यय रहित प्रत्यक्ष करने की अवस्था को वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस स्थूल विषय की भावना का अभ्यास कर लेने के बाद वह जब पंच-तन्मात्राओं तथा ग्रहणरूप शक्तिमात्र इन्द्रियों को उनके वास्तविक रूप में, सम्पूर्ण विषयों सहित, संशय-विपर्यय रहित प्रत्यक्ष कर लेता है, तब इस प्रत्यक्ष करने की अवस्था को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके निरन्तर अभ्यास से जब एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि अहंकार का सम्पूर्ण विषयों सहित प्रत्यक्ष होता है तो उस स्थिति को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके बाद अभ्यास के बढ़ जाने पर वह अवस्था आ जाती है जिसमें अस्मिता का साक्षात्कार होता है। उस अवस्था को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। अस्मिता पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त है। चित्त प्रकृति का प्रथम विकार या परिणाम है। इस अवस्था में अस्मिता में ही आत्म-अध्यास बना रहता है। प्रकृति-पुरुष भेद-ज्ञान रूप विवेक-ख्याति, उच्चतम सात्विक वृत्ति होते हुये भी है तो वृत्ति ही है। अतः इसका भी निरोध होना अति आवश्यक है। इस वृत्ति का निरोध परम वैराग्य द्वारा होता है। इसके निरोध के बाद की अवस्था ही असम्प्रज्ञात समाधि है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इससे पूर्व की चारों समाधियाँ सालम्ब और सबीज समाधियाँ हैं। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था ही निरूद्धावस्था है। इस अवस्था में केवल निरोध परिणाम ही रह जाता है। जैसे स्फटिक के पास रक्खे हुये लाल फूल को लाली स्फटिक में भासती है तथा एकता का भास होता है वैसे ही चित्त और पुरुष के सन्निधान से उनकी एकता के भ्रम के कारण ही जीव दुःखी, सुखी आदि होता रहता है। अतः चित्त के प्रकृति में लीन होते ही पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त होता है तथा उसकी समस्त वृत्तियों का अभाव हो जाता है, क्योंकि वृत्तियाँ तो चित्त की होती हैं, चित्त के न रहने पर उनका अभाव निश्चित ही है।

इस स्थिति को ही कैवल्य कहते हैं, जो कि योगी को योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त होती है। इस अवस्था में जीव को दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान का लक्ष्य कैवल्य

प्राप्त करना कभी नहीं रहा है, न उसने कभी किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये ज्ञान ही प्राप्त किया है। उसका ज्ञान तो केवल मानसिक प्रक्रियायें क्या हैं, इस तक ही सीमित है। केवल इन तथ्यों का ही ज्ञान प्राप्त करना तथा उन तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने तक ही उसका क्षेत्र सीमित है।

अलौकिक घटना विज्ञान में भी वास्तविक तथ्यों तथा घटनाओं का ही अध्ययन किया जा रहा है। मन की उन शक्तियों का अध्ययन परा मनोविद्या ( Para-Psychology ) वाले कर रहे हैं, जो घटनाओं और तथ्यों के रूप में उन्हें प्राप्त हैं। मन को विकसित करने का साधन ये लोग भी नहीं खोज रहे हैं। वास्तविक तथ्यों से बाहर इनकी पहुंच नहीं है। किन्तु योग यह बतलाता है कि अभ्यास द्वारा व्यक्ति किन-किन अवस्थाओं को प्राप्त कर लेता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर हो सकता है। जीवात्मा उनके यहाँ अनन्त-ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य वाला है। किन्तु वह अनादि काल से कर्म-बन्धन से लिप्त होने के कारण अल्पज्ञ है। कर्म-पुद्गलों के आवरण के दूर होने पर वह सर्वज्ञ हो जाता है। हर एक जीव इनके यहाँ घातिक कर्मों को नष्ट करने के बाद ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है, जिसको इन्होंने केवली कहा है। इसी प्रकार से सब भारतीय दर्शनों में उस उच्चतम मुक्तावस्था को प्राप्त करने के साधन बताये गये हैं। उन साधनों के द्वारा व्यक्ति अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति करता है। अतः भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन को विकसित करने के अर्थात् उसे पूर्ण-शक्तिवान् बनाने के साधन आ जाते हैं। इन साधनों के द्वारा जो भी व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करना चाहे कर सकता है। अतः भारतीय मनोविज्ञान पूर्णतः प्रयोगात्मक है। जो अनुभव एक व्यक्ति की अवस्था-विशेष में साधन-विशेष के द्वारा प्राप्त होते हैं, वे ही अनुभव दूसरे व्यक्ति को भी उसी अवस्था और साधन के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। अनुभवों का तिरस्कार विज्ञान, दर्शन तथा धर्म कोई भी नहीं कर सकता। वे अनुभव वास्तविक तथ्य हैं। मनोविज्ञान उन मानसिक तथ्यों के अध्ययन को कैसे छोड़ सकता है? अतः उनका अध्ययन भी मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र के अन्तर्गत ही हो जाता है, जिससे आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान वंचित है। इस प्रकार से आज का मनोविज्ञान अधूरा ही है। उसे समाधिजन्य अनुभवों का ज्ञान नहीं है। भले ही परा-मनोविद्या में टैलीपैथी ( Telepathy ) और

क्लेरवोएन्स (Clairvoyance), अर्थात् मनःप्रयय, दिव्य-दृष्टि, इन्द्रिय-निरपेक्ष शक्तियों का अध्ययन है, किन्तु इनकी तुलना हम समाधि अवस्था से नहीं कर सकते। समाधि अति-मानस अवस्था है, जो साधनविशेष के द्वारा प्राप्त होती है, जिसका वर्णन् पूर्ण रूप से उपयुक्त स्थान पर किया जा चुका है[1]।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त, सबसे बड़ी विशेषता भारतीय मनोविज्ञान की यह है कि वह चेतन सत्ता के अध्ययन को ही मुख्यता प्रदान करता है। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह चेतना के आधार ( आत्मा ) को ही भूल गया है। जड़ पदार्थों में भला ज्ञान कहाँ? चेतन सत्ता के बिना तो ज्ञान हो ही नहीं सकता। आत्मा के बिना ज्ञान असम्भव ही है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इस भूल के कारण अपने लक्ष्य से दूर अन्यत्र पहुंच गया है। यह सत्य है कि साधारणतया इन्द्रियाँ ही हमारे विषय ज्ञान के साधन हैं, किन्तु बिना मन के सहयोग के इन्द्रियाँ भी हमें विषय ज्ञान प्रदान नहीं कर सकतीं। मन ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री को अर्थ प्रदान करता है। चित्त के विषयाकार हुये बिना ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता और चित्त आत्मा की सत्ता के द्वारा प्रकाशित हुये बिना, विषयाकार होने पर भी ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। अतः चेतन सत्ता का अध्ययन मनोविज्ञान का मुख्य विषय होना चाहिये, जो आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं है।

आज का वैज्ञानिक जगत् जिन कतिपय, अद्भुत तथ्यों से प्रभावित और आश्चर्यान्वित हो रहा है, वे तो योग मार्ग पर चलने में प्राप्त होने वाली शक्तियाँ है, जिन्हें लक्ष्य प्राप्ति में वाधक माना गया है। इनके प्राप्त करने की इच्छा न होते हुये भी ये तो योगाभ्यास से स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। सांसारिक व्यक्तियों के लिये ये शक्तियाँ बहुत महत्व रखते हुये भी उच्चतम जिज्ञासु के लिये बाधक ही मानी गई हैं। वैसे तो इन्हें प्राप्त करने के लिये भी योग मे बहुत से तरीके वर्णित है। आज जिन अलौकिक घटनाओं और तथ्यों ने आधुनिक जगत् को चकित कर रक्खा है, उनका भारतीय मनोविज्ञान और पातंजल-योग में कोई उच्च स्थान नहीं हैं।

---

१. इसी ग्रन्थ योग मनोविज्ञान का २० वाँ अध्याय देखने का कष्ट करें।

उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र भारतीय मनोविज्ञान तथा योग मनोविज्ञान का है। पाश्चात्य मनोविज्ञान को भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन से अपनी कमियों की पूर्ति करके लाभ उठाना चाहिये। भारतीय मनोविज्ञान अपने में पूर्ण है। उसके अन्तर्गत विश्व संचालक का अध्ययन भी आ जाता है, जिसकी सचमुच में अवहेलना नहीं की जा सकती। इतना होते हुये भी भारतीय मनोविज्ञान क्रियात्मक तथा प्रयोगात्मक है। अतः इससे प्राप्त ज्ञान में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

---

# अध्याय २६

## स्नायुमण्डल, चक्र तथा कुण्डलिनी[1]

आज के विद्वानों के लिये यह एक अन्वेषण का विषय है कि प्राचीन काल में विद्वानों को शरीर-रचना का ज्ञान ( Anatomy ) था वा नहीं। शरीर की आन्तरिक रचना तथा उसके आन्तरिक विभिन्न अवयवों का ज्ञान अगर था तो उसकी तुलना आधुनिक शरीर-विज्ञान ( Physiology ) के ज्ञान से करने पर उसको कौन सा स्थान प्राप्त होता है। शरीर-रचना-विज्ञान ( Anatomy ) सम्बन्धी उनका ज्ञान आधुनिक ज्ञान से किस सीमा तक समानता रखता है ? इस विषय सम्बन्धी प्राचीन ज्ञान की क्या विशिष्टता है ? किन-किन बातों में उसे हम आधुनिक ज्ञान से निम्न व उच्च कह सकते हैं ? प्राचीन विद्वानों ने इस ज्ञान को कैसे प्राप्त किया था ? क्या उनकी उस पद्धति को अपनाकर आज भी हम इस ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं ? ये सब प्रश्न, इस विषय में अन्वेषण करने वाले के समक्ष उपस्थित होते हैं। यह खोज का विषय होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि चाहे जिस प्रकार से भी हो, यह ज्ञान प्राचीन काल के विद्वानों को निश्चित रूप से था, जो कि इस विषय के आधुनिक ज्ञान से बहुत कुछ मिलता जुलता है। शास्त्रों में इसका विवेचन मिलता है। योगाभ्यास के लिये शरीर विषयक ज्ञान नितान्त आवश्यक होता है। योगाभ्यास शरीर में विद्यमान षट्-चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों तथा शरीर के पाँच आकाशों के ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता जो कि गोरक्ष-संहिता के नीचे दिये श्लोक से व्यक्त होता है :—

"षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥" गोरक्ष पद्धति ॥१३॥

इसी का वर्णन योगचूडामणि उपनिषद् में भी किया गया है[2]। हमारे मत से यह कहना कि प्राचीन भारतीय विद्वानों को शरीर-रचना-शास्त्र

---

१. इसके तुलनात्मक विशद विवेचन के लिये लेखक का 'भारतीय मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

२. योग चूड़ामण्युपनिषत्—३।

( Anatomy ) तथा शरीर-विज्ञान ( Physiology ) का ज्ञान न्यून था, अनुचित है। इस स्थूल शरीर के ज्ञान का जिसको कि शास्त्रों में अन्नमय कोष कहा गया है, बहुत बड़ा महत्व था। प्राचीन काल के गुरुओं को शरीर की रचना तथा उसके विभिन्न भागों का पूर्ण और विस्तृत ज्ञान वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा प्राप्त था। जिसे कि वे अपने शिष्यों को अध्यापन के द्वारा प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त विच्छेदन (Dissection) के द्वारा भी शरीर का ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है तथा तक्षशिला आदि शिक्षा केन्द्रों में शल्य-चिकित्सा का शिक्षण होने के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

शास्त्रों की भाषा को ठीक-ठीक समझ न पाने के कारण, शास्त्रों का ज्ञान आधुनिक विद्वानों के लिये रहस्यपूर्ण सा हो गया है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि हम शास्त्रों का परिश्रम के साथ अध्ययन और मनन करने का कष्ट नहीं उठाते तथा उस बहुत बड़े ज्ञान भण्डार में प्रवेश करने की रुचि ही नहीं रखते। शास्त्रों के अनुवाद सामान्यतः बहुत धोका देनेवाले होते हैं। उनसे हम शास्त्रों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। ऐसा होते हुए भी बहुत-सी शरीर-सम्बन्धी बातें स्पष्ट रूप से भी ग्रन्थों में प्राप्त होती है। हमारे तन्त्रों में नाड़ियों का विवेचन बहुत स्पष्ट रूप से मिलता है। योग उपनिषदों में स्नायु-मण्डल ( Nervous System ) के बारे में बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है। सुषुम्ना ( Spinal-cord ) का विस्तृत विवेचन तथा महत्व योगशिखोपनिषत् में बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है, जो कि रहस्यमय नहीं कहा जा सकता। सुषुम्ना की स्थिति तथा उससे समस्त नाड़ियों का सम्बन्ध शास्त्रों में करीब-करीब आधुनिक शरीर-विज्ञान ( Physiology ) के समान ही प्राप्त होता है। बहुत स्थल ऐसे हैं कि जिनसे यह प्रतीत होता है कि शरीर-विज्ञान ( Physiology ) का ज्ञान प्राचीन काल में आज के ज्ञान से भी कहीं अधिक था। उसके न्यून होने का तो प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी इस शरीर विज्ञान ( Physiology ) सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन मिलता है।[१] शरीरको उपनिषदों में अन्नमय कोष तथा वेदों में देवपुरी अयोध्या कहा गया है। उसके भीतर सूक्ष्मरूप से समस्त विश्व विद्यमान है।[२] योग में इस शरीर का ज्ञान

---

१. शुश्रुत शरीर-स्थानम् और चरक शरीर-स्थानम्।

२. शिवसंहिता—२।१, २, ३, ४, ५।

अति आवश्यक है। इसीलिये योगी को शरीर विषयक ज्ञान से परिचित होना पड़ता था। अथर्ववेद में शरीर को आठ-चक्र तथा नव द्वारों वाली देवों की अयोध्यापुरी कहा गया है।[1] योग सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रन्थों में शरीर विज्ञान (Physiology) का विवेचन प्राप्त होता है। उनमें हमें नाड़ी चक्र, प्राण, हृदय (Heart), फेफड़े (Lungs), मस्तिष्क (Brain) आदि का विशिष्ट प्रकार का विवेचन प्राप्त होता है जो कि अपने निराले ढंग से किया गया है। वह आधुनिक शरीर विज्ञान ( Physiology ) के विवेचन से भिन्न है। डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने भी प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के आधार पर किये गये शरीर-विज्ञान (Physiology) का विवेचन किया है।[2] शिवसंहिता में मस्तिष्क (Brain), सुषुम्ना ( Spinal cord ), केन्द्रीय स्नायु मंडल ( Central-Nervous-system ) के भूरे और श्वेत पदार्थ (Gray and White matters), सुषुम्ना ( Spinal-cord ) का केन्द्रीय रन्ध्र ( Central Canal ) तथा कुछ मस्तिष्क के खोखले भागों ( Ventricles ) का विवरण पाया जाता है। सुषुम्ना के केन्द्रीय रन्ध्र का सम्बन्ध मस्तिष्क के खोखले भाग ब्रह्म-रन्ध्र से बताया गया है। इसके अतिरिक्त स्नायु मण्डल ( Nervous system ) के अनेकों स्नायु गुच्छों तथा स्नायु-जालों (Ganglia and Plexuses) का विवेचन भी मिलता है। बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral cortex ) के परिवलनों ( Convolutions ) को चन्द्रकला कहा गया है। तन्त्रों में जो नाम दिये गये हैं वे इतने रहस्यपूर्ण हैं कि उनको आधुनिक शरीर रचना शास्त्र ( Anatomy ) तथा शरीर विज्ञान ( Physiology ) में आये हुए नामों से सम्बन्धित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, किन्तु मेजर बी. डी. बसु ने इनके रहस्यों का उद्घाटन करने का प्रयास किया है, जिसमें उन्होंने नाड़ी, चक्र आदि को आधुनिक नामों से व्यवहृत करने का प्रयत्न किया है। "तन्त्रों का शरीर-रचना-विज्ञान" ( Anatomy of Tantras ) नामक लेख में जो कि १८८८ मार्च के 'थियासोफिस्ट' में प्रकाशित हुआ था, इन्होंने योगियों और तान्त्रिकों के द्वारा शास्त्रों में दिये गये रहस्यमय नामों को आधुनिक नामों से सम्बधित करने का प्रयास किया है।

---

१. अथर्ववेद—का० १०, अ०-१, सू०-२ का ३१, ३२।

2. The Positive Sciences of the Ancient Hindus page 200-232.

इसी प्रकार से डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने अपनी पुस्तक "The Positive Sciences of the Ancient Hindus" में तन्त्रों के अनुसार स्नायु-मंडल ( Nervous system ) का विवेचन तथा चक्र नाड़ियों आदि को आधुनिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है[1]। महामहोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ "प्रत्यक्ष शरीरम्" तथा 'शरीर परिवेष' में शरीर रचना शास्त्र ( Anatomy ) का अति सुन्दर विवेचन किया है।

डा० राखालदास राय ने अपने Rational Exposition of Bharatiya Yoga-Darshan में बड़े सुन्दर ढंग से अपना विशिष्ट प्रकार का षट्-चक्र, नाड़ी आदि का विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने शास्त्रों को अपने अलग ढंग से समझा और समझाया है।

श्री पूर्णानन्द जी के द्वारा "षट् चक्र निरूपण" में षट्-चक्रों का निरूपण ५७ श्लोकों में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। ऋग्वेद के "सौभाग्य लक्ष्मी" उपनिषद् में नौ चक्रों का विवेचन मिलता है जो कि आदिनारायण के द्वारा देवताओं के पूँछने पर किया गया है। योगस्वरोदय में भी नौ चक्रों का विवेचन मिलता है। षट्-चक्रों का विवेचन बहुत से तन्त्रों में दिया गया है, जिनमें से वामकेश्वर तन्त्र और रुद्रयमल-तन्त्र अत्यधिक प्रामाणिक हैं।

तन्त्रों में चेतना ( Consciousness ) का केन्द्र मस्तिष्क ( Brain ) को माना गया है। उन्होंने प्रमस्तिष्क-मेरु-तन्त्र ( Cerebro-Spinal-System ) केद्वारा समस्त चेतना का विवेचन किया है। उन्होंने नाड़ी शब्द का प्रयोग अधिकतर स्नायु ( Nerve ) के लिये किया है। उन्होंने शिराओं का प्रयोग कपाल-तन्त्रिकाओं ( Cranial Nerves ) के रूप में किया है। ब्रह्मरन्ध्र को जीव का स्थान बताया है। मेरु दण्ड ( Vertebral-Column ) में सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी तथा मनोवहा नाड़ियाँ हैं। स्वतः संचालित स्नायुमण्डल के अन्तर्गत ऐसे बहुत से नाड़ी गुच्छों के केन्द्र ( Ganglionic Centres ) तथा जालिकायें ( Plexuses ) हैं, जिन्हें चक्र और पद्म का नाम दिया गया है। जहाँ से नाड़ियाँ, शिराएँ और धमनियाँ समस्त शरीर में

---

१. The Positive Sciences of the Ancient Hindus Page 218—228.

व्याप्त हो जाती हैं। इस प्रकार से तन्त्रों में हमें स्नायु-मण्डल तथा उसके अन्तर्गत आनेवाले स्नायु-गुच्छों, मस्तिष्क, मेरु-दण्ड आदि का विवेचन प्राप्त होता है। इस अध्याय में हम सूक्ष्म-रूप से नाड़ी, चक्र आदि को लेकर उनका अलग-अलग वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

## स्नायु-मण्डल[1]

शिव-संहिता में साढ़े तीन लाख (३५०००० ) नाड़ियों का उल्लेख है[2]। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् तथा अन्य योग-उपनिषदों में बहत्तर हज़ार (७२०००) बड़ी और छोटी नाड़ियों का विवेचन मिलता है। भूतशुद्धि-तन्त्र तथा गोरक्ष पद्धति में बहत्तर हज़ार नाड़ियों का उल्लेख मिलता है। प्रपञ्च सार तन्त्रनाड़ियों की संख्या तीन लाख (३०००००) बताता है[3]। नाड़ियों की संख्या में यह भेद नाड़ियों के उप-विभाजन के कारण हो सकता है। नाड़ियाँ केवल एक ही प्रकार की नहीं हैं, बल्कि इनका विभाजन अनेक सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियों में होता है। कुछ नाड़ियाँ तो इन्द्रियों के द्वारा दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु कुछ ऐसी भी हैं कि जिनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकता। स्थूल शरीर में इन नाड़ियों का जाल-सा बिछा हुआ है। शरीर का कोई अङ्ग व स्थान चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, नाड़ियों से रहित नहीं है। शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएँ इन नाड़ियों के द्वारा ही होती हैं। नाड़ियों के द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर के विभिन्न अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है तथा शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता रहता है। शास्त्रों में हमें सभी नाड़ियों के नाम प्राप्त नहीं होते किन्तु कुछ मुख्य नाड़ियों के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। दर्शनोपनिषत् में बहत्तर हज़ार (७२०००) नाड़ियों में से चौदह (१४) मुख्य नाड़ियों के नाम दिये गये हैं। ये १४ नाड़ियाँ सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्त-जिह्विका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी,

---

१. इसके विस्तृत और तुलनात्मक विवेचन के लिये लेखक के "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ को देखने का कष्ट करें।

२. शिव संहिता—२।१३

३. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्—६६-७६; ध्यानबिन्दूपनिषत्—५१; गोरक्ष-पद्धति—१।२५।

पयस्विनी, वरुणा, अलम्बुसा, विश्वोदरी, यशस्विनी हैं। शिवसंहिता में भी उपर्युक्त चौदह नाड़ियों के नाम प्राप्त होते हैं[१]। इन चौदह नाड़ियों में भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीन मुख्य हैं जिनका विस्तृत विवेचन प्रत्येक योग ग्रन्थ में प्राप्त होता है[२]। इन तीन में भी सुषुम्ना का स्थान योग में सर्वोच्च है। अन्य नाड़ियाँ उसके ही अधीनस्थ हैं[३]। शाण्डिल्योपनिषत् में सुषुम्ना नाड़ी को विश्वधारिणी कहा है। इसको ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है। यह सुषुम्ना गुदा के पीछे से मेरु-दण्ड ( Vertebral Column ) में स्थित है[४]। योगशिखोपनिषत् में सुषुम्ना का विशिष्ट विवेचन मिलता है। हृदय की एक-सौ-एक (१०१) नाड़ियों का विवेचन किया गया है, जिनके मध्य में एक परा नाम की नाड़ी है, जो समस्त दूषणों से रहित ब्रह्म-रूप मानी गई है। इस परा में ही ब्रह्म-रूप सुषुम्ना लीन है[५]।

गुदा के पृष्ठ भाग में मेरुदण्ड है जो कि सम्पूर्ण शरीर को धारण किये हुये हैं। इस मेरुदण्ड के खोखले भाग में ही ब्रह्मनाड़ी की स्थिति बताई गई है जो कि इड़ा और पिंगला के बीच में स्थित है। इस ब्रह्मनाड़ी को ही सुषुम्ना कहा गया है[६]। सुषुम्ना से ही शरीरस्थ समस्त नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं। योग-शिखोपनिषत् में शरीर के अन्तर्गत सुषुम्ना में ही समस्त विश्व की स्थिति मानी गई है। विश्व के प्राणियों की अन्तरात्मा इस सुषुम्ना से ही सम्पूर्ण नाड़ी-जाल सम्बन्धित है[७]। सुषुम्ना के जानने से जो पुण्य प्राप्त होता है, उसका सोलहवाँ हिस्सा भी गंगा तथा समुद्र स्नान और मणि-कर्णिका की पूजा करने से नहीं प्राप्त होता है[८]। कैलाश-दर्शन, वाराणसी में मृत्यु, केदारनाथ का जलपान तथा सुषुम्ना के दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति होती है[९]। सुषुम्ना के ध्यान के द्वारा प्राप्त योग से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका सोलहवाँ हिस्सा भी हज़ारों

१. दर्शनोपनिषत्—४।५-१०; शिव-संहिता—२।१४, १५।
२. शिव-संहिता—२।१४-१५।
३. शिव-संहिता—२।१६।
४. शाण्डिल्योपनिषत्—१।४।१०।
५. योग-शिखोपनिषत् ६।५।
६. योग-शिखोपनिषत्—६।८, ९।
७. योग-शिखोपनिषत्—६।१३।
८. योग-शिखोपनिषत्—६।४१।
९. योग-शिखोपनिषत्—६।४२।

अश्वमेध यज्ञों के करने से नहीं प्राप्त हो सकता। सुषुम्ना के विषय में वार्ता करने से समस्त पाप नष्ट हो कर परमानन्दोपलब्धि होती है। सुषुम्ना ही सबसे बड़ा तीर्थ, जप, ध्यान, और गति है। सुषुम्ना के ध्यान से जो योग प्राप्त होता है, उसका सोलहवाँ हिस्सा भी अनेक यज्ञ, दान, व्रत, नियम आदि के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[1] यह सुषुम्ना शरीर के मध्य में स्थित है। मूलाधार से प्रारम्भ होकर यह ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचती है[2]।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शरीर-विज्ञान ( Physiology ) के अनुसार यह सुषुम्ना मेरु-दण्ड-रज्जु है, जो कि मस्तिष्क के चौथे खोखले भाग तक पहुँचती है। यह चौथा खोखला भाग ( Fourth Ventricle) ही ब्रह्म-रन्ध्र कहा जा सकता है जो कि प्रमस्तिष्क-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal-fluid ) से भरा रहता है। यह सुषुम्ना अन्तिम ऊपरी हिस्से में खुलती है जहाँ से तृतीय खोखले हिस्से ( Third Ventricle ) में पहुँचती है। इसी प्रकार से इसका वर्णन त्रिशिखोपनिषत् में भी आया है। सुषुम्ना नाड़ी को शरीर के मध्य में मूलाधार चक्र पर स्थित बताया है। वह पद्म-सूत्र की तरह से है जो कि सीधी ऊपर की ओर जाती है। इस स्थल पर यह प्रतीत होता है कि इसी में वैष्णवी और ब्रह्म-नाड़ी भी साथ-साथ स्थित हैं[3]। दर्शनोपनिषत् में भी नाड़ियों की गिनती बतायी गयी है, जिनमें चौदह नाड़ियों के नाम बताकर तीन को मुख्य बताया है। उसमें से भी ब्रह्म-नाड़ी को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और उसे सुषुम्ना कहा है, जिसको रीढ़ की हड्डियों के छिद्र में स्थित बताया है। सुषुम्ना इन रीढ़ की हड्डियों के छिद्रों में से होकर सीधे मस्तिष्क तक चली गई है[4]। इस कथन से भी सुषुम्ना का मेरुदण्ड-रज्जु ( Spinal Cord ) होने का ही निश्चय होता है। ब्रह्मविद्योपनिषत् में भी सुषुम्ना का विवेचन परा नाड़ी नाम से कहकर किया गया है। यह वर्णन भी उपर्युक्त वर्णन के समान ही है[5]। योगचूड़ामण्युपनिषत् में ब्रह्म-रन्ध्र के मार्ग में सहस्र-दल वाले चक्र का विवरण मिलता है[6]। इससे

१. योग-शिखोपनिषत्—६।४३।
२. अद्वैयतार्कोपनिषत्—५
३. त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषत्—मन्त्रभाग–६६–६९।
४. दर्शनोपनिषत्—४।५-१०।
५. ब्रह्मविद्योपनिषत्—१०।
६. योगचूड़ामण्युपनिषत्—६।

यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म-रन्ध्र के ऊपर ही बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral-Cortex) में ही सहस्र-दल वाला चक्र स्थित है। 'षट्-चक्र निरुपण' में सुषुम्ना नाड़ी के भीतर बज्रा नाड़ी बतायी गयी है, तथा उस बज्रा के भीतर तीसरी चित्रणी नामक नाड़ी बतायी गयी है[१]। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुषुम्ना नाड़ी में, जिसे हम मेरु-दण्ड-रज्जु कह सकते हैं, जो मूलाधार से चलकर ब्रह्म-रन्ध्र तक पहुँचती है, कई नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। ब्रह्म-नाड़ी, चित्रणी, बज्रा, सुषुम्ना ये सब मिल कर के मेरु-दण्ड-रज्जु कही जा सकती हैं। इनके बीच में एक अति सूक्ष्म छिद्र है, जिसको मेरु-दण्ड-रज्जु का केन्द्रीय छिद्र ( The Central Canal of the Spinal cord ) कहते हैं। यह छिद्र प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebrospinal fluid ) से भरा रहता है। तन्त्रों में मस्तिष्क और सुषुम्ना को ही चेतना का केन्द्र बताया है। समस्त चेतना का कार्य मस्तिष्क और सुषुम्ना के नीचे से ऊपर के सब भागों से होता रहता है। मेरु-दण्ड ( Vertebral column ) में ही सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी तथा मनोवहा नाड़ी स्थित हैं। सहानुभूतिक-स्नायु-मण्डल इस मस्तिष्क-मेरु-धुरी ( Cerebro-spinal Axis ) से सम्बन्धित है। इस सहानुभूतिक स्नायु मण्डल में बहुत से चक्र और पद्म स्थित हैं, जिनसे नाड़ियाँ निकल कर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं। सुषुम्ना में ही इन सब चक्रों की स्थिति बताई गई है। चित्रणी नाड़ी सुषुम्ना में स्थित इन सब चक्रों के मध्य में से होकर गुज़रती है। शिवसंहिता में चित्रा नाड़ी का वर्णन आया है, जिसे मेरुदण्ड रज्जु में सबसे भीतरी कहा गया है तथा जिसके भीतर के सूक्ष्मतम छिद्र को ब्रह्म-रन्ध्र का नाम दिया गया है[२]। इससे यह प्रतीत होता है कि मेरु-दण्ड रज्जु के छिद्र तथा मस्तिष्क के खोखले भागों, जिनमें कि सुषुम्ना का यह छिद्र मिल जाता है, सभी को ब्रह्म-रन्ध्र से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे सब रन्ध्र एक दूसरे से मिलकर एक ही रन्ध्र के समान हो जाते हैं, जिनमें प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal fluid) निरन्तर गतिशील रहता है। शिव-संहिता में चित्रा को सुषुम्ना के मध्य में फैला हुआ बताया है। चित्रा को सुषुम्ना का केन्द्र तथा शरीर का अत्यधिक महत्वपूर्ण मार्मिक भाग बताया है। शिव-संहिता के अनुसार इसे शास्त्रों में दिव्य मार्ग बताया है। इसके द्वारा आनन्द और अमरत्व प्राप्त होता है। इसमें ध्यान करने

१. 'षट्-चक्र निरूपण'

२. शिव-संहिता—२।१८।

से योगी के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं[१]। शिव-संहिता के इस विवरण से तो यह प्रतीत होता है कि चित्रा सुषुम्ना ( Vertebral column ) के भीतरी भूरे पदार्थ ( Gray matter ) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सुषुम्ना में प्रतिक्षेप-क्रिया ( Reflex Action ) के केन्द्रों तथा उनके समन्वयात्मक कार्य आदि का विवरण शिव-संहिता में प्राप्त होता है। उनके साथ-साथ सुषुम्ना के पाँचों विभागों की तरफ़ भी संकेत किया गया है जो कि ग्रीवा-सम्बन्धी ( Cervical ), वक्षभाग ( Dorsal ), कमर का भाग ( Lumbar ) त्रिक-भाग ( Sacral ) अनुत्रिक-भाग ( Coccygeal ) हैं। ये पाँच भाग मेरु-दण्ड के हैं, जिसमें सुषुम्ना स्थित है[२]। इस विवरण से यह पता चलता है कि मेरु-दण्ड-रज्जु मेरु-दण्ड के निम्न-भाग से प्रारम्भ होकर खोपड़ी के छिद्र ( Foramen Magnum ) में चली जाती है। यह खोपड़ी के पीछे वाली हड्डी ( Occipital bone ) में स्थित है। शिव-संहिता में सुषुम्ना को ही ब्रह्म-मार्ग नाम से सम्बोधित किया है। मस्तिष्क से सुषुम्ना का सम्बन्ध मास्तिष्कीय रन्ध्र पर होता है। सुषुम्ना को श्वेत और लाल बताया है। ऊपर से श्वेत तथा भीतर से भूरा तो आधुनिक शरीररचना शास्त्र द्वारा भी सिद्ध है। ऋगवेद के सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में भी सुषुम्ना को श्वेत ही बताया है, जो इड़ा तथा पिंगला के मध्य स्थित है।[३] उसमें से होकर तीनों लिंग शरीर ( The etheric, the astral and the mental bodies ) का ब्रह्म मार्ग की ओर गमन बताया है[४]। इसके भीतर से अमृत निकलता है जो कि प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebrospinal fluid ) के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता है। शिव-संहिता में स्पष्ट रूप से यह प्राप्त होता है कि सुषुम्ना के ऊपरी छिद्र पर ही सहस्र-दल कमल है। वहाँ से सुषुम्ना नीचे मूलाधार अर्थात् लिंग और गुदा के बीच के स्थान तक चली जाती है, अन्य सब नाड़ियाँ इसको घेरे हुए हैं तथा इसके ऊपर आधारित हैं[५]। सहस्र-दल-कमल के मध्य में अधोमुखी योनि है,

---

१. शिव-संहिता—२।१९, २०।

२. शिव-संहिता २।२७, २८।

३. 'कण्ठ-चक्रं चतुरंगुलम् तत्र वामे इड़ा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेत वर्णां ध्यायेत्' ॥ 'सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्'

४. शिव-संहिता—४।२, ३, ४, ५

५. शिव-संहिता—५।१५०, १५१

जिसमें से सुषुम्ना निकल कर मूलाधार तक जाती है, तथा सुषुम्ना का छिद्र भी इस छिद्र से प्रारम्भ होकर नीचे मूलाधार तक चला जाता है। ऊपरी छिद्र से लेकर सुषुम्ना के छिद्र सहित समस्त छिद्र को ब्रह्म-रन्ध्र कहा गया है।[१] इस छिद्र में ही आन्तरिक कुण्डलिनी शक्ति प्रवाहित रहती है। सुषुम्ना के भीतर चित्रा नामक शक्ति विद्यमान है, जिसमें से होकर चेतना का प्रवाह चलता है। इसी चित्रा के मध्य में ब्रह्म-रन्ध्र आदि की कल्पना की गई है।[२] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि मेरु-दण्ड-रज्जु ( Spinal-Cord ) ऊपर के छिद्र से नीचे गुदा और लिङ्ग के मध्य स्थान तक स्थित है तथा उसके भीतर का छिद्र भी ऊपरी खोपड़ी के छिद्र से नीचे तक चला आता है और इस समस्त छिद्र को ही जिसमें मस्तिष्क का खोखला भाग भी सम्मिलित है, ब्रह्म-रन्ध्र कहते हैं। चित्रा, सुषुम्ना के भीतरी भूरे पदार्थ (gray matter) के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होती है। शिव-संहिता में सुषुम्ना के आधार में स्थित खोखले स्थान को ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है। ब्रह्म-रन्ध्र के मुख पर ही तीनों नाड़ियाँ, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना मिलती हैं। इसीलिये शरीर के भीतर इस स्थान को त्रिवेणी वा प्रयाग कहा गया है[३]। यह संगम-स्थान, सुषुम्ना-शीर्ष ( Medulla-oblongata ) मे प्रतीत होता है। इसीलिये सुषुम्ना-शीर्ष का शरीर मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। सुषुम्ना से अन्य नाड़ियों के निकलने का विवेचन वाराहोपनिषत् मे मिलता है।[४] यह विवेचन आधुनिक शरीर रचना शास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखता है। शाण्डिल्योपनिषद् मे भी सुषुम्ना नाड़ी का विवेचन अन्य नाड़ियों सहित प्राप्त होता है। सुषुम्ना को विश्व को धारण करने वाली तथा मोक्ष का मार्ग बताया है, जो गुदा के पीछे के भाग से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड मे स्थित है[५]। संगीत रत्नाकर में भी नाड़ियों का विवेचन किया गया है[६]। इसमें सहानुभूतिक-मेरु-तन्त्र की सात सौ (७००) नाड़ियों में से चौदह को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया है। ये १४ नाड़ियाँ-सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, कुहू, गान्धारी हस्तजिह्वा, सरस्वती, पूषा, पयस्विनी, शंखिनी, यशस्विनी, वारुणा, विश्वोदरा

---

१. शिव-संहिता—५।१५२, १५३।
२. शिव-संहिता—५।१५४, १५५।
३. शिव-संहिता—५।१६२, १६४।
४. वाराहोपनिषत्—५।२२, २४।
५. शाण्डिल्योपनिषत्—१।४।१०।
६. संगीत रत्नाकर, स्वराध्याय, पिण्डोत्पत्ति प्रकरण। १४४—१५६।

तथा अलम्बुषा है। इन्होंने मेरुदण्ड रज्जु में सुषुम्ना को स्थित माना है। सुषुम्ना के दोनों ओर समानान्तर स्नायु-कोषों के गुच्छों की जंजीर ऊपर से नीचे तक फैली हुई हैं। बायीं ओर की जंजीर को इड़ा तथा दाहिनी ओर की जंजीर को पिंगला नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार से सुषुम्ना के बायीं ओर इड़ा तथा दाहिनी ओर पिंगला नामक नाड़ियाँ विद्यमान है। कुहू मेरु-दण्ड-रज्जु के बायीं ओर त्रिक् जालक (Sacral-Plexus) की प्यूडिक नाड़ी (Pudic Nerve) बताई गई है। गान्धारी को बायीं सहानुभूतिक जंजीर इड़ा के पृष्ठ भाग में बायीं आँख से लेकर बायें पैर तक स्थित बताया है। ग्रीवा-जालक (Cervical Plexus) की कुछ नाड़ियां मेरु-दण्ड रज्जु में से होकर नीचे की त्रिक् जालक (Sacral-Plexus) की गृध्रसी तन्त्रिका (Sciatic-Nerve) से मिलती है। हस्तजिह्वा बायीं सहानुभूतिक जंजीर इड़ा के सम्मुख बायीं आँख के कोने से मेरु-दण्ड रज्जु में से होकर नीचे बायें पैर के अँगूठे तक फैली हुई है। सुषुम्ना के दाहिनी ओर सरस्वती नाड़ी जिह्वा में चली गई है, जिसे कि ग्रीवा-जालक (Cervical Plexus) की अधोजिह्व-तन्त्रिका (Hypoglossal-Nerve) कहा जा सकता है। दाहिनी सहानुभूतिक जंजीर पिंगला के पृष्ठ भाग में, पूषा दाहिनी आँख के कोने के नीचे से उदर तक चली गई है। इसे ग्रीवा और कटि नाड़ियों से सम्बन्धित तार कहा जा सकता है। पयस्विनी, पूषा और सरस्वती के मध्य में स्थित है। इसे ग्रीवा-जालक (Cervical-Plexus) की दाहिनी अलिन्द शाखा (Auricular Branch) कहा जा सकता है। शंखिनी गान्धारी और सरस्वती के मध्य ग्रीवा-जालक (Cervical-Pluxus) के बायें अलिन्द-शाखा (Auricular Branch) है। दाहिनी सहानुभूतिक जंजीर के अग्र भाग में दाहिने अँगूठे से दायें पैर तक यशस्विनी स्थित है। त्रिक्-जालक (Sacral-Plexus) नाड़ी कुहू और यशस्विनी के मध्य में स्थित हैं। इसकी शाखाएँ नीचे के धड़ और अंगों में फैली हुई हैं। कटि-जालक (Lumbar-Plexus) नाड़ियाँ विश्वोदरा कुहू और हस्ति-जिह्वा के मध्य में स्थित है। नीचे के धड़ और अंगों में इसकी शाखाएँ फैली हुई है। अनु-त्रिक् नाड़ियाँ (Coccygeal Nerves) अलम्बुषा, त्रिक्-कशेरुका (Sacral-Vertebrae) से होकर जनन-मूत्र अंगो तक फैली है।

गोरक्ष-पद्धति में इन नाड़ियों का वर्णन दूसरे प्रकार से प्रतीत होता है[1]।

---

१. गोरक्ष-पद्धति—श० १।२३ से ३१ तक।

इसमें बहत्तर हज़ार (७२०००) नाड़ियों में से, दस नाड़ियों को प्रधान मानकर उनका विवेचन किया गया है। इड़ा, सुषुम्ना के बायें भाग में तथा पिंगला दाहिने भाग में स्थित है। गान्धारी बायें नेत्र, हस्त जिह्वा दाहिने नेत्र, पूषा दाहिने कान, यशस्विनी बायें कान तथा मुख में अलम्बुषा नाड़ियाँ हैं। इनके अतिरिक्त कुहु लिङ्ग देश में तथा शंखिनी मूल स्थान को गई हैं। शिव-संहिता में भी इड़ा और पिंगला को क्रमशः सुषुम्ना के बायीं और दाहिनी ओर स्थित बताया गया है। इड़ा और पिंगला के मध्य में निश्चित रूपसे सुषुम्ना स्थित है[1]। अन्य नाड़ियाँ मूलाधार से निकलकर शरीर के विभिन्न भागों जैसे जीभ, आँख, पैर, अँगूठा, कान, पेट, बगल, अँगुली, लिङ्ग, गुदा आदि में जाती हैं। मुख्य चौदह नाड़ियों की शाखायें और प्रशाखायें जो कि साढ़े तीन लाख होती हैं, समस्त शरीर में फैली हुई है[2]। रुद्रयमल तन्त्र में मूलाधार से ही नाड़ियों की उत्पत्ति बताई गई है। चौदहों प्रमुख नाड़ियाँ मूलाधार त्रिकोण से निकलती हैं। इन चौदहों नाड़ियों में से सुषुम्ना मूलाधार त्रिकोण के ऊपरी शिखर से निकलकर ब्रह्म रन्ध्र में चली जाती है। अलम्बुषा मूलाधार के त्रिकोण के नीचे के शिखर से निकलकर गुदा भाग तक चली जाती है। कुहू लिङ्ग भाग में पहुंचती है। वरुणा दांतों और मसूड़ों में पहुंचती है। यशस्विनी पैर की अगुलियों के अग्र भाग तक चली जाती है। पिङ्गला, दाहिनी नासिका, इड़ा बायीं नासिका, पूषा तथा शंखिनी कानों में, सरस्वती जिह्वा मे, हस्ति-जिह्वा चेहरे में, तथा विश्वोदरा पेट में पहुँचती है[3]। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् में लिंग से दो अंगुल नीचे तथा गुदा से दो अंगुल ऊपर शरीर का मध्य बताया गया है। यह मध्य-स्थान अनेक नाड़ियों से घिरा हुआ है। बहत्तर हजार नाड़ियों से घिरे हुए इस मध्य स्थान से सुषुम्ना

---

१. शिव-संहिता—२।२५, २६, २७।

२. शिव-संहिता—२।२९, ३०, ३१।

३. मूलाधारे त्रस्रमध्ये सुषुम्ना अलम्बुसे उभे।
प्राक् प्रत्यागास्थिते अन्यास्त्रिकोणाग्रात् प्रदक्षिणा॥
या लेखा सस्थिता नाम्या कुहुश्चैव तु वारुणा।
यशस्विनी पिङ्गला च पुषा नाम्नी पयस्विनी॥
सरस्वती शङ्खिनी च गान्धारी तदनन्तरे।
इड़ा च हस्तिजिह्वा च ततो विश्वोदराभिधाः॥
रन्ध्र पायु ध्वजा शेगपन्नासा नेत्र कर्णयोः।
जिह्वा कर्णाक्षि नासाङ्घि जठरान्ता चतुर्दशः॥

नाड़ी निकलकर ब्रह्मरन्ध्र तक चली गयी है। इड़ा और पिंगला, इसके बायें और दाहिने स्थित है। इड़ा मूल-कन्द से निकल कर बायीं नासिका तथा पिंगला उसी स्थान से निकल कर दाहिनी नासिका मे चली जाती है। गान्धारी और हस्तजिह्वा क्रमशः सुषुम्ना के अग्र-भाग तथा पृष्ठभाग में स्थित हैं। ये दोनों नाड़ियाँ क्रमशः बायें और दायें नेत्रों में पहुंचती हैं। पूषा और यशस्विनी नाड़ियाँ भी उसी मूलकन्द से निकल कर क्रमशः बायें और दाहिने कान में पहुंचती हैं। अलम्बुषा गुदा के मूल स्थान पर जाती है। शुभा नाड़ी लिङ्ग स्थान के अग्र-भाग तक पहुंचती है। कन्द स्थान से निकलकर कौशिकी नाड़ी नीचे पैर के अंगूठे तक चली जाती है।[1] उपर्युक्त विवेचन, कन्द से उदय होने वाली मुख्य नाड़ियों के अलग-अलग स्थानों मे जाने का है। दर्शनोपनिषत् में बहत्तर हज़ार नाड़ियों में से चौदह को ही मुख्य बताया गया है। जिनके नामों का वर्णन पहले किया जा चुका है [2]।

दर्शनोपनिषत् में इन चौदहों नाड़ियों के स्थान का निरूपण किया गया है[3]। सुषुम्ना मुख्य नाड़ी होने के कारण उसी को आधार मानकर सब नाड़ियों की स्थिति बताई गई है। सुषुम्ना के बायें और दाहिने क्रमशः इड़ा और पिंगला स्थित हैं। सरस्वती और कुहू सुषुम्ना के अगल-बगल स्थित हैं। गान्धारी और हस्तजिह्वा अग्रभाग में स्थित है। पिंगला के पृष्ठ और अग्रभाग में पूषा और यशस्विनी स्थित हैं। कुहू और हस्त-जिह्वा के मध्य में विश्वोदरा विद्यमान है। यशस्विनी और कुहू के मध्य में वरुणा स्थित है। दर्शनोपनिषत् मूल ग्रन्थ मे "पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी" इस प्रकार से दिया है, जिसका अर्थ "पूषा और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी कही जाती है" होता है, किन्तु हमको ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर पयस्विनी की जगह यशस्विनी अशुद्ध छप गया है। अतः यहाँ पर हम यह कह सकते है कि पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में शंखिनी कही गयी है। कन्द के मध्य में गयी हुई अलम्बुषा गुदा तक स्थित है। पूर्णमासी के समान प्रकाशित सुषुम्ना के पूर्व भाग में कुहू स्थित है। यहाँ पर सुषुम्ना स्पष्ट रूप से श्वेत बताई गई हुई मालूम पड़ती है। ऊपर और नीचे स्थित नाड़ी दायीं नासिका के अग्र भाग तक चली जाती है। इड़ा बायें नाक के अन्त

---

२. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्—मन्त्र ६६ से ७४ तक।

३. दर्शनोपनिषत्—४।५ से १० तक।

४. दर्शनोपनिषत्—४।१३ से २३ तक।

तक स्थित है। यशस्विनी बायें पैर के अंगूठे के अन्तिम भाग तक स्थित है। पूषा पिंगला के पृष्ठ भाग में से होकर बायीं आँख तक पहुंचती है। पयस्विनी दाहिने कान में जाती है। इसी प्रकार से सरस्वती जिह्वा के अग्रभाग में पहुंचती है और दाहिने पैर के अंगूठे के अन्त तक हस्तजिह्वा जाती है। शंखिनी नामक नाड़ी दायें कान के अन्त तक जाती है। गान्धारी नाड़ी का अन्त दाहिने नेत्र में होता है विश्वोदरा नाड़ी कन्द के मध्य में स्थित है। दर्शनोपनिषत् में इन नाड़ियों के देवताओं का भी विवेचन प्राप्त होता है। सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्ति-जिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी, पयस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी के देवता क्रमशः शिव, हरि, ब्रह्मा, विराज, पूषन्, वायु, वरुण, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति, पावक (अग्नि), जठराग्नि और चन्द्रमा हैं। योगचूड़ामण्युपनिषत् में भी मूल-कन्द से ७२००० नाड़ियों की उत्पत्ति बताई है। जिनमें से इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्ति-जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू तथा शंखिनी ये दश नाड़ियाँ विशिष्ट है। इन विशिष्ट नाड़ियों में सुषुम्ना मध्य में स्थित बताई गयी है। इड़ा बायीं ओर तथा पिंगला दाहिनी ओर स्थित है। गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू तथा शंखिनी क्रमशः बायें नेत्र, दाहिने नेत्र, दाहिने कान, बायें कान, मुख, लिंग स्थान तथा मूल स्थान में स्थित है[1]।

योगशिखोपनिषत् में नाड़ी चक्र के स्वरूप का विवरण प्राप्त होता है।[2] मूलाधार त्रिकोण में बारह अँगुल की सुषुम्ना स्थित है। जड़ में फटे हुए बाँस के समान यह नाड़ी है, जिसे ब्रह्म नाड़ी कहा गया है। इड़ा और पिंगला जो उसके दोनों ओर स्थित हैं, बिलम्बिनी के साथ गुँथी हुई नाड़िका के अन्त भाग में पहुँचती है। बिलम्बिनी नाड़ी नाभि में स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित है। वहाँ पर बहुत सी नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं, जो प्रशाखाओं के रूप में एक दूसरे को नीचे ऊपर काटती हुई पार करती हैं। उसी को नाभि चक्र अथवा नाभि जालक कहते हैं, जो कि मुर्गी के अण्डे के सदृश स्थित हैं। वहाँ से गान्धारी और हस्त-जिह्वा दोनों आँखों में जाती हैं। पूषा और अलम्बुषा दोनों कानों में जाती हैं। वहाँ से शूरा नाम की महानाड़ी भौंह के मध्य में जाती है। विश्वोदरा चार प्रकार का अन्न खाती है। सरस्वती जिह्वा के अग्र भाग में स्थित है। राका नाम की नाड़ी क्षण भर में जल पीकर छींक पैदा करती तथा नाक में श्लेष्मा को

१. योगचूड़ामण्युपनिषत्—१४ से २० तक।

२. योगशिखोपनिषत्—५।१६ से २७ तक

संचित करती है। शंखिनी नाड़ी ग्रीवा अथवा कण्ठ कूप से निकलती है। यह अधोमुखी होकरके समस्त भोजन का सार ग्रहण करती है। नाभि के नीचे जाने वाली अधोमुखी तीन नाड़ियाँ हैं। कुहू नाड़ी के द्वारा मल तथा वारुणी के द्वारा मूत्र का विसर्जन होता है। चित्रा नाड़ी ही वीर्य स्खलन करने वाली है। ये तीनों नाड़ियाँ उप-सहानुभूतिक मण्डल ( Para-sympathetic system ) के त्रिक् भाग ( Sacral-Part ) के समान कार्य सम्पादन करती हैं। त्रिक्भाग ( Sacral-Part ) के द्वारा ही मल-त्याग, मूत्र-त्याग तथा वीर्य स्खलन होता है। ये तीनों नाड़ियाँ त्रिक् ( Sacral ) भाग से निकलने वाली तीनों नाड़ियों के समान ही प्रतीत होती हैं, जो कि आधुनिक शरीर-रचना-शास्त्र ( Anatomy ) के द्वारा ज्ञात हैं। अतः यह उप-सहानुभूतिक-मण्डल के त्रिक्-भाग की दूसरी, तीसरी तथा चौथी नाड़ियाँ कही जा सकती हैं। सरस्वती नाड़ी आधुनिक शरीर-रचना-विज्ञान ( Anatomy ) के द्वारा जानी गई खोपड़ी की १२ वीं नाड़ी ( Hypoglossal ) है।

इड़ा और पिंगला दोनों घ्राण नाड़ियाँ ( Olfactory-Nerves ) कही जा सकती हैं। पूषा और अलम्बुषा श्रवण नाड़ियों ( Auditory-Nerves ) के समान हैं। गान्धारी और हस्तजिह्वा दृष्टि-नाड़ी ( Optic-Nerves ) कही जा सकती हैं। इसी प्रकार से अन्य नाड़ियों के विषय में भी आधुनिक नामों से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।

वराहोपनिषत् में भी सुषुम्ना में अर ( Spoke ) के रूप में अलम्बुषा और कुहू नामक नाड़ियाँ निकलती हैं। वारुणी और यशस्विनी के जोड़े के द्वारा दूसरा अर ( Spoke ) बनता है। सुषुम्ना के दाहिने अर ( Spoke ) में पिंगला है। अरों (Spokes) के बीच में क्रमशः पूषा और पयस्विनी हैं। सुषुम्ना के पीछे के अर ( Spoke ) में सरस्वती स्थित है। उसके बाद उन अरों के बीच में शंखिनी और गान्धारी स्थित हैं। सुषुम्ना के बाम भाग में इड़ा है। उसके बाद हस्तजिह्वा तथा तब विश्वोदरी चक्र के अर ( Spoke ) में स्थित है। जो कि दाहिने से बायें के क्रम में है। मध्य में नाभी चक्र है।[1]

शाण्डिल्योपनिषत् में भी नाड़ियों की संख्या तथा स्थान के विषय में विवेचन किया गया है[2]। उपर्युक्त १४ मुख्य नाड़ियों का विवेचन इसमें मिलता है। सुषुम्ना

१. वराहोपनिषत्—५।२२, ३०।

२. शाण्डिल्योपनिषत्—१।४।६, ११।

को विश्वधारिणी कहागया है। जिसके बायीं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला विद्यमान है। सुषुम्ना के पृष्ठ तथा बग़ल में क्रमशः सरस्वती और कुहू हैं और यशस्विनी और कुहू के मध्य में वारुणी हैं। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी है, गान्धारी और सरस्वती के मध्य मे यशस्विनी हैं तथा केन्द्र के मध्य में अलम्बुषा स्थित हैं। सुषुम्ना के सम्मुख भाग में जननेन्द्रिय तक कुहू स्थित है। वारुणी कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर सब ओर जाती है। सौम्य यशस्विनी पैर के अँगूठे तक जाती है। पिंगला ऊपर को जाते हुए दाहिने नथुने तक पहुँच जाती है। पिंगला के पृष्ठ भाग में स्थित पूषा दाहिने नेत्र में पहुँचती है यशस्विनी दाहिने कान के अन्त तक है। सरस्वती जीभ के अग्र भाग तक स्थित है। बायें कान के अन्त तक शंखिनी नाड़ी जाती है। इड़ा के पृष्ठ भाग से गान्धारी बायें नेत्र के अन्त तक जाती है। अलम्बुषा गुदा के मूल से ऊपर और नीचे दोनों ओर जाती है। इन नाड़ियों के अतिरिक्त अन्य नाड़ियां भी हैं और उनके अतिरिक्त अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। इस प्रकार से नाडियों और उप-नाड़ियों से समस्त शरीर गुँथा हुआ है।

डा॰ राखलदासराय जी ने अपनी पुस्तक में नाड़ियों के आधुनिक शरीर-रचना शास्त्रीय नाम दिये है[1]।

(१) अलम्बुषा को अग्र रज्जुका में स्थित ज्ञानवाही पूलिका ( Sensory Fasciculus in the anterior Funiculus ), कुहू को पश्च रज्जुका में स्थित ज्ञानवाही पूलिका ( Sensory Fasciculus in the posterior Funiculus ), वरुणा को ऊर्ध्व हनु तथा अधो हनु नाड़ी ( Maxillary of mandibular nerve ), यशस्विनी को पार्श्व रज्जुका में ज्ञानवाही पूलिका ( Sensory fasciculus in the lateral funiculus ), पिंगला को दायीं-तंत्रिका-सिरा ( The right nervous terminale ), पूषा को दृष्टि नाड़ी ( The Optic nerve ), पयस्विनी को प्रघ्राण-तंत्रिका ( Vestibular nerve ), सरस्वती को अधोजिह्वा तंत्रिका ( Hypoglossal or Lingual Nerve ), शंखिनी को कर्णावर्त-तंत्रिका ( The Cochlear Nerve ), गान्धारी को नेत्र तंत्रिका ( The Opthalmic nerve ), इड़ा को बायीं-तंत्रिका-सिरा ( The

1. Rational Exposition of Bharatiya Yoga-Darshan-by Dr. Rakhal das Roy—Page-99.

left nervous terminale ) हस्तजिह्वा को जिह्वाग्रसनी-तंत्रिका का ज्ञानवाही भाग ( Sensory portion of the glossopharyngeal nerve ) तथा विश्वोदरा को वेगस-तंत्रिका का ज्ञानवाही भाग ( Sensory portion of the Vagus nerve ) कहा है।

## प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-spinal fluid )[1]

मस्तिष्क में चार रन्ध्र हैं। इन रन्ध्रों के ऊपरी भाग कोराइड वा रक्तक जालिका (Choroid Plexuses) को ढकनेवाले भाग एपीथीलियल ( Epithelial ) या धारिच्छर कोशिकाओं ( Cells ) के द्वारा रक्त से प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal-Fluid ) विसरित होता है। मस्तिष्क के पहला आवरण, जिसे मृदुतानिका ( Piamater ) कहते हैं, की बहुत सी तहें जो कि रन्ध्रों में पाई जाती हैं, को ही रक्तक जालिका (Choroid Plexuses ) कहा जाता है। मृदुतानिका ( Piamater ) केवल मस्तिष्क के बाह्य सतह में ही नहीं होती, बल्कि उसकी तहें भीतर तक जाकर तृतीय रन्ध्र ( Third Ventricle ) के टेला-कोराइडिया ( Tela-Chorioidea ) को बनाती है। दूसरी तह चतुर्थ रन्ध्र ( Fourth Ventricle ) के टेला कोराइडिया को बनाती है। इन तहों की रक्त वाहिकाओं (Blood Vessels)

---

१. तुलनात्मक विशद विवेचन के लिके लेखक का "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

(a) Text book of Anatomy and Physiology by Kimber Gray Stackpole Leavell Page 285.

(b) Anatomy and Physiology Volume 2 Edwin B. Steen. Ph. D. and Ashley Montagu, Ph. D., Page 99 to 102.

(c) Cunningham's Manual of Practical Anatomy Volume 3.
Ravised by James Couper Brash. M.C., M.A., M.D., D.Sc., L.L.D., F.R.C.S.E.D. Page—62, 368 to 375; 411, 451 to 467.

(d) The Living Body by Charles Herbert-Best & Norman Burk Taylor Page—556 to 561.

से ही रक्त जालिका ( Choroid Plexuses ) प्राप्त होती हैं, जिनसे प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव निकलता है। प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal-fluid) से पार्श्व रन्ध्रों ( Lateral Ventricles ) के भर जाने पर मोनरो रन्ध्र ( Foramen of Monro) से होकर तृतीय-रन्ध्र ( Third-Ventricle ) तथा उसके बाद नाली या कुल्या ( Aqueduct ) से होकर चतुर्थ-रन्ध्र ( Fourth Ventricle ) से मेगेन्डी-मध्यवर्ती-रन्ध्र ( Medial Foramen of Magendie ) तथा दो पार्श्व लस्चका रन्ध्र ( Two Lateral Foramina of Luschka ) के द्वारा अधोजाल-तानिका-स्थलों (Subarachnoid space ) में जाकर अनु-मस्तिष्क-कुण्ड ( Cisterna-Magna ) में पहुँचता है। अनुमस्तिष्क-कुण्ड ( Cisterna-Magna ) से प्रमस्तिष्कीय मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal-Fluid ) मेरु-दण्ड-रज्जु-छिद्र वा सुषुम्ना-रन्ध्र ( Spinal-Canal ) में प्रवेश करता है तथा वहाँ से फिर ऊपर की तरफ़ को वापिस होकर अधोजाल-तानिका-स्थल ( Subarchnoid space ) में पहुँच जाता है। अनु-मस्तिष्क-कुण्ड (Cisterna-Magna) से यह द्रव समस्त मस्तिष्क के भागों को तर करता रहता है। अधोजाल तानिका देशों ( Subarachnoid-spaces ) से यह द्रव जाल तानिका अंकुर ( Villi of the Arachnoid mater ) के द्वारा अवशोषित होता रहता है। यह निरन्तर उत्पन्न होता तथा निरन्तर ही रक्त में मिलता रहता है। उपर्युक्त बहाव के क्रम के साथ-साथ हर रन्ध्र में यह उत्पन्न भी होता रहता है, जो कि उसी में मिश्रित होता चला जाता है। सब रन्ध्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा सुषुम्ना रन्ध्र ( The Central Canal of the Spinal Cord ) के सिलसिले में विद्यमान है। प्रत्येक पार्श्वरन्ध्र तीन शृंगों ( The Anterior, Posterior and Inferior Horns or Carnua ) में फैला है। प्रत्येक पार्श्व रन्ध्र की दीवाल तथा छत में रक्तक जालिकायें (Choroid Plexuses) होती हैं। ये रक्तक जालिकायें (Choroid Plexuses) तीसरे तथा चौथे रन्ध्र की छतों में भी विद्यमान हैं। ये रक्तक जालिकायें (Choroid Plexuses) प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-Spinal-Fluid) की उत्पत्ति में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस द्रव से सब अधो जाल तानिका स्थल, मस्तिष्क के सब रन्ध्र तथा सुषुम्ना रन्ध्र भरे रहते हैं जिससे मस्तिष्क तथा सुषुम्ना की सुरक्षा रहती है। प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal-Fluid ) निरन्तर उत्पन्न होता रहता

है तथा सामान्यतः जिस शीघ्रता से उत्पन्न होता रहता है, उतनी ही शीघ्रता से पुनः अवशोषित होता रहता है। यह क्रिया सदैव चलती रहती है।

प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal fluid ) के विषय में शास्त्रों में ठीक उपर्युक्त शरीर रचना शास्त्र ( Anatomy ) तथा शरीर शास्त्र ( Physiology ) के समान ही विवरण प्राप्त होता है[1]। शास्त्रों में शरीर को ब्रह्मांड कहा गया है, जिसमें विश्व के समस्त देश विद्यमान हैं। तीनों लोकों में जो कुछ है वह सब इस शरीर में स्थित है। सुमेरु पर्वत के समान ही शरीर के मध्य में मेरु-सुषुम्ना ( Spinal-cord ) है, जिसके ऊपर आठ कलाओं वाला अर्ध-चन्द्र स्थित है, जिसका मुख नीचे की तरफ को है तथा जिससे दिन रात निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है। यह विवरण ठीक ऊपर बताये हुए विवरण के ही समान है। उपर्युक्त कथित रन्ध्रों के भाग जिनसे प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-spinal fluid ) उत्पन्न होकर निकलता रहता है, अर्ध चन्द्राकार हैं तथा संख्या में चार हैं। ये रन्ध्र निम्नलिखित आठ भागों में विभक्त हैं, जिन्हें शास्त्रों में अष्टकला कहा गया है। चार रन्ध्रों में से दो पार्श्व रन्ध्रों ( Two Lateral Ventricles ) के अलग तीन-तीन विभाग ( The Anterior, Posterior and Inferior Horns ) हो जाते हैं, जो सब मिलकर आठ भाग हुए। ये सब अधोमुखी, जैसा कि शास्त्रों में लिखा है, होते हैं तथा निरन्तर प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव को उत्पन्न करते तथा बहाते रहते हैं। इस प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal-Fluid ) के जिसको शिव-संहिता में अमृत नाम से सम्बोधित किया गया है[2], दो भाग हो जाते हैं। एक भाग के द्वारा समस्त शरीर अर्थात् मस्तिष्क और सुषुम्ना आदि की रक्षा होती है, दूसरा भाग सुषुम्ना रन्ध्र में प्रवेश करता है तथा वहाँ से फिर वापिस होकर निकलता है[3]। यह अमृत जैसे जैसे उत्पन्न होता रहता है, वैसे वैसे ही अवशोषित भी होता रहता है। मेरु ( Spinal Cord ) के मूल भाग पर बारह कला वाला सूर्य विद्यमान है, जो इस अमृत अथवा प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव को किरण शक्ति से पान करता रहता है, जो समस्त शरीर में भ्रमण करता रहता है[4]। इस प्रकार से शिव-संहिता का यह कथन स्पष्ट रूप से व्यक्त

---

१. शिव-संहिता—२।५ से १२ तक।

२. शिव-संहिता—२।५, ६।

३. शिव-संहिता—२।६, ७, ८, ९, १०।

४. शिव-संहिता—२।१०, ११।

करता है कि यह प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal Fluid ) एक प्रक्रिया से रक्त के भीतर मिश्रित होकर समस्त शरीर में भ्रमण करता रहता है।

भारतीय शास्त्रों में हमें केवल शरीर-रचना-शास्त्र ( Anatomy ) तथा शरीर-शास्त्र ( Physiology ) के समान केवल प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव का रचनात्मक ज्ञान ही प्राप्त नहीं होता है, बल्कि उन क्रियाओं का भी ज्ञान प्राप्त होता है, जिनके द्वारा हम इस द्रव का संतुलन रख सकें तथा उनके प्रयोग से शरीर तथा मन को स्वस्थ बनाकर ज्ञान का विकास कर सकें। इस अमृत-द्रव को विशिष्ठ क्रिया के द्वारा जिह्वा से पान करके योगी मृत्यु को जीत लेता है। उसमें अनेक शक्तियां विकसित हो जाती हैं। समस्त रोगों से वह मुक्त हो जाता है तथा उसमें अति दूर के पदार्थों को देखने और सुनने की शक्ति आ जाती है इस अभ्यास के बढ़ाते रहने पर योगी को अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वह कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है। भूख-प्यास, निद्रा और मूर्छा आदि उसे नहीं सताती।[1]

मूलाधार देश में ब्रह्म योनि है, जहाँ कामदेव विद्यमान रहते हैं। इस योनि के ऊर्ध्व भाग में बहुत छोटी चैतन्य स्वरूपा सूक्ष्म ज्योति-शिखा है। यह स्थल वह स्थल है, जहाँ पर जड़ और चैतन्य के मिलन की कल्पता योनि-मुद्रा का अभ्यास करते समय योगी करता है। उसके बाद योनि-मुद्रा के अभ्यास में सुषुम्ना नाड़ी से होकर तीनों लिंग शरीर क्रम से ब्रह्म मार्ग की ओर जाते हैं। वहाँ प्रत्येक चक्र में परम आनन्द लक्षणों वाला अमृत निकलता है। इस दिव्य-कुल-अमृत का पान करके वे पुनः मूलाधार देश में प्रवेश करते हैं।[2] योग के अभ्यास के द्वारा इस प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-Spinal Fluid) को उपयोग में लाकर उसके द्वारा योगी शक्ति प्राप्त करता है। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि सुषुम्ना के भीतरी भूरे पदार्थ से श्वेत पदार्थ का मिलन मूलाधार पर ही होता है। भूरा पदार्थ ही चेतना केन्द्र है तथा श्वेत स्नायु ही जड़ हैं। सुषुम्ना में यह भूरा पदार्थ भीतर तथा स्वेत स्नायु बाहर होते हैं। प्राणायाम योग से प्राण ब्रह्म योनि से जाता है, तथा चन्द्रमण्डल में दिव्य अमृत पान कर फिर ब्रह्म योनि में लीन हो जाता है।[3] यहाँ चन्द्र मण्डल सब रन्ध्रों के

---

१. शिव-संहिता—३।८६ से ९८ तक।

२. शिव-संहिता—४।१ से ५ तक।

३. शिव-संहिता—४।६ से ८ तक।

ऊपरी भागों को कहा जा सकता है तथा दिव्य अमृत प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal Fluid ) है, जिसे इस योनि मुद्रा के द्वारा प्रयोग में लाकर योगी के लिये अप्राप्त भी प्राप्त हो जाता है। इसके अभ्यास से कुछ भी असाध्य नहीं रहता।

योग शास्त्रों में जालन्धर बन्ध के अभ्यास की बहुत महिमा बताई गई है प्रमस्तिष्क प्रान्त स्थान वा बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral Cortex ) के नीचे से निरन्तर अमृत अर्थात् प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal Fluid ) की वर्षा होती रहती हैं। उसका पान नाभि स्थित सूर्य के कर जाने से ही मृत्यु होती है। जालन्धर बन्ध के अभ्यास से चन्द्र मण्डल से गिरने वाला अमृत (Cerebro-Spinal-Fluid) सूर्य मण्डल में नहीं जाता और योगी स्वयं ही उसका पान करके अमर हो जाता है।[1] जो योगी शरीर स्थित अमृत (Cerebro-Spinal Fluid) पान करता है, वह सिद्धों के समान हो जाता है। इस अमृत ( Cerebro-Spinal Fluid ) पान का विवरण करीब-करीब सभी योग ग्रन्थों में मिलता है। गोरक्ष-पद्धति में भी सहस्र दल कमल के नीचे चन्द्रमा से इसकी उत्पत्ति वताई गई है तथा इसके उपयोग के लिये योग-क्रियाओं का विवेचन है।[2]

## मस्तिष्क ( Brain )[3]

सभी योग-शास्त्रों में मस्तिष्क का विवरण प्राय: स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। शिव-संहिता में बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral cortex ) को सहस्रार नाम से सम्बोधित किया गया है। सहस्रार के मध्य में योनि का वर्णन है। उस योनि के नीचे चन्द्रमा बताया गया है। यह योनि महान्-रन्ध्र (Longitudinal fissure ) कही जा सकती है, जो बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerbral-Cortex ) को दो विभागों में विभक्त करतो है[4]। शिव-संहिता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सिर के पास के गड्ढे तथा सहस्रार में चन्द्रमा स्थित है; जो कि

१. शिव-संहिता—४।६० से ६३ तक।

२. गोरक्ष पद्धति—श० १। खेचरी मुद्रा विधि ७ से १५ तक, ७९, ८० तथा विपरीत करणी मुद्रा—१श० २।३० से ४४ तक, ४७।

३. इसके विपद विवेचन के लिये लेखक के "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ को देखने का कष्ट करें।

४. शिव-संहिता—५।१७७।

१६ कलाओं वाला तथा अमृत से पूर्ण है[1]। शिव-संहिता के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्क के १६ भाग हैं तथा वह मस्तिष्क मेरु-द्रव ( Cerebro-Spinal fluid ) से युक्त है। वह मस्तिष्क बृहत्-मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral Cortex ) से आच्छादित है। मस्तिष्क के १६ भाग शरीर रचना शास्त्र ( Anatomy ) के अनुसार निम्नलिखित हैं।

(१) बृहत्-मस्तिष्क (Cerebrum) (२) लघु-मस्तिष्क (Cerebellum) (३) सुषुम्ना शीर्ष ( Medulla oblongata ) (४) सेतु ( Pons ) (५) मध्य-मस्तिष्क ( Mid brain ) (६) महासंयोजक ( Corpus Callosum ) (७) रेखी पिंड ( Corpus Striatum ) (८) पीयूष-ग्रन्थि ( Pituitary Gland ) (९) शीर्ष-ग्रन्थी ( Pineal Gland ) (१०) चेतक (Thalamus) (११) अधश्चेतक (The Hypothalamus) (१२) अधस्थैलमस (Subthalamus) (१३) अनुथैलेमस ( Metathalamus ) (१४) एपीथैलेमस वा ऊर्ध्वचेतक ( Epithalamus ) (१५) रक्तक-जालिकायें ( Choroid Plexuses ) (१६) ब्रह्म-रन्ध्र ( Ventricles ).

इन उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त उसमें प्रमस्तिष्कीय मेरु-द्रव (Cerbro-Spinal-fluid ) भी विद्यमान रहता है जिसे शास्त्रों में अमृत कहा है[2]।

शिव-संहिता में बृहत्-मस्तिष्क ( Cerebrum ) के ऊपरी भाग अर्थात् बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral Cortex ) को कैलाश पर्वत कहा है। जहाँ पर शिव का स्थान है। शिव को यहाँ चैतन्य रूप माना है। बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral Cortex ) ही समस्त ज्ञान और चेतना का केन्द्र है। यह शरीर शास्त्रज्ञों के अनुसार भी समस्त ज्ञान और चेतना का केन्द्र है। संवेदना, स्मृति, चिन्तन, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण आदि समस्त मानसिक क्रियाओं से यह सम्बन्धित है। शिव-संहिता में इस कैलास को महान्-हंस का निवास स्थान बताया गया है। हंस में नीर-क्षीर विवेक शक्ति होती है। अतः उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थल सम्पूर्ण विचार, विमर्श तथा विवेक से सम्बन्धित है[3]। चित्त को सहस्र-दल-कमल (Cerebral Cortex) में लगाकर योगी योगाभ्यास के द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त करते हैं, जिससे

---

१. शिव-संहिता—५।१७९, १८० ।

२. शिव-संहिता—५।१८० ।

३. शिव-संहिता—५।१८६ से १९६ तक ।

कि उनको महान् शक्ति प्राप्त हो जाती है, तथा वह व्याधि रहित और मृत्यु से छुटकारा पाकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इस सहस्र-दल-कमल से जो अमृत स्रवित होता है, योग-क्रिया के द्वारा योगी उसका पान कर मृत्यु जय प्राप्त करता है। इसी सहस्र-दल-कमल ( Cerebral Cortex ) में कुलरूपा कुंडलिनी शक्ति लय हो जाती है। इस सहस्र-दल-कमल(Cerebral cortex) के जान लेने से चित्त वृत्ति का लय हो जाता है।

गोरक्ष-संहिता में स्पष्ट रूप से बृहन्मस्तिष्कीय-बल्क (Cerebral cortex) में शरीर के पैर से लेकर सिर तक के समस्त अंगों के संवेदना-स्थान बताये हैं। निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त हो जाता है कि बृहन्मस्तिष्कीय-बल्क ( Cerebral cortex ) के क्षेत्री-करण ( Localization ) का ज्ञान उस समय योगियों को था :—

श्लोक—"गुदमूल शरीराणि शिरस्तत्र प्रतिष्ठितम्।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम्॥" गो० संहिता १।७६

डा० राखालदास राय ने अपनी पुस्तक Rational Exposition of Bharatiya yoga-Darshan में उपर्युक्त श्लोक को लेकर मस्तिष्क में लिंग-शरीर के स्थान का निरुपण किया है, किन्तु उनका यह कहना कि मस्तिष्क लिंग शरीर से सम्बन्धित है अनुचित है, क्योंकि यह श्लोक किसी भी प्रकार से लिंग शरीर के सम्बन्ध को व्यक्त नहीं करता है। इसमें तो केवल बृहन्मस्तिष्कीय-बल्क के ही स्थान बताये हैं, जो कि हमारे प्रत्येक अंग से सम्बन्धित केन्द्र हैं। श्लोक स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है कि "गुदामूल" आदि, शरीर के पैर से लेकर सिर तक के सभी अंग, मस्तिष्क में माने गये हैं। आधुनिक शरीर विज्ञान में भी सब शारीरिक अंगों से सम्बन्धित ज्ञानवाही, गतिवाही तथा साहचर्य क्षेत्रों का स्थान निरूपण (Localization) बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) में किया है। शरीर के बायें अंगों का स्थान बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) के दाहिने अर्ध-खण्ड (Right hemisphere) में है तथा दायें अंगों का स्थान बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) के बायें अर्धखण्ड ( Left hemisphere ) मे है। शरीर के सबसे नीचे का भाग बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) के सबसे ऊपरी भाग में तथा शरीर के सबसे ऊपर का भाग बृहन्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral cortex) के सबसे नीचे के भाग में है। दृष्टि-क्षेत्र Visual areas) बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) के पश्चक पाल खण्ड (Occipital-

lobe) में है। श्रवण क्षेत्र (Auditory area) शंख-खण्ड (Temporal-Lobe) के ऊपरी भाग में है। घ्राण क्षेत्र (Olfactory area) श्रवण क्षेत्र (Auditory area) के पास का ही क्षेत्र है। स्वाद-क्षेत्र (Gustatory area) हिप्पोकैम्पस ( Hippocampus ) के पास ही स्थित है। चाप पेशीय क्षेत्र (Somaesthetic areas) रौलैण्डो की दरार (Fissure of Rolando) के ठीक पीछे स्थित है। बृहन्मस्तिष्कीय वल्क (Cerebral cortex) के प्रधान गतिवाही क्षेत्र (Motor areas) अग्रखण्ड (Frontal lobe) में रोलैण्डो की दरार (Fissure of Rolando) के सामने वाले बल्क (Cortex) में स्थित है। इनके अतिरिक्त बृहन्मस्तिस्कीय वल्क (Cerebral Cortex) के साहचर्य क्षेत्र (Association areas) भी हैं। इसमें विभिन्न ज्ञानवाही साहचर्य क्षेत्र (Sensory association areas) तथा गतिवाही साहचर्य क्षेत्र (Motor association area) हैं। इन साहचर्य क्षेत्रों (Association areas) के अतिरिक्त बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (cerebral cortex) के अग्रखण्डों (Frontal lobe) मे साहचर्य क्षेत्र (Association areas) पाये जाते हैं।

योग शास्त्रों में सुषुम्ना शीर्ष (Medulla oblongata) का भी विवेचन मस्तिष्क के एक प्रमुख अंग के रूप में प्राप्त होता है। इस स्थल पर सहानुभूतिक रज्जुओं (Sympathetic cord) का मिलन बताया गया है। इसमें को होकर ही नाड़ियां अपने संवेदन क्षेत्रों में जाती है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों का मिलन इस भाग में ही होता है। यहाँ नाड़ियां एक दूसरे को काट कर शरीर के बायें भाग की नाड़ियां मस्तिष्क बल्क (Cerebral Cortex) के दाहिने क्षेत्रों में जाती हैं। तथा दायें भाग की नाड़ियां बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral cortex) के बायें क्षेत्रों में जाती हैं। शिव-संहिता में इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना तथा सुषुम्ना को सरस्वती कहा है। इन तीनों के मिलन स्थान को त्रिवेणी, प्रयाग वा संगम कहा है। योगी के लिये इस संगम पर मानसिक स्नान करने से अर्थात् वहाँ ध्यान लगाने से उसके समस्त

पाप नष्ट हो जाते हैं। तथा वह ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जो इस संगम-स्थान पर पितृ कर्म का अनुष्ठान करते हैं वे पितृ-कुल को तार कर स्वयं परम गति प्राप्त करते हैं। इस स्थान पर काम्य कर्म करने से अक्षय फल, ध्यान स्नान से स्वर्ग सुख तथा पवित्रता प्राप्त होती है। मृत्यु के समय इस संगम पर ध्यान स्नान करने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसे शिव संहिता में अति गोपनीय

तीर्थ बताया है ।[१] उपर्युक्त कथन से सुषुम्ना शीर्ष (Medulla oblongata) का महत्व स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है । यह मेरु दण्ड रज्जु (Spinal cord) को मस्तिष्क से मिलता है । आज्ञा चक्र का सम्बन्ध द्विविभागी लघुमस्तिष्क (cerebellum) से दिखाया जा सकता है क्योंकि यह गति एव क्रियाओं से सम्बन्धित द्विदल वाला केन्द्र है । इस केन्द्र के द्वारा ही हमारी सारी क्रियायें सम्बन्धित होती है । यहां से गतिवाही नाड़ियाँ मांस पेशियों में प्रवाह ले जाती हैं ।

## षट्-चक्र तथा कुण्डलिनी

वेदों, उपनिषदों, योगशास्त्रों तथा तन्त्रों में कुण्डलिनी शक्ति तथा चक्रों का विवरण मिलता है । शरीर का विच्छेदन करने पर इस शास्त्रोक्त विवरण में वर्णित स्थलों पर हमें चक्र और कुण्डलिनी प्राप्त नहीं होती, किन्तु शास्त्रों में इनका वर्णन अत्यधिक महत्वपूर्ण ढंग से किया गया है अतः इनकी वास्तविक सत्ता का अस्तित्व अस्वीकृत नहीं किया जा सकता । यह हो सकता है कि आज का विकसित शरीर-रचना-शास्त्र भी योगियों की समाधि प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त इन सूक्ष्म शक्ति केन्द्रों का ज्ञान प्राप्त करने में अभी तक सफल न हो सका । अति सूक्ष्म और शक्तिरूप होने के कारण ये चक्र स्थूल इन्द्रियों तथा उनके सहायक यन्त्रों के द्वारा नहीं जाने जा सकते । यह आवश्यक नहीं है कि जिनका ज्ञान शरीर रचना शास्त्र ( Anatomy ) को प्राप्त नहीं है, वे सब अस्तित्व हीन और काल्पनिक हैं । चक्रों और कुण्डलिनी को जिनके ऊपर शास्त्र कथित योगाभ्यास तथा योग क्रियायें आधारित है, उन्हें अस्तित्व हीन और काल्पनिक कहना महान् मूर्खता होगी । अभी तक का हमारा वैज्ञानिक ज्ञान अधूरा ही है । उसके द्वारा हमें अन्नमयकोश के समस्त सूक्ष्मतम अवयवों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है । भारतीय प्राचीन योग-क्रिया के द्वारा योगी शरीर के सूक्ष्मतम अंगो का ज्ञान स्वतः प्राप्त कर लेता था । पूर्व में अष्टांग-योग के अध्याय में साधन विधि का विषद विवेचन किया जा चुका है । इस साधन विधि से समाधि अवस्था प्राप्त करने से योगी को समाधि प्रज्ञा प्राप्त होती है, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है । यह प्रज्ञा दिव्य ज्योति वा दिव्य नेत्र प्रदान करती है । अन्धकार में जिस प्रकार से टार्च वाह्य सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने में सहायक होती है, उसी प्रकार से यह प्रज्ञा योगी को आन्तरिक सूक्ष्म,

---

१. शिव-संहिता ५—१६३ से १७२ तक ।

अतीन्द्रीय विषयों का दर्शन कराने में सहायक होती है। ध्यान योग के द्वारा ही योगियों ने अन्नमय कोश में स्थित शक्ति केन्द्रों का अनुसन्धान किया है, जिनके द्वारा वे योगाभ्यास में अत्यधिक प्रगति प्राप्त कर सके। इन शक्ति केन्द्रों को पूर्ण रूप से काम में लाने के लिये तथा उनके द्वारा शरीर को प्रभावित करने के लिये आसन, मुद्राओं तथा प्राणायाम की खोज हुई, जिनके द्वारा योग मार्ग बहुत कुछ सरल बन गया।

जिन शक्ति केन्द्रों पर, योगियों ने उनके प्रभाव को विकसित करने के लिये, इतनी खोज की है, उन शक्ति केन्द्रों को हम, अतीन्द्रिय और अति सूक्ष्म होने के कारण, काल्पनिक और अस्तित्व हीन नहीं कह सकते। ये चक्र शक्ति केन्द्र रूप से रीढ़ की हड्डियों के भीतर स्थित मेरु-दण्ड-रज्जु ( spinal cord ) जिसमें सुषुम्ना, वज्रा, चित्रा तथा ब्रह्म नाड़ी सम्मिलित हैं, स्थित हैं। इन छः चक्रो में, जिन्हें सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र कहा जा सकता है, प्रत्येक चक्र में अपनी विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं, जो कि उस विशिष्ट चक्र की क्रियाओं का नियंत्रण करती रहती हैं। प्रत्येक चक्र की ये शक्तियाँ मन को पूर्ण रूप से प्रभावित करती रहती हैं। सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग अति सूक्ष्म है, और उस सूक्ष्म मार्ग में यह सूक्ष्म शक्तियाँ तथा सूक्ष्म योग नाड़ियाँ, जिन केन्द्रों पर मिलती हैं, वे सब अति सूक्ष्म मार्ग पर अति सूक्ष्म शक्ति केन्द्र हैं, जो कि सचमुच में आज तक आविष्कृत किसी भी यन्त्र के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। सुषुम्ना में स्थित इन विशिष्ट स्थानों से ज्ञानवाही तथा गतिवाही सूत्रों के गुच्छे निकलकर समस्त शरीर में ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक जीवन शक्ति प्रवाहित करते हैं। इन नाड़ी गुच्छों पर से होकर एक विशिष्ट प्रकार की विद्युत्धारा समस्त शरीर में प्रसारित होती है। इन अलग अलग चक्रों की शक्तियों के द्वारा केवल उन विशिष्ट चक्रों के ही व्यापार नियंत्रित नहीं होते वल्कि शरीर के व्यापार, प्राणगति अर्थात् प्राणों के व्यापार, तथा मानव मन भी प्रभावित होते रहते हैं।

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है, कि ये सब चक्र सुषुम्ना मार्ग पर विशिष्ट देश में स्थित अतीन्द्रीय शक्ति केन्द्र हैं, जिनका दृष्टिगोचर स्वरूप, स्थूल शरीर के प्रभावित होने के कारण, शरीर में ज्ञान सूत्रों के गुच्छों के रूप में या विशिष्ट केन्द्रों के प्रतिरूप के रूप में पाया जाता है। तन्तुओं के स्थूल गुच्छे जिनका ज्ञान हमको शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) के द्वारा प्राप्त हो जाता है, उन अतीन्द्रीय केन्द्रों के स्थूल प्रक्षेपण (Projection) हैं। इन स्थूल स्नायु गुच्छों को पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी शक्ति केन्द्र माना है।

षट् चक्र मूर्ति

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

कल्याण

षट् चक्र

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

भले ही इन शक्ति-केन्द्रों के विषय में, जिन्हें ये जालिकायें ( Plexuses ) कहते हैं, भारतीय योगियों के समान इनका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त न हो, किन्तु उनमें उच्चकोटि की संवेदन शीलता के अस्तित्व को इन्होंने भी माना है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ये जालिकायें (Plexuses) गति तथा सम्वेदना प्रदान करती हैं। इनकी संख्या अधिक है, किन्तु मुख्य छः हैं, जिन्हें उच्च चेतना केन्द्र माना गया है। प्रत्येक चक्र की अपनी स्वतंत्र शक्ति के साथ एक ऐसी भी शक्ति विद्यमान है, जो कि इन छःओं चक्रों के ऊपर नियंत्रण करती हैं। यह भौतिक रूप में हर व्यक्ति के अन्दर सर्पाकार रूप में सुषुम्ना के मूल में त्रिकोण योनि स्थान में स्वयंभूलिंग में लिपटी सुषुप्तावस्था में ब्रह्मरन्ध्र के मुख पर विद्यमान है।

ये सब उपर्युक्त चक्र कुंडलिनी शक्ति के ही स्थान हैं, जो कि चेतना के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित हैं, जिनमें अति सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं। कुण्डलिनी शक्ति की ही अलग-अलग शक्तियाँ इन अलग-अलग केन्द्रों में होती हैं। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो ये सब चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही अंग हैं। सुषुम्ना का निम्नतम भाग वा सुषुम्ना का आधार जिसे ब्रह्म द्वार कहते हैं, में से होकर यह कुण्डलिनी शक्ति जागरित होने पर इन सब चक्रों में से होकर अन्त में सहस्रार ( cerebral cortex ) अर्थात् ब्रह्म के स्थान पर पहुँच जाती है। इस सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करके सहस्रार ( शिव-लोक ) तक पहुँचाना ही योगाभ्यास का अन्तिम लक्ष्य है। यही शिव-शक्ति मिलन है। परमात्मा अपनी इस शक्ति से ही सृष्टि की रचना करता है।

इस सम्पूर्ण रहस्य को जानने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अलग-अलग चक्रों तथा कुण्डलिनी शक्ति का स्पष्ट रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जाय। चक्रों के विवेचन में इन चक्रों की तादात्म्यता आधुनिक शरीर-रचना-शास्त्रीय जालिकाओं ( Plexuses ) से की जाती है क्योंकि (१) बहुत से चक्रों की स्थिति इन जालिकाओं के समान सी है। (२) उनकी पंखुड़ियाँ जालिकाओं ( Plexuses ) वा स्नायु गुच्छों को बनाने वाली नाड़ियाँ वा उन जालिकाओं से जाने वाली नाड़ियाँ कही जा सकती हैं। (३) आधुनिक शरीर शास्त्रियों ने इन जालिकाओं को स्वतंन्त्र स्नायु केन्द्र माना है। (४) सुषुम्ना के बताये गये छः चक्र मेरु दण्ड रज्जु की छः स्नायु जालिकाओं ( Plexuses ) से सम्बन्धित किये जा सकते हैं।

ये उपर्युक्त जालिकाओं के मूल केन्द्र, जिन्हें आधुनिक शरीरशास्त्री ( Physiologist ) मानते हैं, वास्तव में अति सूक्ष्म ज्ञानवाही तथा गतिवाही जोड़ों के रूप में सुषुम्ना में विद्यमान हैं तथा उससे बाहर छोटे गुच्छों का रूप धारण कर फिर बड़े गुच्छों के रूप में बदल कर चक्र रूप से दिखाई देते हैं। ये ही चक्र शरीर रचना शास्त्र की जालिकायें ( Plexuses ) हैं। इन चक्रों के मूल केन्द्र तो अति सूक्ष्म होने के कारण यन्त्रों के द्वारा भी नहीं दीख सकते हैं।

## चक्र

### मूलाधार चक्र[१] ( Sacro-coccygeal Plexus )

यह Sacro-coccygeal Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। मूलाधार शब्द से ही व्यक्त होता है कि यह चक्र सुषुम्ना की जड़ के नीचे स्थित है। अतः मूलाधार चक्र सुषुम्ना में गुदा और लिंग के बीच चार अंगुल विस्तार वाले कन्द के रूप में स्थित सबसे पहला चक्र है। यह चार दलों वाले लाल ( रक्तवर्ण ) कमल के रूप वाला चक्र है। इन चार दलों पर चार अक्षर व, श, ष, स स्वर्णाङ्कित हैं, जो कि कुण्डलिनी के ही रूप हैं। इस कमल पुष्प के मध्य में पीत वर्ग है, जिसके मध्य में अधोमुखी चोटी वाला तथा पीछे की तरफ़ मुख वाला त्रिकोण देश है जो योनि वा भग रूप है तथा जिसे कामरूप कहते हैं। इस योनि के मध्य में सूक्ष्म प्रज्वलित अग्नि शिखा सम गतिशील, सम्वेदन शील, परम तेजवान् वीर्य को जो सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता, कभी ऊपर तथा कभी नीचे जाता रहता है, स्वयंम् लिंग ( स्वयं पैदा होने वाला ) कहा गया है। यह स्वयंभूलिंग आकृति में अण्डाकार तथा छोटे आलूबुखारे वा छोटी जामुन के समान है। इस स्वयंभूलिंग का ऊपरी भाग मणि के समान

---

१. शिव-संहिता—५।७६ से ९७ तक। संगीत रत्नाकर—पिण्डोत्पत्ति प्रकरणं—१।११६ से १४४ तक। ध्यान बिन्दूपनिषत्—४६। योग चूणामण्युपनिषत्—६ से १० तक। योगशिखोपनिषत्—१।१६८ से १७१ तक। योगशिखोपनिषत्—५।५ से ७ तक। वाराहोपनिषत्—५।५० से ५३ तक। "Yoga Immortality and Freedom" mircea Eliade Page—241. The Positive Science of Ancient Hindus by Brajendra Nath Seal—Page—219.

चमकता है। सहस्रार ( Cerebral Cortex ) चक्र में स्थित काम कलारूप त्रिकोण की प्रतिकृति ही यह त्रिपुर ( स्वयम्भूलिंग को घेरे हुये अग्नि चक्र त्रिकोण ) है, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। यह चक्र कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से मूलाधार कहा जाता है। बिजली के समान चमकदार कुल कुण्डलिनी शक्ति इस स्वयम्भूलिंग के ऊपरी भाग से सर्पाकार रूप में छिपटी हुई लिंग के द्वार को अपने सिर से बन्द किये हैं। इस प्रकार से कुण्डलिनी के द्वारा उसकी सुषुप्तावस्था में सुषुम्ना का छिद्र ( Spinal canal ) ब्रह्म द्वार वा ब्रह्म रन्ध्र जो कि सहस्रार तक चला जाता है, बन्द रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुम्ना में प्राणादि का प्रवेश नहीं हो सकता है। यह तप्त स्वर्ण के समान निर्मल तेज प्रभा रूप तीनों तत्वों ( सत्व, रज तथा तम ) की जननी कुण्डलिनी विष्णु की शक्ति है। सुषुम्ना भी काम बीज के साथ कुण्डलिनी के स्थान में स्थित है। इन तीनों का सम्मिलित नाम त्रिपुरा भैरवी है, जिसे बीज तथा परम शक्ति भी कहा है।

मूलाधार चक्र में चार प्रकार की शक्तियां कार्य करती हैं। इसमें चार प्रकार की चेतना विद्यमान हैं। इस चक्र पर चार योग नाड़ियाँ मिलती हैं। इन प्राणशक्तिरूप योग नाड़ियों के द्वारा ही चार दल रूप आकृतियों की उत्पत्ति होती है। इन दलों में कुण्डलिनी, प्राणशक्ति रूप नाड़ियों के द्वारा ही प्रसृत (फैलती) है। इस प्राण शक्ति के साथ दलों का भी लय हो जाता है। इस चक्र पर चार प्रकार के सूक्ष्म शब्द होते हैं जिनके बीज मंत्र वं, शं, षं, तथा सं हैं। इसका तत्व बीज 'लं' है। यह पृथ्वी तत्व प्रधान है। ऐरावत हाथी बीजवाहक है, जिस पर इन्द्र विराजमान हैं। ब्रह्मा इसके देवता हैं, भूः लोक है, गंध गुण है, डाकिनी शक्ति है, चौकोण यंत्र है, नासिका ज्ञानेन्द्रिय, गुदा कर्मेन्द्रिय है तथा यह अपान वायु का स्थान है। योगशिखोपनिषत् में इस मूलाधारचक्र पर ही जीव रूप में शिव का स्थान बताया गया है, जहाँ परा शक्ति कुण्डलिनी विद्यमान है।[1] वहीं से वायु, अग्नि, बिन्दु, नाद, हंस तथा मन की उत्पत्ति होती है।[2] इस स्थान को काम रूप पीठ कहा गया है, जो सब इच्छाओं को पूरा करने वाला है। योगशिखोपनिषत् (६।२२ से ३२ तक) में आधार ब्रह्म में वायु आदि के लय होने से मुक्ति बताई गयी है। इस आधार ब्रह्म से ही विश्व की

---

१. योगशिखोपनिषत्—५।५ से ८ तक।

२. वाराहोपनिषत्—५।५० से ५२ तक।

उत्पत्ति तथा विश्व का लय होता है। इस आधार शक्ति की निद्रा अवस्था में विश्व भी निद्रावस्था में रहता है। इस शक्ति के जाग जाने पर त्रिलोकी जाग जाती है। इस आधार चक्र के ज्ञान से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। आधार चक्र में वायु को रोकने से, गगनान्तर में स्थित, शरीर कम्पन तथा निरन्तर नृत्य होता रहता है। उसे सब विश्व आधार रूप अर्थात् ब्रह्म रूप ही दीखता है। सब देवता तथा वेद इस आधार के ही आश्रित हैं। इस आधार चक्र के पीछे त्रिवेणी संगम ( इडा, पिंगला, सुषुम्ना का मिलन ) होता है। इसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते है। इस स्थान पर स्नान तथा जल पीने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। आधार में लिंग (अन्तर-चेतना) तथा द्वार वा ग्रन्थि हैं, जिनके भेदन से मोक्ष प्राप्त होता है। आधार चक्र के पीछे सुषुम्ना में सूर्य तथा चन्द्र स्थित हैं। वहाँ विश्वेश्वर विद्यमान हैं जिनका ध्यान करने से व्यक्ति ब्रह्ममय हो जाता है।[1] जो बुद्धिमान व्यक्ति मूलाधार चक्र पर ध्यान करते हैं, उन्हें दार्दुरी सिद्धि प्राप्त होती है तथा वे क्रम से भूमि त्याग और आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस चक्र पर ध्यान करने से योगी का शरीर उत्तम कान्तिवाला होता है; उसकी जठराग्नि में वृद्धि होती है; वह रोग से मुक्त होता है तथा उसे पटुता और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। उसे भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य सबका उनके कारणों सहित ज्ञान हो जाता है। बिना सुने तथा अध्ययन किये विज्ञानों का पूर्ण ज्ञान इस चक्र पर ध्यान करने वाले को प्राप्त होता है। उसकी जीभ पर सरस्वती का निवास होता है। उसे जप मात्र से मंत्र सिद्धि हो जाती है। वह जरामरण, दुःखों तथा पापों से मुक्त हो जाता है। उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं। वह अन्दर, बाहर सब जगह स्थित, श्रेष्ठ तथा पूजनीय, मुक्ति देने वाले शिव के दर्शन करता है। आन्तरिक शिव को न पूज कर बाहरी देव मूर्तियों को पूजने वाला उसके समान है जो हाथ की मिठाई को छोड़ कर भोजन की खोज में फिरता है। जो अपने स्वयंभू लिंग पर निरन्तर ध्यान करता रहता है, उसे निश्चय ही शक्ति प्राप्त होती है। छः मास में उसे सफलता प्राप्त होती, तथा उसकी वायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है। जो मन को जीत लेता है तथा वायु और वीर्य रोक लेता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों में सफल होता है।[2]

---

१. योगशिखोपनिषत् ६।२२ से ३२ तक।

२. शिव-संहिता—५।८६ से ९७ तक।
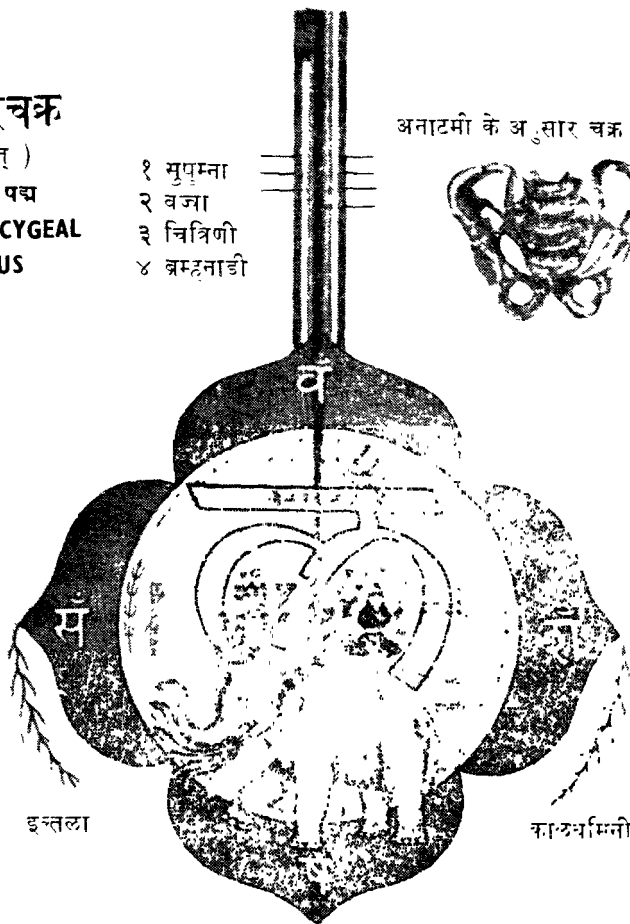
| | | | ध्यानफल |
|---|---|---|---|
| नाम - आधार चक्र | दलोंके अक्षर-वँ शँ पँ सँ | देव - ब्रह्मा | दक्षा,मनुष्योंमेंश्रेष्ठ,सर्वविद्या |
| स्थान - योनि | नामतत्व—पृथिवी | देवशक्ति-डाकिनी | विनोदी, आरोग्य, आनन्द- |
| दल - चतुः | तत्वबीज—लँ | यत्र - चतुष्कोण | चित्त, काव्य प्रबन्धमें समर्थ |
| वर्ण - रक्त | बीजकावाहन-ऐरावत | ज्ञानेन्द्रिय-नासिका | होता है। |
| लोक - भूः | हस्ती | कर्मेन्द्रिय - गुदा | अंग्रेजी नाम— |
| | गुण—गन्ध | | **Sacro-Coccygeal Plexus** |

**कल्याण के सौजन्य से प्राप्त**
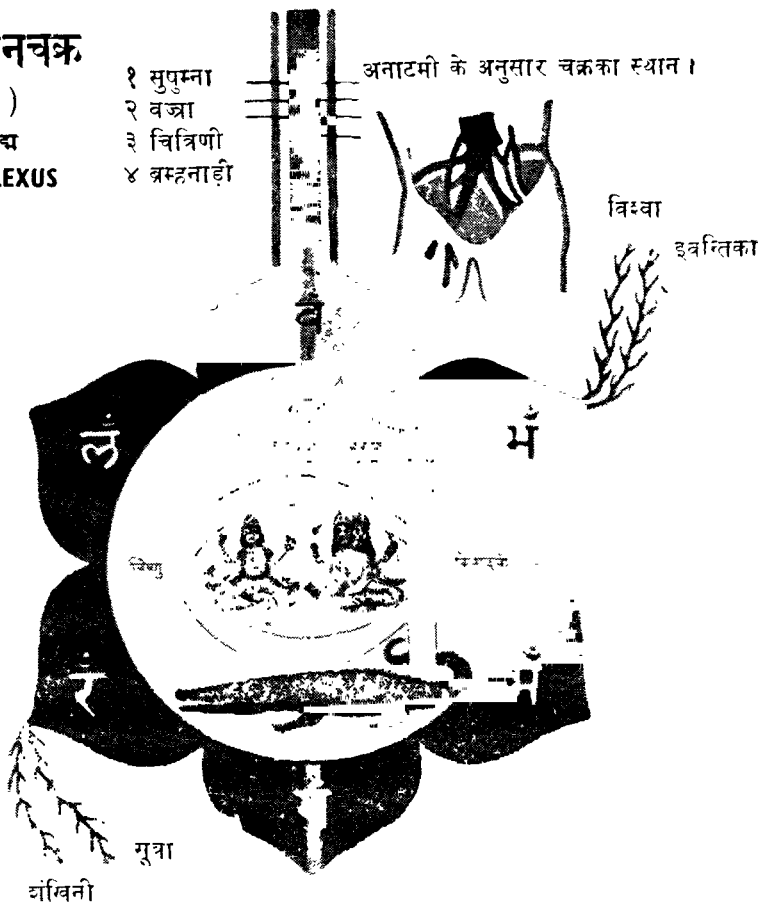
| | | | ध्यानफल |
|---|---|---|---|
| नाम - स्वाधिष्ठानचक्र | दलोंकेअक्षर-वँ से लँ तक | देव - विष्णु | अहंकारादि विकार नाश, |
| स्थान - पेड़ू | नामतत्व - जल | देवशक्ति - राकिनी | योगियोमें श्रेष्ठ,मोहरहित |
| दल - षट | तत्ववीज - वँ | यंत्र - चन्द्राकार | और गद्य पद्य की रचनामें |
| वर्ण - सिंदूर | वीजकावाहन - मकर | ज्ञानेन्द्रिय - रसना | समर्थ होता है। |
| लोक - भुवः | गुण - रस | कर्मेन्द्रिय - लिङ्ग | अंग्रेजी नाम– *Sacral Plexus* |

**कल्याण के सौजन्य से प्राप्त**

## (२) स्वाधिष्ठान चक्र[1]— (Sacral Plexus)

यह Sacral Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। यह चक्र लिंग के मूल में स्थित है। लिंग के मूल में स्थित होने के कारण इस चक्र को मेढ्राधार भी कहते हैं। यह चक्र जल तत्व का केन्द्र है। जल तत्व का केन्द्र होने से इस चक्र को जलमण्डल भी कहते हैं। जल तत्वप्रधान होने से इसका सम्बन्ध कफ, शुक्र आदि जलीय विकारों से है। यह चक्र मूलाधार से ऊपर की तरफ है। यह सिन्दूर वर्ण के छः दलों वाला चक्र है। इन दलों के ऊपर व, भ, म, य, र तथा ल अक्षर अंकित हैं। गरुड़ पुराण में इसे सूर्य के समान वर्ण वाला बताया गया है। इसका तत्त्व बीज "वं" है। इस चक्र पर सूक्ष्म ध्वनियाँ होती हैं जिनके बीज मंत्र बं, भं, मं, यं, रं तथा लं हैं। इस चक्र के षट्दल कमल के मध्य में श्वेत अर्ध चन्द्र स्थित है, जो वरुण से सम्बन्धित उस चन्द्रमा के मध्य में बीज मंत्र है जिसके बीच में विष्णु, शाकिनी के साथ विद्यमान हैं। इस चक्र का बीज वाहन मकर है जिस पर वरुण विराजते हैं। भुवः लोक है। इसके देवता विष्णु तथा उनका वाहन गरुड़ है। मण्डल का आकार अर्ध चन्द्र है। तत्त्व का रंग शुभ्र है। गुण आकुञ्चन रसवाह है। इस चक्र की शक्ति शाकिनी है। शिव-संहिता (५।९९) के अनुसार यह शक्ति राकनी है। तत्त्व का गुण रस है। ज्ञानेन्द्रिय रसना तथा कर्मेन्द्रिय लिंग है। इस चक्र का प्राण अपान वायु है। इस चक्र पर छः प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य करती हैं तथा ६ योग नाड़ियाँ यहाँ मिलती हैं। इस चक्र का तत्त्व जल है और जल

---

१. शिव-संहिता—५।९८ से १०३ तक;
(a) "Yoga Immortality and Freedom" by Mircea Eliade, Page 241 and 242.
(b) "The Positive Sciences of Ancient Hindus" by Brajendra Nath Seal, Page 220
(c) "The Primal Power in Man or the Kundalini Shakti by Swami Narayanananda, Page 34.
(d) ध्यानबिन्दूपनिषत्—४७;
(e) योगचूडामण्युपनिषत्—११;
(f) योगशिखोपनिषत्—१।१७०, ५।८;
(g) संगीत रत्नाकर—पिण्डोत्पत्ति प्रकरणं—११६-१४८ तक।

तत्त्व के देवता वरुण हैं, इसीलिये यह वरुण से सम्बन्धित है। यहाँ जो नाड़ियाँ मिलती हैं, उनका सम्बन्ध कामेन्द्रिय तथा उसके कार्यों से है। उससे सम्बन्धित संवेग तथा अनुभूतियाँ इनके द्वारा उत्तेजित होती हैं। लिंग में उत्तेजना इन नाड़ियों के द्वारा ही होती है। अतः कामोत्तेजना का येही मूल कारण हैं। कामोत्तेजना के साथ साथ द्वेष, शिथिलता, जड़ता, झूठा अभिमान, संदेह, तिरस्कार तथा क्रूरता का उदय भी हो जाता है। शिव-संहिता (५।१०० से १०२ तक) के अनुसार इस चक्र पर ध्यान करनेवाला कामिनियों के प्रेम का पात्र बन जाता है। स्त्रियाँ उसे भजती तथा उसकी सेवा करती हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाला न जाने वा न अध्ययन किये हुये शास्त्रों तथा विज्ञानों को निःसंकोच होकर जान लेता है। वह रोग तथा भय मुक्त होकर संसार में विचरण करता है। इस चक्र पर ध्यान करने वाला योगी मृत्यु को भक्षण कर लेता है और अपने आप किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता है। उसे अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसके शरीर में समान रूप से वायु प्रसृत होता रहता है तथा उस के शरीर में निश्चित रूप से रस की वृद्धि होती है। सहस्र दल कमल (Cerebral Cortex) के नीचे से जो अमृत (Cerebro spinal fluid) की वर्षा निरन्तर होती है उसमें भी वृद्धि हो जाती है। इस चक्र का भी सम्बन्ध मेरु-दण्ड-रज्जु की सुषुम्ना, बज्रा, चित्रणी तथा ब्रह्मनाड़ी इन चारों नाड़ियों से होता है। इस पर संयम करने से ब्रह्मचर्य पालन में बहुत सहायता मिलती है। वैसे तो यह भी निम्न चक्र है जो कि तम प्रधान अपान वायु प्रदेश में स्थित है किन्तु इस पर भी वैराग्य युक्त भावना से काम को जीता जा सकता है। इस चक्र के देवता भगवान् विष्णु का ध्यान पूर्णतया सिद्ध हो जाने पर साधक में पालन कार्य करने की शक्ति आ जाती है और वह पालन जैसे कार्य को कर सकता है।

## (३) मणिपूर चक्र ( Epigastric Plexus )

यह Epigastric Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। सुषुम्ना में कुछ ऊपर चलकर नाभि स्थान में यह चक्र स्थित है। यह तीसरा शक्ति केन्द्र है इसे नाभि चक्र भी कहते हैं। मनुष्य शरीर का केन्द्र नाभि है। यहीं से अनेक नाड़ियाँ निकलती तथा मिलती हैं। यह समान वायु का स्थान है। मेरु-दण्ड-रज्जु की सुषुम्ना, बज्रा, चित्रणी तथा ब्रह्मनाड़ी से यह चक्र भी सम्बन्धित है। यह चक्र दस दलों वाले नील कमल के समान है। जिनपर ड, ढ़, ण, त, थ, द, ध, न, प तथा फ

अक्षर अंकित हैं। शिव-संहिता (५।१०४) ने इसे हेमवर्ण बताया है तथा गरुड़ पुराण में लाल कहा है। यह अग्नि तत्व का केन्द्र है। गुण प्रसरण उष्णवाह है। तत्व बीज रं है। बीज वाहन मेष पर अग्नि देवता विराजमान हैं। लोक स्वः है। इसके देवता रुद्र हैं। गुण रूप है। इसकी शक्ति लाकिनी है। इसका यंत्र त्रिकोण है। यह रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु ज्ञानेन्द्रिय तथा इसका अग्नि तत्व से उत्पन्न चलने की शक्ति चरण कर्मेन्द्रिय का स्थान है। तत्त्व रक्त वर्ण है। इस केन्द्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के बीज मंत्र डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं तथा फं हैं। इस चक्र पर परा शब्द का ध्यान किया जाता है। इस चक्र पर दस सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। इस केन्द्र पर दश योग नाड़ियाँ मिलती हैं। इस चक्र का सम्बन्ध निद्रा, भूख तथा प्यास लगाने से है। इससे साहस, वीरता, आक्रमकता, प्राणशक्ति, प्रबलता तथा जवानीपन आता है, साथ साथ विपरीत रूप से द्वेष, लज्जा, भय आदि आते हैं। कमल पुष्प के मध्य में एक लाल त्रिकोण है, जिस पर महा रुद्र नीले रंग वाली चतुर्भुजा शक्ति लाकिनी के साथ विद्यमान हैं। नाभि चक्र से ही गर्भ के बालक का पालक रस प्राप्त होता है। इसी मार्ग से सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसा कि "नाभि चक्रे कायव्यूहज्ञानम्" (यो० सू० ३।२९ से) व्यक्त होता है। इस पर ध्यान करने से सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान हो जाता है। शिव-संहिता (५।१०६, १०७, १०८) में मणिपूर चक्र पर ध्यान करने से पाताल सिद्धि बताई गयी है, जिससे साधक सदैव सुखी रहता है। ऐसा ध्यान करनेवाला इच्छाओं का स्वामी बन जाता है तथा दुःख, रोग और मृत्यु से छुटकारा पा जाता है। वह दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। उसमें स्वर्ण आदि बनाने की शक्ति आ जाती है। उसे गड़े वा छिपे धन के दर्शन होते हैं। उसमें औषधियों की खोज करने की शक्ति आ जाती है। उसे अति दूर तथा अति पास के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। नाभि चक्र पर सूर्य की स्थिति मानी गई है। योग सूत्र में इस नाभि में स्थित सूर्य में संयम करने को कहा गया है। इस नाभि स्थित सूर्य में संयम करने से भुवनों का ज्ञान प्राप्त होता है।[1] व्यास-भाष्य में तो सातों लोकों के भुवन तथा उसमें आने वाले ग्राम, नगर और उनके अन्तर्गत आने वाले घट पटादि पदार्थों को भुवन शब्द के अन्तर्गत लेकर उन सबका साक्षात्कार उस नाभि स्थित सूर्य में संयम करने से बताया गया है। नाभि शरीर का मध्य है। उसमें सूर्य की स्थिति होने से उस सूर्य की प्रकाश किरणें सम्पूर्ण

१. योग-सूत्र—३।२६।

देश ( शरीर ) में व्याप्त हो जाती हैं। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। अतः इस नाभिस्थ सूर्य में संयम करने से सम्पूर्ण भुवनों का साक्षात्कार हो जाता है। इस नाभिस्थ सूर्य की किरणों के द्वारा अमृत ( Cerebro Spinal fluid ) का पान करते रहने से ही मृत्यु होती है। अतः योगी को ऐसी योग क्रियायें करनी चाहिये जिनसे वह स्वयं ही अमृत पान करता रहे जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इस केन्द्र के द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर के अवयवों तथा सम्पूर्ण विश्व के भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस चक्र के देवता रुद्र का ध्यान पूर्णतया सिद्ध होने पर साधक में संहार शक्ति आ जाती है और वह संहार जैसे कार्य को कर सकता है।

## (४) अनाहत चक्र (Cardiac Plexus )

यह Cardiac Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। यह १२ सुनहरे दलों वाला चौथा चक्र हृदय स्थान में स्थित है। यह चक्र वायु तत्व प्रधान तथा अरुण रंग वाला है। शिव-संहिता ( ५।१०९ ) में इसका रंग गहरा लाल (रक्तवर्ण) कहा गया है तथा गरुड़ पुराण में सुनहरे रंग का बताया गया है। यह सिंदूरी रंग के द्वादश पद्म के सदृश है। इस चक्र के दल क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट तथा ठ इन बारह अक्षरों वाले हैं। इसका तत्व बीज 'यं' है तथा तत्व-बीज का वाहन मृग है। महर्लोक इसका लोक है। ईशान-रुद्र इसके अधिपति देवता अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा काकिनी देवशक्ति के साथ हैं। इसका यंत्र षटकोणाकार धूम्र रंग, गुण स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय स्पर्श-तन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श की शक्ति त्वचा का केन्द्र तथा कर्मेन्द्रिय वायु तत्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति हाथ का केन्द्र है। यह चक्र प्राण तथा जीवात्मा का स्थान है। इस चक्र के मध्य मे दो त्रिकोण, उनके मध्य में एक त्रिकोण और स्थित है, जिस पर ईश्वर लाल काकिनी शक्ति के साथ विद्यमान है। इस चक्र पर अनाहत नाद होता है। यह नाद बिना दो पदार्थों के संयोग के ही होता रहता है। यहाँ कहा जा सकता है कि इस चक्र पर रहस्यमयी ध्वनि होती रहती है। इस केन्द्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के कं, खं, गं, घं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं तथा ठं बीज मंत्र है। इस चक्र पर बारह सूक्ष्म शक्तियाँ क्रियाशील हैं। यहाँ बारह योग नाड़ियाँ मिलती हैं। इस तत्व बीज की मृग के समान तिरछी गति है। इसका वायु स्थान नाक तथा मुख से बहने वाले प्राण वायु का मुख्य
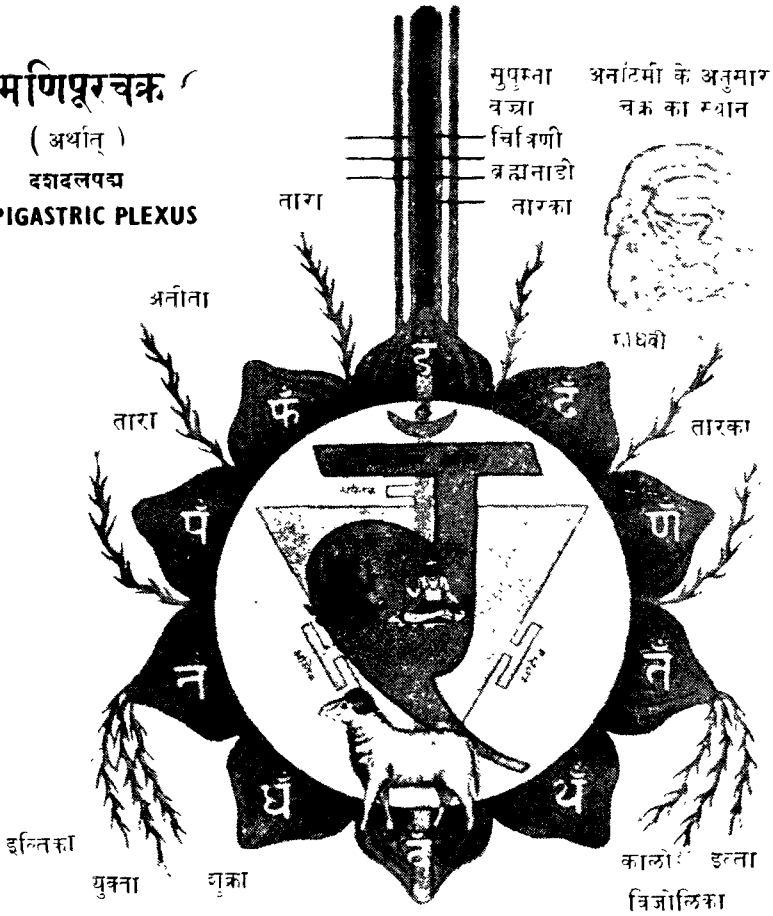
| | | |
|---|---|---|
| नाम - मणिपूरचक्र | दलोकेअक्षर-ड सेफंतक | देव - वृद्धरुद्र |
| स्थान - नाभि | नाम तत्व - अग्नि | देवशक्ति-लाकिनी |
| दल दश | तत्व वीज - रं | यंत्र - त्रिकोण |
| वर्ण - नील | वीजकावाहन-मेष | ज्ञानेन्द्रिय-चक्षु |
| लोक - स्व. | गुण – रूप | कर्मेन्द्रिय-चरण |

ध्यानफल

संहार पालन में समर्थ और वचन रचनामे चतुर हो जाता है और उसके जिह्वापर सरस्वती निवास करती है। अंग्रेजी नाम उन नाड़ियोंके समूहका जो इनचक्रों मे सम्बन्ध रखती है।

**EPIGASTRIC PLEXUS.**

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त
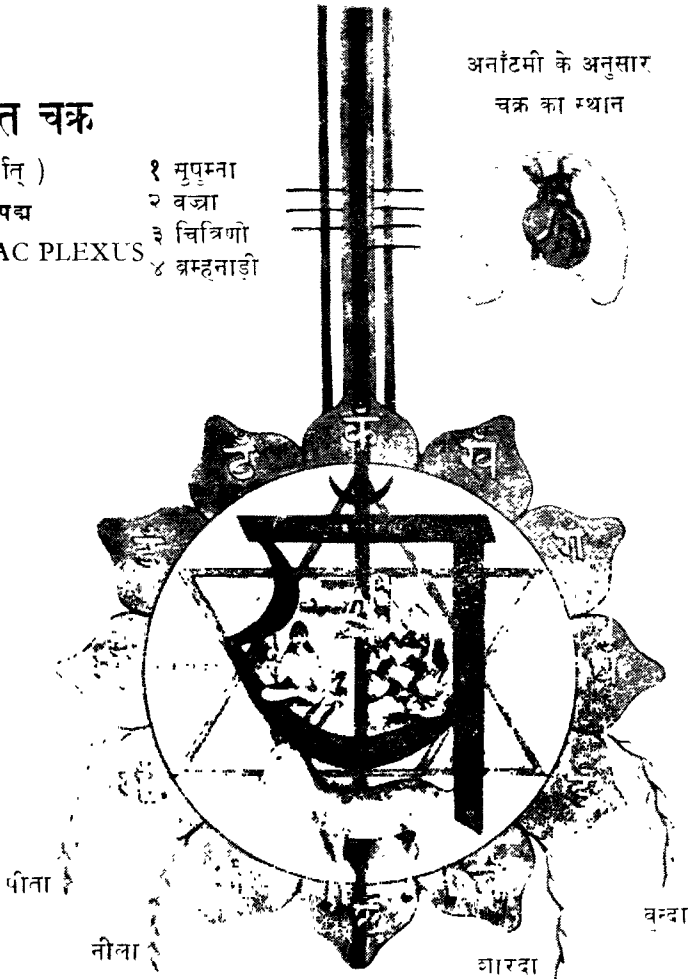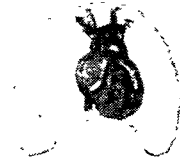
| | | |
|---|---|---|
| नामचक्र-अनाहत | दलोके अक्षर-कँसे ठँतक | देव - ईशानरुद्र |
| स्थान - हृदयम् | नामतत्व - वायु | देवशक्ति - काकिनी |
| दल - द्वादश | तत्ववीज - यँ | यंत्र - षटकोण |
| वर्ण - अरुण | वीजकावाहन-मृग | ज्ञानेन्द्रिय - त्वचा |
| लोक - महः | गुण - स्पर्श | कर्मेन्द्रिय - कर |

ध्यानफल

वचन रचनामें समर्थ ईशत्व सिद्धि प्राप्त योगीश्वर ज्ञानवान इन्द्रियजित काव्यशक्ति वाला होता है और पर कायाप्रवेश करनेको समर्थ होता है

अँग्रेजीनाम–
*Cardiac Plexus.*

**कल्याण के सौजन्य से प्राप्त**

स्थान है। यह अन्त करण का मुख्य स्थान है। यह आशा, चिन्ता, सन्देह, पश्चात्ताप, आत्मभावना तथा अहंमन्यता आदि जैसे स्वार्थवादी मनोभावों का स्थान है। योग सूत्र "हृदये चित्तसंवित्" ( ३।३४ ) से स्पष्ट हैं कि हृदय में संयम करने से साधक को चित्त का साक्षात्कार होता है। इस चक्र में बाण लिंग नामक परम तेज है, जिसके ऊपर ध्यान करने से साधक विश्व के दृष्ट तथा अदृष्ट सब भोग विषयों को प्राप्त कर लेता है। शिव-संहिता (५।१११) में इस चक्र के पिनाकी सिद्ध तथा काकिनी देवी अधिष्ठात्री हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाले के प्रति स्वर्गीय अप्सरायें काम से व्याकुल होकर मोहित होती हैं। उसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होता है। वह त्रिकाल दर्शी, दूर के शब्द को सुनने की शक्तिवाला, सूक्ष्म-दर्शी तथा इच्छानुसार आकाश गमन की शक्ति वाला होता है। वह सिद्धों तथा योगिनियों के दर्शन प्राप्त करता है। जो नित्य परं वाण लिंग पर ध्यान करता है, उसे आकाश गमन, तथा इच्छा मात्र से सर्वत्र पहुंचने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।[1] तन्त्रों में इसके ऊपर ध्यान करने का फल कवित्त्व शक्ति तथा जितेन्द्रियता आदि बताया है। शिवसार तन्त्र में तो इस चक्र की अनाहत नाद को ही सदाशिव गया कहा है। इसी स्थान में त्रिगुणमय ॐकार व्यक्त होता है। इसी चक्र में बाण लिंग है। जीवात्मा का यही स्थान है।

## (५) विशुद्ध-चक्र

### (Laryngeal and Pharyngeal Plexus)

यह Laryngeal and Pharyngeal Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। यह पाँचवाँ केन्द्र कण्ठ देश में स्थित है। सुषुम्ना (Spinal Cord) तथा सुषुम्नाशीर्ष (Medulla Oblongata) के मिलने वाले स्थान पर यह केन्द्र माना जा सकता है। यह सुषुम्ना नाड़ी में हृदय के ऊपर टेंटुए में स्थित है। मुख्य रूप से यह स्थान शरीर पर्यन्त बहने वाले उदान वायु तथा विन्दु का है। यह धूम्र रंग के प्रकाश से उज्ज्वलित षोडश पद्म जैसी आकृति वाला चक्र है जिसके सोलह दलों पर सोलह अक्षर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अः हैं। शिव संहिता ( ५।११६ ) में इसका कान्तिमान् स्वर्ण के समान रंग बताया गया है और गरुड़ पुराण में इसका रंग चन्द्रमा के समान बताया गया है। यह पूर्ण चन्द्र के सदृश

---

१ शिव संहिता ५।१११ से ११४ तक।

गोलाकार, आकाश तत्व का मुख्य स्थान है, अर्थात् यह आकाश तत्त्व प्रधान चक्र है। इसका तत्त्व बीज 'हं' है। हाथी इसके तत्त्व-बीज का बाहन है जिस पर प्रकाश देवता आरूढ है। तत्व बीज की गति हाथी की गति के समान घुमाव के साथ हैं। शब्द तत्त्व का गुण है। इस कमल के बीच नीले स्थान के मध्य में श्वेत चन्द्र पर शुभ्र हाथी है, जिस पर बीज मंत्र 'हं' है। इसके अधिपति देवता पंचमुख वाले सदाशिव भी अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी के साथ वहीं विद्यमान हैं। कुछ ग्रन्थों में यहाँ के देवता का आधा शुभ्र तथा आधा सुवर्णमय अर्धनारी नटेश्वर रूप है, जो कि अपने अनेक हाथों में वज्र आदि अनेक वस्तुयें लिये हुए बैल पर विराजमान हैं। उनका आधा शरीर त्रिनेत्र मुखोंवाली पंचमुखी तथा दस हाथों वाली सदागौरी है[1]। शिव-संहिता (५।११६) के अनुसार इस चक्र के सिद्ध छगलांड, शाकिनी देवी अधिष्ठात्री तथा जीवात्मा देवता है। इस चक्र का यंत्र पूर्ण चन्द्र के समान गोल आकार वाला आकाश मण्डल है। इसका लोक जन है। शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति श्रौत्र का स्थान इसकी ज्ञानेन्द्रिय है। कर्मेन्द्रिय आकाश तत्व से उत्पन्न वाक्शक्ति वाणी का स्थान है। यहाँ इस केन्द्र पर १६ सूक्ष्म शक्तियाँ क्रियाशील हैं। यह १६ योग नाड़ियों के मिलने का स्थल है। इस चक्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के आं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं तथा अः बीज मंत्र हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाला ही सचमुच बुद्धिमान् है, उसे चारों वेदों का उनके रहस्य सहित ज्ञान हो जाता है[2]। वह कवि, महाज्ञानी, शान्तचित्त, निरोग, शोकहीन तथा दीर्घजीवी होता है। इस स्थान पर चित्त के स्थिर होने से वह आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है। भाषा तथा सप्तस्वरों का यह उद्गम स्थान है। इस चक्र पर ही मणिपूर चक्र का अव्यक्त शब्द "परा" वैखरी रूप में निकलता है। 'वैखरी' रूप से इस चक्र पर "शब्द ब्रह्म' के प्रगट होने से ही यहाँ संयम करके साधक "दिव्य-श्रुत" हो जाता है। योग-सूत्र "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृतिः" (३।३०) से यह स्पष्ट होता है कि कण्ठ के नीचे के गढ़े में प्राणादि का स्पर्श होने से मनुष्य को भूख-प्यास लगती है। इसके (कण्ठ कूप के) ऊपर संयम करने से प्राणादि का स्पर्श न होने के कारण भूख-

१ Yoga Immortality and Freedom by Mircea Eliade, page 242 कल्याण योगांक पृष्ठ संख्या ३९७ का (४२)।

२ शिव-संहिता—५।११७।
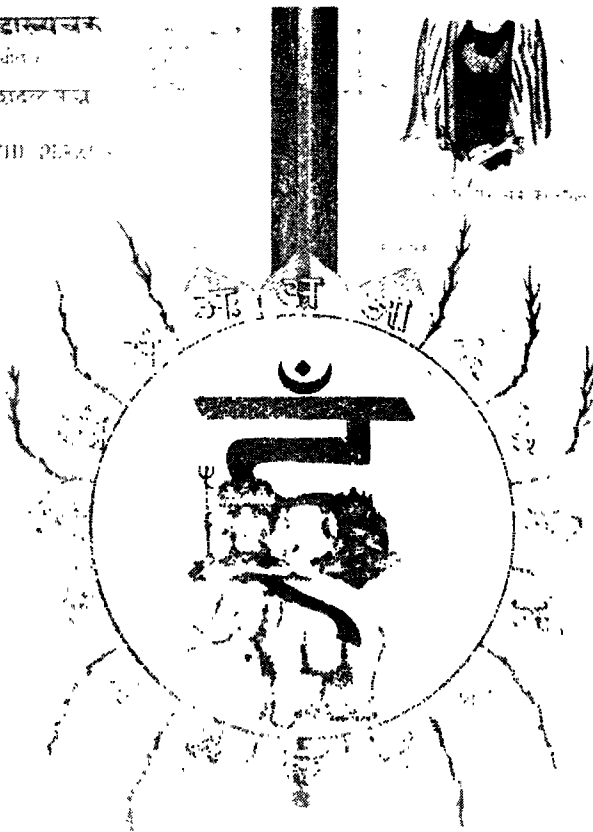
| | | | ध्यानफल |
|---|---|---|---|
| नाम-विशुद्धचक्र | दलो के अक्षर-अ से अः तक | देव-पञ्चवक्त्र | काव्यरचनामे समर्थ ज्ञानवान् उत्तम वक्ता शान्तचित्त त्रिलोकदर्शी सर्व हितकारी आरोग्य चिरञ्जीवी और तेजस्वी होता है। अंग्रेजी नाम उन नाड़ियो के समूह का जो इन चक्रो से सम्बन्ध रखती है-- **Laryngeal and Pharyngeal Plexus** |
| स्थान-कण्ठ | नामतत्व-आकाश | देवशक्ति-शाकिनी | |
| दल-षोडश | तत्वबीज-हँ | यंत्र-शून्यचक्र (गोलाकार) | |
| वर्ण-धूम्र | बीजका वाहन-हस्ती | ज्ञानेन्द्रिय-कर्ण | |
| लोक-जनः | गुण-शब्द | कर्मेन्द्रिय-वाक | |
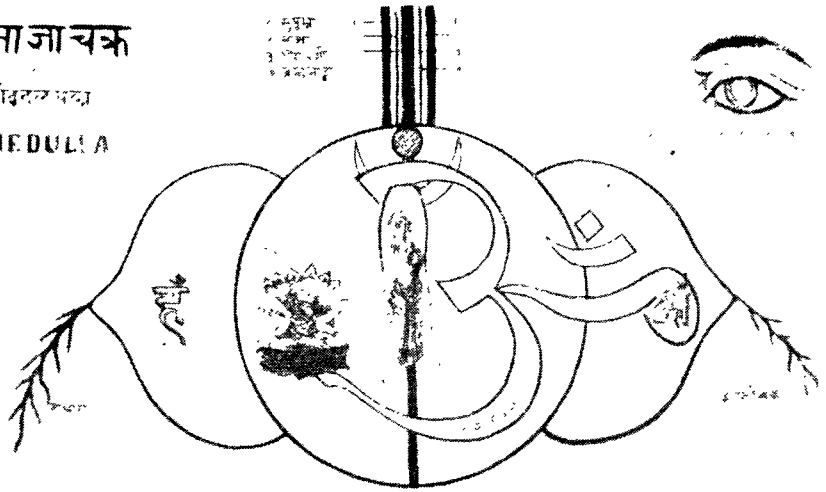
कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

| | | |
|---|---|---|
| नाम–आजाचक्र | दलोंके अक्षर–ह, क्ष | देव–लिंग |
| स्थान–भ्रूमध्य | नामतत्त्व–महत्तत्त्व | देवशक्ति–हाकिनी |
| दल–द्विदल | तत्त्वबीज–ॐ | यंत्र–लिङ्गाकार |
| वर्ण–श्वेत | बीजकावाहन–नाद | लोक–तपः |

**ध्यानफल**

वाक्य सिद्धि प्राप्त होती है। अंग्रेजीनाम उन नाडियों के समूहका जो इन चक्रोंसे सम्बंध रखती है—

Cavernous Plexus

कल्याण के सौजन्य से प्राप्त

प्यास से साधक मुक्त होता है। इस कण्ठ कूप के नीचे एक कछुए के आकार वाली नाड़ी है जिसे कूर्म नाड़ी कहते हैं। इस कूर्मनाड़ी पर संयम करने से साधक का चित्त तथा शरीर स्थिर होता है। उसे कोई हिला नहीं सकता और न उसका मन ही विचलित हो सकता है[१]। इस चक्र पर संयम करके स्थित रहनेवाले साधक के क्रोधित होने पर त्रैलोक्य कम्पायमान हो जाता है। चित्त के इस चक्र में लीन होने पर योगी सब बाह्य विषयों को त्यागकर अपने अन्दर ही रमण करता है। उसका शरीर क्षीण नहीं होता। हज़ार वर्षों तक उसकी पूर्ण शक्ति बनी रहेगी। वह बज्र के समान कठोर हो जाता है[२]। इस चक्र के ऊपर ही १२ दलों वाला ललना चक्र है जो कि श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दंभ, मान, स्नेह, शुद्धता, वैराग्य, मनोद्वेग तथा क्षुधा-तृषावृत्ति वाला है।

## (६) आज्ञाचक्र (Cavernous Plexus)

यह Cavernous Plexus इस चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप हैं। यह श्वेत प्रकाश के दो दल वाला छटा चक्र भ्रू-मध्य में स्थित है। इस चक्र का सम्बन्ध शीर्ष-ग्रन्थि (Pineal gland) तथा पीयूषिका-पिण्ड (Pituitary Body) से है। इस चक्र के दोनों दल पर क्रमशः ह तथा क्ष अक्षर हैं। इसका तत्व लिंग आकार महत्तत्व है। तत्व-बीज ओम् तथा तत्व-बीज गति नाद है। इस चक्र का लोक 'तप' है। इसके तत्व बीज का वाहन 'नाद' हैं जिस पर लिंग देवता विराजमान हैं। इस चक्र का यंत्र लिंगाकार है। पाताल लिंग इस चक्र का लिंग है। इस पद्म में श्वेत योनि त्रिकोण है जिसके मध्य में पाताल लिंग स्थित है।[४] इस त्रिकोण में अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र मिलते हैं। इसके अधिपति देवता ज्ञानदाता परम शिव अपनी चतुर्भुजा षडानना हाकिनी शक्ति के साथ इस श्वेत पद्म पर विद्यमान हैं। शिव-संहिता (५।१२२, १२३, १२४) में शुक्ल महाकाल को इस चक्र के सिद्ध तथा हाकिनी देवी को अधिष्ठात्री बताया गया है। शरत्चन्द्र के

---

१. यो०सू०–"कूर्म नाड्यां स्थैयम्" ३।३१।

२. शिव-संहिता ५।११७ से १२० तक।

३. Yoga and Self cultureby Sri Deva Ram Sukul—page 115 कल्याण योगांक पृष्ठ ३९७ (४२)

४. Yoga Immortality and freedom by Mircea Eliade page—243.

## सहस्रार चक्र ( Cerebral Cortex )

यह Cerebral Cortex सहस्रार चक्र के सूक्ष्म स्वरूप का सांकेतिक स्थूल रूप है। यह सहस्र दलों वाला पद्म ब्रह्न्मस्तिष्कीय बल्क ( Cerebral cortex ) है जो कि विभिन्न खण्डों ( lobes ) तथा परिबलनों ( convo lutions ) से युक्त है। यह जीवात्मा का स्थान है। यहीं शिव और शक्ति मिलन का विशिष्ट एवं उच्चतम स्थान है। यहीं आध्यात्मिक परमानन्द की अनुभूति होती है। यह ठीक ब्रह्म रन्ध्र के ऊपर स्थित है। यह समस्त शक्तियों का केन्द्र है। तालुमूल से सुषुम्ना मूलाधार तक चली गई है। यह सब नाड़ियों से घिरी तथा उनका आश्रय है[1]। तालु-मूल पर स्थित सहस्र दल पद्म के मध्य में पीछे की मुख वाली योनि ( शक्ति केन्द्र ) है जो कि सुषुम्ना का मूल है और सुषुम्ना रन्ध्र के सहित उसे ब्रह्म रन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना रन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति सदैव विद्यमान रहती है[2]। सहस्रार चक्र को दशमद्वार, ब्रह्म स्थान, ब्रह्मरन्ध्र, निर्वाण चक्र आदि भी कहते हैं। इन दलों पर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के सब अक्षर हैं। ये ५० अक्षर जो अन्य चक्रों के दलों पर हैं, सब इस चक्र के दलों पर भी हैं। सहस्र दल कमल पर ये ५० अक्षर २० बार आ जाते हैं। मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र तक के कुल दल और मात्रायें पचास पचास हैं। सहस्रार चक्र के सब मिलाकार बीस विवर हैं। एक विवर से दूसरे विवर तक ५० दल होते हैं। अतः इस चक्र में एक हज़ार दल हुए। इस केन्द्र से सब सूक्ष्म नाड़ियों का सम्बन्ध है। सब चक्रों की सूक्ष्म-योग-नाड़ियाँ यहाँ विद्यमान हैं। बीज रूप से यहाँ सब कुछ है। यह सम्पूर्ण चेतना का केन्द्र स्थान है। इस पद्म के मध्य त्रिकोण को घेरे हुए पूर्ण चन्द्र है। यहीं शिव और शक्ति का परम मिलन होता है। यहाँ उन्मनी अवस्था प्राप्त करना ही तान्त्रिक साधना का परम लक्ष्य है। कुण्डलिनी शक्ति छःओं चक्रों में को होती हुई अन्त में सहस्रार में लीन हो जाती है। यहाँ पहुँच कर उसका कार्य समाप्त हो जाता है। यहाँ कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में सदैव परमात्मा के साथ रहने वाली पराकुण्डलिनी से मिलती है। इस चक्र का लोक सत्य है तथा तत्त्व, तत्त्वातीत है। इस चक्र का तत्वबीज विसर्ग, तत्व बीज वाहन विन्दु तथा तत्त्वबीज गति विन्दु है। इस चक्र का यंत्र शुभ्रवर्ण पूर्ण चन्द्र है। इस चक्र के मध्य में श्वेत पूर्ण चन्द्र से घेरे हुए त्रिकोण में परब्रह्म अपनी महाशक्ति के साथ विराजमान

---

१. शिव-संहिता—५।१५०, १५१।

२. शिव-संहिता—५।१५२ से १५४ तक।
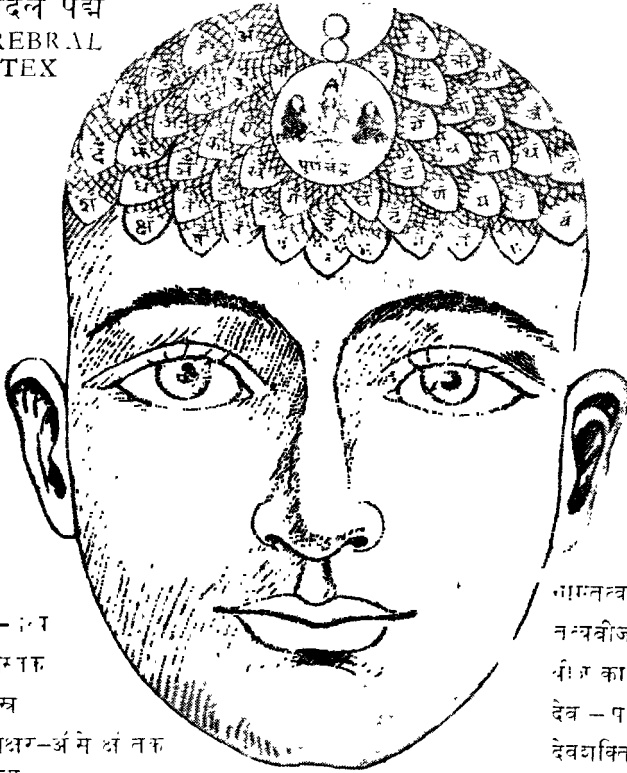
उत्पत्ति पालन मे समर्थ आकाशगामी और समाधियुक्त होता है।

**कल्याण के सौजन्य से प्राप्त**

हैं। इस सहस्रार चक्र में अनेक रूपों में सब चक्रों की ध्वनियाँ तथा शक्तियाँ अपनी कारणावस्था में विद्यमान हैं। इसके द्वारा केवल सब चक्रों का ही प्रतिनिधित्व नहीं होता, बल्कि यह सम्पूर्ण शरीर का चेतना केन्द्र है। इसमें सूक्ष्म रूप में सब स्थित हैं। यहीं निष्क्रिय एवं गति शील चेतना का मिलन होता है। अर्थात् यह कुण्डलिनी शक्ति के दोनों रूपों निष्क्रिय और चंचल का मिलन स्थान है। यह चक्र मुक्ति देने वाला है। कुण्डलिनी के इसमें लीन होने के साथ साथ विभिन्न चक्रों की विभिन्न शक्तियां, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा मन के साथ यहां पूर्ण रूप से परमात्मा में लीन हो जाती हैं जिसके कारण प्रपञ्चात्मक जगत् की सत्ता समाप्त होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। मूलाधार चक्र पर व्यक्ति की जो चेतना शक्ति जागरित होकर सहस्रार पर पहुँचती है, वह वहां पहुँच कर परम शक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में ज्ञात, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी नहीं रह जाती। सब आत्मा रूप ही हो जाता है।

इस चक्र पर मन और प्राण के स्थिर होने पर सर्व चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। शिव-संहिता ने सहस्रार को मुक्तिदाता तथा ब्रह्माण्ड रूपी शरीर से बाहर माना है। इसे ही अविनाशी क्षय तथा वृद्धि रहित शिव का स्थान कैलाश पर्वत कहा है[१]। इस परम पवित्र स्थान के ज्ञान मात्र से व्यक्ति जन्म मरण से छुटकारा पा जाता है। इस ज्ञान योग के अभ्यास से व्यक्ति में संसार के संहार तथा रचने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। जो परम हंस के स्थान कैलाश अर्थात् सहस्र दल कमल पर ध्यान लगाता है, वह साधक मृत्यु, रोग एवं दुर्घटनाओं से मुक्त होकर बहुत काल तक रहता है। जो योगी परमेश्वर में मन को लीन कर देता है उसे निश्चय समाधि प्राप्त होती है[२]।

षट्चक्रों तथा उनके अतिरिक्त अन्य आन्तरिक स्थानों का विवेचन राधास्वामी मत में भिन्न प्रकार से है[3]।

---

१. शिव-संहिता—५।१८६, १८७।

२. शिव-संहिता—५।१८८ से १९० तक।

३. इसके लिये सारवचन वार्तिक तथा Phelps' Notes (Notes of Discourses on Radha Swami Faith delivered by Babuji Maharaj and as taken by Mr. Myron H. Phelps U. S. A.)

## कुण्डलिनी शक्ति[1]

कुण्डलिनी का विवेचन, विशेष रूप से मूलाधार चक्र के साथ साथ पूर्व में भी किया जा चुका है । इसे शास्त्रों में सर्प, देवी तथा शक्ति एक साथ ही कहा हैं। हठ योगप्रदीपिका (३।१०४) में कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुंधती इन सात पर्यायवाचक नामों का उल्लेख किया गया है। समष्टि के रूप में यह पराकुण्डलिनी, महाकुण्डलिनी, महाशक्ति, अव्यक्त कुण्डलिनी आदि नाम से पुकारी जाती है तथा व्यष्टि में यह कुण्डलिनी कही जाती है। इसे आधार शक्ति भी कहते हैं। व्यष्टि रूप से व्यक्ति इस शक्ति ही के आश्रित है। यही उसका मूल आधार है। इसी के ऊपर व्यक्ति की क्रियाशीलता तथा विकास आधारित है। समष्टि रूप से सम्पूर्ण विश्व इसके आश्रित हैं। यह विश्व के समस्त पदार्थों की आश्रयदात्री है। यही उनकी मूल शक्ति है। विश्व में क्रियाशीलता तथा चेतना सब इसी शक्ति के कारण है। कुण्डलिनी शक्ति ही प्राण शक्ति है। प्राण की गति विधि इस पर ही आधारित है। यह शक्ति मूलाधार में स्थित है। प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिये प्राणी को मूलाधार चक्र से ही शक्ति प्राप्त होती है। मन भी मूलाधार स्थित कुण्ड-

---

१. विशद विवेचन के लिये लेखक का "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्—मंत्र भाग। ६२ से ६५ तक।

दर्शनोपनिषत्—४।११, १२। ध्यानबिन्दूपनिषत्—६५ से ७२ तक योगचूड़ामण्युपनिषत् ३६ से ४४ तक। योगशिखोपनिषत्—१।८२ से ८७ तक, ११२ से ११७ तक। ५।३६, ३७, ६।१ से ३ तक, १६ से १९ तक, ५५।

योगकुण्डल्युपनिषत्—१।७, ८, १०, १३, १४, ६२ से ७६ तक। शाण्डिल्योपनिषत्—१।४।८। शिव-संहिता—४।२१ से २३ तक; ५।७५ से ९८ तक।

हठ योग प्रदीपिका—३।१से ५ तक; ११, १२; ३।१०४ से १२३ २।६५; ४।१०,११, २९ ५४। Yoga Immortality and Freedom by Mircea Eliade-Page-245। घरेण्ड संहिता—६।१, १६, १७; ३।३४ से ३६ तक, ४४, ४६, ५१। गोरक्ष पद्धति—१।४६ से ५२ तक; ५४, ५६, ग्रन्थान्तरे १, २, ५ से ११ तक ९, ७०। भारतीय संस्कृति और साधना-महा महोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी—३०२ से ३२२ तक कुण्डलिनी तत्त्व। "शक्ति जागरण"

लिनी शक्ति से ही शक्ति प्राप्त कर क्रियाशील होता है। चिन्तन, संकल्प, इच्छा आदि मन के कार्य, बोलना, उठना, बैठना, दौड़ना, कूदना, चलना, फिरना आदि शरीर की सब बाह्य क्रियायें तथा रक्त संचालन आदिक शरीरको सब आन्तरिक क्रियायें कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही होती है। इस शक्ति से ही विश्व की उत्पत्ति, स्थैर्य तथा विनाश होता है। यही विश्व-आधार महा शक्ति व्यक्ति में भी अभिव्यक्त होती है। मानव का भौतिक शरीर तथा उसकी क्रियायें इस कुण्डलिनी शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ है। यही सब में मूलसत्ता रूप से विद्यमान है। मन तथा पुद्गल दोनों इस शक्ति के ही रूप हैं। वही मनुष्य में चेतन एवं जड़ तथा दृष्ट जगत् की शक्ति और उसके पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त है। यह आदि शक्ति है। मूलाधार के योनि स्थान में स्थित स्वयंभू लिंग में सर्पाकार होकर लिपटी अपने मुख से सुषुम्ना के रन्ध्र को बन्द किये सो रही कुण्डलिनी शक्ति में ही चित्त विद्यमान है। यही अचेतन मन का स्थान है। त्रिकाल के अनुभवों सहित मन की शक्ति, बुद्धि, अहंकार आदि स्थूल शरीर सहित सब मूलाधार चक्र पर कुण्डलिनी शक्ति मे विद्यमान है। स्मृति ज्ञान का यही श्रोत है। व्यक्ति में ब्रह्माण्ड की सब शक्तियों का यह केन्द्र है। इस शक्ति की सुप्तावस्था में ब्रह्ममार्ग बन्द रहता है। सुषुम्ना रन्ध्र को ही ब्रह्ममार्ग कहते है। इसमें को होकर ही कुलकुण्डलिनी सहस्रार पर पहुँचती है। साधारण अवस्था में जब ब्रह्म-मार्ग बन्द रहता है तथा जब शक्ति अविकसित अवस्था में पड़ी रहती है, तब प्राणशक्ति इडा और पिंगला में को होकर ही बहती रहती है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, प्रत्येक चक्र की शक्ति इस कुण्डलिनी की ही शक्ति है। षट्-चक्र, उन चक्रों की शक्तियाँ, देवता तथा अव्यक्त शक्ति रूप देवियाँ ये सब कुण्डलिनी की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इन सबको मिलाकर कुण्डलिनी कहते है। कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में सब चक्र अधोमुखी होते हैं। जब यह कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर ब्रह्म मार्ग से ऊपर को सहस्रार की तरफ़ चलती है तो क्रमशः ऊपर के चक्र तथा नाड़ियां प्रकाशित होती चलती हैं और अधोमुखी चक्र उस शक्ति के सम्पर्क मात्र से ऊर्ध्व मुख होते जाते हैं। उन चक्रों की विशिष्ट शक्तियाँ जो कि इस कुण्डलिनी की ही शक्तियाँ हैं, अव्यक्त से व्यक्त हो जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उन अलग अलग केन्द्रों की शक्ति का जागरण भी सुषुम्ना सम्बन्ध से क्रमशः होता चला जाता है। वैसे तो यह शक्ति प्रवाह सदैव चलता रहता है, क्योंकि इसके बिना स्थूल शरीर क्रियाशील एवं जीवित नहीं रह सकता। सभी मनुष्यों में ये चक्र अपनी शक्ति द्वारा न्यूनाधिक

रूप से क्रियाशील रहते हैं। इनमें अधिक शक्ति प्रवाहित होने से मानव अधिक योग्य अर्थात महान् तथा विकसित गुणों वाला होता है। जब व्यक्ति इनकी शक्ति को विशेष रूप से जागरित करता है, तब कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर उन चक्रों से सम्बन्धित होती है तथा उस व्यक्ति में उन चक्रों से सम्बन्धी शक्ति विकसित हो जाती है। यह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थूल रूप से स्थित सब चक्रों का आधार है। यह अनादि एवं अनन्त शिव की शक्ति ही ब्रह्म की माया है जिसके द्वारा सृष्टि की अभिव्यक्ति और लय का क्रम चलता रहता है। ब्रह्म तथा उसकी मूल शक्ति दोनों ही केन्द्रस्थ हैं। ब्रह्म निरपेक्ष दृष्टामात्र हैं, किन्तु शक्ति में विस्तार एवं संकोच होता रहता है। अभिव्यक्ति की क्रिया समाप्त होने पर लय की क्रिया प्रारम्भ होती है। उत्पत्ति और विनाश दोनोंके क्रमिक रूप से प्रकट होते रहने को ही काल चक्र कहते हैं। सृष्टि का प्रारम्भ त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति से होता है। सत्त्व, रजस्, तमस्, रूपा शक्ति से ही विभिन्न रूपा प्रपञ्चात्मक सृष्टि का उदय हुआ है। योग-शास्त्रों में सहस्रार पर ही शिव-शक्ति मिलन बताया गया है। यहीं महा-कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म के साथ स्थित है। यही प्रकृति की साम्यावस्था है। तीनों गुण (सत्व, रजस्, तमस्) इस अवस्था में वैषम्य रहित हो जाते हैं। यह महाप्रलय की अवस्था कही जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि और प्रलय का क्रम चलता रहता है। इस प्रलयावस्था के बाद सृष्टि प्रारम्भ होती है। मूल प्रकृति की साम्या-वस्था भंग होने से गुणों में वैषम्य पैदा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सृष्टि प्रारम्भ होती है। सृष्टि के उदयकाल में सबसे प्रथम महत्तत्व का उदय होता है। यह ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड दोनों में विद्यमान है। यह भ्रूमध्य स्थित आज्ञा चक्र का तत्त्व है, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। इसे ही सृष्टि का कारण कहा है। इस महत्तत्व से ही पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार केन्द्रों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध तन्मात्रायें उदय होती हैं, जिनसे पञ्चीकरण के द्वारा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन स्थूल विषयों का उदय होता है। दूसरी तरफ महत्तत्व से अहंकार, मन, पंचज्ञानेन्द्रियों तथा पंच कर्मेन्द्रियों का उदय होता है। ये भी पूर्व वर्णित विभिन्न चक्रों की विभिन्न इन्द्रियाँ हैं। सृष्टि सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर विकसित होती चली जाती है। आज्ञाचक्र से नीचे विशुद्ध चक्र है, जिसका तत्व आकाश है। महत्तत्व से पहिले आकाश तत्व की

उत्पत्ति होती है फिर वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी तत्त्व का क्रमशः उदय होता हैं। ये सब तत्त्व क्रमशः अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार चक्र के हैं, जिनका विवेचन स्थल विशेष पर किया जा चुका है। जब स्थूल आकाश मण्डल, स्थूल वायुमण्डल, स्थूल तेजमण्डल, स्थूल जलमण्डल तथा स्थूल भूमण्डल की रचना के बाद अर्थात् स्थूल जगत् की उत्पत्ति के बाद शक्ति का विस्तार बन्द हो जाता है, तब वह शक्ति मूलाधार चक्र में, योनि में स्थित स्वयंभू लिंग के मुख को अपने मुख से ढके हुए तथा सुषुम्ना छिद्र या ब्रह्म मार्ग को रोके हुए सुप्तावस्था में विद्यमान होती है। कुण्डलिनी शक्ति की इस अवस्था में ब्रह्म द्वार बन्द रहता हैं। इस अवस्था में जीव अन्नमय कोष (स्थूल कोष) में पड़ा रहता है। वह वासना, अभिमान तथा भोगेच्छा से स्थूल शरीर प्राप्त करता रहता है अर्थात् जन्म मरण के चक्र में पड़ा भ्रमित रहता है। ऐसी स्थिति में प्राण केवल इड़ा और पिंगला से होकर ही बहता है। विकास के बाधित हो जाने पर लय की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही काल चक्र का स्वरूप है। इस प्रक्रिया से ब्रह्मांड साम्यावस्था की ओर चलता है। ब्रह्मांड की साम्यावस्था ही महाप्रलय है। इस अवस्था में तो प्रत्येक व्यक्ति बिना प्रयत्न के ही ब्रह्मांड की मुक्ति के साथ स्वयं भी मुक्त हो जाता है। यह तो रहा काल चक्र का ब्योरा किन्तु जब व्यक्ति स्वयं प्रयत्न करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है तो वह उसके लिए महा प्रलय तक क्यों रुके। इस मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन विधि द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को अनिवार्य रूप से जगाना पड़ता है। बिना कुण्डलिनी शक्ति को जगाये काम नहीं चलता। हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट रूप से दिया गया है कि जिस प्रकार से ताली से फाटक खुल जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से योगी हठ योग के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर मोक्ष द्वार (सुषुम्ना छिद्ररूपी ब्रह्ममार्ग) खोलते हैं।[1] परमेश्वरी (कुन्डलिनी) रोग एवं दुःख आदि से रहित ब्रह्म स्थान (सहस्रार) के मार्ग (सुषुम्ना रन्ध्र वा ब्रह्मरन्ध्र) को रोके हुए सो रही है।[2] कन्द के ऊपर सोई हुई यह कुण्डलिनी शक्ति योगियों को मोक्ष तथा मूर्खों को बन्धन प्रदान करती है। ऐसा जानने वाला ही योग जानता है। जो इस शक्ति को जागरित करके ब्रह्म-मार्ग ( सुषुम्ना-मार्ग ) से सहस्रार में पहुँचाता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है तथा जो इस शक्ति को सांसारिक विषय

---

१. हठयोग प्रदीपिका—३।१०५ ।

२. हठयोग प्रदीपिका—३।१०६ ।

भोगों में लगाता है, वह निश्चित रूप से बन्धन में पड़ा रहता है।[१] जो योगी मूलाधार में लिपटी हुई इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सुषुम्ना मार्ग में मूलाधार चक्र से ऊपर को ले जाता है वह बिना संशय मोक्ष प्राप्त करता है।[२] गंगा (इड़ा); जमुना ( पिंगला ) के मध्य बालरण्डा तपस्विनी (कुण्डलिनी) के साथ बलात्कार ( हठयोग द्वारा जगाने से ) करने से योगी विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है।[३] गुरु कृपा से जब सुषुप्त कुण्डलिनी जागरित हो जाती है, तब सब पद्मों तथा ग्रन्थियों का भेदन होता है, अर्थात् कुण्डलिनी, सुषुम्ना मार्ग में स्थित सब चक्रों तथा ग्रन्थियों का भेदन करती है। इस शक्ति को जगाने के लिये मुद्रा आदि हठयोग क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिये।[४] बिना इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाये ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, चाहे कोई जितना भी योगाभ्यास क्यों न करे।[५]

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान तथा मोक्ष की तो कौन कहे सांसारिक शक्ति या वैभव भी बिना कुण्डलिनी शक्ति के जागरित हुए प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि विश्वगत समस्त शक्ति ही कुण्डलिनी रूप से मनुष्य देह में विद्यमान है।

मनुष्य के सामने अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा स्वाभाविक है अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उसकी प्राप्ति करने का प्रयत्न करना भी स्वाभाविक है। सम्पूर्ण दार्शनिक विवेचनाओं का मूल केन्द्र बिन्दु यही है। साधनाओं के मूल में यही है। सब योग क्रियाओं का लक्ष्य यही है। सचमुच यदि देखा जाये तो स्वरूपोपलब्धि ही मानव का परम कर्त्तव्य है। सांख्य-योग में प्रकृति से भिन्न चैतन्य स्वरूप ही जीव का स्वरूप माना गया है। अतः योगी योगाभ्यास के द्वारा विवेक ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति के बन्धन से सदैव के लिये छुट कर जन्म-मरण अथवा शरीर धारण के चक्र से छुट जाते हैं। यही विदेह कैवल्य है, जिसका विवेचन स्थल विशेष पर किया जा चुका है। किन्तु इस सिद्धान्त को हम सर्वोच्च सिद्धान्त नहीं मान सकते हैं। इससे आगे के सिद्धान्त

---

१. हठयोग-प्रदीपिका—३।१०७।
२. हठयोग प्रदीपिका—३।१०८।
३. हठयोग प्रदीपिका—३।१०९, ११०।
४. शिव-संहिता—४।२२, २३।
५. घेरण्ड संहिता—३।४५।

के अनुसार जीव ब्रह्म वा शिव रूप ही है। जब तक वह शिवरूप नहीं हो जाता, तब तक लक्ष्य की पूर्ति न समझनी चाहिये। सब शिवरूप है। ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही शिव की शक्ति शिव से भिन्न नहीं है। शिव ही शक्ति-रूप है तथा शक्ति शिवरूप है। दोनों को एक दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता है। ये एक दूसरे से अलग अलग नहीं जाने जा सकते हैं क्योंकि ये अलग हो ही नहीं सकते। शिव अपनी शक्ति के रूप में ही विश्वरूप धारण करते हैं। यह महाशक्ति ही मनुष्य के शरीर में कुण्डलिनी शक्ति रूप से विद्यमान है। इसी कारण से मनुष्य देह का अत्यधिक महत्व है। यहां इतना कहना आवश्यक हो जाता है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे", अतः सहस्रार अनादि अनन्त शिव ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाली आदि शक्ति के साथ अभिन्न होकर विद्यमान है। दूसरे, ब्रह्माण्ड के समान ही मानव के भीतर सब विकास एवं लय की क्रिया होती है। कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर जीव सुषुम्ना मार्ग से चक्रों का भेदन करते हुये, अन्त में सहस्रार पर पहुँच कर शिव मे लीन होने पर स्वयं शिव रूप हो जाता है। अतः जब तक कुण्डलिनी जागरित होकर सहस्रार में नहीं पहुँचती तब तक मनुष्य को परम लक्ष्य की प्राप्ति होकर उसके कर्त्तव्य की पूर्ति नहीं होती।

परम लक्ष्य की प्राप्ति रूप कर्त्तव्य का पालन करने के लिये इस कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करने के बहुत से साधन शास्त्रों में बताये गये हैं। जागरित का अर्थ यहाँ कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी बनाना है। कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामिनी तथा अधोगामिनी दोनों ही हो सकती है अर्थात् यह दोनों दिशाओं में प्रवाहित हो सकती है। इसे अधोगमन की तरफ से रोकना तथा इसे ऊर्ध्व-गामिनी करना ही इसका (कुण्डलिनीका) वास्तविक जागरण है। यह शक्ति अगर अधोगामिनी होकर व्यक्ति की कामेच्छा की वृद्धि कर उसे कामुक बना नित्य यौनेच्छा तृप्ति करवाती रहती है तो उसका ऊर्ध्वगामिनी होना अत्यधिक कठिन हो जाता है। आत्म नियंत्रण, संयम, दृढ़निश्चय, अत्यधिक सहनशीलता श्रद्धा तथा तीव्र अभ्यास करने वाला साधक ही इसके (कुण्डलिनी शक्ति के) जागरण में सफल हो सकता है। यह मार्ग सरल नहीं है। इस शक्ति के जागरण करने से पूर्व व्यक्ति को इसके तेज को सहन करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। साधारणतया तो सुषुम्ना द्वार बन्द रहता है और प्राण का गमन इड़ा तथा पिंगला में को होकर होता है। योग उपायों के द्वारा प्राण का गमन धीरे धीरे सुषुम्ना द्वार से होने लगता है और इड़ा तथा पिंगला में को

होकर प्राण का प्रवाहित होना धीरे धीरे कम होता जाता है। कुण्डलिनी का जागरण सद्‌गुरु की कृपा, ईश्वर कृपा से तथा सात्विक और शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति में सरलता से होता है। इस शक्ति का जागरण कभी कभी अकस्मात् भी देखने में आता है। इस जागरण का कारण पूर्वजन्म के सात्विक संस्कारों का उदय अथवा पूर्व जन्म के योग साधन का फल हो सकता है। कुण्डलिनी के जागरित करने के जितने भी उपाय हैं, वे सब तभी लाभप्रद हो सकते हैं, जब साधक स्वयं पात्र हो। पात्रता होना बहुत ज़रूरी है, अन्यथा हानि की भी सम्भावना होती है।

मंत्र, जप, तप, गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, अन्वेषण, अत्यधिक श्रद्धा, भक्तिपूर्ण भजन कीर्तन, तीव्र संवेग, प्राणायाम, बन्ध तथा मुद्रा आदि से कुण्डलिनी जागरित की जा सकती है, किन्तु इन बाह्य साधनों के साथ साथ ध्यान हुए बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। ईश्वर तथा सदगुरु की कृपा कुण्डलिनी शक्ति जागरण में सर्वोच्च स्थान रखती है। प्राणायाम तथा ध्यान के द्वारा मूलाधार से क्रमशः एक एक चक्र का भेदन करते हुये अन्त में सहस्रार तक पहुँचना कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करने का श्रेष्ठ उपाय है।[1] योगकुण्डल्युपनिषत् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल कुण्डलिनी ही शक्ति रूपा है। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि इसको ठीक से जागरित करे तथा मूलाधार चक्र से भ्रूमध्य तक ले जाये। यह शक्ति जागरण करना कहा जाता है। इसके अभ्यास मे सरस्वती नाड़ी का संचालन तथा प्राणायाम ये दो बहुत महत्त्व पूर्ण हैं। इस तरह के अभ्यास से ही कुण्डलिनी जागरित होती है। इसके आगे सरस्वती संचालन की विधि भी विस्तार के साथ दी गई है तथा प्राणायाम का उसकी विधियों सहित विवेचन किया गया है।[2] आगे इसी उपनिषद् में कुण्डलिनी के जागरण की विधि बताई गई है। जिसके अनुसार सत्य निष्ठा एवं विश्वास के साथ बुद्धिमान् व्यक्ति प्राणायाम का अभ्यास करे। सुषुम्ना में चित्त लीन रहता है, उसमें को वायु नहीं जाती। केवल कुम्भक के द्वारा सुषुम्ना का मार्ग शुद्ध कर योगी बलपूर्वक मूल बन्ध द्वारा अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करता है। अग्नि के साथ अपान वायु प्राण वायु स्थान पर

---

१. यह विषय क्रियात्मक होने के कारण इसको सद्‌गुरु से जानना चाहिए। इसके विशद विवेचन के लिये तत्सम्बन्धित पुस्तकें तथा लेखक का "भारतीय मनोविज्ञान नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

२. योगकुण्डल्युपनिषत्—१।७ से ३९ तक।

जाती है। उसके बाद प्राण तथा अपान के साथ अग्नि कुण्डलिनी तक पहुँचती है। अग्नि की उष्णता तथा पवन की गति से जागरित होकर कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग में चली जाती है। फिर तीनों ग्रन्थियों (ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र) का भेदन करती हुई अनाहत चक्र पर को होती हुई सहस्रार तक पहुँच जाती है। प्रकृति आठो रूपों ( पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, बुद्धि, अहंकार तथा मन ) को छोड़कर कुण्डलिनी शिव के पास जाकर सहस्रार में विलीन हो जाती है। प्राणादि सबके विलीन होने का विवेचन इस उपनिषद् में आता है।[2] यह अवस्था जिसमें कुण्डलिनी सहस्रार पर पहुँच कर शिव से मिलकर विलीन हो जाती है, समाधि की अवस्था है, जिसके सिद्ध होने से योगी को विदेह-मुक्ति प्राप्त होती है। यह ही परमानंद की अवस्था का कारण है।[3] योगचूड़ामण्युपनिषत् में कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन बताया है।[4] इसका विवेचन अन्य योग उपनिषदों, शिव-संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका आदि में भी प्राप्त होता है। घेरण्ड संहिता में योनिमुद्रा तथा शक्ति संचालिनी मुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण करके जीवात्मा सहित उसे सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार मे पहुँचान की विधि बताई गई है।[5] हठयोग प्रदीपिका मे भस्त्रिका कुम्भक के द्वारा शीघ्र कुण्डलिनी का जागरित होना बताया गया है। इस प्राणायाम को नाड़ी शुद्धि करने वाला, सब कुम्भकों में सुखद, अत्यधिक लाभप्रद तथा ब्रह्म नाड़ी के मार्ग को खोलने वाला बताया गया है। इसके दृढ़ता पूर्वक अभ्यास से सुषुम्ना मार्ग मे स्थित तीनों ग्रन्थियों ( ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि ) का भेदन होता है। केवल कुम्भक के द्वारा साधक राजयोग को प्राप्त करता है। इस कुम्भक से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती तथा सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। यही हठ योग की पूर्णता है।[1] कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर योगी कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। जिसने प्राणायाम सिद्ध कर लिया है तथा जिसकी जठराग्नि तीव्र हो गई है, उसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्मा में उसका प्रवेश कराना चाहिये जब तक प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके ब्रह्म रन्ध्र का भेदन नहीं करते

---

२. योगकुण्डल्युपनिषत्—१।६२-७६ तक।

३. योगकुण्डल्युपनिषत्—१।८२ से ८७ तक।

४. योगचूड़ामण्युपनिषत्—३६ से ४४ तक।

५. घेरण्ड संहिता—३।३४, ३५, ३६, ४४, ४६, ४९, ५०, ५१।

१. हठयोग प्रदीपिका—२।६५, ६६; ३।११५, १२२; ४।७० स ७६ तक

तब तक ध्यान की चर्चा ही बेकार है।[1] सहस्रार में स्थित शिव की महाशक्ति जो कि शिव रूप ही है, जब प्रसारित होती है तो वह क्रमशः स्थूल तर भाव को ग्रहण करती जाती है। यह क्रमिक विकास पूर्व में दिखाया जा चुका है। इस स्थूलता की ओर विकसित होने वाली सृष्टि में शक्ति ने सहस्रार से उतर कर आज्ञाचक्र पर महत्तत्व स्थूल भाव प्रदान किया तथा वहाँ शक्ति छोड़कर क्रमशः अन्य चक्रों में भी स्थूलता को प्राप्त करती तथा अपनी शक्ति को छोड़ती हुई अन्त में मूलाधार चक्र पर पहुँच अपना स्थूलतम रूप प्राप्त कर वहीं रुक गई। सब चक्र मिलाकर इस शक्ति का शरीर कहा जा सकता है। इसी की शक्ति सब केन्द्रों पर विद्यमान है। मूलाधार पर पृथ्वी तत्त्व का उदय हुआ, जो कि शक्ति का स्थूल तम रूप है, किन्तु शक्ति का यह स्थूलतमरूप भी पुद्गल के सूक्ष्मतम रूप से भी सूक्ष्म है। यहाँ जीव इस शक्ति के साथ पड़ा है। यह शक्ति इन सब रूपों में मनुष्य शरीर में काम कर रही है, किन्तु इसका निष्क्रिय केन्द्र (साम्यावस्था) हर हालत में सहस्रार में ही है। वही मूल कारण है।

जब कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर पुनः सुषुम्ना मार्ग से होकर अपने धाम सहस्रार पर पहुँचती है, तो वही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की है। उस स्थिति में पहुँचने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। शक्ति के ऊर्ध्व गमन में प्रथम कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र की शक्ति को खींचकर अपने में लीन कर लेती है, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी तत्त्व जल तत्त्व में लीन हो जाता है। चित्त के ऊपर मूलाधार तथा उसकी क्रियाओं का प्रभाव नहीं रह जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र पर कार्य करने वाली शक्तियों द्वारा मन प्रभावित होता है। जब कुण्डलिनी शक्ति स्वाधिष्ठान चक्र को छोड़कर ऊपर मणिपूर में प्रवेश करती है तो वह स्वाधिष्ठान चक्र की शक्ति को खींच कर अपने में लीन कर लेती है और उस चक्र को प्रभाव हीन कर देती है। अब मन पर स्वाधिष्ठान चक्र का प्रभाव न रहकर मणिपूर चक्र का प्रभाव मन पर होता है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति ज्यों ज्यों ऊपर को चढ़ती जाती है त्यों त्यों निम्न चक्रों की शक्ति को अपने में लीन कर उन्हें प्रभाव हीन छोड़ती जाती है। जिस चक्र पर यह पहुँचती है, उस काल में उसी के द्वारा मन विशेष रूप से प्रभावित होता है। जब अन्त में कुण्डलिनी आज्ञाचक्र को भी छोड़कर आज्ञाचक्र तथा सहस्रार के बीच के विभिन्न स्तरों को पार कर सहस्रार में पहुँचती है तो छःओं चक्रों की

---

१. हठयोग प्रदीपिका—४।११, १२, ११४।

शक्तियों सहित परम शिव में लीन होकर एक रूप हो जाती है। यही शिव-शक्ति मिलन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऊर्ध्वगमन में कुण्डलिनी शक्ति विभिन्न चक्रों ( शक्ति केन्द्रों ) की शक्तियों को एक-एक करके अपने में समेटती चली जाती है तथा चंचलता छोड़ कर सब शक्तियों सहित शिव में लीन हो जाती है। ठीक उसी प्रकार से अधोगमन में यह शक्ति अपनी शक्ति का कुछ भाग प्रत्येक चक्र पर छोड़ती चलती है और अन्त में मूलाधार चक्र पर जाकर विद्यमान हो जाती है। जब तक यह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र पर रहती है, तब तक ऊपरी केन्द्रों पर छोड़ी हुई शक्ति उन केन्द्रों ( चक्रों ) पर अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है जो कि कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्वगमन काल में चक्रों के साथ उसका सम्पर्क होने से अभिव्यक्त होती है। शक्तियाँ तो पूर्व से ही विद्यमान थीं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति कुण्डलिनी शक्ति के जागरित तथा उर्ध्वगामी होकर विशिष्ट चक्र के सम्पर्क में आने से ही होती है। इस कुण्डलिनी शक्ति के जागरण तथा सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगमन से क्रमशः सब चक्र तथा नाड़ियाँ प्रकाशित हो जाती है। जिस चक्र पर यह शक्ति पहुँचती है वही चक्र अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होकर खिल उठता है तथा अपनी सम्पूर्ण अव्यक्त शक्तियों को प्रगट कर देता है, जिससे उसकी चक्रों में सोई हुई शक्तियाँ जागकर क्रियाशील हो उठती हैं। जब यह कुण्डलिनो शक्ति ऊर्ध्वगामी होकर आज्ञा चक्र में पहुँच जाती है, तब योगी को सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस शक्ति के सहस्रार में पहुँचने पर सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है और योगी को वास्तविक रूप से असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता प्राप्त हो जाती है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, अत्यधिक उष्णता पैदा होती है। कुण्डलिनी शक्ति के उष्ण होने पर वह तुरन्त सुषुम्ना मार्ग में को ऊर्ध्वगमन नहीं करतो है। कुण्डलिनी शक्ति उष्ण होने पर उष्ण धाराओं को उत्पन्न करती है, जो कि नाड़ियों के द्वारा शरीर के विभिन्न भागों तथा मस्तिष्क केन्द्रों में जाकर उष्णता प्रदान करती हैं जिससे मन क्रियाशील एवं चंचल हो जाता है। इन धाराओं का अधिक भाग मल मूत्र द्वारों से निकल जाता है। धाराओं के इस प्रवाह को न रोकने से कामेच्छा प्रवल होती तथा बवासीर जैसे रोग पैदा हो जाते है। कुण्डलिनी शक्ति की धाराओं का कार्य सदैव चलता रहता है जो कि सुप्तावस्था में भी बन्द नहीं

होता। इन स्वतः प्रवाहित विचार धाराओं का ऐसा प्रभाव होता है कि व्यक्ति न चाहते हुए भी बहुत से कार्य इनके प्रभाव से कर बैठता है।

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण पूर्ण तथा आंशिक दोनों रूप से होता है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को सम्भालने की क्षमता प्राप्त किये बिना भी लोग जागरित कर लेते हैं। सरलता पूर्वक पूर्ण रूप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरित होना पूर्व जन्म संस्कार तथा गुरु कृपा बिना कठिन है। उसके पूर्ण रूप से जागरित करने के लिये सामान्य साधक को संघर्ष पूर्ण अथक प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसा करने पर भी हो सकता है कि शक्ति का आंशिक जागरण ही हो पावे, जिसमें स्थायीत्व नहीं हो सकता है। इसके द्वारा बहुत हानि पहुँचने की सम्भावना भी रहती है। इसी प्रकार से क्षमता प्राप्त होने के पूर्व इस शक्ति के जागरण से भी महान् हानि होती है। कभी कभी अचानक स्वयं बिना साधन विधि अभ्यास के भी कुण्डलिनी शक्ति जागरित हो जाती है। ऐसी अवस्था में बहुत सचेत रहकर अपने को सम्भालते रहने की आवश्यकता होती है।[1] किसी व्यक्ति में एकाएक अलौकिक शक्तियों तथा असाधारण ज्ञान का उदय होना उसके पूर्वजन्म के सात्विक संस्कारों के प्रभाव से कुण्डिलिनी शक्ति के जागरित होकर ब्रह्म द्वार में ऊर्ध्वमुख होने को बताता है।

कुण्डलिनी शक्ति को अग्निरूप बताया गया है। इसके जागरित होने पर अत्यधिक उष्णता का उदय होता है। इसके अर्ध्वगमन में यह सुषुम्ना मार्ग स्थित जिस चक्र में को होकर जाती है, वह जलते हुए अंगारे के समान हो जाता है। जब कुण्डलिनी उस चक्र को छोड़कर ऊपर के चक्र में को होकर जाती है तब पूर्व का चक्र भाग निष्क्रिय तथा शक्ति हीन शीतल हो जाता है। जहाँ को कुण्डलिनी जाती है वह भाग उष्ण तथा नीचे का भाग शीतल हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार भी योग-उपनिषदों के समान ही नाभि प्रदेश में यह (शक्ति) सोई हुई है, जिसे योगाभ्यास के द्वारा जागरित किया जाता है। यह प्रज्वलित अग्नि के समान धर्म-चक्र तथा सम्भोग चक्र में पहुँचती है तथा फिर उष्णीशा-कमल (सहस्रार-के समान) में जाती है। अपने मार्ग का सब कुछ भस्म करके यह निर्माण-काय में आ जाती है।

---

१. इस विषय में सद्गुरु का सहारा लेना चाहिये। यह क्रियात्मक पक्ष होने से यहाँ केवल संकेत मात्र ही किया जा सकता है।

कुण्डलिनी जागरण को जो कि योगाभ्यास द्वारा किया जाता है, स्थाई रखने के लिये निरन्तर अभ्यास तथा पवित्र भावों के रखने की आवश्यकता है। निरन्तर योगाभ्यास से यह शक्ति सुषुम्ना में को होकर चक्रों में ऊर्ध्व गमन करती है। अगर अभ्यास निरन्तर चालू न रक्खा जाये तो शक्ति ऊँचे चक्रों से उतरकर पुनः निम्न चक्र मूलाधार में स्थित हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगमन में सबसे पहला धक्का मूलाधार चक्र पर लगता है। इसलिये मूलबन्ध को दृढ़ता से लगाये रखना ज़रूरी है। सुषुम्ना नाड़ी में को प्राणों का प्रवाह तथा सूक्ष्म जगत् में प्रवेश होने से विचित्र खिचाव होना स्वाभाविक है, क्योंकि प्राण सब देह से खिंचकर सुषुम्ना में को जाते हैं। ऐसी स्थिति मे साधक का सम्बन्ध स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् से हटकर सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् से हो जाता है। साधक के लिये सात्विक आहार, शुद्ध जीवन तथा ब्रह्मचर्य पालन अति आवश्यक हो जाते हैं। इसका ध्यान न रखने से अनेकों विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इस अभ्यास के द्वारा कुछ शक्तियां भी स्वतः प्राप्त होतो हैं। इनका अहंकार नहीं करना चाहिये न इन्हें व्यक्त ही होने देना चाहिये। साधना जगत् के रहस्य गुप्त ही रखने चाहिये।

परम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् अद्वैत शिवभाव का प्राप्त होना बिना कुण्डलिनी जागरण के असम्भव है। अन्तिम लक्ष्य में द्वैत भाव तो हो ही नहीं सकता। द्वैत की समाप्ति तथा अद्वैत प्राप्ति बिना कुण्डलिनी के जागरित हुए नहीं हो सकती। विवेक-ज्ञान की स्थिति तो द्वैत की स्थिति है, भले ही उसके सम्पन्न होने पर जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त हो जावे, किन्तु वह हमारा परम लक्ष्य नहीं हो सकता। इस रूप से कुण्डलिनी जागरण का महत्व स्पष्ट है।

———

# योग मनोविज्ञान-तालिकायें

## तालिका १

### योग तथा मनोविज्ञान वाले भारतीय शास्त्र

१—वेद
२—उपनिषद्
३—महाभारत
४—तंत्र
५—पुराण
६—योगवासिष्ठ
७—गीता
८—जैन दर्शन
९—बौद्ध दर्शन
१०—न्याय दर्शन
११—वैशेषिक दर्शन
१२—सांख्य दर्शन
१३—योग दर्शन
१४—मीमांसा दर्शन
१५—अद्वैत वेदान्त दर्शन
१६—आयुर्वेद शास्त्र

## तालिका २

### योग-उपनिषद्

१—अद्वयतारकोपनिषद्
२—अमृतनादोपनिषद्
३—अमृतबिन्दूपनिशद्
४—मुक्तिकोपनिषद्
५—तेजोबिन्दूपनिषद्
६—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
७—दर्शनोपनिषद्
८—ध्यानविन्दूपनिषद्
९—नादविन्दूपनिषद्
१०—पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
११—ब्रह्मविद्योपनिषद्
१२—मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
१३—महावाक्योपनिषद्
१४—योगकुण्डल्योपनिषद्
१५—योगचूड़ामण्युपनिषद्
१६—योगतत्वोपनिषद्
१७—योगशिखोपनिषद्
१८—वाराहोपनिषद्
१९—शाण्डल्योपनिषद्
२०—हंसोपनिषद्
२१—योगराजोपनिषद्

## तालिका ३

### योग उपनिषदों के विवरण के विषय

१—नाड़ी, चक्र, कुण्डलिनी, इन्द्रियाँ तथा चित्त आदि
२—अष्टांग योग ( यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि )
३—मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, तथा ब्रह्म-ध्यानयोग
४—चारों अवस्थायें ।

## तालिका ४

## तालिका ५

## तालिका ६
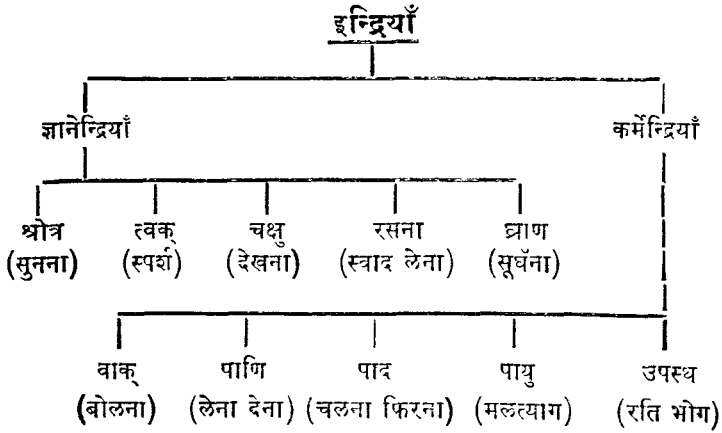
## तालिका ७
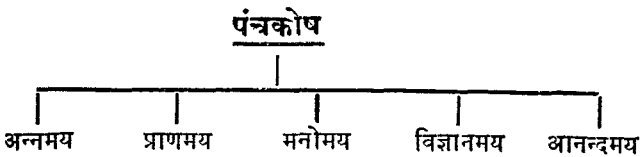
## तालिका ८
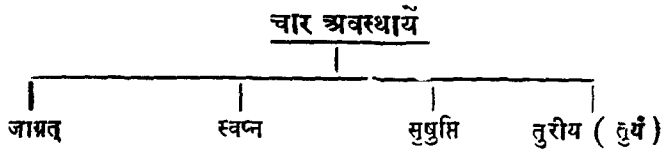
## तालिका ९
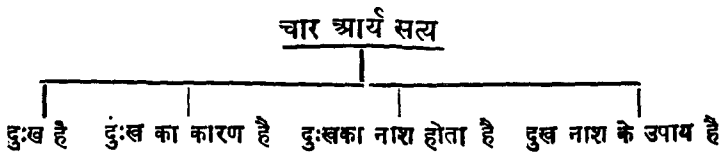
## तालिका १०
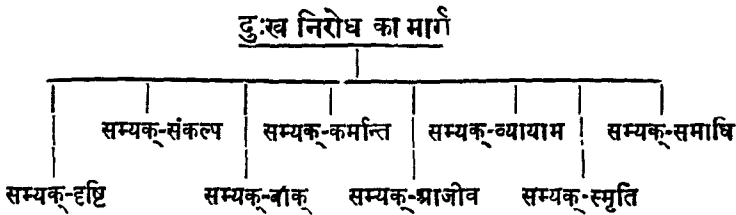
## तालिका ११
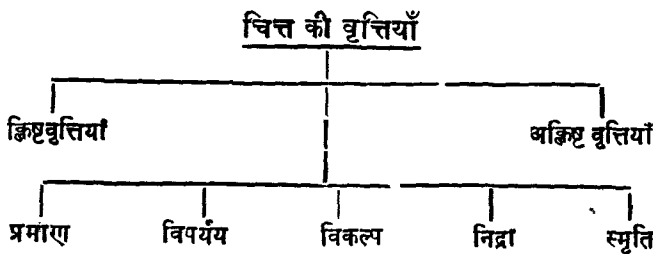
## तालिका १२
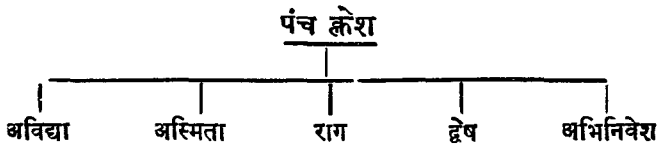
## तालिका १३
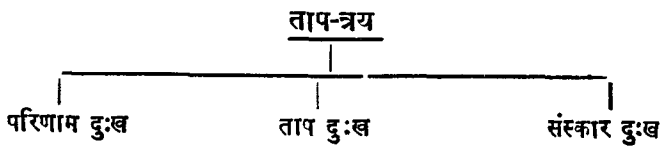
## तालिका १४
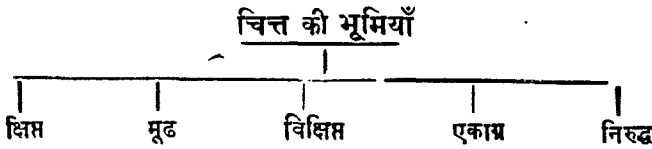
## तालिका १५
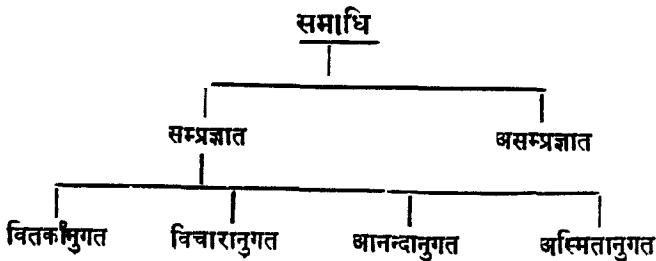
## तालिका १६
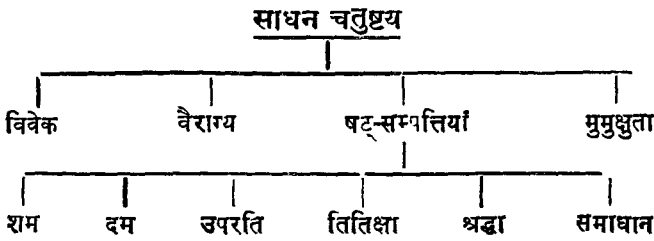
## तालिका १७

## तालिका १८

## तालिका १९

## तालिका २०

## तालिका २१

नियम

शौच
सन्तोष
तप
स्वाध्याय
ईश्वरप्रणिधान
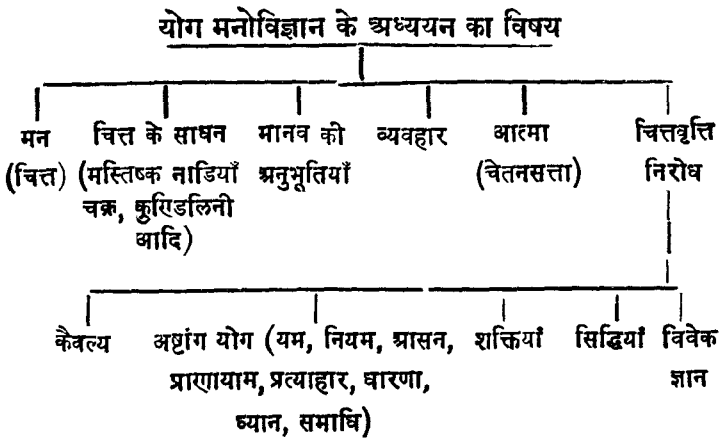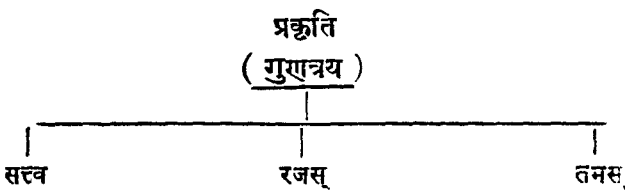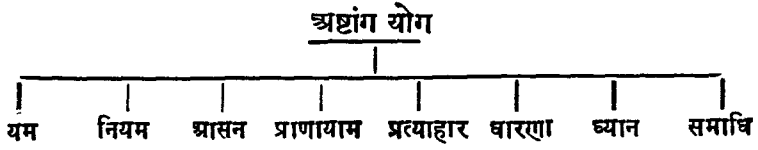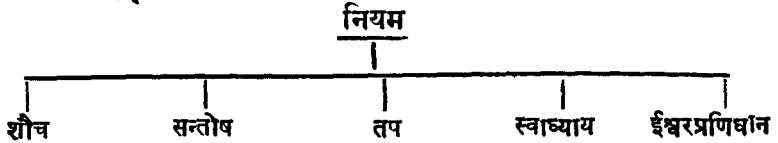
## तालिका २२
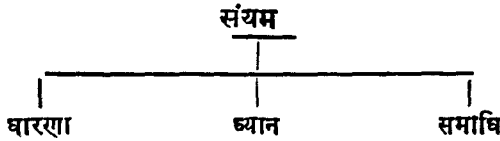
## तालिका २३
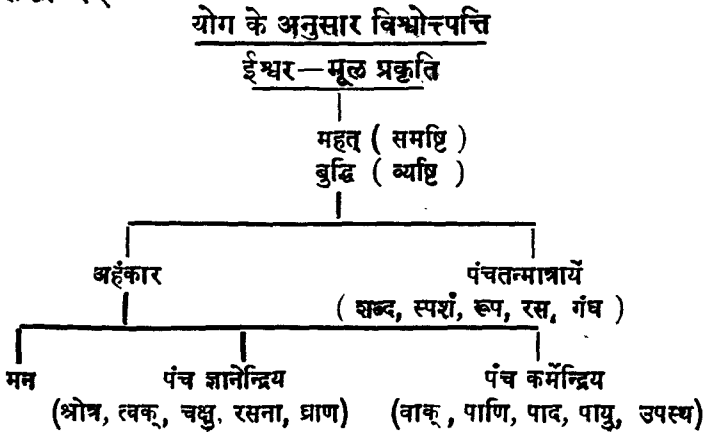
## तालिका २४

पंच तन्मात्रावों से पंच महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम

| तन्मात्रा | भूत | गुण |
|---|---|---|
| शब्द | आकाश | शब्द |
| शब्द+स्पर्श | वायु | शब्द, स्पर्श |
| शब्द+स्पर्श+रूप | तेज | शब्द, स्पर्श, रूप |
| शब्द+स्पर्श+रूप+रस | जल | शब्द, स्पर्श, रूप, रस |
| शब्द+स्पर्श+रूप+रस+गंध | पृथ्वी | शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध |

## तालिका २५
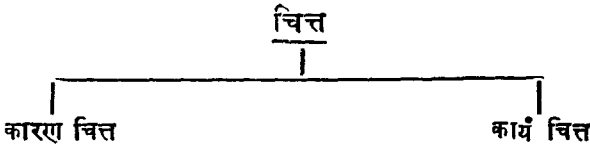
## तालिका २६
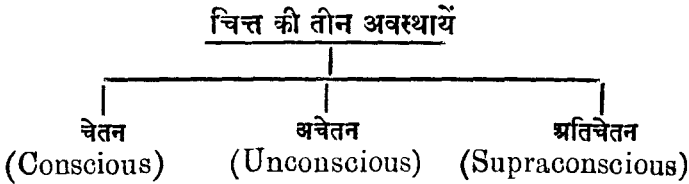
## तालिका २७
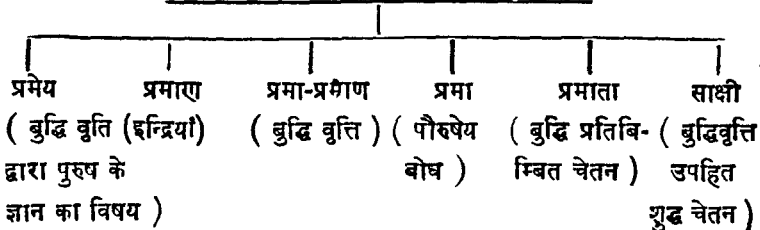
## तालिका २८
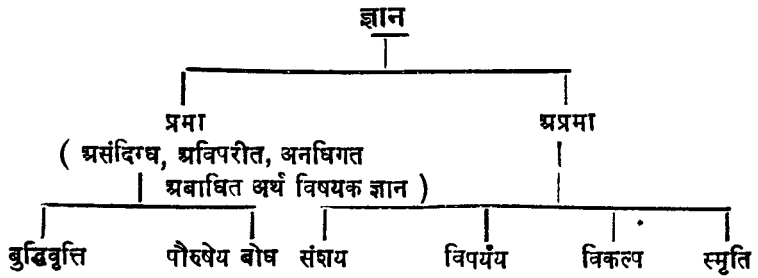
## तालिका २९

प्रमा (अनधिगत अबाधित अर्थ विषयक ज्ञान) के करण (असाधारण कारण)

प्रमाण ( सांख्य-योग )

प्रत्यक्ष | अनुमान | शब्द
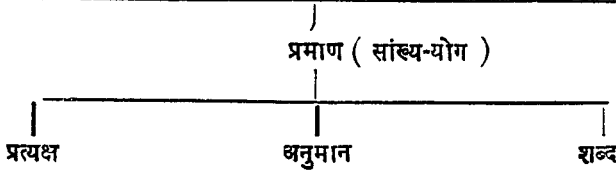
## तालिका ३०
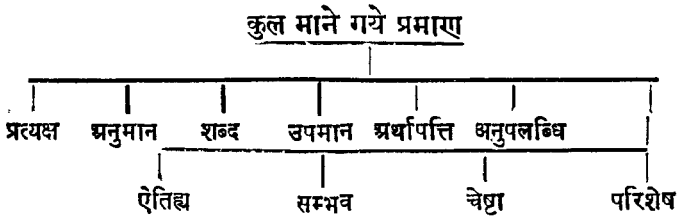
## तालिका ३१

**प्रमाण**

१—प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष ज्ञान का करण

२—अनुमान—अनुमिति ज्ञान का करण

३—शब्द—शाब्द ज्ञान का करण

४—उपमान—उपमिति ज्ञान का करण

५—अर्थापत्ति—अर्थ की आपत्ति ( कल्पना )। यह पूर्व में अज्ञात तथ्य की आवश्यक कल्पना है, जिसके बिना ज्ञात तथ्य सम्भव न हो।

६—अनुपलब्धि—प्रत्यक्ष न होना ( वस्तु के अभाव-ज्ञान का करण )

७—ऐतिह्य—अज्ञात व्यक्ति के वचनों पर आधारित परम्परागत ज्ञान।

८—सम्भव—जिसके द्वारा किसी ज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत पदार्थ का ज्ञान प्राप्त होता है।

९—चेष्टा -नवीन ज्ञान प्रदान करने वाली क्रिया विशेष

१०—परिशेष —छंटाई के तरीके से ज्ञान विशेष प्राप्त करने के साधन।

## तालिका ३२

### दर्शनों तथा अन्य शास्त्रों की प्रमाण मान्यता

| संख्या | दर्शन अथवा शास्त्र | प्रमाण |
|---|---|---|
| १ | चार्वाक ( दर्शन ) | प्रत्यक्ष |
| २ | वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध ( दर्शन ) | प्रत्यक्ष, अनुमान |
| ३ | सांख्य और योग (दर्शन) | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द |
| ४ | न्याय ( दर्शन ) | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान |
| ५ | मिमांसक ( प्रभाकर सम्प्रदाय ) | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति |
| ६ | मिमांसक ( भाट्ट सम्प्रदाय ) और अद्वैत वेदान्त | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि |
| ७ | पौराणिक | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव |
| ८ | तांत्रिक | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा |
| ९ | गणित | प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा, परिशेष |

## तालिका ३३
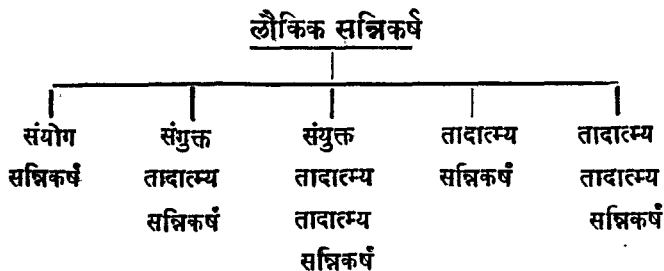
## तालिका ३४
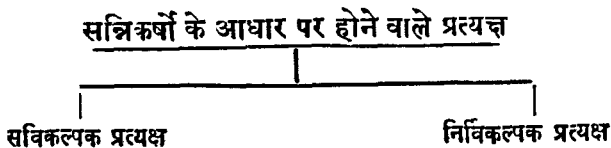
## तालिका ३५
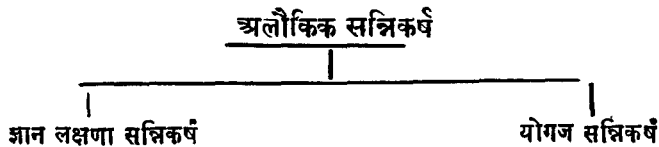
## तालिका ३६
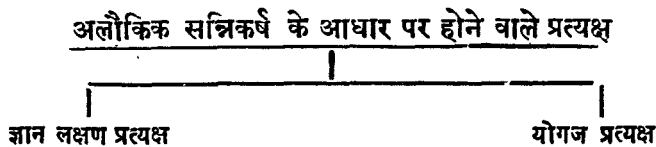
## तालिका ३७
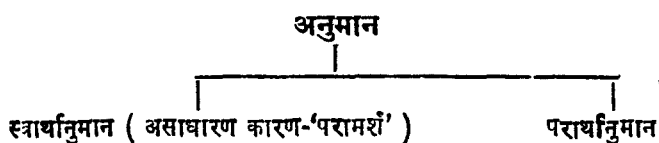
## तालिका ३८
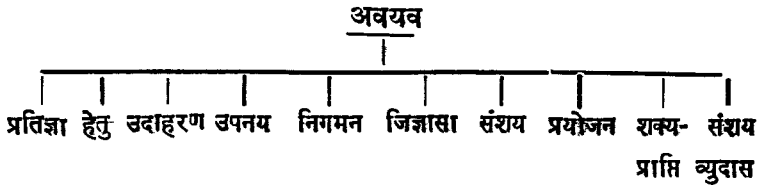
## तालिका ३९
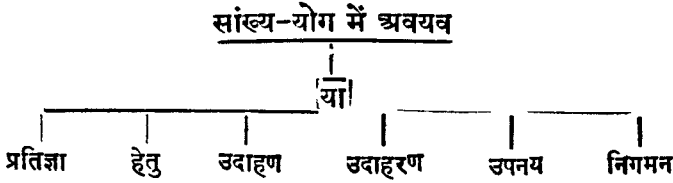
## तालिका ४०
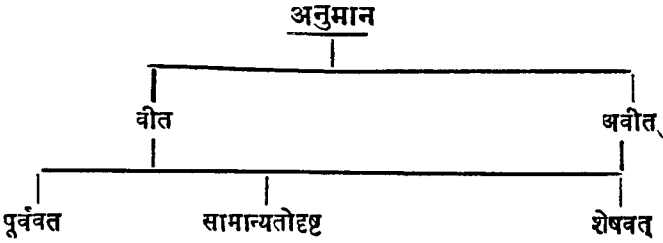
## तालिका ४१
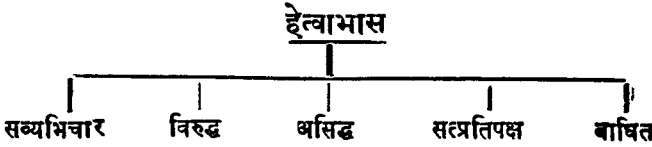
## तालिका ४२
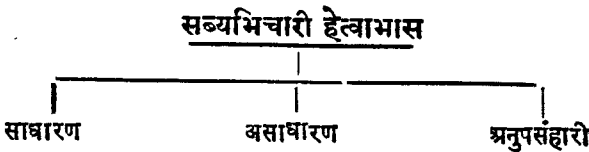
## तालिका ४३
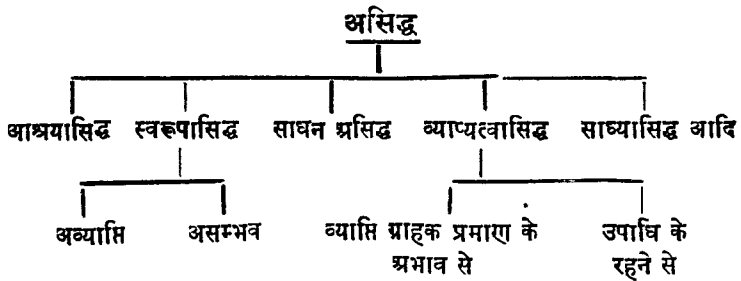
## तालिका ४४
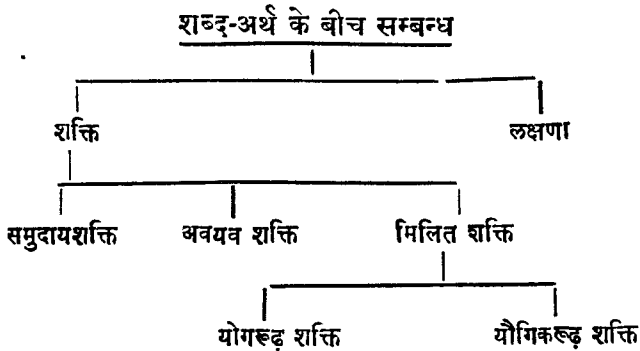
## तालिका ४५
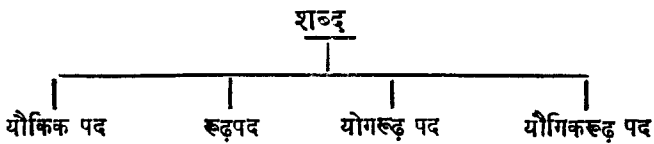
## तालिका ४६
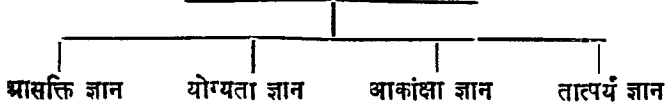
## तालिका ४७
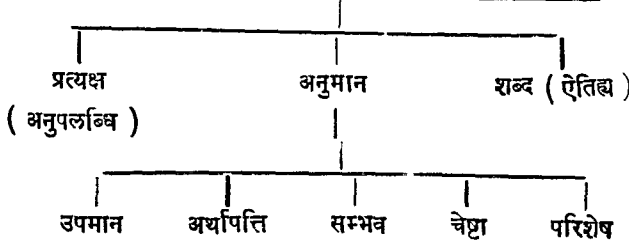
## तालिका ४८
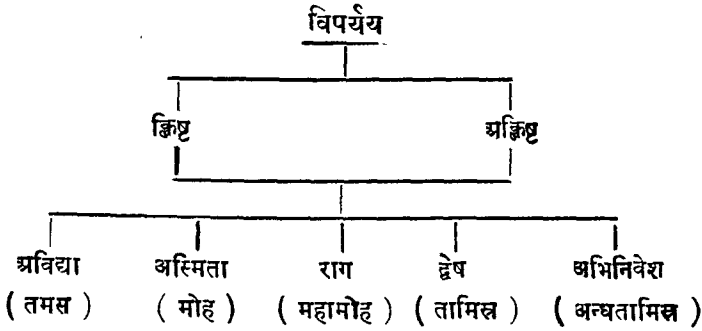
## तालिका ४९
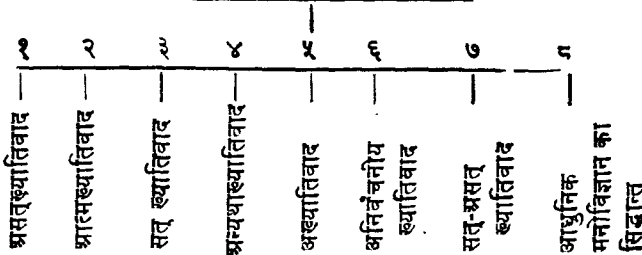
## तालिका ५०
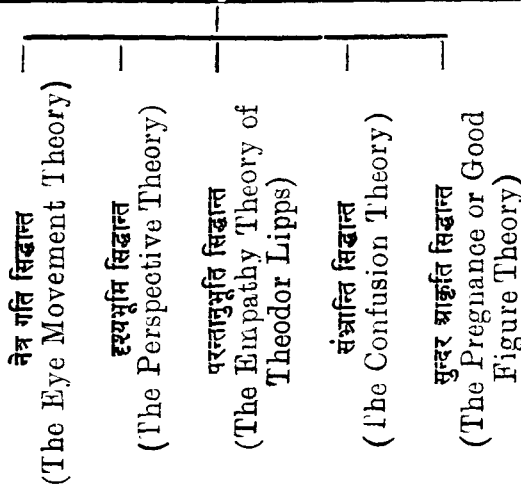
## तालिका ५१
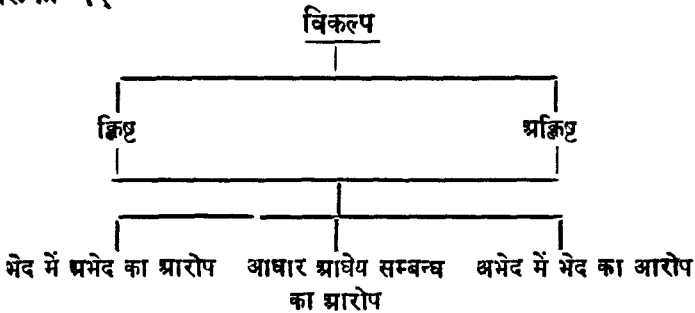
## तालिका ५२
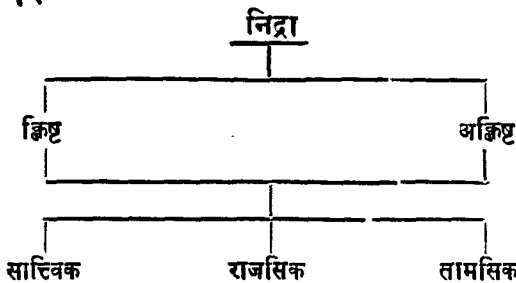
## तालिका ५३
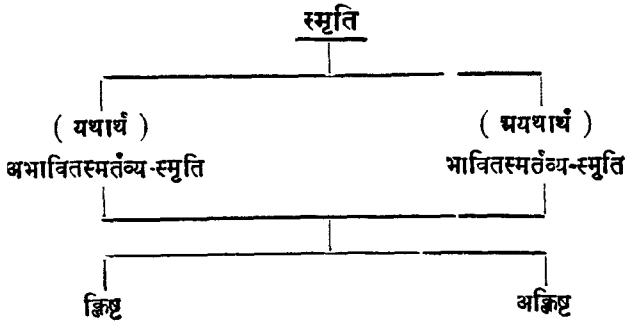
## तालिका ५४
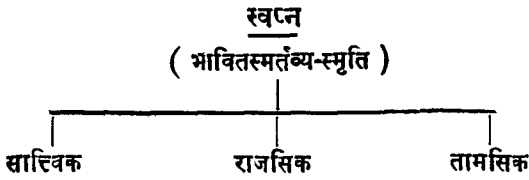
## तालिका ५५
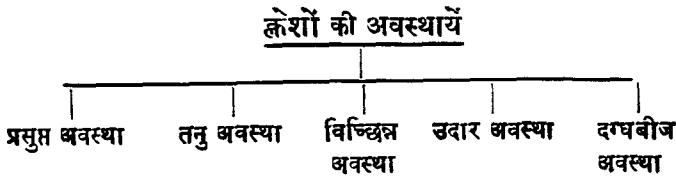
## तालिका ५६
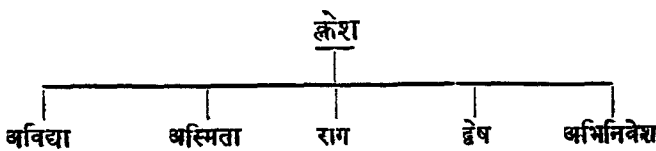
## तालिका ५७
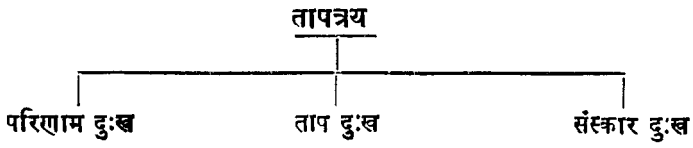
## तालिका ५८
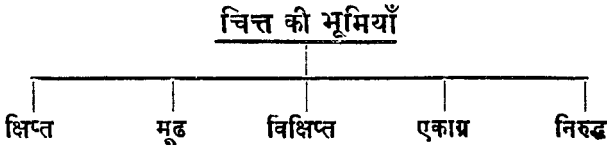
## तालिका ५९
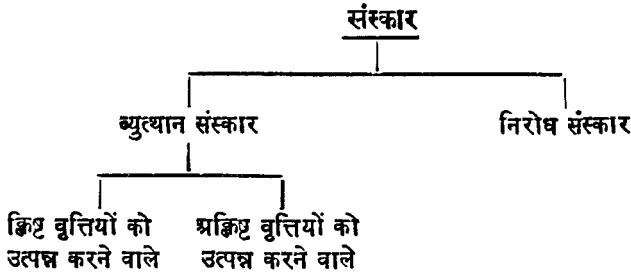
## तालिका ६०
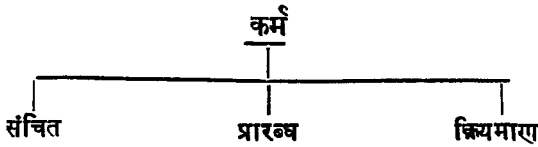
## तालिका ६१
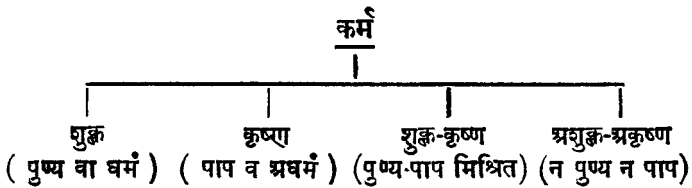
## तालिका ६२
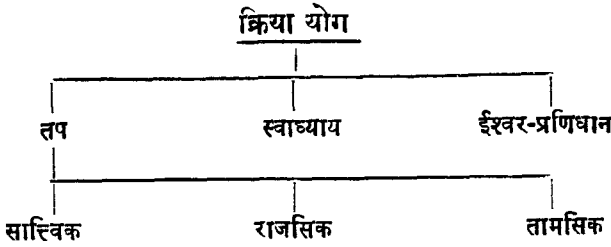
## तालिका ६३
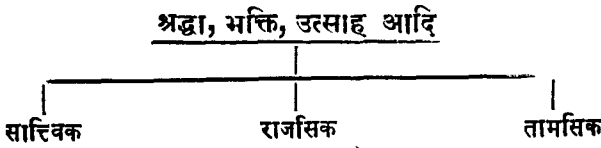
## तालिका ६४
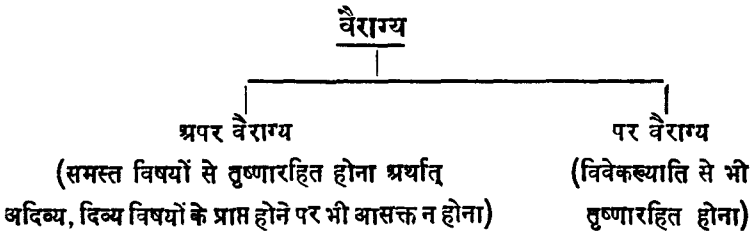
## तालिका ६५
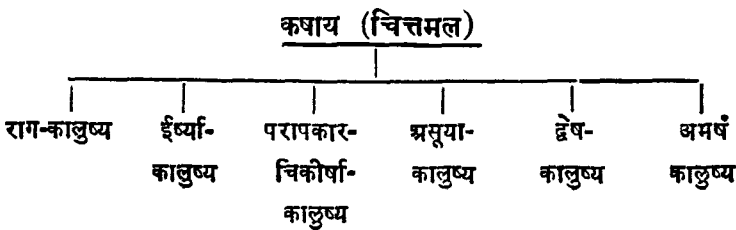
## तालिका ६६
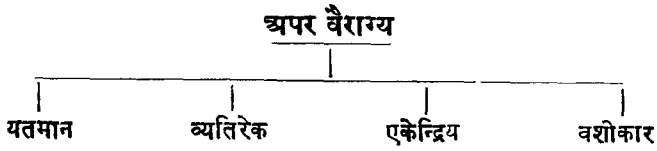
## तालिका ६७
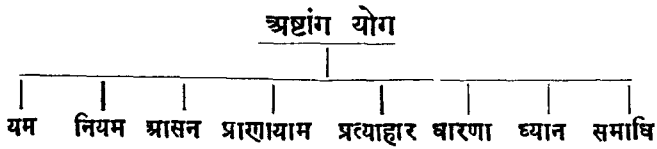
## तालिका ६८
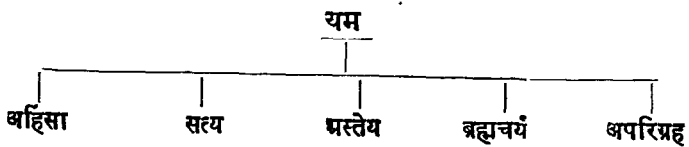
## तालिका ६९
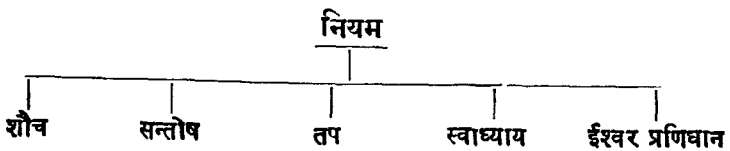
## तालिका ७०
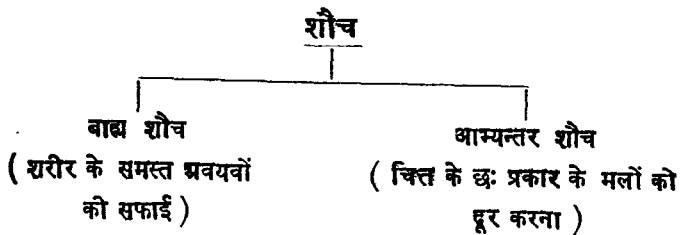
## तालिका ७१
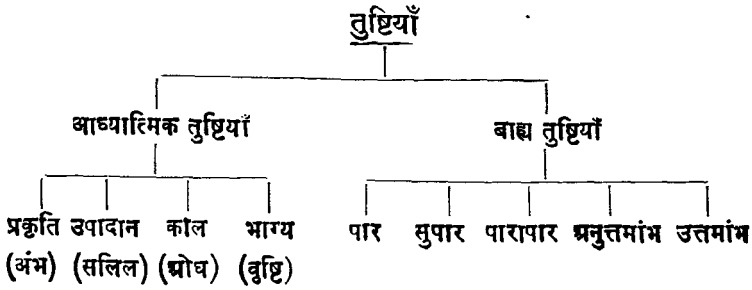
## तालिका ७२

**आसन**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | सिद्धासन | १७. | मयूरासन |
| २. | पद्मासन | १८. | कुकुट्टासन |
| ३. | भद्रासन | १९. | कूर्मासन |
| ४. | मुक्तासन | २०. | वृक्षासन |
| ५. | वज्रासन | २१. | मण्डूकासन |
| ६. | स्वस्तिकासन | २२. | गरुडासन |
| ७. | गोमुखासन | २३. | वृश्चिकासन |
| ८. | वीरासन | २४. | शलभासन |
| ९. | धनुरासन | २५. | मकरासन |
| १०. | शवासन | २६. | भुजङ्गासन |
| ११. | गुप्तासन | २७. | योगासन |
| १२. | मत्स्यासन | २८. | विपरीतकरणी |
| १३. | मत्स्येन्द्रियासन | २९. | शिर्षासन |
| १४. | पश्चिमोत्तानासन | ३०. | सर्वाङ्गासन |
| १५. | गोरक्षासन | ३१. | हलासन |
| १६. | उत्कटासन | ३२. | गर्भासन इत्यादि |

## तालिका ७३

## तालिका ७४

## तालिका ७५

## तालिका ७६

## तालिका ७७

## तालिका ७८

## तालिका ७९

## तालिका ८०

## तालिका ८१

## तालिका ८२

## तालिका ८३
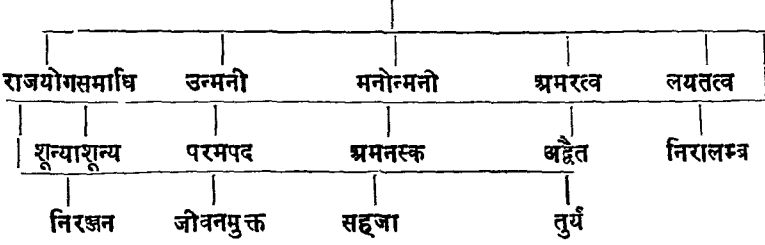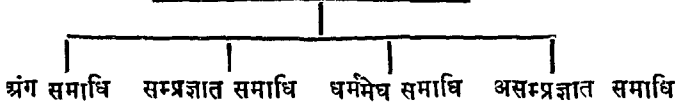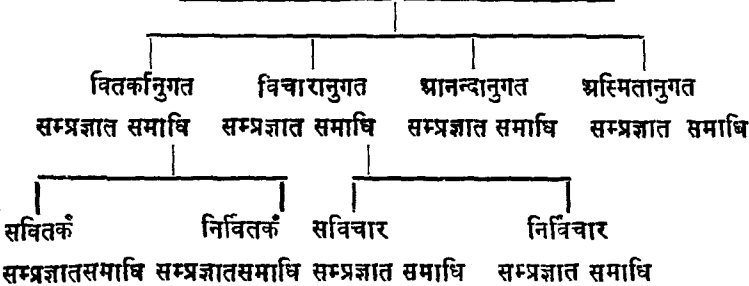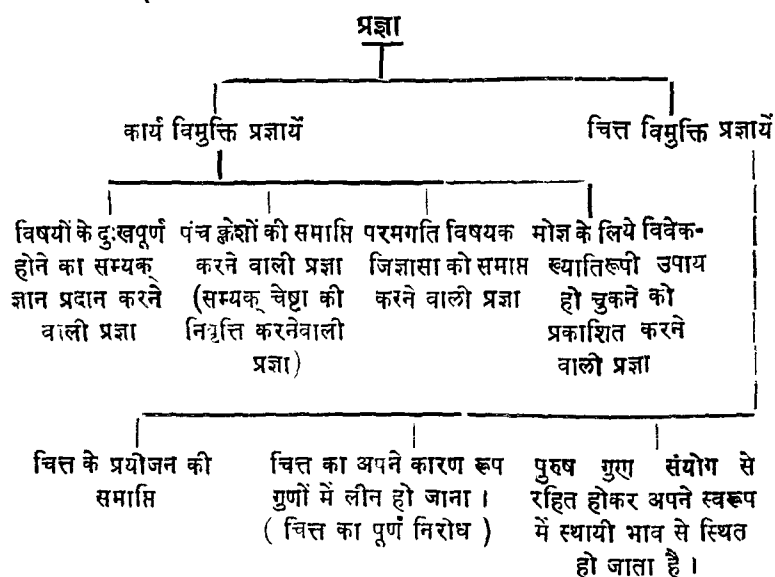
## तालिका ८४

## तालिका ८५

## तालिका ८६

## तालिका ८७
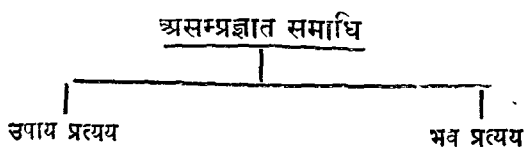
## तालिका ८८
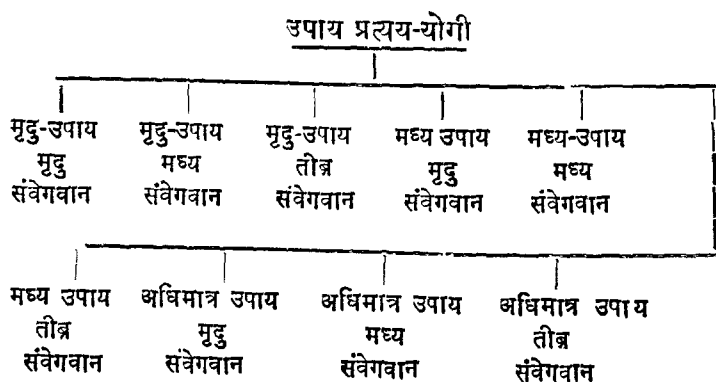
## तालिका ८९
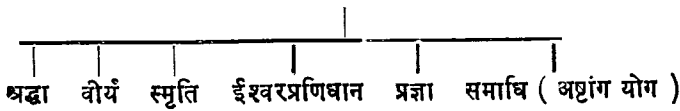
## तालिका ९०
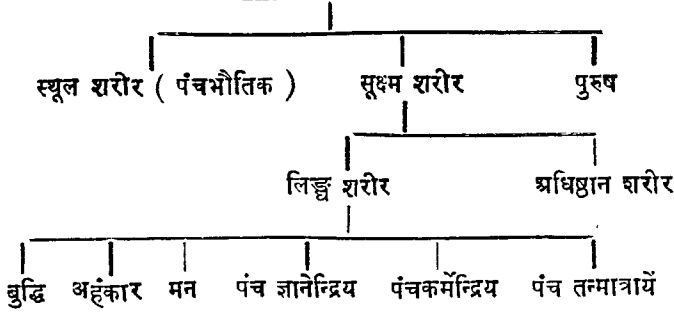
## तालिका ९१
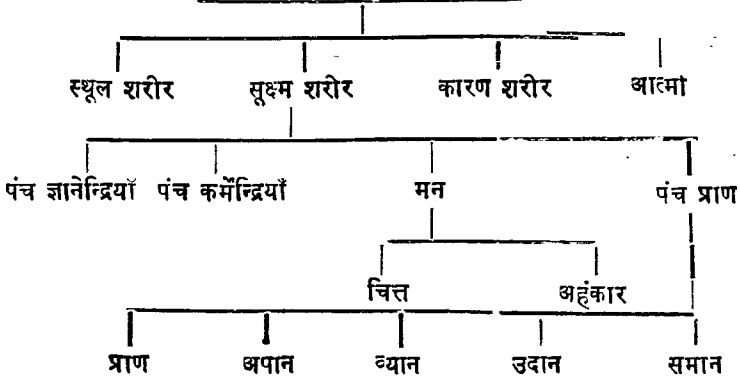
## तालिका ९२
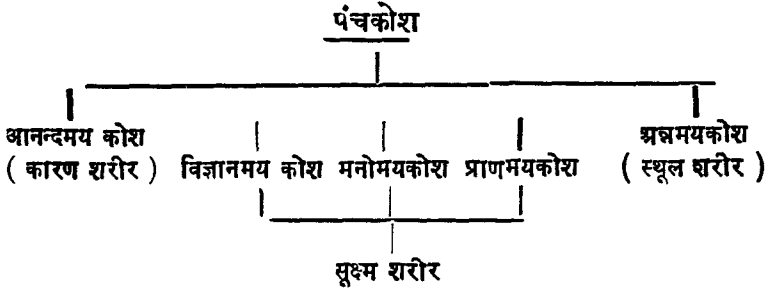
## तालिका ९३
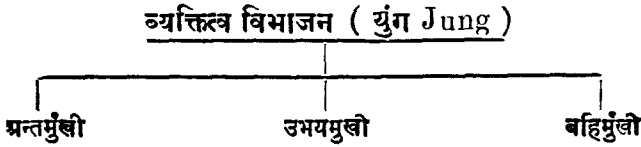
## तालिका ९४
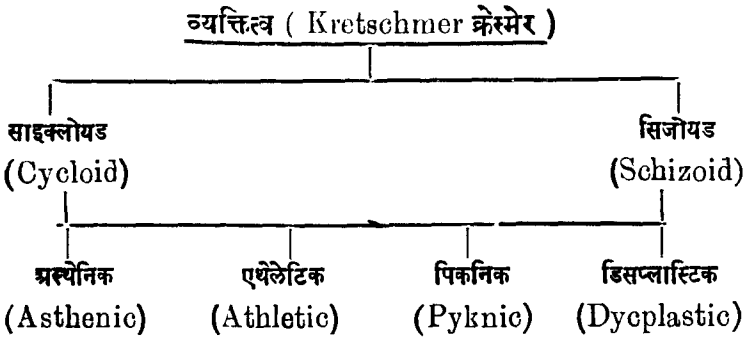
## तालिका ९५
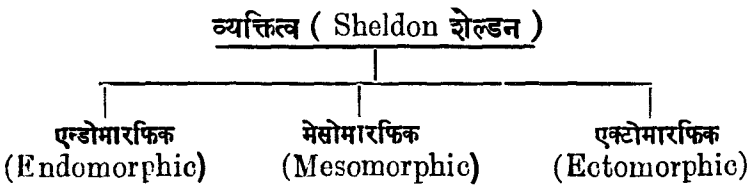
## तालिका ९६
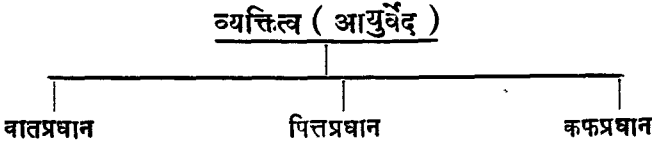
## तालिका ९७
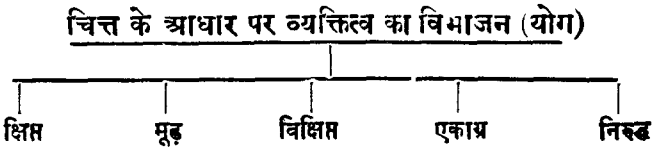
## तालिका ९८
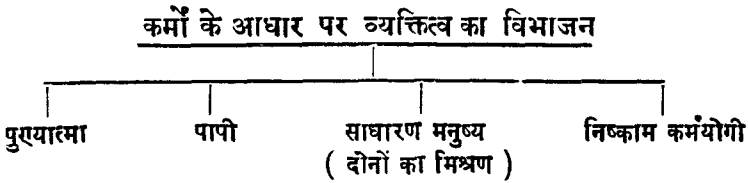
## तालिका ९९
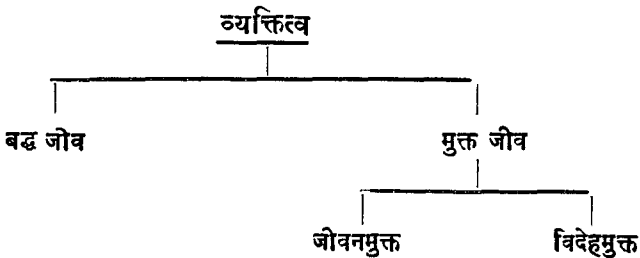
## तालिका १००
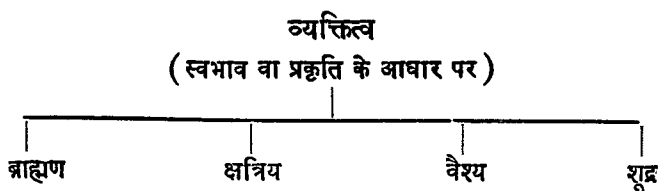
## तालिका १०१
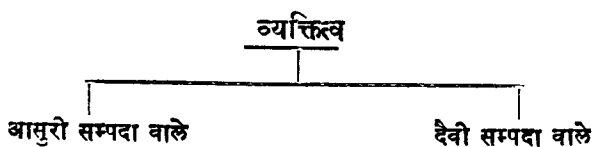
## तालिका १०२
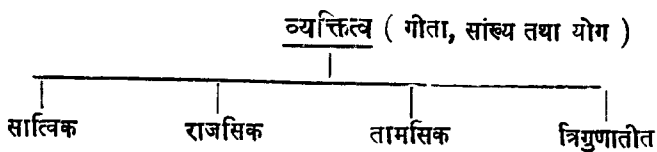
## तालिका १०३
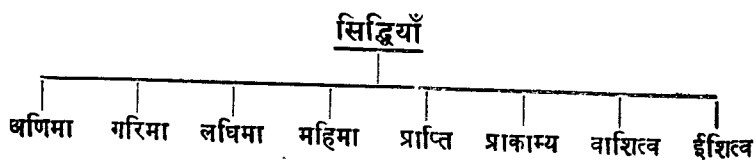
## तालिका १०४

### चक्रों पर संयम

| | | |
|---|---|---|
| १. | मूलाधार चक्र— | दार्दुरी सिद्धि, क्रम से भूमि त्याग तथा आकाश गमन की सिद्धि, शरीर उत्तम कान्तिवान, रोग तथा बुढ़ापे से मुक्ति, पटुता, सर्वज्ञता, त्रिकाल का कारण सहित ज्ञान, जीभ पर सरस्वती का निवास तथा दुख और पाप से छुटकारा पाकर सब इच्छाओं की पूर्ति करता है। |
| २. | स्वाधिष्ठान चक्र— | कामदेव के समान सुन्दर, कामिनियों के द्वारा पूजित, भयमुक्त तथा मृत्यु विजयी होता है। उसे उच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। |
| ३. | मणिपूर चक्र— | सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान, पाताल सिद्धि, इच्छाओं का स्वामी, मृत्यु विजयी, अन्य शरीर में प्रवेश करने तथा स्वर्ण बनाने की शक्ति प्राप्त करता है। |
| ४. | अनाहत चक्र— | त्रिकाल दर्शी, सूक्ष्म दर्शी, आकाश गमन की शक्ति वाला, तथा दूर के शब्दों को सुनने की शक्ति वाला हो जाता है। स्वर्ग की अप्सरायें काम से व्याकुल होकर मोहित होती हैं। |
| ५. | विशुद्ध चक्र— | दिव्य श्रुत, भूख-प्यास रहित, मन पर संयम तथा चित्त और शरीर में स्थिरता आ जाती है। हजारों वर्ष तक शरीर क्षीण नहीं होता है। |
| ६. | आज्ञा चक्र— | सम्प्रज्ञात समाधि, दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर स्वयं शिवमय हो जाता है। सब चक्रों पर संयम द्वारा प्राप्त सब शक्तियाँ इस चक्र पर संयम करने से प्राप्त होती हैं। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नर आदि चरणों के दास हो जाते हैं। भय तथा पाप नष्ट होते हैं। मुक्त होकर परमात्मा में लीन होता है। |
| ७. | ब्रह्मरन्ध्र— | पाप रहित होता है। |
| ८. | सहस्रार चक्र— | असम्प्रज्ञात समाधि, मुक्ति, परमात्मा में लीन, संसार के संहार तथा रचने की शक्ति, रोग तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। |

## तालिका १०५

| पृथ्वी तत्त्व | जल तत्त्व | अग्नि तत्त्व | वायु तत्त्व | आकाश तत्त्व |
|---|---|---|---|---|
| मृत्यु जय प्राप्त करता तथा सिद्ध बनता है। | जल पर अधिकार जल में मृत्यु भय रहित होता है। | अग्नि तत्त्व पर अधिकार अग्नि से भय रहित होता है। | वायु गमन, वायु तत्त्व पर अधिकार तथा वायु से भय रहित होता है। | अमर बनता है, वह प्रलय में भी नष्ट नहीं होता है। |

## तालिका १०६

### पातञ्जल योग सूत्र

१. अहिंसा— हिंसक वृत्ति तथा वैर विरोध रहित होता है।
२. सत्य— अद्भुत वाणी बल प्राप्त होता है।
३. अस्तेय— धनाभाव समाप्त तथा गुप्त धन का ज्ञान होता है।
४. ब्रह्मचर्य— अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है तथा योग मार्ग विघ्न बाधाओं रहित हो जाता है।
५. अपरिग्रह— त्रिकाल का ज्ञान प्राप्त होता है।
६. शौच— आत्म दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।
७. संतोष— महान सुख की प्राप्ति होती है।
८ तप— अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है।
९. स्वाध्याय— ऋषि और सिद्धों के दर्शन तथा भगवान की कृपा प्राप्त होती है।
१०. ईश्वरप्रणिधान— शीघ्र समाधि लाभ होता है।
११. आसन— कष्ट सहिष्णुता तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।
१२. प्राणायाम— मन के ऊपर नियंत्रण प्राप्त होता है।
१३. प्रत्याहार— पूर्ण रूप से इन्द्रिय जय प्राप्त होती है।
१४. संयम (धारणा, ध्यान, समाधि)— अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

## तालिका १०७

## तालिका १०८

## तालिका १०९

## तालिका ११०

## तालिका १११

## तालिका ११२
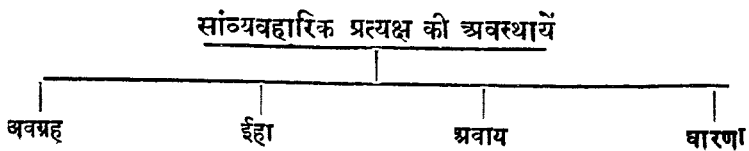
## तालिका ११३

## तालिका ११४

## तालिका ११५

## तालिका ११६

**सत् कार्यवाद**

( कारण में कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् है। )

परिणामवाद ( सांख्य, योग तथा विशिष्टाद्वैत )
( कारण कार्य में परिणत होता है अर्थात् कार्य कारण की अभिव्यक्ति मात्र है। )

विवर्तवाद ( अद्वैत वेदान्त )
( कारण कार्य रूप से भासता है अर्थात् कार्य कारण का वास्तविक परिणाम नहीं है। )

## तालिका ११७

**असत् कार्यवाद**

( उत्पत्ति के पूर्व कार्य कारण में असत् है। )

बौद्ध ( क्षणिकवाद )
( असत् से सत् की उत्पत्ति )

न्याय वैशेषिक
( सत् से असत् की उत्पत्ति )

## तालिका ११८

**सत्-असत् कार्यवाद** ( जैन सिद्धान्त )

( कार्य सत् और असत् दोनों है। कार्य सापेक्ष रूप से ही सत् वा असत् है निरपेक्ष रूप से नहीं )
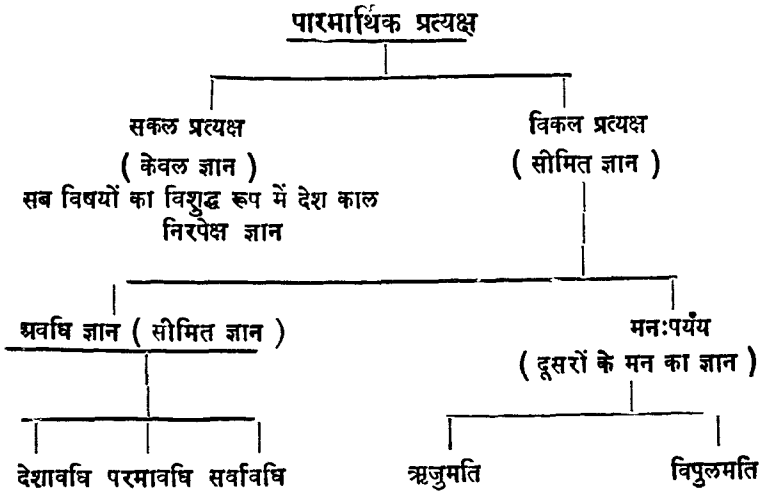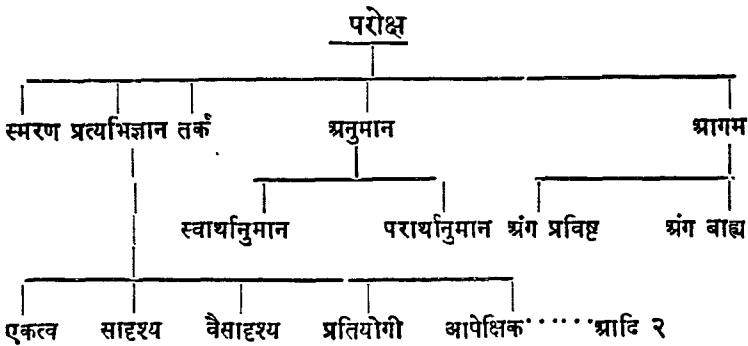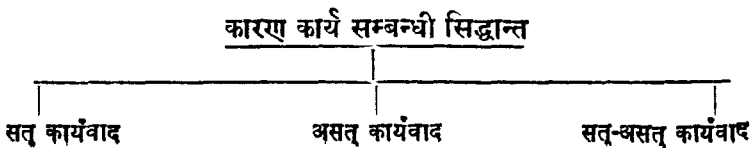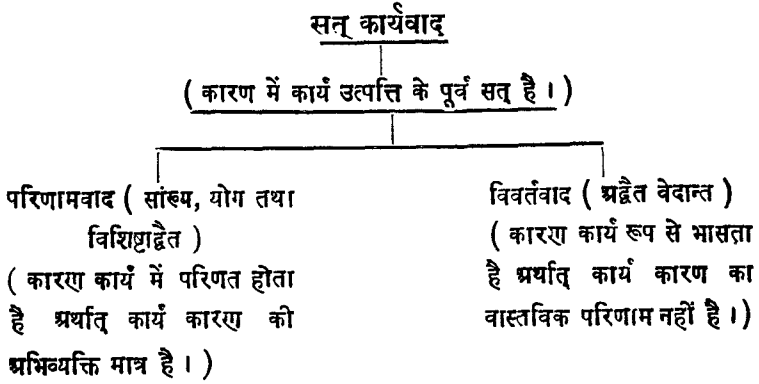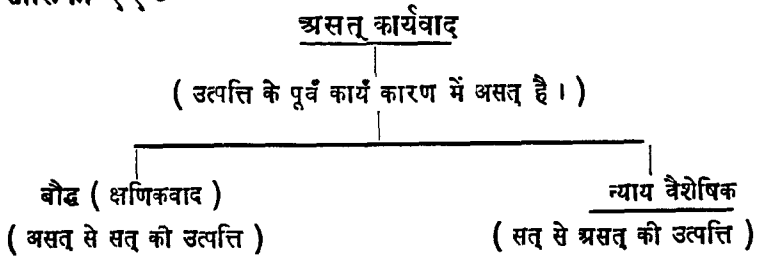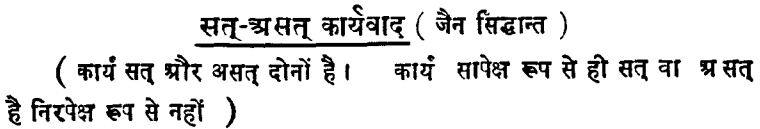
## तालिका ११९
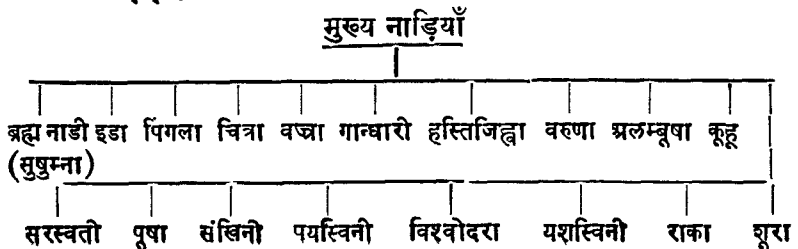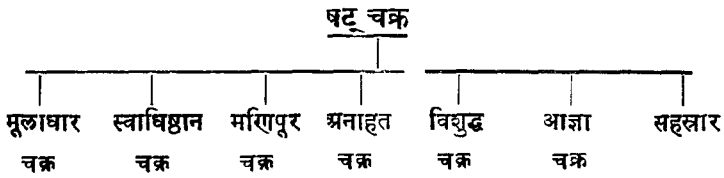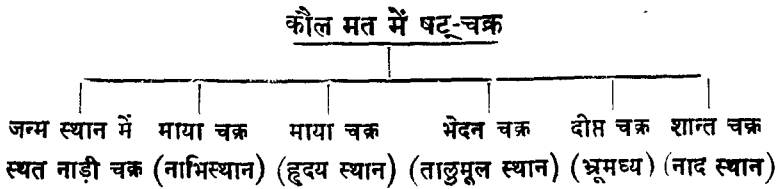
## तालिका १२०

## तालिका १२१

## तालिका १२२
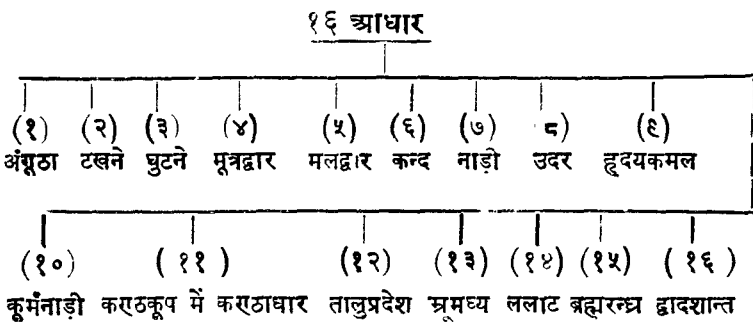
## तालिका १२३

## तालिका १२४
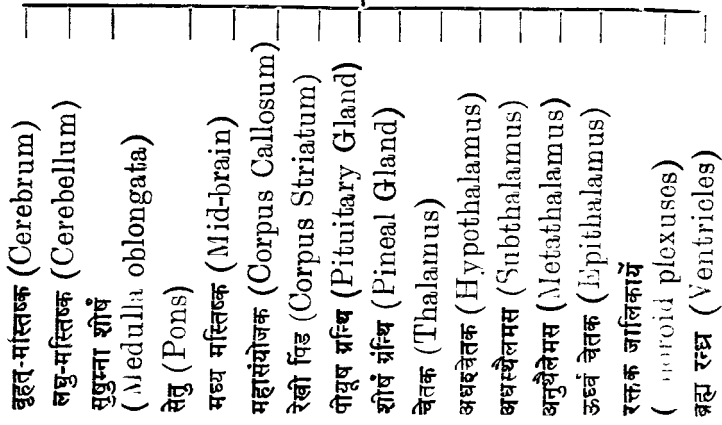
## तालिका १२५

## तालिका १२६

## तालिका १२७

## तालिका १२८
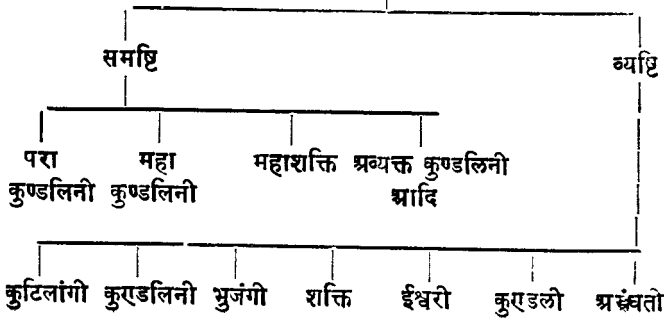
# संदर्भ-ग्रंथ-सूची

# संदर्भ-ग्रन्थ-सूची


| लेखक | पुस्तक |
|---|---|
| अरविन्द | मातृतत्वप्रकाश ( ग्रन्थानुवाद ) |
| अत्रि देव | सुश्रुत संहिता |
| आत्रेय, भीखन लाल | योगवशिष्ठ और उसके सिद्धान्त |
| आत्रेय, शान्ति प्रकाश | भारतीय तर्क शास्त्र |
| आत्मानन्द स्वामी | मनोविज्ञान तथा शिव संकल्प |
| आरण्य हरिहरानन्द | पातञ्जल योग दर्शन |
| ईश्वर कृष्ण | सांख्य कारिका |
| उदयवीर पंडित | सांख्य दर्शन का इतिहास |
| उपाध्याय बलदेव | भारतीय दर्शन |
| उदयवीर शास्त्री | सांख्य सिद्धान्त |
| उदयवीर शास्त्री | सांख्य दर्शनम् |
| एनीबेसेंट | ध्यान माला |
| ओमानन्द तीर्थ | पातञ्जल योग प्रदीप |
| कृष्णनन्द स्वामी | ब्रह्मविद्या |
| कृष्णानन्द स्वामी | अध्यात्म दर्शन |
| कृष्णानन्द स्वामी | आत्मपथ |
| कृष्णानन्द स्वामी | कर्म और योग |
| गुर्जरगणपति कृष्ण | श्री योग-दर्शन |
| गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय | भारतीय संस्कृति और साधना |
| गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय | तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि |
| गोयन्दका, श्री हरिकृष्णदास (अनुवादक) | श्री मद्भगवद्गीता |
| गोरख नाथ | योग बीज (मूल) |
| गोरख नाथ | सिद्ध सिद्धान्त पद्धति |
| गौड पाद | सांख्यकारिका |
| नरायण तीर्थ | सांख्यकारिका (चन्द्रिका टीका) |
| नारायण स्वामी | योग दर्शन (पतंजल) भाष्य |
| चट्टोपाध्याय श्री सतीशचन्द्र | भारतीय दर्शन |

| | |
|---|---|
| चरण दास स्वामी | भक्ति योग |
| चन्द्र शेखर | पातञ्जल योगदर्शन |
| जगत नरायण | धर्म ज्योति |
| ज्वाला प्रसाद मिश्र | विन्दु योग |
| ज्वाला प्रसाद मिश्र | सांख्य कारिका, गौड पाद भाष्य |
| ज्वाला प्रसाद गौड | सांख्य कारिका |
| तिलक, श्री बाल गंगाधर | गीता रहस्य |
| दयानन्द स्वामी | धर्म कल्पद्रुम ( पञ्चम खण्ड ) |
| दयानन्द स्वामी | साधन चन्द्रिका ( हिन्दी ) |
| द्रविड,श्री नारायण शास्त्री (संपादक) | भारतीय मनोविज्ञान |
| दर्शनानन्द, स्वामी | सांख्यदर्शनम् |
| परमहंस श्री निगमानन्द ( अनुवादक ) | विचारसागर |
| प्रभुदयाल | योग दर्शन (पातंजल) दोहा भाष्य |
| पाठक पं० रंगनाथ | षड्दर्शन रहस्य |
| पाण्डेय श्री नित्यानन्द (संग्रहकर्ता व अनुवादक) | आध्यात्य भागवत संग्रह ( भाषानुवाद-सहित) |
| पतंजलि | योग दर्शन |
| पीताम्बर जी | विचार चन्द्रोदय |
| प्रहलाद सी० दीवान संपादित | योग याज्ञवल्क्य |
| पतंजलि मुनि | योग (सूत्रपाठः) दर्शनम् |
| पण्डा बैजनाथ | चक्रकुण्डलिनी |
| पुरुषोतम तीर्थस्वामी | जपसाधना |
| पण्डा बैजनाथ ( अनुवादक ) | भावनायोग |
| बलदेव | योगसूत्र ( पतञ्जलि ) |
| ब्रह्मचारी योगानन्द | महायोगविज्ञान |
| ब्रह्ममुनि | सांख्य दर्शन ( भाष्य सहित ) |
| ब्रह्ममुनि | योग प्रदीपिका |
| ब्रह्मलीन मुनिस्वामी | योग दर्शन ( व्यास भाष्य ) |
| ब्रह्मानन्द स्वामी | योग रसायन |
| बैजनाथ, श्री, रामबहादुर | चक्र कुण्डलिनी और शास्त्रोक्त अनुभव |

| | |
|---|---|
| बगांली बाबा | योग सूत्र ( पतञ्जलि ) व्यास भाष्य सहित ( अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी में रूपान्तर ) |
| बालरामोदासीन | सांख्यतत्त्वकौमुदी ( व्याख्या सहित ) |
| भगवत्पाद शंकर | योग दर्शन ( भाष्यविवरण ) |
| भगवान् दास | भगवद्गीता का आशय और उद्देश्य |
| भूपेन्द्रनाथ | अभ्यास योग |
| भूपेन्द्रनाथ | आश्रमचतुष्टय |
| मिश्र, आद्या प्रसाद | सांख्य तत्वकौमुदीप्रभा |
| मिश्र, श्री उमेश | भारतीय दर्शन |
| मिश्र, वाचस्पति | सांख्य तत्वकौमुदी |
| महादेव, भट, विष्णु | योगसिद्धि आणि ईश्वर साक्षात्कार |
| विज्ञान भिक्षु | सांख्य दर्शनम् ( सांख्यप्रवचन भाष्य ) |
| विज्ञान भिक्षु | सांख्यसार |
| विज्ञान भिक्षु | योगसारसंग्रह |
| विज्ञानाश्रम | योग दर्शन ( पातञ्जल ) |
| व्यास | योगसूत्र |
| व्यास देव जी महाराज राजयोगाचार्य | आत्म-विज्ञान |
| वर्मा, मुकुन्द स्वरूप | शरीर प्रदीपिका |
| विद्यारण्य स्वामी | जीवन्मुक्तिविवेक |
| विद्यालंकार, श्री जयदेव | चरक संहिता ( पूर्व भाग ) |
| विद्यालंकार, श्री जयदेव | चरक संहिता ( द्वितीय भाग ) |
| विद्यासागर, महामहोपाध्याय | प्रत्यक्ष शरीर ( प्रथम भाग ) |
| | ,, ,, ( द्वितीय भाग ) |
| विवेकानन्द, स्वामी | योगदर्शन धिवेक (पातञ्जल ) |
| विश्वनाथ | सन्यासगीता |
| विश्वनाथ | सहज प्रकाश |
| विष्णु तीर्थ | पाञ्जल योग दर्शन |
| विवेकानन्द, स्वामी | कर्म योग |
| विवेकानन्द, स्वामी | ज्ञान योग |
| व्यास देव, स्वामी | बहिरङ्गयोग |

| | |
|---|---|
| विष्णुतीर्थ, स्वामी | शक्तिपात |
| विष्णुतीर्थ, स्वामी | साधन संकेत |
| वंशीधर पंडित | सांख्य तत्वकौमुदी |
| सहजो बाई | सहज प्रकाश |
| सहाय, चतुर्भुज | भक्तिसागर |
| सहाय, चतुर्भुज | अध्यात्मदर्पण |
| सहाय चतुर्भुज | दर्शन और उसके उपाय दो उपाय |
| सहाय चतुर्भुज | योग फिलासफी और नवीन साधना |
| सहाय चतुर्भुज | साधना के अनुभव |
| साधु शान्ति नाथ | प्राच्यदर्शन समीक्षा |
| सान्याल, भूपेन्द्र नाथ | योग तत्वप्रकाश ( भाषा ) |
| सान्याल, भूपेन्द्रनाथ | दिनचर्या |
| सत्याकाम विद्यालङ्कार | मानसिक शक्ति का चमत्कार |
| सिन्हा, यदुनाथ | भारतीय दर्शन |
| सिंह, प्रसिद्ध नरायण | योग की कुछ विभूतियाँ |
| स्वात्माराम योगीन्द्र | हठयोग प्रदीपिका |
| 'सुमन' रामनाथ | योग के चमत्कार |
| शास्त्री, शिवनरायण | सांख्यकारिका |
| शास्त्री, केशव देव | प्राणायाम विधि |
| शिवानन्द स्वामी | प्राणायाम साधना |
| शुक्ल, श्री रघुनाथ अध्यापक | योग रहस्य |
| शङ्कर, भगवत्पाद | पातंजलयोग सूत्र भाष्य विवरणम् |
| त्रिपाठी कृष्णमणि | सांख्य कारिका (संस्कृत हिन्दी टीका) |
| त्रिपाठी कृष्ण मणि | योग दर्शन समीक्षा |
| खेमराज श्री कृष्ण दास ( प्रकाशक ) | गोरक्ष पद्धति |
| खेमराज श्री कृष्ण दास ,, | शिव संहिता |
| खेमराज श्री कृष्ण दास ,, | हठयोग प्रदीपिका |
| गीताप्रेस गोरखपुर ,, | ईशावास्योपनिषद् |
| गीताप्रेस गोरखपुर ,, | कल्याण योगाङ्क |
| गीताप्रेस गोरखपुर ,, | श्वेताश्वेतरोपनिषद् |
| गीताप्रेस गोरखपुर ,, | छान्दोग्य उपनिषद् सानुवाद शांकर |
| ,, | भाष्य सहित |

गीताप्रेस गोरखपुर (प्रकाशक) उपनिषद् भाष्य (सानुवाद)
गीताप्रेस गोरखपुर ,, वृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद) शांकर भाष्य सहित
गीताप्रेस गोरखपुर ,, कल्याण
चौखम्बा संस्कृत सिरीज् ,, ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य
श्री राधा स्वामी प्रकाशक ट्रस्ट स्वामि-वाग आगरा सारवचन राधा स्वामी

## अन्य पुस्तकें

सांख्य संग्रह (सांख्य तत्व विवेचन तत्व प्रतिपादी)
सुवर्ण शप्तशती शास्त्र (सांख्यकारिका व्याख्या)
आत्मानुसंधान और आत्मानुभूति (हिन्दी)
उमेश योगदर्शन हिन्दी (हिन्दी)
योग तत्व प्रकाश (भाषा मूलपाठ)
योगासन
योगमार्ग प्रकाशिका (योग रहस्य भाषाटीका)
योग संध्या (हि० टी० सहित)
स्वर दर्पण (हिन्दी)
स्वरोदयसार (हिन्दी)
हठयोग प्रदीपिका
हठयोग संहिता (भाषानुवाद सहित)
ज्ञानस्वरोदय (भाषा पत्र)
Abhedananda True Psychology.
,, Science of Psychic Phenomena
,, Doctrine of Karma
,, Our Relation to the Absolute.
,, How to be a Yogi.
Aiyer, A. Mahadeo Shastri The Yoga Upanishads.

| | |
|---|---|
| Aiyer K. Narayan Swami | Yoga Higher and Lower. |
| ,, | Translation of Laghu Yoga Vasistha. |
| Akhilanand Swami | Hindu Psychology |
| Alain | Yoga for Perfect Health. |
| Alexender, Franz. | Psychosomatic Medicine |
| Alexender, Role | The Mind in Healing. |
| Allem, James | From Powerty To Power. |
| Andrews T J, (Editor) | Methods of Psychology. |
| Alhalye | Quintessence of Yoga Philosophy. |
| Atreya B. L. | The Philosophy of Yoga-vasistha. |
| ,, | Yoga-vasistha and Modern Thought |
| ,, | An Introduction to Para-psychology. |
| ,, | The Spirit of Indian Culture. |
| Atreya S. P. | Yoga as a System for Physical Mental & Spirit-tual Health. |
| Aurbindo | The Synthesis of Yoga. |
| ,, | Essays on The Gita. |
| ,, | The Life Divine. |
| ,, | Bases of Yoga |
| ,, | Isha Upnished. |
| Avalon Arthur | The Ser-pent power |
| Avalon Arthur | Principles of Tantras |
| ,, | The Great Liberation |
| ,, | Sakti and Sakta |

| | |
|---|---|
| Avyaktananda, Swami | Spiritual Communism in New Age. |
| Ayyangar T. R. Srinivas | The Samanya Vedanta upanisad. |
| Babuji Maharaj | Phelps Notes |
| Banerjee Akshay kumara | Philosophy of Gorakhnath |
| ,, | Hath Yoga |
| Banke Behari | Mysticism in the Upanishadas. |
| Barrett, E. Boyd | Strength of Will. |
| Major Basu, B. D. | The sacred book of the Hindus |
| Bec, E. Le | Medical proops of the Miraculous |
| Besant, Annie | An Introduction to Yoga |
| Best C. H. & Tayler N. B. | The Human Body. |
| Bhattacharya, K. C. | Studies in Vedanta |
| Bose Ram Chander | Hindu Philosophy |
| Bowtell T. H. | The Wants of Men. |
| Brahmachari Srimad-viveka | Sankhya Catechism |
| Brahma Prakash | Yoga kundalni. |
| Brash James Couper | Canningham Manual of Practical Anatomy. |
| Franz, S. L. | Atlas of human Anatomy. |
| Brown, F. yests | Yoga Explained |
| Brunton, Paul | The Hidden Teachings beyond Yoga |
| Bykou K. M. ( Editor ) | Text Book of Philoscphy. |
| Bweras Malvin | Hypnotism Revealed |

| | |
|---|---|
| Carrington | Laboratory Investigations in to Psychic Phenomena |
| | Psychical Phenomena and the War |
| | The Story of Psychic Science |
| | The Psychic World |
| | Man the Unknown |
| Cattel, R. B. | Personality. |
| Cumnins Geraldine | Mind in Life & Death. |
| Chattopadhyaya, Devi Prasad | Lokayata |
| Chidanand | Forest Academy Lectures on Yoga. |
| Clark, David, Staffort | Psychiatry To-day. |
| Coster, Geraldine | Yoga and western Psychology. |
| Coue | Self Mastery Through Conscious Auto-suggestion. |
| Crookes, William | Researches in the Phenomena of spiritualism. |
| Cruze, W. W. | General Psychology. |
| Dasgupta, Surendranath. | A History of Indian Philosophy. |
| Davids, Rhys | The Birth of Indian psychology and its development in Buddhism. |
| Dayanand Swami | Sri Yoga Darshan |
| Devaraj | Introduction to Sankara's Theory of knowledge |
| Dharamtirath, Maharaj | Yoga for All |

| | |
|---|---|
| Eugene, Osty. | Supernormal Faculties in Man. |
| Gandhi, M. K. | Non-violence in Peace and War |
| Gandhi, V, R. | The Jaina Philosophy. |
| ,, | The Yoga Philosophy |
| Garland | Forty Years of Psychical Research |
| Gayner, Evana. F. | Atlas of Human Anatomy |
| Geley | Clairvoyance & Material-isation. |
| Goldsmith, Joel S. | The Art of Spiritual Healing |
| Gopal | Yoga Darshan of Patanjali. |
| ,, | Yoga (The Science of Soul) |
| Grant | A new Argument for God and Survival |
| Gregg | The Power of Non-violence |
| Gray | Grays Anatomy |
| Grey and Cunnigham | Anatomy |
| Groves, Earnest, R. | Dynamic Mental Hygine |
| Gupta, N. K. | The Yoga of Sri Aurbindo |
| Guilford, J. P. | General Psychology. |
| Hall, Calwar, S. | Freudian Psychology. |
| Halliday, J. L. | Physiosocial-Medicine |
| Heavell | Text book of Anatomy and Psychology. |
| Helson, Hany ( Editor ) | The Critical Foundation of Psychology. |
| Hewlett, S. S. | The Well Spiring of Immortality |

| | |
|---|---|
| Hilgard, Earnest, R. | Introduction to Psychology. |
| Hiriyanna, M. | Outlines of Indian Philosophy. |
| Hogg, A. G. | Karma and Redemption. |
| Hudson, Geoffery | Man's Supersensory and Spiritual Power |
| Hume Robert, Earnest | The Thirteen principal Upanishadas |
| Hung, Miva, Kn. | Wisdom of the East ( The Conduct of life ) |
| Iyyanger, Srinivasa | HathyogaPradeepika Part II |
| Jacobi | Concordance to the Principal upanishadas |
| Jacobs, Hans | Western Psychotherapy Hindu sadhna. |
| Jai Singh, R. B. | Elements of Hygiene and Public Health |
| Jha, Murlidhar | Shiva Swarodaya |
| James, W. | Psychology. |
| Johnston, E.M. | Early Sankhya (An Essay on its Historical Development according to the Texts ). |
| Jones Abel J. | In search of Truth |
| Josephind Ransom | Mysticism |
| ,, ,, | Yogic Asanas for health and vigour |

Jordan, William, George — Self Control its Kinship and Mystry.
Juan, Mascan — The Bhagvad Gita.
Kanga, D. D. (Editor) — Where Theosophy and Science Meet.
" " — " " " Vol I
" " — " " " Vol II
" " — " " " Vol III
" " — " " " Vol iv
Keith, A. B. — Religion and Philosophy of Veda and Upanishad.
Kuvalayananda, (Editor) — Yoga Mimamsa Vol I
" " — " Vol II
" " — " Vol III
" " — Pranayama.
Lawrence, L. W. — The Sacred Book of Hindu Spiritism, Soul Transition and Soul Reincarnation,
Leadbeater, C. W. — The Chakras.
" — Master and the Path
" — Clairvoyance.
Lodge, Sir Oliver — Reason and Belief.
Malkani, G. R. — The Philosophical Quarterly.
Mother, K. F. — Science in Search of God.
Max Muller — The six systems of Indian Philosophy.
Mauni Sadhu — Concentration.
Miles, Eustace — The Power of Concentration.

| | |
|---|---|
| Minski, Lonis | A Practical Hand book of Psychitary. |
| Mirees, Eliade | Yoga in Morality and Feredom. |
| Montague, Asti Bey and— | |
| Edwin, B. Steen | Anatomy and Physiology. |
| Mukherjee, A. C. | The Nature of self. |
| " " | Self thought and Reality |
| " A, P. | The Docrtrine and Practice of Yoga. |
| Mukherjee, A. P. | Spiritual consciousness. |
| " J. N. | Samkhya the Theory of Reality |
| Munn, Norman L. | Psychology. |
| Murphy, Gardner | Historical Introduction to Modern Psychology. |
| | Personality. |
| Myers | Human Personality. |
| Nag, R. K. | The yoga and Its Objectives. |
| Nanda Shravan | Mandukyopanishad. |
| " | Aitareya Upanishad |
| " | Taittiriyopanishad. |
| Nath, Sadhu Shanti | Sadhana or spiritual Discipline. |
| " | Experience of a Truth seeker Vol 1. |
| " | " Vol II |
| " " | A Critical Examination of the non-dualistic Philosophy ( Vedanta ) |
| Narsimha Swami, B. R. | Self-Realization. |

| | |
|---|---|
| Narayanananda Swami | Principal Power in Man or The Kundalini Shakti. |
| | The Secrets of Mind Control. |
| | A Practical Guide to Samadhi. |
| Orton louis | Hypnotism made Practical. |
| Pandey Manvbhai | Intelligent Man's Guide to Indian Philosophy |
| Pandit M. P. | The Upanisads ( Gateways of Knowledge ) |
| Pathak P. V. | The Heya Pakcha of Yoga Or a Constructive Synthesis of Psychological Material in Indian Philosophy |
| Patanjali | On the Practice of Yoga |
| Patwardhan S. R. | Hindu Dharma Mimansa. |
| Persira A. P. | Practical Psychology |
| Prem, Krishna | The Yoga of Bhagawad Gita |
| Poddar H. P. | Way to God Realization |
| Puri, Lekha Raj | Mysticism–The Spiritual Path. |
| Radhakrishnan S. | The Principal Upanishads |
| " | Indian Philosophy Vol. I |
| " | " " Vol. II |
| " | The Brahma Sutra ( The Philosophy of Spiritual Life ) |
| " | The Philosophy of the Upanishads |

| | |
|---|---|
| Rajendra Lal Mitra, | The Twelve Principal Upanishadas Vol. III |
| Ramachandran | Sat Darshan Bhashya and Talks with Maharshi |
| Ramcharaka Yogi | Advance Courses on Yogic Philosophy and Oriental Occultism |
| ,, | Raj Yoga |
| ,, | Psychic Healing |
| ,, | Fourteen Lessons in Yogic Philosophy and Oriental Ocultism. |
| ,, | Nath Yoga or the Yogic Philosophy Physical Well Being. |
| Ramanujachari V. K. | Introduction to the Bhagawad Gita. |
| Rav Raji Tuka Ram | A Comperation of the Raj yoga Philosophy |
| Ranson, Josephine | Self Realization Through yoga and mysticism. |
| Rao K. Ram Krishna | Psychoquestion. |
| Phine. | Entra Seusory Perceptiou |
| | New Frontiers of Mind |
| | New World of Mind |
| | The Reach of the Mind |
| Richet | Thirty Years of Psychical Research |
| Roer E. | The Principal Upanisads Vol. I |
| | ,, ,, Vol. II |

Ronald macfic — The Body ( An Introduction to Philosophy )

Roy Rakhal Das — Rational Exposition of Bharatiya Yoga Darshan Vol. I

Ruch Floud L. — Psychology and life.

Rudolf — Telepathy and clairvoyance

Ryle Gilbert — The Concept of mind.

Sanyal Shri Bhupendra Nath — Srimad Bhagawad Gita

Sarkar Mahendra Nath and Lahari Yogindra Shri Shyamcha rana — Misticism in Bhagawad Gita

Saraswati Chennakesavan — The Concept of Mind in Indian Philosophy.

Satwalekra Damodar — Asana

Seal Brajendra Nath — The Positive Science of The Ancient Hindus

Seal N. L. — Shiva Samhita

Sechenov J. M. — Selected Phisiological and Psychological Works

Schultz M. — Hindu Philosophy

Sen Gupta, Anima — Chhandogya Upanisada

Sengupta, S. C. — Dictionary of Anatomy

Shafterbwry Edmand — Operations of Other Mind

" " — Universal Magnatism Vol-I

' ' — " " Vo l·II

Shivanand Swami — The Religion and Philosophy of Gita

" " — Kenopanishad

| | |
|---|---|
| Shivanand Swami | Path to Perfection |
| Shivanand Swami | Essence of Yoga |
| ,, ,, | Yoga and Realiastion |
| ,, ,, | Practice of Yoga |
| ,, ,, | Mind Its Mysteries and Control Part I |
| ,, ,, | ,, ,, Part II |
| ,, ,, | Concentration and Medi-tation |
| ,, ,, | Raj Yoga |
| ,, ,, | Swara Yoga, The Science of Breath. |
| ,, ,, | Tantra Yoga, Nada Yoga and Kriya yoga |
| ,, ,, | Tripple Yoga |
| Shivabratlal | Nanak Yoga |
| Singh, Dr. Mohan | New Lights on Sri Kri-shna aud Gita Vol. I |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. II |
| ,, ,, | Gorakhnath and Medi. evl Hfndu Mysticism |
| Singh, Sardar Sulekhan | The Theory and Practice of Yoga |
| Singh, Naunihal Shastri | Mind-Hidden-Wealth |
| Suryanarayan S. S. | The Sankhya Karika of Ishwar Krishna |
| Sinha Jadunath | Indian Psychology Vol. I |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. II |
| ,, ,, | Indian Philosophy Vol. I |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. II |

| | |
|---|---|
| Sri Krishna Das | Conversation on Yoga |
| ,, ,, | Yoga Darshan |
| Sri Purohit Swami | The Gita |
| ,, ,, | Vedanta Sutra, Sri Bhasya |
| Taylor Norman Bruke | The living Body |
| Tilak B. G. | Gita- Rahasya |
| Tukaram Tatya— | The Yoga Philosophy. |
| Tyrrell | Science and Psychic Phenomena |
| ,, | Personality of Man |
| ,, | Nature of The Human Personality |
| Vasant, G. Rele | The Mysterious Kundalini |
| Vasu, Rai Bahadur Saratchandra | Yoga Shastra |
| Vidyarthi, K. P. | Satchakra Nirupana |
| Vivekananda Swami | Bhakti Yoga |
| ,, ,, | Complete Works of Swami Vivekananda Vol. I |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. II |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. III |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. IV |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. V |
| ,, ,, | ,, ,, Vol. VI |
| Walker, Kenneth | The Psychology of Sex |
| Wae, Charles | The Inner Teaching and Yoga |
| Whitney, W. P. | Atharva Veda ( translated in two Vols. ) |

| | |
|---|---|
| Wilson, Floyd B. | Through Silence to Realization |
| Wood, Ernest | Great System of Yoga |
| Woodroff, Sir John | The World as Power (Reality) |
| Yogi Vithal Das | Ycga Psychotherapy |
| Yogaidas Sri Mahant | Yoga Marga Prakashika |

# शब्दानुक्रमणिका

# शब्दानुक्रमणिका

# सम्मतियाँ

Mahamahopadhyaye 2 ( A ) Sigra, Varanasi
Gopi Nath Kaviraj M. A. D. Litt.
Padma Vibhushana.

इस ग्रन्थ से हिन्दी भाषा की श्री वृद्धि सम्पन्न हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। इसके अनुशीलन से अधिकारी पाठकों के हृदय में योग-विज्ञान के निगूढ़ विषयों को जानने की आकांक्षा जाग्रत होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

२ ए सिगरा गोपीनाथ कविराज

वाराणसी

---

श्रीः

डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय महोदयेन ( महात्मना ) विरचितं योग-मनोविज्ञान नामकमिमं स्वतन्त्रं ग्रन्थं सम्यङ् निरीक्ष्य प्रसीदति अत्यन्तं नितान्तं मदीयं स्वान्तम्। अस्मिन् ग्रन्थे श्रीआत्रेयमहोदय द्वारा महर्षियाज्ञवल्क्य प्रभृतिभिराचार्यचरणै-र्याज्ञवल्क्यप्रभृतिस्मार्त्तग्रन्थेषु प्रोट्टङ्कितान् मतविशेषान् सिद्धान्तविशेषांश्च योगविषये प्रदर्शितानहं मन्ये यत् सुकुमारमतीनां काव्येषु कोमलधियां तर्केषु कर्कशधियां शास्त्रे चतुरश्चेतसां विदुषां चेतसि सोपकारं चमत्कारं वाग्गुम्फनञ्च तथा सरलैः सरसैश्च शब्दैरभिव्यक्तम् अर्थगाम्भीर्यम् अवश्यम् ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकरूपेण नितरामुपयोगि-त्वेन प्रतिभाति। विषयप्रतिपादनसरणिश्च श्रुतित्रयीव अलौकिकपदार्थस्यापि जननी, हारिणीव योगपदार्थविषयकाज्ञानान्धकारापहारिणी, कामिनीव विदुषां रसिकानाञ्च मनोहारिणी विद्वज्जनोपकारिणी, साधारणतया जिज्ञासुजनानां कृते योगपदार्थ विषयकशंकापनोदनकर्त्री चित्तस्य पञ्चविधनिवृत्तिलक्षणवृत्तीनाम्, जाग्रत्-स्वप्न आदि अवस्था चतुष्टयानाञ्च प्रतिपादयित्री तस्यैव च परमार्थदर्शनसुखकारणी भूतान् अविद्यादिपञ्चक्लेशान् निरूपयित्री चास्तीत्यत्र नास्ति लेशतोऽपि सन्देहान-ध्यवसायावसरः। एवमभ्यास-वैराग्य-समाधि-अष्टांगयोग आदि पदाभिधेयानां

पदार्थानां विशेषतो निरूपकत्वेन नातिप्रसक्तिदुष्टिदृष्टिसमुन्मेषोऽपि। अन्यच्च चतुरशीतिलक्षयोनिकारणीभूतधर्माधर्मकारणविनाशाच्छरीराद्यनुत्पत्तौ स्वस्वरूपोपलब्धिरूपस्य परममुक्तिलक्षणलक्षितस्य, अथवा दग्धेन्धनानलवदुपशमरूपमोक्षपदाभिधेयस्य कैवल्यस्यापि निरुपकोऽयं ग्रन्थ इति नास्त्यत्राप्रसक्तिविचिकित्सा व्याधिचिकित्सावकाशः। योगशास्त्रपदार्थविषये सिद्धान्तविषयकाऽऽक्षेपाश्च ग्रन्थस्यास्याध्ययनमात्रेण स्वयं निरस्ता भवन्ति। एतेन ग्रन्थकर्तुः डा० शान्तिप्रकाश आत्रेयमहोदयस्य सर्वतोमुखं सफलं वैदुष्यं प्रतिभाति योगदर्शने च विशेषतः। आधुनिकपाश्चात्यमनोविज्ञानावधिप्रकर्षं एवं कुण्डलिनी-चक्र-नाड़ीमण्डल आदि प्रमीयमाणपदार्थानां प्रकर्षमप्यलौकिकत्वेन सर्वथाऽनिर्वचनीयमेव। सांप्रतञ्चास्य ग्रन्थस्य महनीयताम् उपादेयताञ्च दर्शं दर्शं विषयप्राशस्त्यप्रतिपादनचर्चाञ्च निरीक्ष्य प्रतिसरस्वतीसदने प्रकाशो भवेत्। ग्रन्थकर्त्ता चास्य परमदीर्घायुः स्यादिति अनाथनाथं श्री विश्वनाथं प्रार्थये।

शिवदत्तमिश्रः

भूतपूर्व राजकीय सं० महाविद्यालयस्य प्रधानाध्यापकः।

———

॥ श्रीः ॥

भारतशासनद्वारा सम्मानपत्र प्राप्त वाराणसी
म० म श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
वाचस्पति ( का० हि० वि० वि० )
साहित्यवाचस्पति ( हि० सा० स० )
सम्मानित प्राध्यापक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय दिनांक

श्रीयुत डाक्टर शान्तिप्रकाश आत्रेय ने 'योग मनोविज्ञान' पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है। इसमें भारतीय प्राचीन योग दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान का स्वरूप और तुलनात्मक परिचय बड़ी योग्यता से उपस्थित किया गया है। मेरी दृष्टि में राष्ट्रभाषा में इस प्रकार का यह पहिला ही प्रयास है। भारतीय प्राचीन शास्त्रों का आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों से तुलनात्मक अध्ययन एक ओर जहाँ प्राचीन शास्त्रों के महत्व को परिपुष्ट करता है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक उपलब्धियों को भी दृढ़ आधार प्रदान करता है और उनकी त्रुटियोंको सुधारने में भी सहायक होता है ऐसा मेरा विश्वास है। इसी दृष्टिसे मैं इस पुस्तक को महत्व

की मानता हूँ कि इसमें सप्रमाण प्राचीन योगदर्शन का विवेचन है और आधुनिक मनोविज्ञान से उसका तुलनात्मक परिशीलन है। आशा है इस पुस्तक का विद्वानों और छात्रोंमें पर्याप्त आदर होगा।

ह० गिरिधर शर्मा
चतुर्वेदी
( गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी )

८।७।६४

---

Dr. Mangal Deva Shastri
M.A., D. Phil. ( OXON )
Principal ( Retd. )
Govt. Sanskrit College, Banares

ज्योतिराश्रम
इंग्लिशियालाइन,
वाराणसी - २
१७-१०-६४

डा० एस० पी० आत्रेय द्वारा लिखित "योग-मनोविज्ञान" को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पाश्चात्य मनोविज्ञान के साथ-साथ भारतीय योग और मनोविज्ञान के गम्भीर और तुलनात्मक अध्ययन पर आधृत यह पुस्तक निश्चय ही अपने विषय की एक बहुमूल्य कृति सिद्ध होगी। विद्वान लेखक ने इसके द्वारा राष्ट्र भाषा हिन्दी के गौरव को बढ़ाया है। मैं हृदय से पुस्तक का अभिनन्दन करता हूँ।

मंगल देव शास्त्री
पूर्व-उपकुलपति,
वा० संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

—: o :—

Dr. Raj Bali Pandey,
M. A., D. Litt., Vidyaratna,
Mahaman Pandit Madan Mohan Malviya
Professor and Head of the Department of
Ancient Indian History and Culture.
Institute of Languages and Research.
Dean of the Faculty of Arts.

University of Jabalpur
JABALPUR
२८-६-६४

श्री डा० शान्तिप्रकाश द्वारा लिखित 'योग मनोविज्ञान' हिन्दी में एक अभिनव प्रयास है। केवल योग के ऊपर अभी तक कई ग्रंथ लिखे जा चुके थे।

परन्तु उसके मनोविज्ञान पर कोई व्याख्यात्मक और तुलनात्मक ग्रंथ नहीं था। प्रस्तुत ग्रन्थ से इस अभाव की पूर्ति हुई है। पातंजल योग और आधुनिक मनोविज्ञान को जोड़नेवाली यह महत्वपूर्ण रचना है। प्रथम तीन अध्यायों में ऐतिहासिक भूमिका, अध्ययन के विषय और योग-मनोविज्ञान की विधियों पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय से एक विस्तृत योजना के अनुसार विषय के विविध अंगों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि सभी प्राचीन पारिभाषिक शब्दों को सुबोध बनाने की चेष्टा की गयी है और उनका विशद व्याख्यान, परम्परा और अनुभव के आधार पर दिया गया है। अन्त में आधुनिक शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान की तुलना में भारतीय योग-मनोविज्ञान को रखकर उसका स्पष्टीकरण हुआ है। ग्रन्थ की शैली प्रांजल और मनोरंजक है। विद्वानों और साधारण जनता दोनों के लिये यह ग्रन्थ उपादेय है। आशा है सुधी-समाज में इसका समुचित आदर होगा।

ह० राजबली पाण्डेय

—: ० :—

डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय ने 'योग मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ लिख कर एक बड़ी सेवा की है। इसमें विद्वान लेखक ने मन और शरीर का सम्बन्ध; चित्त का स्वरूप; प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा, स्मृति इत्यादि पांच चित्त वृत्तियाँ; अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इत्यादि पंचक्लेश; परिणाम दुःख, तापदुःख, संस्कार दुःख इत्यादि तापत्रय; क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त एकाग्र विरुद्ध इत्यादि पाँच भूमियाँ; के व्युत्थान एवं निरोध संस्कार; यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग के आठ अंग, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति, तुरीय आदि चार अवस्थायें; अणिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व इत्यादि आठ सिद्धियाँ, जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति; अभ्यास, वैराग्य, आदि साधन; शुक्ल कृष्ण आदि क्रियाभेद; संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण आदि पुण्य पाप रूपी कर्म सात्विक राजस, तामस एवं त्रिगुणातीत व्यक्तित्व; इन समस्त योग विषयों का समावेश किया है; और पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान से तुलना करते हुये स्नायु-मण्डल चक्र तथा कुण्डलिनी का विशद विवेचन किया है। सभी योग विषयों की तालिकाएँ दी गयी है, जिससे उनका वर्गीकरण अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त पचकोष, समाधि एवं तुरीय

अवस्थाएँ, षट्चक्र आदि को अनेक चित्रों के द्वारा साकार कर दिया गया है। चित्रों की विशेषता यह है कि इनमें आधुनिक शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान के तत्वों का भी समन्वय किया गया है, जिससे इन विषयों पर भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियाँ तुलनात्मक रूप से स्पष्ट हो जाती हैं।

योग दर्शन भारतीय दर्शनों में मनोविज्ञान-प्रधान दर्शन है। भारतीय मनोविज्ञान इस दर्शन में जितनी पूर्णता के साथ उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं होता। अनेक दिशाओं में वह आधुनिक मनोविज्ञान से आगे जाता है। ऐसी स्थिति में इस शास्त्र का आधुनिक मनोविज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन, इस क्षेत्र में आज की एक बड़ी आवश्यकता है। इससे न केवल भारतीय विद्या प्रकाश में आती है, वरन् आधुनिक मनोविज्ञान भी एक नये स्तर पर ले जाया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति में एक स्तुत्य प्रयत्न है। यह पुस्तक हिन्दी में लिखी गयी है। यह हिन्दी के गौरव की बात है किन्तु संसार के उपयोग की दृष्टि से इसे अंग्रेजी में भी होना चाहिये, क्योंकि अभी तक अंग्रेजी में भी इस विषय पर इतने संग्राहक रूप से कोई अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है। डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय इस उपलब्धि के लिये सामान्य रूप से मनोवैज्ञानिकों के और विशेष रूप से भारतीय दार्शनिकों के साधुवाद के पात्र हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस विषय के जिज्ञासु एवं अध्येता इस ग्रन्थ का समुचित आदर करेंगे और इससे पर्याप्त लाभ प्राप्त करेंगे।

राजारामशास्त्री
आचार्य।
समाज विज्ञान विद्यालय,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

---

व्यावहारिक पुरुष होने के नाते मुझे मनोविज्ञान में युवावस्था से हीबड़ी रुचि रही है। बहुत दिन हुए मैंने यह प्रस्ताव करने की धृष्टता की थी कि मनोविज्ञान की शिक्षा हमारी पाठशालाओं और विद्यालयों में अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। मेरा ऐसा विचार इस कारण हुआ कि मैंने अपने कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में विविध स्थितियों का परिचय प्राप्त करते हुए यह देखा कि हम सब यह चाहते हैं कि हम जो स्वयं चाहें, जिससे और जिसके लिए कह दें, पर हमारे सम्बन्ध में कोई दूसरा प्रशंसात्मक भाव के

अतिरिक्त अन्य कोई भाव न प्रदर्शित करे। हम अपने शास्त्र के इस उपदेश को भूल जाते हैं कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" ईसामसीह का आदेश है कि दूसरों के प्रति वैसाही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे प्रति करें।

स्थितिको देखते हुए मैंने यही विचार किया कि यदि हमें मनोविज्ञान से परिचय रहे तो हम यह अनुभव करेंगे कि जैसी हमारी स्वयं प्रकृति है, वैसी ही दूसरों की भी होती है, और जैसी भावनाएं हमारी हैं, वैसी ही दूसरों की भी हैं! थोड़े में, हम जान लेंगे कि जो बात हमें अच्छी और बुरी लगती है, वही दूसरों को भी ऐसी ही लगती है। बिना मनोविज्ञान के तत्वों को समझे हम अपने को नहीं संभाल सकते क्योंकि प्रायः लोगों का ऐसा विचार होता है कि दूसरों की मानसिक रचना अपने से पृथक है। इसी से हम गल्ती पर गल्ती करते रहते हैं, और कभी कभी अनर्थ कर डालते हैं। जब हम मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं, तब हम सहसा यह पाते हैं कि सभी लोगों की भावना एक ही प्रकार की होती है, और तब सतर्क हो जाते हैं और समझ कर ही कार्य करते है।

मनोविज्ञान एक दृष्टि से बड़ा सरल विषय है। थोड़ी सी बुद्धि के प्रयोग से हम उसे समझ सकते हैं, पर दूसरी दृष्टि से वह बहुत कठिन विषय है। इस पर बहुत से बड़े बड़े विद्वानों और विचारवानों ने विवेचनाकर मोटे मोटे ग्रथ लिखे हैं। इन लेखकों के दृष्टिकोण में परस्पर अंतर हो सकता है क्योंकि अपनी आंतरिक प्रकृति और प्रवृत्ति अर्थात् यों कहिए, अपनी आत्माकी समीक्षा-परीक्षा कठिन है। उसके बहुत से पहलू हैं, और विविध विचारक इन पहलुओं में से कुछ को ही ले सकते हैं। पर जो कुछ इन लोगों ने कहा है, वह सत्य अवश्य है, और उनके ग्रन्थों द्वारा हम अपने को समझ सकते है, पहचान सकते है और दूसरों के प्रति समुचित रूपसे व्यवहार करने में सफल हो सकते हैं।

इन्हीं विचारों की भूमिका को अपने सामने रखते हुए मैं श्री डा० शांति प्रकाश आत्रेय की "योग-मनोविज्ञान" नामक पुस्तक का स्वागत करता हूँ। उन्होंने सुन्दर विद्वतापूर्ण शास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के मनका विश्लेषण किया है। जाग्रत और सुप्त अवस्था में उसकी आंतरिक प्रेरणाओं और कार्यों की विवेचना की है। संभव है कि उनका उद्देश्य केवल ज्ञानकी वृद्धि करना हो, और आत्म समीक्षा-परीक्षा के संबंध में प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों और दार्शनिकों ने जो हमें बतलाया है, उसको समझाने और उसके परे नई बातों को बतलाने का ही उनका अभिप्राय हो, पर मैं तो ऐसा ही समझता हूँ

और समाज में जो अविवेक के कारण व्यर्थ के कलह और संघर्ष होते रहते हैं, इन्हें दूर करने में सहायक हो सकता है।

बहुत से ग्रंथों का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर विज्ञ लेखक ने इस पुस्तक को तैयार किया है। जो कोई भी इसे आदि से अंत तक पढ़ेगा, वह अवश्य ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग दोनों में ही अपने को सफल और उपयोगी बना सकेगा।

व्यास जी ने कहा है--

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

उसी प्रकार मनोविज्ञान के सभी पुस्तकों का उद्देश्य यही हो सकता है कि हम अपने को पहचानें, अपनेको ही दूसरों में देखें और सबसे सद्व्यवहार कर समाज में शांति और सुख फैलावें। गोस्वामी तुलसी दासजी ने कहा है--

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

यह अटूट सत्य है, और मनोविज्ञान के सभी ग्रन्थों को मैं अपनी भावना के अनुरूप ही देखकर यही परिणाम पर पहुँचता हूँ कि सभी ग्रन्थकार हमें अपनेको ही अच्छी तरह जानने और समझने को उत्साहित कर रहे हैं जिससे कि संसार में भ्रातृभाव फैलाने में मैं भी कुछ योगदान कर सकूं। जैसा श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

मनोविज्ञान के सभी ग्रन्थ भी एक ही लक्ष्य की तरफ हमें ले जा रहे हैं, और श्री डाक्टर शान्ति प्रकाश आत्रेय जी ने हमें उसी तरह प्रवृत्त किया एतदर्थ मै उन्हें बधाई और धन्यवाद देता हूँ।

विश्रांति कुटीर,
राजपुर (देहरादून)
२१ अक्टूबर, १९६४
(श्री प्रकाश

—:•:—

Dr. K. Satchidananda Murty,
Professor of Philosophy; Andhra University;
Waltair.

I have glanced through Dr. S. P. Atreya's yogic

Psychology. In a fairly exaustive way it deals with the Astangas, and also with various other subjects such as the nature of the Chitta, Tapa, Theories of error, Chakras and Kundalini. It also devotes a chapter to the comparative study of yogic and Modern Psychologies. It is a scholarly book well-documented with references. As he has taken his Ph. D. by writing a thesis on yoga and is an authority on Physical Training, the book leaves nothing to be desired.

Written in simple and clear Hindi, it is a laudable attempt.

( Pro. K. Satchidanand Murty ) जुलाई १८–१९६४

डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय लिखित "योग मनोविज्ञान" एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिस में पातंजल योग से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों का विशद एवं व्यवस्थित प्रतिपादन और विवेचन हुआ है। लेखक की शैली सुलझी हुई और भाषा प्राञ्जल व समर्थ है। पारिभाषिक शरीर-वैज्ञानिक शब्दों का हिन्दी करण एवं निर्दोष है। इस अर्थपूर्ण पुस्तक से राष्ट्र भाषा को समृद्ध बनाने के उपलक्ष्य में हिन्दी जगत की ओर से, लेखक को साधुवाद और बधाई देता हूँ।

देवराज

अध्यक्ष, भारतीय दर्शन और धर्म विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

Department of Psychology—Philosophy,
Lucknow University, Lucknow—7

सम्मति

भारतीय 'मनोविज्ञान' में योग मनोविज्ञान का विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने योग-मनोविज्ञान पर विहंगम दृष्टि डाली है। आधुनिक मनोविज्ञान के विद्यार्थी का पुस्तक का पच्चीसवां अध्याय तो बहुत ही रुचिकर एवं उपादेय होगा। साधारण पाठक भी पुस्तक की प्रचुर सामग्रीं तथा सुबोध

भाषा से लाभ उठा सकते हैं लेखक ने पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की संवृद्धि की है।

राजनारायण
( डा० राजनारायण, एम० ए०, पीएच० डी०
अध्यक्ष दर्शन तथा मनोविज्ञान विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ —७ )

---

श्री शान्ति प्रकाश आत्रेय के 'योग मनोविज्ञान' का मैंने बड़ी सावधानी और अभिरुचि से अध्ययन किया, पूरी पुस्तक कुल २६ अध्यायों में लिखी है, विवेच्य विषय और विवेचन शैली की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय की अपनी उपयोगिता और महत्ता है, पर पहला, पचीसवां और छब्बीसवां तीन अध्याय बड़े महत्व के हैं और इनका अध्ययन मनोविज्ञान और दर्शन के विद्यार्थियों के ही लिये नहीं किन्तु विद्वानों के लिये भी उपयोगी एवं आवश्यक है। पहले अध्याय में वेद- उपनिषद्, महाभारत, तंत्र, पुराण योगवासिष्ठ, गीता, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, समग्र वैदिक दर्शन तथा आयुर्वेद के मनोविषयक विचारों का संकलन और समीक्षा की गयी है। पचीसवें अध्याय में भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान का तुलनात्मक अनुशीलन करते हुये श्री आत्रेय ने यह ठीक ही कहा है कि "आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र केवल अचेतन मन और चेतन मन तक ही सीमित है, लेकिन हमारे मन की कुछ ऐसी वास्तविक शक्तियाँ तथा तथ्य है, जिनको हम आधुनिक विज्ञान के द्वारा नहीं समझा सकते।" श्री आत्रेय के अनुसार मन के सम्बन्ध में भारतीयशास्त्रों की यह मान्यता पूर्ण सत्य और सर्वाङ्गीण है कि मन मानव शरीर का ऐसा महत्वपूर्ण अंग है जिसके बिना शरीर में किसी प्रकार का कोई स्पन्दन ही नहीं हो सकता, शरीर के सारे अवयव, सारी इन्द्रियां समस्त प्राण, हृदय और मस्तिष्क के समग्र यंत्र मन के अभाव और अनवधान में गतिहीन एवं संज्ञा शून्य हो जाते हैं। भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले यांत्रिक साधनों की सार्थकता भी मन की सत्ता और सावधानता पर ही आश्रित है, किन्तु इतने असाधारण महत्व को रखने वाला मन भी चेतन आत्मा के संस्पर्श के बिना नितान्त निष्क्रिय और निरर्थक है, सब कुछ करके भी मन किसी वस्तु का ज्ञान तब

तक नहीं प्रदान कर सकता जब-तक उसे आत्मा का सहयोग न प्राप्त हो। श्री आत्रेय का यह विचार सर्वथा सही है कि भारतीय शास्त्रों की उक्त शाश्वत सत्य का परिचय युगों पूर्व प्राप्त हो चुका है, पर आधुनिक मनोविज्ञान अभी इस तथ्य से बहुत दूर है, वह प्राकृतिक घटनाओं और भौतिक पदार्थों को ही टटोलने में अभी तक लगा हैं। अतः अपनी पूर्णता और सार्थकता के लिये उसे भारतीय मनोविज्ञान से समन्वय और सामन्जस्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। आधुनिक मदोविज्ञान के अध्येता जब-तक वैज्ञानिक उपकरणों पर ही निर्भर रहेंगे, जब-तक भारतीय योग विद्या का परिशीलन कर मन की सर्वग्राहिका नैसर्गिकी क्षमता का जागरण करने का प्रयास न करेंगे तब-तक उन्हें वाह्य और आन्तर जगत के अविकल रहस्यों का सन्धान न लग सकेगा।

छब्बीसवें अध्याय में भारतीय शास्त्रों में वर्णित शरीर रचना विज्ञान का आकलन करते हुये श्री आत्रेय ने स्नायुमण्डल, चक्र और कुण्डलिनी का बड़े सुबोध और रोचक ढंग से प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में भारतीय संस्कृत वाङ्मय के प्रामाणिक ग्रन्थों तथा आधुनिक विद्वानों के अंग्रेजी पुस्तकों के आवश्यक अंशों का निर्देश करते हुये इन विषयों का विस्तृत तथा प्रामाणिक विवेचन किया गया है, और शास्त्रीय शरीर विज्ञान एवं आधुनिक शरीर विज्ञान के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुये बताया गया है कि भारत के विद्वानों का शरीर ज्ञान आधुनिक शरीरज्ञान से अधिक विस्तृत एवं अधिक यथार्थ था, श्री आत्रेय ने इस तथ्य को बड़े सरल और सुन्दर ढंग से समझाया है कि मनुष्य का शरीर मेरूदण्ड ( Vertebral column ) पर टिका है। उसमें गुदा के पीछे सुषुम्ना नाड़ी ( Spinal cord ) स्थित है, जो मूलाधार चक्र से सहस्रार ( Cerebral-cortex ) तक जाती है। मूलाधार चक्र में परतत्व शिवकी जीवात्मिका शक्ति, कुण्डलिनी के रूप में सुप्तावस्था में विद्यमान है। संयम, सदाचार, ब्रह्मचर्य, मनोजय आदि साधनों के अभ्यास से जागृत हो जब वह षट्चक्रों का भेदन करती हुई सुषुम्ना की ऊपरी छोर में स्थित सहस्रार में पहुंचती है तब उससे अवस्थित शिव के साथ उसका तदेकीभावात्मक मिलन होता है। शिवशक्ति का यह मिलन ही मनुष्य का परम लक्ष्य है योग और मनोविज्ञान की सार्थकता इसी में है कि उससे मन का ऐसा शक्ति संबर्द्धन हो जिससे इस परम लक्ष्य की सिद्धि सम्भव हो सके।

पूरी पुस्तक को पढ़कर यह कहते हुये मुझे प्रसन्नता हो रही है कि भारत में तथा भारत के बाहर मनस्तत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ अध्ययन अब तक हुआ है, इस पुस्तक में उस सब का सार बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है और मन के विषय में प्राच्य एवं प्रतीच्य दोनों विचारधाराओं की यथास्थान आवश्यक समीक्षा भी की गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक दर्शन और मनोविज्ञान के अध्येताओं के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं उपादेय होगी। मैं मनोविज्ञान विषय पर ऐसी उत्तम पुस्तक लिखने के लिते श्री आत्रेय को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूं।

बदरीनाथ शुक्ल आचार्य, एम० ए०
प्राध्यापक अध्यक्ष न्या वै० विभाग,
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

———

श्रीः ।

योग एक बड़ा प्राचीन दर्शन है। वेद-उपनिषद्-पुराण और आयुर्वेद आदि शास्त्रोंने इसके महत्त्वको विशेष रूपसे प्रदर्शित किया है। योग और मनोविज्ञान कठिन होते हुए भी व्यापक विषय है। यही कारण है इसके ऊपर बहुतसे ग्रन्थ लिखे गये हैं। परन्तु डा० श्री शान्तिप्रकाश जी आत्रेय द्वारा विनिर्मित सरल पद विन्यासमूलक यह ग्रन्थ कितनी सरल एवं प्राञ्जल भाषा में सुन्दर ढंग से लिखा गया है इसके लिये आपके पाण्डित्य की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं।

अभ्यास-वैराग्य-अष्टांगयोग-समाधि-एवं कैवल्य आदि निराकार विषयों को साकार रूप में समझा कर आपने इसकी कठिनता को सर्वथा दूर करते हुए अपने अलौकिक पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। इस ग्रन्थ को आद्यन्त पढ़कर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई।

मैं उस परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि ईश्वर आपको शतायु करें जिससे कि आपके शरीर से इस प्रकार के अद्भुत एवं अलौकिक ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन होता रहे।

ज्वालाप्रसाद गौड़
अध्यक्ष दर्शन विभाग
संन्यासी संस्कृत कालेज
वाराणसी

———

Dr. V. V. Akolkar.
Vidardha Mahavidyalaya,
AMRAVATI

"Let me congratulate you on having dore what was so much needed towards securing a place for Indian Psychology at the academic level."

Sd. V. V. Akolkar.

---

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक भारतीय चिन्तनधारा में निहित मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा तत्सम्बन्धी व्याख्याओं को समझने के लिये उत्सुक प्रत्येक जिज्ञासु के लिये अनिवार्य होगी और इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान के छात्रों को एक अत्यन्त उपादेय पाठ्य पुस्तक उपलब्ध हो गई । साथ ही मनो-वैज्ञानिक साहित्यमें इसका एक अपना विशिष्ट स्थान होगा । मैं लेखक को हार्दिक बधाई देता हूँ ।

श्री जयप्रकाश जी एम० ए०, पीएच० डी०
प्राध्यापक मनोविज्ञान विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर ( म० प्र० )

---

ॐ श्री रामजी

इस ग्रन्थ में श्री डाक्टर आत्रेय जी ने सांख्य, न्याय-वैशेषिक, योग, वेदान्त, दर्शन तथा उपनिषत् गीता योगवाशिष्ठ आदि शास्त्रों के योग तथा मनोविज्ञान के विषय में जो सरल, सुन्दर विवेचन किया है, वह मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त लाभदायक है । अन्य पुरुष भी ध्यानपूर्वक पढ़ने से लाभ उठा सकते हैं । मैंने बहुत से इसके प्रकरण पढ़े हैं जिससे बड़ी प्रसन्नता हुई है । आशा करता हूँ कि सभी लोग इससे लाभ उठाकर डा० आत्रेय जी को धन्यवाद देंगे, जिन्होंने अपने

अत्यधिक परिश्रम से मुमुक्षु तथा अन्य सज्जनों के लाभार्थ इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

नारायण दास बाजोरिया
सेठ श्री नारायण दास बाजोरिया जी
श्री जगन्नाथ बाजोरिया भवन
डा० कनखल, हरिद्वार
जिला—सहारनपुर
तथा
श्री १०८ स्वामी प्रज्ञान भिक्षु

---

डा० जे० डी० शर्मा—
"अध्यक्ष-मनोविज्ञान विभागः
धर्म समाज कालेज,
अलीगढ़

······आप का परिश्रम सराहनीय है। कठिन तथा जटिल विषय को अपने सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। उक्त पुस्तक हिन्दू मनोविज्ञान" में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों को उपयोगी सिद्ध होगी और विशेषत: एम० ए० के विद्यार्थियों को बड़ी लाभप्रद सिद्ध होगी। आपने जो कार्य किया है उसके लिये आप बधाई के पात्र हैं।"······

Sd. जे० डी० शर्मा
अध्यक्ष मनोविज्ञान-विभाग
धर्म समाज कालेज
अलीगढ़

---

श्री

मनो-विज्ञान एक कठिन तथा गूढ़ विषय है; और "योग-मनोविज्ञान" तो कठिनतम एवं गूढ़तम है ही। संभवत: इसी कारण इस विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होते।

यद्यपि इस पर कुछ कहना मेरे लिये धृष्टता होगी; तथापि, सुहृद्वर पंडित शान्ति प्रकाश आत्रेय जी की विद्वत्ता और मननशीलता (जिसका मैंने अपनी

अल्प बुद्धि से उनकी रचना को पढ़कर अनुभव किया है ) स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है ।

इस ग्रन्थ से केवल विश्व विद्यालय के छात्र ही नहीं, प्रत्युत, अध्ययन-प्रेमी सभी पाठक लाभ उठाते हुए अपनी बुद्धि का विस्तार करेंगे तथा अपने मन को विशाल बनायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है : कि बहुना

नील बाग

बलराम पुर ( उ० प्र० ) यज्ञमणि आचार्य दीक्षित

६।१।१९६३

---

A. K. Chaturvedi
M. A. LL B.
Principal.

Phone 68
M. L. K. Degree College
Balrampur ( Gonda )
Date 20-11-1964

Opinion on Dr. S. P. Atreya's
'Yoge Manovigyan'.

I have read Dr. S. P. Atreya's 'yoga Manovigyan with deep interest. I must confess that I have not been any keen student of this subject. Still I could feel greatly interested in the study of this book. This itself is a point of credit in favour of the learned author. He has dealt with so abstruse and technical a subject in such a lucid and popular manner that it becomes an engrossing reading even for a common reader.

The book is full of detailed references which testify to Dr. Atreya's very wide study and research. I think there is no book on this subject written so far whi h is so complete and comperehensive in its aproach. It fills up a big gap in the field of scholarship and I feel, becomes a perfect text book for a keen student of Indian psychology and a very

helpful reference book for a research-worker in the sudject. Even for a practical 'Sadhak' in the field of yoga this book can serve as a unique guide. I felt specially interested in the study of chapters XIX and XX. We commonly talk of 'Ahimsa' (अहिंसा) and 'Satya' ( सत्य ) 'Shauch' ( शौच ) and 'Santosh' ( संतोश ) or still further of 'Dharna' ( धारणा ) and 'Dhyan' ( ध्यान ) but what these terms rightly cannote, Dr. Atreya has been able to elucidate and explain in a manner so easily comprehensible. Further what the Yoga Manovigyan has to say on the much disputed and oft-discussed subject of 'Swapna' ( dream ) also makes a very illuminating reading in Chapter XXI. Chapter XXVI, the last one, makes a fine comparative study of the ancient Indian Anatomy and Physiology and the modern one and so clearly proves that all that knowledge in this field that we call new and modern was already fully and completely known to our great ancients.

Further still, through very proper references, Dr. Atreya has clarified that 'Kailash' Mansarover' Triveni' are really within us and not without and this explains the real spiritual significance of what the common man regard as the places of pilgrimage in our land. This fact is so well explained in this last chapter.

This book thus becomes an important treatise on Indian culture as well. I am sure it will be received very well by scholaras and the common reader alike.

Sd. A. K. Chaturvedi

---

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १ | नीचे से ८ | पतञ्चलि | पतञ्जलि |
| ३ | ऊपर से ३ | व्यवहारिक-ज्ञान | व्यावहारिक-ज्ञान |
| ५ | ,, ४ | प्रतिक्रिथा | प्रतिक्रिया |
| ५ | ,, ६ | शरोर | शरीर |
| ५ | ,, १० | पूर्वं | पूर्णं |
| ६ | ,, ६ | नाड़िनों | नाड़ियों |
| ७ | ,, ३ | ज्जीव | जीव |
| ७ | ,, ६ | तु'ख | दु:ख |
| ८ | नीचे से १२, ७ | बीर्य , विषद, | वीर्य, विशद, |
| १० | ऊपर से ८ | तुर्या | तुर्यं |
| १० | ,, ६ | स्घप्न | स्वप्न |
| १२ | ,, ८ | विशद् | विशद |
| १५ | ,, ३ | प्राभाकर, मीमांसा | प्रभाकर, मीमांसक |
| १६ | ,, १३, १६ | बासनाओं,बासनाओं | वासनाओं,वासनाओं |
| १७ | ,, १५ | प्रमाणु | परमाणु |
| १८ | ,, १७ | विषद | विशद |
| १९ | ,, ११ | एकान्तिक | ऐकान्तिक |
| २२ | ,, ६ | द्वेश | द्वेष |
| २२ | ,, १३ | विषयों से | विषयों से होनेवाला |
| २२ | ,, १४ | विषयों से | विषयों से होनेवाली |
| २२ | ,, १४ | अभि निवेष | अभिनिवेश |
| २२ | नीचे से २ | बिषय | विषय |
| २५ | ,, ९ | आघ्यात्किक | आध्यात्मिक |
| २५ | ,, ११ | अभि निवेष | अभिनिवेश |
| २५ | ऊपर से १३ | काका | का |
| २६ | नीचे से ५ | नो | नौ |
| २६ | ,, ५ | पिशेष | विशेष |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २६ | ऊपर से १५ | सविकल्प ज्ञान | सविकल्पक–ज्ञान |
| २७ | ,, ,, | निर्विकल्प ज्ञान | निर्विकल्पकज्ञान |
| २७ | नीचेसे ७, ४ | मिमांसक, विषद | मीमांसक, विशद |
| २८ | ऊपर से १४ | बिकास | विकास |
| ३० | ,, १० | ज्ञाग | ज्ञान |
| ३१ | ,, ११ | द्दष्टा, उपद्दष्टा | द्रष्टा, उपद्रष्टा |
| ३१ | ,, १५ | आत्या | आत्मा |
| ३१ | नीचे से १० | निगुरण | निर्गुण |
| ३२ | ऊपर से ३ | भोक्तृत्व | भोक्तृत्व |
| ३२ | ,, १२ | विषद | विशद |
| ३४ | ,, १२ | श्रूषुत | सुश्रुत |
| ३४ | ,, १८ | धिषय | विषय |
| ३५ | ,, २ | समाधि के | समाधि ( एकाग्र भूमिक तथा निरोध भूमिक) के |
| ३५ | ,, ३ | समाधि, सबका | समाधि ( एकाग्र भूमिक तथा निरोध भूमिक ) सवका |
| ३६ | ,, ८ | एकान्तिक | ऐकान्तिक |
| ४३ | नीचेसे ३ | हे | है |
| ४७ | ऊपर से ५ | निरन्नर | निरन्तर |
| ४८ | ,, ५ | समाधि और | समाधि ( एकाग्र भूमिक तथा निरोध भूमिक ) और |
| ५१ | नोचेसे १ | रहने | होने |
| ५६ | ऊपर से ६ | सत्व | सत्त्व |
| ७० | ,, ८ | पौरुषैय बोध | पौरुषेय बोध |
| ८४ | ,, १० | योग सम्पूर्ण मानव | — |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ८४ | ,, ११ | दोषों से रहित ईश्वरके वाक्य अप्रमाणिक हैं | — |
| ८५ | ,, १५ | अरएयक | आरएयक |
| ८६ | ,, १ | जन्माष्ठमी | जन्माष्टमी |
| ६७ | नीचेसे ८ | एक्य | ऐक्य |
| १३० | ,, ६ | ववेचन | विवेचन |
| १३० | ,, ६ | निहीं | नहीं |
| १४६ | ऊपर से १५ | प्त | प्राप्त |
| १४६ | नीचे से १० | अहिसा | अहिंसा |
| १५२ | ,, ६ | कर्माशयो | कर्माशयों |
| १५२ | ,, ७ | पर्णिधान | प्रणिधान |
| १५४ | नीचे से १ | परस्योत्सादनार्थं | परस्योत्सादनार्थं |
| १५५ | ऊपर से ८ | तपो | तपों |
| १५५ | ,, १५ | जाप | जप |
| १६४ | ,, १४ | संतताभ्यासयोगतः | सतताभ्यासयोगतः |
| १६६ | ,, ७ | के | को |
| १७१ | ,, ४ | वरन | वरन् |
| १७४ | नीचे से १ | मम् | मम |
| १७७ | ऊपर से ६ | क्रिया निबृं त्तिरेव | क्रिया निवृं त्तिरेव |
| १६२ | ,, ६ | ताथ | तथा |
| २०६ | नीचे से ४ | वरान | वर्णन |
| २०७ | ,, ६ | ग्रोर | ग्रौर |
| २१६ | ,, ८ | ज्योतिर्मर्या | ज्योतिर्मयी |
| २२१ | ,, ,,८ | विवेचत | विवेचन |
| २४८ | ,, ६ | हो | होकर |
| २६३ | ,, ५ | रहता | रहता है |
| २६७ | ऊपर से ८ | तीब्र | तीव्र |
| २६७ | ,, ११ | तीब्र | तीव्र |
| २६७ | ,, १४ | तीब्र | तीव्र |
| २६७ | ,, १५ | तीब्र | तीव्र |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २६७ | नीचे से ५ | तीब्रता | तीव्रता |
| २६७ | ,, ७ | तीब्रता—तीब्रता | तीव्रता—तीव्रता |
| २८६ | ,, २ | विशद्ध | विशद |
| २८७ | ,, २ | Dr. Atreya | Dr. B. L. Atreya |
| ३०८ | ,, २ | व्यक्यिों | व्यक्तियों |
| ३४० | ,, १० | बिकास | विकास |
| ३४४ | ,, २ | शुश्रुत | सुश्रुत |
| ३४५ | ,, १ | Page | Pages |
| ३४६ | ,, १ | Page | Pages |
| ३५६ | नीचे से १५ | लिके | लिये |
| ३६२ | ऊपर से १६ | कल्पता | कल्पना |
| ३६६ | ऊपर से १ | अतीन्द्रीय | अतीन्द्रिय |
| ३६६ | नीचे से २ | अतीन्द्रीय | अतीन्द्रिय |
| ३९९ | ऊपर से ५ | अमृतबिन्दूपनिशद् | अमृतबिन्दूपनिषद् |
| ४०३ | ,, ८ | चित्त वृत्ति निरोध | चित्त वृत्ति निरोध |
| ४११ | ,, ३ | षूरक | पूरक |
| ४२२ | नीचे से २ | तीब्र—तीब्र | तीव्र—तीव्र |
| ४२२ | नीचे से ५ | तीब्र | तीव्र |

# लेखक की अन्य कृतियाँ

| क्रम संख्या | नाम | प्रकाशन तिथि | मूल्य |
|---|---|---|---|
| १. | भारतीय तर्क शास्त्र ( प्र० सं० ) | १९६१ | ५·०० |
| २. | Descartes to Kant A Critical Introduction to Modern Western Philosophy (English, First Edtion ) | १९६१ | २·५० |
| ३. | मनोविज्ञान तथा शिक्षा में सांख्यिकीय विधियाँ ( प्र० सं० ) | १९६२ | ३·५० |
| ४. | योगमनोविज्ञान की रूप रेखा। | १९६५ | २.५० |
| ५. | गीता दर्शन ( हिन्दी ) | १९६५ | १·०० |
| ७. | भारतीय मनोविज्ञान | अप्रकाशित | |
| ७. | भारतीय दर्शन | अप्रकाशित | |
| ८. | Indian Philosophy ( English ) | अप्रकाशित | |
| ९. | सांख्य कारिका ( संक्षिप्त ) | अप्रकाशित | |
| १०. | सांख्य कारिका | अप्रकाशित | |
| ११. | आधुनिक पाश्चात्य दर्शन | अप्रकाशित | |
| १२. | The Philosophy of Bhagavad Gita ( English ) | अप्रकाशित | |
| १३. | Introduction to Philosophy (English) | अप्रकाशित | |
| १४. | दर्शन परिचय | अप्रकाशित | |
| १५. | बौद्ध दर्शन | अप्रकाशित | |
| १६. | सांख्य दर्शन | अप्रकाशित | |
| १७. | सामान्य मनोविज्ञान | अप्रकाशित | |
| १८. | 'Yoga as a System for Physical Mental and Spiritual Health" ( Ph.D. Thesis ) | अप्रकाशित | |

———